सच्चत्थ-बोहो

[सत्यार्थ-बोध]

:: लेखक ::

दिगम्बराचार्य श्री विशुद्धसागर जी

:: प्राकृतानुवाद ::

श्रुतसंवेगी श्रमण आदित्यसागर जी

:: प्रकाशक ::

समर्पण समूह

जैनं वचनं सदा वंदे

आशीषानुकंपा : गणाचार्य श्री विरागसागर जी

प्रस्तुत कृति : सच्चत्थ-बोहो [सत्यार्थ-बोध]

लेखक : संस्कृतिशासनाचार्य श्री विशुद्धसागर जी

प्राकृतानुवाद : श्रुतसंवेगी श्रमणरत्न श्री आदित्यसागर जी मुनिराज

संपादन : श्रुतप्रिय श्रमणरत्न अप्रमितसागर जी

पूर्णावलोकन : सहजानंदी श्रमणरत्न श्री सहजसागर जी

संस्करण : प्रतियाँ : 1008; संस्करण : 2024

पुण्यार्जक :

प्रकाशन : समर्पण समूह, भारत
एवं भोपाल – 91790-50222
प्राप्ति-स्थान जबलपुर– 98276-07171

मुद्रण : अंकित जैन शास्त्री मड़देवरा
सागर (मध्य प्रदेश)
फोन : 8302070717
मो. : 9755286521

विषयानुक्रमणिका

क्रमांक	विवेच्य विषय		पृष्ठ
1.	शुभाशीष	गणाचार्य श्री विरागसागर जी	4
2.	शुभाशीष	पट्टाचार्य श्री विशुद्धसागर जी	5
3.	शुभाशीष	आचार्य श्री सुनीलसागर जी	6
4.	मंगलभावना	आचार्य श्री विभवसागर जी	7
5.	सहजभावना	सहजानंदी श्रमण श्री सहजसागर जी	8
6.	अन्तर्ध्वनि	प्राचार्य डॉ. शीतलचन्द्र जैन (जयपुर, राज.)	10
7.	पुरोवाक्	डॉ. श्रेयांस कुमार जैन अध्यक्ष अखिल भारतवर्षीय दि.जैन शास्त्री परिषद	11
8.	प्राक्कथन	पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन रजवांस, सागर (म.प्र.)	16
9.	प्रास्ताविक	डॉ. पंकज जैन शास्त्री भोपाल, इंदौर (म.प्र.)	21
10.	प्रस्तावना	प्राकृतमनीषी श्रुतसंवेगी श्रमणरत्न आदित्यसागर जी	24
11.	संपादकीय	श्रुतप्रिय श्रमणरत्न अप्रमितसागर जी	70
पुस्तक से–			
	मंगलाचरण	मंगलाचरणं	1
1.	अहिंसा	अहिंसा	3
2.	सत्यता	सच्चत्तं	8
3.	अचौर्य	अचोरियं	13
4.	ब्रह्मचर्य	बंभचेरं	18
5.	अपरिग्रह	अपरिग्गहो	24

क्रमांक	विवेच्य विषय		पृष्ठ
6.	मैत्री	मेत्ती	30
7.	प्रमोद	पमोदा	35
8.	कारुण्य	कारुण्णं	40
9.	माध्यस्थ-भाव	मज्झत्थभावो	46
10.	विवेक	विवेगो	54
11.	धैर्य	धिज्जं	58
12.	दया	दया	67
13.	दम (संयम)	दमो	77
14.	त्याग	चागो	86
15.	समाधि	समाही	95
16.	गुरु	गुरू	106
17.	शिष्य	सिस्सो	116
18.	अध्यात्म-योग	अज्झप्प-जोगो	125
19.	संस्कार	सक्कारो	134
20.	आत्मतत्त्व	आद-तच्चं	143
21.	सहज-जीवन	सहज-जीवणं	152
22.	पुण्य-पाप	पुण्णं पावं	162
23.	आस्था	अट्ठा	173
24.	कर्म	कम्मं	183
25.	अप्रमाद	अप्पमादो	194
26.	सोच	चिंतणं	205
27.	अनुग्रह	अणुग्गहो	216
28.	धर्म	धम्मो	226
	उत्तम क्षमा-धर्म	उत्तम-खमा-धम्मो	235
	उत्तम मार्दव-धर्म	उत्तम-मद्दव-धम्मो	239
	उत्तम आर्जव-धर्म	उत्तम-अज्जव-धम्मो	242
	उत्तम शौच-धर्म	उत्तम-सउच-धम्मो	244
	उत्तम सत्य-धर्म	उत्तम-सच्च-धम्मो	245
	उत्तम संयम-धर्म	उत्तम-संजम-धम्मो	248
	उत्तम तप-धर्म	उत्तम-तव-धम्मो	249
	उत्तम त्याग-धर्म	उत्तम-चाग-धम्मो	250
	उत्तम आकिंचन्य-धर्म	उत्तम-आकिंचण्ण-धम्मो	254
	उत्तम ब्रह्मचर्य-धर्म	उत्तम-बंभचेर-धम्मो	254

क्रमांक	विवेच्य विषय		पृष्ठ
29.	शिक्षा	सिक्खा	255
30.	व्यसन	विसणं	279
	जुआ-व्यसन	जुअ-विसणं	283
	मांस-व्यसन	मंस-विसणं	285
	मद्य-व्यसन	मज्ज-विसणं	295
	वेश्या-व्यसन	वेस्सा-विसणं	299
	शिकार-व्यसन	आहेड-विसणं	301
	चोरी-व्यसन	चोरिय-विसणं	303
	पररमणी-रमण-व्यसन	पररमणी-रमणविसणं	308
	पिशुन-व्यसन	पिसुण-विसणं	310
	दिवाशयन-व्यसन	दिवासयण-विसणं	312
	निन्दा-व्यसन	णिंदा-विसणं	315
	गीत-श्रवण-व्यसन	गीदसवण-विसणं	321
	नृत्य-दर्शन-व्यसन	णच्चदंसण-विसणं	322
	वादित्र-श्रवण-व्यसन	वादित्तसवण-विसणं	326
	वृथा-गमन-व्ययन	विहागमण-विसणं	327
	ईर्ष्या-व्यसन	ईसा-विसणं	329
	साहस-व्यसन	साहस-विसणं	332
	अर्थ-दूषण-व्यसन	अत्थदूसण-विसणं	332
	अकारण-वध-व्यसन	अकारण-वह-विसणं	335
	द्रव्य-हरण-व्यसन	दव्वहरण-विसणं	339
	कर्कश-वचन-व्यसन	कक्कसवयण-विसणं	341
	दण्ड-पारुष्य-व्यसन	दंडपारुस्स-विसणं	345
31.	सदाचार	सदायारो	348
	सत्यार्थबोध-प्रशस्ति	सच्चत्थ-बोह-पसत्थी	367

विराग- भावणा

विस्स-विज्जाणम्मि भारदीयजेण-विज्जा सव्वपियत्तं लहदि। जम्मि भूगोलणाण-गणिदणाण-सिद्धंतणाण-णयणायणाण-वागरणणाण-जोदिसणाण-साहिच्च-णच्चकलाणीदि-सरसंगीदकला-छंदालंकारेहिं सह संचालणं, किसिकरणं, सिप्पकरणं, उज्जोगकरणं, लेहकरणं, सिलाटंकण-करणं, णाणदाणं, रायणीदी, अत्थ संगहकरणणीदी, ववहार-णीदी, अज्झप्प-णीदी; इच्चादि-अणेग-विसय-वण्णणं विज्जदे।

पुव्वुत्त-सव्वकलाणाणी-सारभूदतच्चपरूवगेण समणाइरिय-विसुद्धसायरेण इदं ''सच्चत्थबोह''-गंथं लिहिदं। तस्सेव पियग्ग-पाइयविज्जापवीण-सुदसंवेगी-आदिच्चसायर-समणेण अस्स गंथस्स पाइयाणुवादं किदं। तं पस्सिदूणं ममं अइ-आणंदाणुभूदी हवइ। सम्मणाणस्स सव्वजणाणं पयासं हविज्जइ। इणं मे सुहासीसं।

॥ ॐ नमः ॥

11-2-3-2550 **गणाइरिय-विरागसायरो**

सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि

*

विराग-भावना

विश्व-विज्ञान में भारतीय जैन विद्या सर्वप्रियता को प्राप्त है। जिसमें भूगोलज्ञान, गणितज्ञान, सिद्धान्तज्ञान, नय-न्यायज्ञान, व्याकरणज्ञान, ज्योतिष्ज्ञान, साहित्य-नृत्यकलानीति, स्वरसंगीतकला, छंद-अलंकार के साथ संचालन, कृषिकर्म, शिल्पकर्म, उद्योगकर्म, लेखकर्म, शिलाटंकणकर्म, ज्ञानदान, राजनीति, अर्थसंग्रहकरण-नीति, व्यवहारनीति, अध्यात्म-नीति; इत्यादि अनेक-विषयों का वर्णन विद्यमान है।

पूर्वोक्त सम्पूर्ण कलाओं के ज्ञानी, सारभूत तत्त्वों के प्ररूपक श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी ने इस ''सत्यार्थ-बोध'' ग्रन्थ को लिखा है। उनके ही प्रियाग्र शिष्य प्राकृतविद्याप्रवीण श्रुतसंवेगी श्रमण आदित्यसागर जी ने इस ग्रन्थ का प्राकृतानुवाद किया है। इस अनुवाद को देखकर मुझे अति आनंदानुभूति हुई है। सम्यग्ज्ञान का सर्वजन के लिये प्रकाश होता रहे। यही मेरा शुभाशीष है।

॥ ॐ नमः ॥

11-2-3-2550 **गणाचार्य श्री विरागसागर जी**

सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि

शुभाशीष

विश्व वसुन्धरा पर अनादि-अनन्त श्रमणसंस्कृति, जैन दर्शन सदा-सदा जयवंत रहा है, वर्तमान में जयवन्त है तथा भविष्य में भी जयवन्त रहेगा। त्रैकालिक जैन दर्शन का धरती पर विलोप नहीं होगा। भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में काल-परिवर्तन में अन्तराल अवश्य ही पड़ता है, परन्तु विदेह क्षेत्र में सदा एक-सा ही जैन धर्म जयवन्त होता रहता है। वहाँ पर कभी भी धर्म का विच्छेद नहीं होता, इसलिए समझना चाहिए जिनधर्म जिनशासन त्रैकालिक है। समय-समय पर तीर्थंकरों का जन्म होता है, आत्म-साधना कर वे कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर, विश्वधरा को वस्तु के वस्तुत्व का सत्यार्थबोध प्रदान कर विश्वहित कर आयु के अन्त में योग-निरोध कर ध्यान के बल से घाति-अघाति-कर्मों का क्षय कर परम-निर्वाण दशा को प्राप्त हुए। व्यवहार एवं परमार्थ साधना का फल प्रभु ने प्राप्त कर लिया। अब पुनः प्रभु जन्म नहीं लेंगे, यह ध्रुव-अटल सिद्धान्त है।

तीर्थंकर परम्परा के उपरान्त अनुबद्ध-केवली परम्परा का प्रारम्भ हुआ। काल दोष से कैवल्य सूर्य भी अस्त हो गया, भारत भूमि श्रुत-केवलियों के पाद-पद्मों से पवित्र होती रही। अखण्ड श्रुतधारा से लोक-अलोक को प्राप्त हुआ। श्रुतधर आचार्यों ने अनेक श्रेष्ठ-आगमों का सृजन कर श्रीजिनशासन को जयवन्त किया; वहीं श्रुत आचार्य प्रवर श्री गुणधरस्वामी, आचार्य श्री धरसेनस्वामी, आचार्य श्री पुष्पदन्तस्वामी, आचार्य श्री भूतबलीस्वामी, आचार्य श्री कुन्दकुन्दादि ने संप्रति में आगम शास्त्रों का प्रणयन कर श्रुत-सम्पत्ति को वर्धमान किया है।

वही श्रुत आचार्य श्री आदिसागर जी, आचार्य प्रवर श्री महावीरकीर्ति जी, आचार्य श्री विमलसागर जी से प्रवाहिमान होते हुए गणाचार्य श्री विरागसागर जी के पावन आशीर्वाद से मुझ अल्पधी (विशुद्धसागर) को प्राप्त हुआ। मैंने भावविशुद्धि, संयम-सिद्धि हेतु **''सत्यार्थ-बोध''** नैतिक कृति का सृजन किया, मुझे माँ भारती की आराधना का पावन सुखद आशीष प्राप्त हुआ। पूर्व प्रकाशित हिन्दी ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य साहित्य भक्त मुनिसुव्रत सागर जी ने किया। जन-जन में सुनीति का सम्यक सत्यार्थ-बोध हो, अतः विद्वान् विजय जैन (देहरादून) ने आंग्ल भाषा में किया।

साहित्य इतिहास-जगत में सदा सदा के लिये जयवन्त रहे, इसलिये जिनागम की मूलभाषा में श्रुतसंवेगी, उत्साह-शक्ति सम्पन्न, प्राकृत भाषा मनीषी, मुनिवर श्रमण श्री आदित्यसागर जी ने प्राकृत भाषा में **''सत्यार्थ बोध''** का अनुवाद कर श्रुतसम्पदा की श्री वृद्धि की है। उनके इस महान पुरुषार्थ और श्रुतभक्ति के लिये मंगलाशीष। इसी प्रकार जिनवाणी आराधना में लीन रहें।

॥ इति अलं शुभं भूयात् ॥

04/01/224
पावन पंच कल्याणक महोत्सव
अनेकांत धाम लघु सम्मेद शिखर जी
असावरपुरन, हरियाणा (भारत)

पट्टाचार्य श्री विशुद्धसागर जी

शुभाशीष

भगवान महावीरस्वामी की सनातन दिगम्बर जैन श्रमण परंपरा के वरिष्ठ **आचार्य मुनिकुंजर श्री आदिसागर जी 'अंकलीकर'** हुये हैं। उन्हीं की **आध्यात्मिक सरिता के भगीरथ हैं आचार्य श्री विशुद्धसागर जी, जो आध्यात्मिक-देशनाकार चर्याशिरोमणि प्रख्यात साधक हैं।**

उनकी सुप्रसिद्ध, नीतिसमन्वित, सर्वलोकोपयोगी कृति **'सत्यार्थ-बोध'** का 4,000 श्लोक प्रमाण बृहत् प्राकृत-रूपान्तरण किया है; **उन्हीं के प्रियाग्र शिष्य, प्राकृत-भाषा-मर्मज्ञ, श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर जी मुनिराज ने।**

वे निरंतर प्राकृत-भाषा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ लेखन में संलग्न रहते हुये जिनशासन की प्रभावना करते रहें, **यही मंगल मनीषा।**

॥ ओम णमो जिणाणं ॥

06/01/2024
मेरठ

चतुर्थ पट्टाधीश
आचार्य श्री सुनीलसागर जी

मंगलभावना

भगवान् महावीर एवं उनके अनुचिंतन से ओतप्रोत अनेकान्तमयी स्याद्वाद धारा में अनुप्राणित सार्वभौमिक सार्वकालिक सर्वदेशीय हिताभिलाषी महाचिंतक श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी मुनिराज द्वारा हस्तसिद्ध लेखन से निश्रित ''सत्यार्थ-बोध'' नामक कृति पर श्रमण-संस्कृति के नवोदित कुशल अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी श्रुतसंवेगी साहित्ययुग के आदित्य श्रमण आदित्यसागर जी मुनिराज ने भगवान् महावीर की भाषा प्राकृत भाषा में समग्र ग्रन्थ को अनूदूत कर महानतम-कार्य किया है।

इस ग्रन्थ में मानव-समाज के हित के लिये प्राणी मात्र के उपकार के लिये नीति-नियम-निर्वाहन, पारस्परिक भातृत्व-भावना, सिद्धान्त-समन्वय के सूत्र, विश्वोपकारी महानतम-सूत्रों का संचयन निबंधन शैली में प्रस्तुत किया गया है। **भाव शास्त्रों के और भाषा महावीरस्वामी की। लेखक महावीरस्वामी के ही लघुनंदन और अनुवादक भी उन्हीं के शिष्य-रत्न लघुनंदन।**

परमप्रशंसा और आत्मीय-अनुभूति का आह्लादकारी वातावरण प्रस्तुत करता हुआ प्रस्तुत ग्रन्थ समाज, संस्कृति और सभ्यता की नीव-संस्थापित करता है। यह शास्त्र समाज, सभ्यता, संस्कृति, राष्ट्र एवं विश्व के लिये उपयोगी-महत्त्वपूर्ण ज्ञान का खजाना है।

युगजयी चिंतक की चिंतन-धारा में अवगाहन कराने के लिये आपने ज्ञानगंगा का प्रवाह किया है। यह ज्ञानगंगा ज्ञान-तीर्थ प्राणीमात्र के लिये पाप-ताप-संताप को हरने वाला होगा; ऐसी ही मांगलीक भावना के साथ हमारे **धर्मवत्सल्य श्रमण आदित्यसागर जी** के लिये हमारी बहुत-बहुत बधाइयाँ, हार्दिक-स्नेह। आपने भगवान महावीर की भाषा में ही भगवान महावीर के भावों को अनुस्यूत करने का लघुतम प्रयास किया और महानतम कार्य हो गया। ऐसे श्रेष्ठतम कार्य के लिये मैं आपके प्रति अहोभाव-पूर्वक साधुवाद प्रेषित करता हुआ पुनः भावना करता हूँ कि **आपकी लेखनी जिनभारती माँ शारदा के भण्डार को भरे और भव्यजीवों को लाभ पहुँचे।**

भगवान् महावीर स्वामी की परंपरा में 1000 वर्ष पूर्व कलिकालसर्वज्ञ वीरसेन स्वामी हुये, जिन्होंने 60,000 श्लोक प्रमाण टीका का प्राकृत-भाषा में लेखन कार्य किया। **उसके अनंतर 1000 वर्ष के पश्चात् श्रमण आदित्यसागर जी महाराज ने अभी तक 40,000 श्लोक प्रमाण प्राकृत भाषा में लेखन कार्य कर उनकी परंपरा को जीवित किया और आगे बढ़ाया।** अवश्य ही आप भगवन् वीरसेन स्वामी की यश और श्रुतपरंपरा को यशस्वी बना रहे हैं।

आपके द्वारा भारतदेश सहित पूरे विश्व की भाषा में यह **'सत्यार्थ-बोध'** ग्रन्थ अनूदूत होकर विश्व का कल्याण करे। आपका हितैषी, प्रति नमोस्तु।।।

ॐ नमः । ॐ नमः । ॐ नमः ।

7/11/2024
पार्श्वनाथ जयंति
पौष कृष्ण 11

सारस्वतकवि श्रमणाचार्य
श्री विभवसागर जी यतिराज

सहज- भावना

''**सत्यार्थ-बोध**'' ग्रन्थ साहित्यिक ग्रन्थ ही नहीं यह तो जीवन-शैली का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में शब्दों से भावों तक की यात्रा सहजरूप से कराई गई है। यह ग्रन्थ सनातन जैन धर्म को अमर करनेवाला है। **इस ग्रन्थ के रचनाकार जगत्पूज्य मम गुरु श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने इसमें जो भावना दी है, वह दानव को मानव, शैतान को शान्त बनाने के साथ-साथ परमात्म-पद तक पहुँचा देती है।**

इस ग्रन्थ का लेखन सरल-कार्य नहीं था। इसमें एक-एक शब्द एक-एक पुष्प के समान चुनकर लाया गया है। पुनश्च उन्हें सुव्यवस्थित करके वाक्य-पदों की संरचना की गई, जो कि मनोहारी, हितकारी और भविष्य की अनमोल सुभाषित धरोहर है।

इस ग्रन्थ का श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर जी ने प्राकृतानुवाद करके इसे 4,000 श्लोक प्रमाण बृहद्रूप दिया है। उनके इस श्रम ने इस ग्रन्थ को सदियों की अपेक्षा युगों-युगों के लिये कल्पान्तकाल तक के लिये अमरत्व प्रदान किया है। कारण कि हिन्दी आदि भाषायें कालान्तर में परिवर्तित हो जाती हैं, परन्तु प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश ये साहित्यिक भाषायें इतिहास बताती हैं।

इस ग्रन्थ के अनुवाद का मैं साक्षी रहा हूँ। पूज्यवर ने इस कार्य के लिये बहुत परिश्रम किया। न दिन देखा, न रात देखी। पाठकगण ध्यान रखें—**व्याकरण का ज्ञान बहुत कठिन है, कष्टसाध्य है। अथवा यूँ मान लें कि लोहे के चने चबाना या मिर्ची की कुल्फी चूसने जैसा कठिन कार्य है।** इस तरह के अविस्मरणीय कार्य को करने में समर्थवान हमारे अग्रजमुनि पूज्य श्रुतसंवेगी का जो योगदान है, वह वास्तव में उनके कठिन परिश्रम एवं दीर्घ साहित्य-साधना का ही प्रतिफल है। लेखन क्रिया में देहिक, मानसिक दोनों प्रकार का बल लगता है। एक बार आहार और बुद्धि का परिश्रम बार-बार, इसके साथ-साथ स्वचर्या का पालन, 28 कृतिकर्म करते हुये जो अनुवाद उन्होंने किया है, वह अतुल्यनीय है प्रशंसनीय है। संपादन का पूर्णभार श्रुतप्रिय श्रमण अप्रमितसागर जी ने पूर्ण मनोयोग से किया है। दूसरों के जीवन में गलतियाँ निकालना कठिन नहीं है, मगर जिनवाणी में टंकण-मुद्रण विषयक गलतियाँ निकालना बहुत कठिन काम है।

इस ग्रन्थ का मुझे पूर्णावलोकन रूप कार्य प्राप्त हुआ। जो मुझे हाथी का पलान चूहे पर रखने जैसा लगा, क्योंकि यह मेरा दूसरा-तीसरा ही ग्रन्थ-परक कार्य रहा। जो इस कार्य को करने पर मेरा अनुभव रहा, वह अकथनीय है, मिश्री के स्वाद कथनवत् है। जैसे मिश्री का स्वाद नहीं बताया जा सकता है, उसे तो सिर्फ अनुभूत ही किया जा सकता है, वैसे ही इस कार्य का अनुभव अकथनीय है।

इस मांगलीक कार्य से मेरा भाग्य सौभाग्य में बदल गया। मेरा चिंतन, व्यवहार, जीवन-शैली सब प्रभावित हुई, क्योंकि स्वाध्याय के समय वाचन करने में समय सीमा नहीं रहती, लेकिन प्रकाशन के पूर्व समय की सीमा रखकर पूर्ण तन-मन की एकाग्रता से शब्दों का मेल करना मेरे लिये अमर-अनुभव देकर गया। स्वप्न में भी इसी ग्रन्थ का चिंतन गूँजता था।

मेरे लिये इस ग्रन्थ पर कुछ कार्य करने का अवसर देकर आचार्य भगवन् एवं पूज्य मुनिवर ने जो कृपा करी है, मैं उनकी इस कृपा को शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता हूँ। अतः मैं इससे धन्य हुआ और पुण्य प्रचयों को पाया। हम जैसों के लिये यह कार्य सोये को जगाने जैसा ही है।

॥ इति अलम् ॥

15/01/2024 **विशुद्धभावाकांक्षी**

हिम्मतनगर, गुजरात **श्रमण सहजसागर मुनि**

अन्तर्ध्वनि

प्राचार्य डॉ० शीतलचन्द जैन

जयपुर (राजस्थान)

अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों के **प्रसिद्ध देशनाकार आदर्श श्रमण पूज्य आचार्य विशुद्धसागर जी** महाराज के मौलिक चिन्तन से प्रसूत **''सत्यार्थ बोध''** कृति में वर्णित जितने भी निबन्ध हैं, वे निबन्ध ही नहीं हैं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण के लिये प्रकाश स्तम्भ हैं। **वस्तुतः यह कृति अनुपम है और कृति के पारखी प्रियाग्र शिष्य बहुभाषाविद, पूज्य मुनिवर आदित्यसागर जी महाराज ने प्राकृतभाषा में अनुवाद किया है।** किसी कृति का अनुवाद अत्यन्त कठिन एवं श्रमसाध्य है। इसका अनुवाद शब्दशः है, इसलिये कृति का प्रमेय ज्यों का त्यों है। इसकी विशेषता है कि आपने प्राकृत के सरल एवं सहज पठनीय पदों का प्रयोग किया है। जैसे—आपने **''अहिंसा''** निबन्ध के अनुवाद में बहुत ही सरल सुबोध पदों का प्रयोग किया है। अहिंसा निबन्ध का अनुवाद करते हुए लिखा है कि **''अहिंसा विस्ससंति दायगो धम्मो'',** इसी प्रकार **''सच्चत्तं''** के अनुवाद में लिखा है कि **''सच्चं वयणं धम्मप्पं पाणादो अहिगं पियं''** इस प्रकार का सरल एवं सुबोध अनुवाद पाठक को हृदयग्राही है।

इस कृति का **''सच्चत्थबोहो''** प्रमुखशीर्षक नाम रखकर मात्र प्राकृत अनुवाद प्रकाशित किया जाये, तो प्राकृत वाङ्मय के लिये गद्य में लिखी गयी ऐसी कृतियाँ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी उपयोगी सिद्ध होगी।

पूज्य मुनि श्री ने अपने मंगलाचरण में लिखा है कि विशुद्ध-हितकर भावों से भव्यजनों के लिये कह रहा हूँ। वस्तुतः आपने अपने पूज्य गुरूवर के भावों को अन्तर्ध्वनि से ज्ञात कर यह प्राकृतभाषा में अनुवाद करके प्राकृत वाङ्मय को स्थायी धरोहर के रूप में दी है। मैं पूज्य आचार्य श्री और आपके श्री चरणों में कोटिश नमोऽस्तु करता हूँ।।

पुरोवाक्

—डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
अध्यक्ष अखिल भारतवर्षीय
दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद

दिगम्बराचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज अप्रतिम प्रज्ञा और प्रतिभा सम्पन्न चारित्र की निरन्तर आराधना करने वाले हैं। जो ज्ञानी/बुद्धिमान् चारित्ररूपी जहाज पर सवार हो जाते हैं, वे ज्ञानरूपी पतवार से और ध्यानरूपी वायु से बहुत ही शीघ्र संसाररूपी समुद्र के पार हो जाते हैं। निर्मल चारित्र का परिपालन करते हुए आगम-सिद्धान्त ग्रन्थों का निरन्तर पारायण करते रहते हैं। सैद्धान्तिक विषयों को सहज सरल उदाहरणों के माध्यम से समझाने की अद्भुतकला में पारङ्गत हैं। दिव्य और भव्य व्यक्तित्व के धारक रत्नत्रय के मूर्तिमान स्वरूप हैं। इनकी अलौकिक मेधा के द्वारा जैन वाङ्मय को बहुत अधिक समृद्ध किया गया है। इन्होंने आगम-अध्यात्म-दर्शन सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों पर देशनाएँ देकर उन ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों के साथ हार्द को प्रस्फुटित कर स्वाध्यायियों की जिज्ञासाओं को उपशान्त करने का अलौकिक और लोकोत्तर कार्य किया है।

आचार्य श्री काव्य-कला प्रवीण हैं। आपने अपनी काव्य-कृतियों के द्वारा काव्य जगत् को विशेष रूप से प्रकाशित किया है। अपने शिष्यों और स्वाध्याय रुचिवान् श्रावकों के लिए स्वाध्याय कराकर निज-पर के उपकार में निरन्तर प्रवृत्त हैं। स्वाध्याय अर्थात् जिन सूत्र के अध्ययन-अध्यापन से भव्य प्राणियों के हृदय में सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य का उदय होता है, जिससे आत्मा का मिथ्यात्वरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। स्व-पर भेदविज्ञान रूप प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। पापरूपी उलूक छिप जाता है। आत्मारूपी चकवे को स्वपरिणतिरूपी चकवी मिल जाती है। सन्मार्ग दीखने लगता है। प्रमादरूपी निद्रा पलायन कर जाती है। **स्वाध्याय की सर्वत्र प्रशंसा की गई है। स्वाध्याय को संसार समुद्र से पार होने के लिए छिद्ररहित नौका की उपमा दी गई है। कषायरूपी पृथ्वी को जलाने के लिए अग्नि की उपमा दी गई है। स्वानुभवरूपी समुद्र की वृद्धि के पूर्णिमा का चन्द्रमा कहा गया है। आत्मगुणों का संग्रह करने वाला सर्वोत्तमकार्य स्वाध्याय है।**

स्वाध्याय के प्रतिफल स्वरूप श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर महाराज जैसे अनेक भाषाप्रवीण शिष्य तैयार हुए। श्रुतसंवेगी मुनि श्री के साथ अनेक मुनि व्याकरण-साहित्य-दर्शन-अध्यात्म-आगम में निपुणता प्राप्त किये हैं किन्तु **श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर की प्रज्ञा-प्रतिभा विलक्षण ही है, जिसके परिणाम स्वरूप इन्होंने संस्कृत-प्राकृत-कन्नड़ और हिन्दी भाषाओं को अधिकृत कर इनमें अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं।** जैसे आचार्य श्री की प्रखर मेधा के द्वारा वस्तुत्व महाकाव्य और अनेक काव्य रचनाएँ तैयार हुई हैं। अनेक ग्रन्थों पर टीकाएँ और देशनाएँ लिखी गई हैं स्वयं में लोकमान्य कृतियाँ लिखी गई है, उसी तरह श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर महाराज ने अनेक काव्य कृतियाँ लिखीं, जो कि पाहुड आदि ग्रन्थों की टीकाएँ कर अध्यात्म साहित्य की समृद्धि में योगदान है। संस्कृत भाषायें रचना करने में तो प्रवीणता प्राप्त की हुई ही है। इनकी प्राकृत प्राञ्जल है। प्राकृत भाषा पर मुनि श्री का बेजोड अधिकार है। प्राकृत भाषा में टीकाएँ तो की है किन्तु जो जो आश्चर्यकारी कार्य किया है, उसी पर आगे विचार किया जा रहा है।

आचार्य विशुद्धसागर मुनिराज द्वारा शताधिक ग्रन्थों का सर्जन किया गया उनमें उनकी कालजयी कृति ''सत्यार्थबोध'' है। इस सत्यार्थ बोध का लेखन समस्त साहित्य और राष्ट्र के गौरव का संवर्द्धन करने वाला है। सत्यार्थ बोध वस्तुतः राष्ट्रधर्म और जन कल्याणकारक विषयों का कोषागार है। इसमें मानव कल्याण विषयक जितने भी तत्त्व हैं, उन सभी का निरूपण संक्षिप्त और सरल भाषा में उपस्थित किया गया है। यह जन-जन को प्रोत्साहित और उपकार करने वाला ग्रन्थ है। इसमें वस्तुतः सत्यार्थ के प्रमेयों को वर्णित किया गया है, उन्हीं के बोध हेतु ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में अहिंसा, सत्यता, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थभाव, विवेक, धैर्य, दया, दम, त्याग, समाधि, गुरु, शिष्य, अध्यात्मयोग, संस्कार, आत्मतत्त्व, सहज-जीवन, पुण्य-पाप, आस्था, कर्म, अप्रमाद, सोच, अनुग्रह, धर्म और धर्म के दश प्रकार, शिक्षा, व्यसन (विविध बुरी आदतें) तथा सदाचार; इन सभी विषयों को सुबोध-सरल और संक्षिप्तया प्रतिपादित किया है। यह ग्रन्थ मानव कल्याण विषयक होने से लोकमान्य और महत्त्वपूर्ण है। इस पर अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। **ग्रन्थ की उपोगिता और प्रामाणिकता के आधार पर प्राकृत भाषाविज्ञ मनीषी श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर महाराज ने प्राकृत भाषा में 4000 श्लोक प्रमाण ''सच्चत्थ-बोहो'' नाम से अनुवाद किया है। ''सच्चत्थ-बोहो'' लिखने से पूर्व लेखक ने 40,000 (चालीस हजार) श्लोक प्रमाण अन्य ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं, किन्तु ''सच्चत्थ-बोहो'' यह सत्यार्थ बोध का अनुदित ग्रन्थ है।** इसमें मुनिश्री ने प्राकृत भाषा में उन सभी विषयों की मूलग्रन्थानुसार प्रस्तुति की है।

प्राकृत भाषा में अनुवाद का विशेष प्रयोजन है, क्योंकि जैन शासन की मूलभाषा प्राकृत है। भगवान् महावीर का दिव्योपदेश अर्धमागधी प्राकृत में ही हुआ था। भारतीय आचार्यों और प्राच्य जैनचार्यों ने मागधी और शौरसेनी प्राकृत में ही ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। प्राकृतभाषा प्रकृतिजन्य है, इसलिए सर्वजन संवेद्य है और मधुर है। प्राकृत भाषा का प्राचीन समय में जनता में प्रचार-प्रसार था। जनता इसी भाषा का प्रयोग करती थी। यह लोकमान्य भाषा थी, प्रजा इसी भाषा को स्वीकार करती थी। इसका प्रमाण शिलालेख हैं। शिलालेखों, सिक्कों और राजाज्ञाओं में सर्वदा प्राकृतभाषा का प्रयोग ही होता था, क्योंकि उस समय की जनभाषा प्राकृत थी। प्राकृत भाषा का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में हुआ है। इसका काव्य साहित्य और कथा साहित्य अत्यधिक समृद्ध था। प्राचीन और मध्यकालीन आर्यभाषाओं का विकास प्राकृत भाषा से ही हुआ है। यतः ज्ञान और सभ्यता के विकास के साथ ही साथ भाषा का भी निरन्तर प्रसार होता है। **मनुष्य जिस वातावरण में रहता है, वह अपनी सुविधा एवं सुगमता से उसे स्वीकार कर लेता है।**

प्राकृत की लोकप्रियता पूर्वकाल के समान वर्तमान में भी बढ़ रही है; एतावता श्रुतसंवेगी मुनि **श्री आदित्यसागर महाराज ने** अपने अध्यवसाय से प्राकृत पर अधिकार प्राप्त किया और सत्यार्थबोध का सच्चत्थ-बोहो के रूप में अनुवाद किया। सर्वप्रथम अहिंसा का वर्णन इस प्रकार करते हैं—**''अहिंसा विस्स-संति-दायगो धम्मो। सा विस्स-मित्ती जणगा वि। लोयस्स गुणा अहिंसाए विज्जमाणा।''** अर्थात् विश्व-शान्ति प्रदायक धर्म अहिंसा है। विश्व-मैत्री का जनक अहिंसा है। ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण गुण अहिंसा में विद्यमान हैं।

उसी प्रकार जो मूल सत्यार्थबोध में विषयों का प्रतिपादन है, उन सभी को शिक्षा का माहात्म्य सत्यार्थ बोध के लेखक आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज ने बतलाया उसी का अक्षरशः अनुवाद प्रस्तुत करके प्राकृत विद्या के पारगामी शिक्षक और शिक्षार्थियों को विशेष लाभ प्रदान करने वाले श्रमण मुनि श्री आदित्यसागर का कथन इस प्रकार है—**''सिक्खग-कत्तव्वं-सो सीसं एरिसं सिक्खं दिज्ज जेण सो णीदिवंत-विहूदिवंतो होदूणं पि विणयवंतो होज्जा। अहंकारी-माणिस्स णीदि-विहूदीओ पुण्णमलं मेत्तं जाणेहि। जदि सुधम्म-सत्थ-गुरुजणा पडि विणयभावस्स अभावो सिस्समि अत्थि, दु एरिसो विणयहीण-सीसो**

सगस्स गुरुस्स य हस्स-कारणं होदि। एवं सुसील-विणयवंत-सीसो सगपर-जसवड्ढीए कारणं होदि, तम्हा सिक्खगं पडिक्खणं छत्ताणं सग्गुणी-करणस्स पुरिसत्थं कुज्जा। अहंभाव-परणिंदा-आदप्पसंसा-कामभावणा-सिग्घकोव-गुरुजणावमाणलोहमायाभावा य सव्वे विज्जा-बुद्धिक्खयस्स पबलकारणाइं इमादो दोसादो गुरुछत्ता फेडेज्जा। जदि उवरोत्त हेदूदो छत्तो पुहं ण होहिदि दु विज्जावड्ढी असंभवा।''

मुनि श्री की मेधा का ही सुपरिणाम है कि उक्त प्रकार से शिक्षक-शिष्य के कर्तव्य को सरल प्राकृत में दर्शाया गया है। **श्रुतसंवेगी मुनि श्री का व्याकरण पूर्णतया परिशुद्ध है। व्याकरण बोध के कारण उनकी भाषा में किञ्चित् भी अशुद्धि नहीं होती है। उन्होंने अनुवाद अक्षरशः किया है। भाव-भाषा अनुवाद में भी ज्यों के त्यों प्राप्त होना। यह बहुत बड़ी कला है। मुनि श्री की सूक्ष्म प्रज्ञा और भाषाविषयक विशाल ज्ञान का सुपरिणाम है।** अक्षरशः अनुवाद दृष्टव्य है—

कर्म-सिद्धान्त के बोध के अभाव में जीव संसार में अनेक प्रकार के क्लेश को प्राप्त कर रहा है और मिथ्या आस्था में डूबकर सम्यक्त्व का नाश कर रहा है। प्राकृत अनुवाद-**''कम्मसिद्धंतस्स बोहाभावे जीवो संसारे विविह-किलेसं लहेदि तहा मिच्छा अट्ठाए णिमज्जित्तु सम्मत्त-णासं कुणेदि।**

अशुभकर्मोदय पर शान्त जीवन जीना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उस समय जो भी पुरुषार्थ करोगे, उसमें अनुत्तीर्ण ही होना पड़ेगा। प्रभु भजन करो, अशुभ-क्रियाओं से आत्मरक्षा करो, रत्नत्रय धर्म का आलम्बन लो, संकल्प-विकल्प की ज्वालाओं से सुरक्षित रहो। अशुभ भी शुभरूप में परिवर्तित हो जायेगा। सब दिन एक से नहीं होते। सबके दिन भी एक से नहीं होते, ऐसा प्रकृति का सनातन धर्म है।

इसका सटीक प्रामाणिक अक्षरशः अनुवाद श्रुतसंवेगी मुनि श्री इस प्रकार करते हैं—**असुहकम्मोदए संतजीवणं सेयोयरं, णवरि तदा जं पि उज्जमं करिहिसि तम्हा अणुत्तिण्णत्तं हि भजेहिसि। पहुभजणं कुणेहि, असुह-किरियादो आदरक्खणं कुणेहि, रयणत्तयावलंबणं गेज्झेहि, संकप्प-वियप्प-जालादो णिय-रक्खणं कुणेहि। असुरो वि सहुरूवे परियट्टेज्जा। सव्वाणि दिणाणि सरिच्छाणि ण होंति, सव्वस्स दिणाणि वि सरिच्छाणि ण होंति, एरिसो पयडि-सणादणधम्मो।**

इसके आगे पुण्य कर्म के उदय का फल बताते हुए जैसा सत्यार्थबोध में है, वही वर्णित है—

पुण्य कर्म के उदयकाल में स्वयं को संभालकर रखना अनिवार्य है, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण विषयों की सामग्री सुलभता से प्राप्त हो जाती है। उस समय उसमें लिप्त नहीं होना। विरक्त चित्त में पापों से आत्मरक्षा कर अपने पूर्वकृत पुण्य को सुरक्षित रखना, नवीन पुण्य का बन्ध करना, जीर्ण पाप कर्म की निर्जरा करना ज्ञानी जनों का यही श्रेयस्कर कार्य है।

इसी का शब्दशः अनुवाद प्रभावित करने वाला इस प्रकार है—**पुण्णकम्मस्स उदयम्हि सग-सुरक्खणं आवस्सगं, णवरि तदा संपुण्ण-विसय सामग्गीयो सुलहत्तेण भजेदि। तदा तम्हि णवि लिप्पेज्जा। विरत्तचित्तेण पावत्तो आदरक्खणं किच्चा सगीय-पुव्वकिद-पुण्ण-रक्खणं, णवीण-पुण्ण-बंधणं, जिण्ण-पावकम्मणिज्जरणं णाणीजणाणं उचिद-कज्जं।**

अनुवाद का क्रम और प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर का बुद्धिवैभव अतुल्य है, उन्होंने श्रुताभ्यास से पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का प्रणयन किया है। संस्कृत-प्राकृत-कन्नड़, हिन्दी की रचनाएँ मुनि श्री के ज्ञान गौरव को बताने वाली हैं। मुनि श्री के प्रकृष्ट ज्ञान की हेतु उनकी लौकिक शिक्षा और अपने शिक्षा-दीक्षा गुरु आचार्य श्री विशुद्धसागर से प्राप्त शिक्षा है। शिक्षा के

अर्थ को मुनि श्री ने सार्थक किया है। शिक्षा का अर्थ है मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों को विकसित करके उसे अपने परिवेश से उचित समायोजन करने के अनुरूप बनाने वाली विद्या। विद्या प्राप्ति का तात्पर्य केवल पुस्तकीय ज्ञान ये नहीं है, उसे अपने चारों ओर के वातावरण को भी आँख खोलकर देख लेना चाहिए जिससे उसके ज्ञान में विविधता और उसके ज्ञान में सूक्ष्मदर्शिता आ सके। मुनि श्री के ज्ञान में विविधता और सूक्ष्मदर्शिता का अवलोकन होना उनके ज्ञान और शिक्षा का ही विशिष्ट फल है। मुनिश्री विशिष्ट श्रुत के धाकर हैं। समस्त सिद्धान्त के जानकार हैं। उनकी चरित्र और मन-वचन-काय की प्रवृत्ति पवित्र है। ये दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण हैं। मोक्षमार्ग के प्रचार रूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील हैं, जिनकी विद्वान् प्रशंसा करते हैं और स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा करते हैं। ये अभिमान से रहित हैं। लोक और लोक मर्यादा के जानकार हैं। सरल परिणामी हैं इस लोक सम्बन्धी इच्छाओं से रहित है जिनमें हेयोपादेय का विवेकज्ञान है। वे **श्रुतसंवेगी साधक ज्ञान-विद्या पारङ्गत हैं।** सांसारिक विषयों की चर्चा न करते हुए तत्त्व की चर्चा करने और सुनने वाले विरल सन्त हैं। विरल बहुत कम होते हैं।

विरला णिसुण हि तच्चं, विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं, विरलाणं धारणा होदि॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा॥

संसार में राग और काम-भोग की बातें सुनने वाले बहुत हैं, किन्तु तत्त्व की बात सुनने वाले बहुत कम हैं। उन विरल व्यक्तियों में श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर महाराज हैं। इनको लौकिक कार्यों में अभिरुचि नहीं रहती है। ये आत्मज्ञान की ओर ध्येय रखते हैं। इनका सम्यक् आचरण ज्ञान वृद्धि के कार्य क्षय का निमित्त है। इनमें पूर्ण श्रामण्य धर्म विद्यमान है। श्रमणत्व की पूर्णता का पुरुषार्थ कर भी रहे हैं, क्योंकि मुनिचर्या से विपरीत आचरण नहीं करते हैं। कहा भी है—

अजधाचार-विजुत्तो, जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि, इह सो संपुण्णसामण्णो॥ प्रवचनसार 3/72॥

जो श्रमण विपरीत आचरण नहीं करता और जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही पदार्थों को निश्चित रूप से जानता है तथा जो राग-द्वेष का स्वरूप है वैसा ही पदार्थों को निश्चित रूप से जानता है तथा जो राग-द्वेष से रहित है, उसी का श्रामण्य परिपूर्ण है और वह इस संसार में चिरकाल तक नहीं जीता। संसार में परिभ्रमण करता और मुक्ति का वरण कर लेता है।

इसी प्रकार अन्य तत्त्वों की विवेचना करके ग्रन्थ को उपादेय बनाया जाता है।

धर्म का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

धम्मो संसारादो दुहिदा जीवा दुक्खत्तो फेडित्ता सम्मं सुहं देदि। जत्थ पच्चक्खे मूग-पसु-पक्खि जीवा उप्पीडावेदि, बुद्धीदो पाण-हरणं कीरदे; एरिसो बलिकम्मजुत्तो किरियाकारगो धम्मप्पा कहं? सा किरिया वि धम्म-सण्णं कहं लब्भेदि? कदावि णत्थि। वट्टमाण-भूद-भावी-तेयालिग-सुहसंतिहेदू धम्मो णो अण्णो णेव अण्णहा। पउत्तिणिवित्तिमूलग-सहावविहाव-किरियादसाओ धम्मधाराओ अदो तच्चण्णेसिं मज्झत्थं होदूणं धम्मस्स सच्चत्थबोहं कादव्वं। पंथ-संपदाय-परंपरासुं धम्मपक्खावगमणस्स सम्मं उज्जमं कादव्वं। कम्हि संपदायम्हि धम्मकहणं कियं अत्थं?

संसार से दुःखी प्राणियों को दुःख से निकालकर सच्चे सुख को प्राप्त करा दे, उसका नाम धर्म है। जहाँ प्रत्यक्ष में मूक पशु-पक्षियों को पीड़ित किया जा रहा हो, बुद्धिपूर्वक प्राणहरण किए जा रहे हों, ऐसे बलिकर्म युक्त क्रिया करनेवाला धर्मात्मा कैसे? यह क्रिया भी धर्मसंज्ञा को कैसे प्राप्त कर सकती है? कभी नहीं। वर्तमान,

भावी एवं भूत त्रैकालिक जो सुख शान्ति का हेतु है वही धर्म है; अन्य नहीं, अन्यथा नहीं। प्रवृत्ति-मूलक, निवृत्तिमूलक स्वभावदशा, विभावदशा, क्रियादशा ये धर्म की धाराएँ हैं। अतः तत्त्वान्वेषी को मध्यस्थ होकर धर्म का सत्यार्थ बोध करना चाहिए। पन्थों सम्प्रदायों, परम्पराओं में धर्म-पक्ष को समझने का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए। किस सम्प्रदाय में धर्म की बात कहाँ तक है।

इस ग्रन्थ के वर्णित सभी विषय शास्त्र सम्मत हैं। यहाँ धर्म का स्वरूप आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी के अनुसार ही प्रतिपादित किया गया है। आचार्य श्री समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में लिखा है—

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे॥2॥

कर्म को नष्ट करने वाले समीचीन धर्म को कहता हूँ। धर्म संसार के दुःख से प्राणियों को निकालकर उत्तमसुख में पहुँचाता है।

पूर्वाचार्यों का अनुकरण ग्रन्थ के प्रत्येक विषय में किया है। ग्रन्थ अपने आप में लोकोत्तर प्रमेयों को गर्भित करने वाला है। ग्रन्थ में एक से बढ़कर एक प्रमेय हैं। यथा-भाव-सुइत्तं चिंतणं सउचं कुव्वेदि। जस्स चिंतणं पावणं होदि, तस्स सयलजीवणं हि पावणं। जीवण-पवित्तदा जीव-चिंतणे आलंबिदा। अर्थात् भावों की शुचिता सोच को शौच बना देती है। जिसका सोच पावन होता है; उसका सर्व जीवन पावन हो जाता है। जीवन की पवित्रता व्यक्ति के सोच पर आलम्बित है।

ऐसे विचार आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज जैसे पवित्र सोच वाले साधक ही रख सकते हैं। उनके कथन और वाक्यों का शब्दशः अनुवाद करनेवाले तीक्ष्ण बुद्धि साधक श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर महाराज की प्रस्तुति अपने आप में विलक्षण है।

आचार्यश्री विशुद्धसागर का निम्न कथन कितना अधिक सार्थक है कि सोच की निर्मलता के लिए सद्-शास्त्रों का स्वाध्याय अनिवार्य अंग है। **चिंतणं णिम्मलदाए सुसत्थसज्झाओ आवस्सगं॥**

गुरु शिष्य दोनों के विचार आंतरिक प्रेरणा देने वाले हैं। सत्यार्थ बोध में वर्णित सभी विषय श्रेष्ठ हैं। आचार्य श्री विशुद्ध सागर महाराज गम्भीर चिन्तक हैं। लोक कल्याण की भावना प्रबल हैं, इसीलिए लोककल्याणकारी विषयों को सत्यार्थ बोध ग्रन्थ में वर्णित किया है। **वर्णित विषयों को श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर महाराज ने उसी कुशलता के साथ प्राकृत भाषा में अनुवाद कर प्रस्तुत किये हैं।** अनुवाद में अक्षर का भी स्खलन नहीं हुआ। न कोई शब्द छूटा और न बढ़ाया गया। एतदर्थ "**सच्चत्थ-बोहो**" ग्रन्थ यथार्थ में सत्य अर्थ का बोध कराने वाला सत्यार्थ बोध है। **यह ग्रन्थ राजनीतिज्ञों, विद्वानों, श्रेष्ठियों और छात्र-छात्राओं सभी को पढ़ना चाहिए।** इस ग्रन्थ में वास्तविक जीवन की सच्चाई है। मानव मात्र के लिए कल्याण करने वाला होने के कारण सर्वमान्य है। **जहाँ सत्यार्थबोध के रचयिता आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज की लोककल्याण के निमित्त भूमिका रही है, वहीं श्रुतसंवेगी मुनिश्री ने सत्यार्थबोध ग्रन्थ के प्रतिपादित विषयों का अक्षरसः प्राकृत भाषा में अनुवाद कर बहुत बड़ा कार्य किया है।** प्राकृत साहित्य की समृद्धि में बहुत बड़ा योगदान किया है। **मैं आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज एवं श्रुतसंवेगी मुनि श्री आदित्यसागर महाराज के चरणों में विनम्र श्रद्धाभाव समर्पित करते हुए उनके ज्ञान और उनकी प्रज्ञा की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ।** सम्पूर्ण स्वाध्यायशील सज्जनों के लिए यह ग्रन्थ उपकारी सिद्ध होगा। अतः प्राकृत के माध्यम से सभी सुधीजन ग्रन्थ का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण करें।

प्राक्कथन

पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन
रजवांस, सागर (म.प्र.)

नीति वह नवनीत है जिसके कारण जहाँ व्यक्ति सुसंस्कार प्राप्त करता है, वहीं नैतिक आचरण के द्वारा अपने जीवन को प्रतिभावान बनाने के साथ-साथ मोक्षमार्ग प्रशस्त करता है।

नैतिक आचरण के बिना पुरुष न श्रेष्ठ पुरुषार्थ कर सकता है और न ही देश, समाज, परिवार, रिश्तेदारों में अपना अस्तित्व बना पाता है। नीतिवान व्यक्ति के आचरण, वचन और क्रियाओं को सभी लोग प्रमाण तो मानते ही हैं, उनका अनुकरण कर उसे श्रेष्ठता की कसौटी पर परख कर उन जैसे कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

जिन व्यक्तियों का जीवन नीति और नैतिकता के मंजन से परिमार्जित नहीं है, उन्हें सज्जनता का तिलक, महानता की माला और आदरता का आवरण नहीं उड़ाया जाता है। यह प्रायः लोक में लोकाचार का प्रथम सोपान माना जाता है।

नीति और उसका महत्व—

जिसकी कभी इति अर्थात् अन्त नहीं होता है, वह नीति है। नीति, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर कभी भी परिवर्तित नहीं होती है। अर्थात् नीति कभी बासी नहीं होती है। नीति और नैतिकाचरण अनादि-अनिधन है। प्रत्येक काल में इसका प्रादुर्भाव रहा है। जब तक नीति रहेगी लोगों में नैतिकता रहेगी नैतिकाचरण का बहुमान रहेगा, तब-तक धर्म फलता-फूलता रहेगा।

जहाँ नीति का पालन या आचरण रहता है, वहीं धर्म रहता है। धर्म के उपदेशक धर्म के मूल सिद्धान्तों का कथन नीति के धरातल पर ही करते हैं।

नैतिक आचरण ही आत्म-सुख-शान्ति, प्रगति, उत्थान, लोकप्रियता एवं आत्मोद्धार का साधन होता है। इसके लिए जो सूत्रों का सृजन महापुरुषों के माध्यम से जन-जन को प्राप्त होता है, वह **नीतिसूत्र** या **नीतिवाक्य** कहलाते हैं।

नीतिकार—

नीति-सूत्रों को वही शब्द दे सकता है, जिसने उसे अपने जीवन में आत्मसात कर लिया हो, जिसे प्राप्त कर पूज्यता प्राप्त कर ली हो, वही व्यक्ति ही नीति सूत्रों का सृजन कर सकता है।

नीतिकार वही हो सकता है जिसने अपने आप को तपाया हो, मन को बांधा हो और सभी जीवों में समान जीवत्व-शक्ति को स्वीकार किया हो। दोहरे व्यक्तित्व वाला नीतिकार नहीं हो सकता है। पहले उसे अपने आपको परिमार्जित करना पड़ता है, पश्चात् वह अन्य को परिमार्जित कर सकता और तभी उसके कथन का दूसरों पर प्रभाव पड़ सकता है।

नीति की ऐतिहासिकता प्राचीनकाल में गुरुकुलों में नैतिकता की शिक्षा बौद्धिक रूप से तथा आचरण रूप से गुरुओं के द्वारा प्रदान की जाती थी, जिससे छात्र बाल्यावस्था से ही संस्कारित होना प्रारंभ हो जाता था।

कालान्तर में कथा साहित्य के माध्यम से नीति का कथन जन-जन तक पहुँचने लगा। प्रत्येक घर, चौपाल पर नैतिकता के क्षेत्र में श्रेष्ठता को प्राप्त महापुरुषों के जीवन वृत्त के माध्यम से नीति को महिमा मण्डित किया गया। जो आत्मोन्नति का साधन ही बनता था।

जैनाचार्य नैतिकता की कसौटी पर खरे उतरने वाले श्रेष्ठ व्यक्तित्व के धनी होते हैं अतः सर्वश्रेष्ठ नीतिकार जैनाचार्य रहे हैं। जिन्होंने अपने द्वारा लिखित ग्रन्थों में नीति श्लोकों को समाहित किया है।

आदिपुराण आचार्य जिनसेन स्वामी, पद्मपुराण श्री रविषेणाचार्य, हरिवंशपुराण श्री जिनसेनाचार्य द्वितीय, क्षत्रचूड़ामणि श्री आचार्य वादीभसिंह सूरी, मदनपराजय एवं नीति निपुण राजर्षि अमोघवर्ष ने सन्यास ग्रहण कर दसवीं शताब्दी में नीति के बहुमूल्य रत्नों के हार की तरह रत्नमाला नामक ग्रन्थ सरल, सुबोध प्रश्नोत्तर शैली में रचकर युगों युगों तक नैतिक जीवन शैली को गति प्रदान की हैं। इस प्रकार अनेक ग्रन्थ आज उपलब्ध होते हैं। जैनागम में अनेक नीति ग्रन्थ नीति श्लोकों से लबालब भरे हुए हैं।

आचार्यों ने नीति के साथ धर्माचरण को स्वीकार कर अपने जीवन को विशुद्ध बनाया। उससे जो प्राप्त हुआ उसे लिपिबद्ध कर जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है।

शताब्दियाँ बीत जाने पर भी इन ग्रन्थों को लोग उसी अभिरुचि से पढ़ते हैं जैसे उस काल में पढ़ते थे, जब वो लिखे गये थे। वे नीतियाँ आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी पहले थीं। **नीति कभी बासी नहीं होती, वह हमेशा 'सद्य' अर्थात् ताजी ही होती हैं।** नीति ग्रन्थ लेखन की प्रक्रिया प्रायः चलती ही है कभी कम कभी अधिक किन्तु नीति लिखी जरूर गई है।

नीति का कोई धर्म नहीं—

नीति किसी धर्म विशेष की नहीं होती है। कोई धर्म वाला ये भी नहीं कह सकता कि यह नीति हमारे धर्म की है। नीति सभी धर्मों में होती है, किन्तु सामान्य नीति सभी धर्मों में होती है, जो विशेष नीति होती है वह उस धर्म का मौलिक सिद्धांन्त कहा जा सकता है। **धर्म नीतियों का भण्डार होता है। जिस धर्म में नीति नहीं होती उसे धर्म नहीं कहा जा सकता है।**

धर्म और नीति का अविनाभावी संबंध है। धर्म नीति है या नीति धर्म है इसके दोनों कथन समीचीन हैं। धर्म नीति का अनुसरण सभी करते हैं, किन्तु जो धर्म नीति को आचरण में उतार लेते हैं; वे महात्मा, साधु-संत, धर्म-गुरु, संयमी या मोक्षमार्गी कहे जाते हैं।

नैतिकता आज भी श्रेष्ठता का पैमाना है, अतः श्रेष्ठ समाज में नैतिक मूल्यों की अवधारणा आज भी जीवन्त है। यही कारण है कि शिक्षा के क्षेत्र में नैतिकता, नैतिक आचरण का आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

नीति का संबंध किसी धर्म से नहीं, अपितु सभी धर्मों का संबंध नीति से है। जब तक नीति और नैतिकता है, तब तक धर्म का अस्तित्व है। **श्रेष्ठ समाज की आधारशिला बिना नीति के नहीं रखी जा सकती है।** नीति ही महत्त्वपूर्ण धर्म है। जो मानव मात्र को उपयोगी है।

नीति के भेद—

नीति के अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु प्रमुख रूप से नीति के कुछ प्रकार बहु प्रचलित हैं।

1. धर्मनीति 2. राजनीति 3. कूटनीति 4. शिक्षानीति 5. कृषिनीति 6. व्यापारनीति आदि।

धर्मनीति—आत्मकल्याण के लिए मोक्षमार्ग पर चलने के लिए जो सदाचरण किया जाता है, वह धर्मनीति है।

राजनीति—जिस नीति से राज्य व्यवस्था सुचारु रूप से संचालित होती है, वह राजनीति है।

कूटनीति—कार्य की सिद्धि के लिए छलपूर्वक जो कार्य योजना की जाती है, वह कूटनीति है। राजा प्रायः इन सब नीतियों का प्रयोग करते हैं। सामान्य से सभी संसारी भी इस नीति से कार्य सिद्धि करते हैं।

शिक्षानीति—जिस नीति या सिद्धान्त से श्रेष्ठ शिक्षा प्रदान की जाती है, वह शिक्षानीति है।

कृषिनीति—जिस नीति से समय के अनुरूप फसल को सुरक्षित रखकर अधिक उपज प्राप्त की जाती है, वह कृषिनीति कहलाती है।

व्यापारनीति—जिस नीति के द्वारा व्यापार के माध्यम से अधिक आय प्राप्त की जाती है, वह व्यापारनीति है।

नीतिकारों के अन्य लेखन—

नीति का लेखन प्रत्येक शताब्दी में हुआ है। किन्तु समय की विपरीतता लोगों की अभिरूचि और राज्यवस्था की प्रतिकूलताओं ने नीति को बदल तो नहीं पाया, किन्तु प्राचीन नीतिकारों को विस्तृत अवश्य कर दिया था। लगभग 16-17 शताब्दी में सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास और रहीम आदि को ही नीतिकार माना जाने लगा। कहा भी है—

तत्त्व-तत्त्व सूरा वही, तुलसी कही अनूठ।
बची खुची कबीरा कही, और कही सब झूठ॥

इस प्रकार की मान्यताओं ने प्राचीन नीतिकारों को विस्मृत कर नये नीतिकारों को ही महत्त्व दिया जाने लगा। युग परिवर्तन हुआ जैन नीतिकारों का स्मरण किया गया। अनेक नीति ग्रन्थों का पुनः प्रकाशन हुआ। नये नीतिग्रन्थों का सृजन होने लगा। **21वीं सदी में आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज का नीति लेखन अग्रगण्य हैं। आपने अनेक नीतिग्रन्थों का प्रणयन कर मानव समाज का परमोपकार किया है। जिसे युगों-युगों का स्मरण किया जायेगा।**

आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज चिर दीक्षित अनुभवी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी अन्वेषक एवं आत्मकल्याण में संलग्न ज्ञानध्यान तपोरक्त की उक्ति को चरितार्थ करने वाले श्रेष्ठ साधु हैं।

आपकी तपःपूत चिन्तनधारा से अनेक ग्रन्थों का उद्भव हुआ है। जिससे जैन साहित्य ही नहीं, अपितु भारतीय साहित्य समृद्ध हुआ है। आपके द्वारा सृजित ग्रन्थों में नीति ग्रन्थों की बहुलता है। जो समय की माँग तो थी ही, समाज में इसकी अत्यन्त आवश्यकता भी थी जिसे आचार्य श्री ने पूर्ण किया है। आपकी लेखनी और चर्या में एकरूपता दिखाई देती है। जिससे आपके ग्रन्थों की महत्त्वता और अधिक बढ़ गई है।

आप निरन्तर स्वाध्याय में संलग्न तो रहते ही हैं, अपने शिष्य समूह को भी स्वाध्याय में लगाये रखते हैं; जिससे सभी के उपयोग की विशुद्धता बनी रहती है। आपकी कृतियों की जहाँ विद्वज्जगत में सराहना होती है, वहीं उन्हें पढ़ा भी जाता है और उन पर संस्कृत और हिन्दी टीकाएँ भी हुई हैं। **ऐसे अनेक ग्रन्थों के सृजक आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज जैन क्षितिज के दैदीप्यमान नक्षत्र हैं।** आपके अनेक ग्रन्थों की टीकाएँ हुई हैं। **श्रमण मुनि आदित्यसागर जी महाराज ने प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं में अनेक ग्रन्थ एवं टीकाएँ लिखी हैं।** इसी क्रम में आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज कृत नीतिग्रन्थ **''सत्यार्थबोध''** पर

आपने प्राकृत भाषा में अनुवाद कर उसे और अधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इस ग्रन्थ के अनुवादक श्रमणमुनि आदित्यसागर जी महाराज ने संस्कारधानी धर्मनगरी जबलपुर में 24 मई 1986 को श्री राजेशकुमार जैन की भार्या श्रीमती वीणाजी की कुक्षी से जन्म लिया। माता-पिता के सुसंस्कारों से संस्कारित होकर 8 नवम्बर 2011 को मंगलगिरि जैनतीर्थ पर अध्यात्मयोगी आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज से जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की।

आप निरन्तर आगम ग्रन्थों का अध्ययन, मनन, चिन्तन करते हैं। श्रुत के प्रति आपका जीवन समर्पित है। आपने हिन्दी, प्राकृत, अंग्रेजी, कन्नड़, संस्कृत, अपभ्रंश, हाड़े कन्नड़, तमिल, तेलगू आदि सोलह भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया है। आप निरन्तर शोध खोज के कार्य में संलग्न रहते हैं।

आपके अन्दर जहाँ सीखने की प्रबल भावना है, वहीं जिनवाणी के गूढ़ रहस्यों को खोलने, खोजने की ललक भी है। परिणामतः 2018 के भगवान बाहुबली महामस्तकाभिषेक श्रवणवेलगोला प्रवास में कन्नड़ भाषा में लिपिबद्ध ग्रन्थों को पढ़ने की भावना हुई। गुरु आज्ञा प्राप्त कर विपरीत परिस्थितियों में कन्नड़, हाड़ेकन्नड़ का ज्ञान प्राप्त किया। अनेक ताड़पत्रीय ग्रन्थों को संकलित कर अध्ययन कर रहे हैं। इसमें कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं।

आपने उत्तर भारत आकर अनेक युवक-युवतियों को कन्नड़ भाषा सिखाई है, जिससे शताधिक युवा कन्नड़ लिपि के ग्रन्थों के अनुवाद में सहयोग कर रहे हैं। इस प्रकार से **श्रमण मुनि आदित्यसागर जी महाराज** जैनागम साहित्य भण्डार को संवर्धित तो कर ही रहे हैं साथ ही कन्नड़ भाषा एवं लिपि को पढ़ाकर आगामी काल में अनेक ग्रन्थों को हिन्दी संस्कृत में लिप्यान्तर कर जन-जन का विषय बना रहे हैं। आपका यह कार्य स्वपर कल्याणकारक है। आपके द्वारा किये गये ''सत्यार्थबोध'' के प्राकृत अनुवाद में नीति के अनेक बिन्दुओं को केन्द्रित विषय का प्रतिपादन किया है। इसमें आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज ने 31 जनोपयोगी विषयों पर नीति वाक्यों का सृजन किया है। जो दृष्टव्य हैं—

(1) अहिंसा (2) सत्यता (3) अचौर्य (4) ब्रह्मचर्य (5) अपरिग्रह (6) मैत्री (7) प्रमोद (8) कारुण्य (9) माध्यस्थभाव (10) विवेक (11) धैर्य (12) दया (13) दम (14) त्याग (15) समाधि (16) गुरु (17) शिष्य (18) अध्यात्मयोग (19) संस्कार (20) आत्मतत्त्व (21) सहज- जीवन (22) पुण्य-पाप (23) आस्था (24) कर्म (25) अप्रमाद (26) सोच (27) अनुग्रह (28) धर्म क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य (29) शिक्षा (30) व्यसन—जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्रीरमण, पिशुन दिवाशयन, निंदा, गीतश्रवण, नृत्यदर्शन, वादित्र श्रवण, वृथागमन, ईर्ष्या, साहस, अर्थ दूषण, अकारण वध, द्रव्य हरण, कर्कश वचन, दण्ड पारुष्य (31) सदाचार।

करुणा, दया, अनुकम्पा सब अहिंसा के अंग है। अहिंसा के अभाव में जाप अनुष्ठान पूजा विधान सब व्यर्थ है। 1/8। विश्व में शान्ति आनन्द का संदेश देना है तो अहिंसा के माध्यम से ही दिया जा सकता है। 1/10। जिस प्रकार सरिता का शीतल जल प्राणियों को शीतलता प्रदान करती है उसी प्रकार सज्जनों के संस्कारित वचन प्राणियों को शीतलता प्रदान करते हैं। 2/8। जो विद्यार्थी जीवन में स्व वीर्य की पूर्ण रक्षा करता है उसे सरस्वती सिद्ध हो जाती है। 4/11। सहस्त्रों अज्ञानी मित्रों की अपेक्षा एक ज्ञानी शत्रु अच्छा है। 6/6। जो गुणीजनों को देखकर मुख मोड़ते हैं उनके अन्दर अभी धर्मत्व भाव का अभाव है। 7/4। मानवता वहीं जीवित रहती है जहाँ करुणा का वास होता है मृत्युदण्ड मानवता नहीं है। दण्ड वह प्रायश्चित विद्या है जिससे व्यक्ति

अपने कृत्य का पश्चात्ताप कर श्रेष्ठ बने। 8/3। स्वामी को सभी के प्रति माध्यस्थता का व्यवहार करना चाहिए। किसी व्यक्ति का सम्प्रदाय के प्रति पक्ष विशिष्ट रखने से शासन नहीं चलता है। 9/6। आकुलता में लिया गया निर्णय हर समय कष्टप्रद होता है। 10/3। धीर पुरुष के धैर्य को देखकर कष्ट भी कष्ट में पड़ जाते हैं। 11/4। कीर्ति धृति का मुख देखती है बिना धृति कीर्ति एक कदम आगे नहीं बढ़ता है। 11/27। जो स्वयं पर दयाभाव रखता है वही अन्य पर दया रख पायेगा। 12/18। जहाँ इन्द्रिय और कषायों का दमन है वहीं जीवन में चमन है। 13/9। इच्छाओं का त्याग ही श्रेष्ठ त्याग है। 14/8। समाधि के पूर्व संयम होना अनिवार्य है बिना यम नियम के समाधि संभव नहीं है। 15/31। पुण्यहीन के श्रेष्ठ गुरु का समागम नहीं होता है। 16/4। गुरु का सान्निध्य बुद्धि की उज्ज्वलता के लिए अनिवार्य अंग है। 16/6। जिस देश में गौवंश एवं शिष्य सम्पदा न हो तो वह देश त्यागने योग्य है। 17/18। अशान्तचित्त को शान्त करने की विद्या अध्यात्म विद्या है। 18/7। धर्म एवं श्रेष्ठ विद्या का रस वहीं रहता है जहाँ सुसंस्कार होते हैं। 19/15। साधुजनों की संगति से सुस्कारों का जन्म होता है। 19/17। तत्त्वज्ञानी सुख दुःख में साम्यभाव का आश्रय लेता है। 20/15 सहजता का जीवन जीना व्यक्ति के लिए एक बड़ी तप साधना है। 21/2। हीन पुण्य के क्षीण होने में अधिक समय नहीं लगता इसलिए प्रतिक्षण जाग्रत रहने की आवश्यकता है। 22/11। तत्त्वज्ञ जीव पुण्योदय और पापोदय दोनों में सामान्य भाव रखता है। 22/19। आस्था की डोर दिखती नहीं परन्तु अंतरंग का दृढ़ बन्धन है जो हाथियों से भी नहीं तोड़ा जा सकता। 23/1। ऐसा आचरण करो जिससे आस्थाविहीन भी सत् पथ पर आस्थापूर्वक चलने लगे। 23/3। स्वयं कर्म करे कर्ता किसी को कहे यही महामूढ़ता है। 24/2। सिद्धान्त का बोध व्यक्ति की सोच को शौच बना देता है। 24/19। प्रमाद आलस्य व अशुभ आदत इन तीनों में से यदि एक भी जीवन में आ जाए तो जीवन का विकास रूक जाता है। 25/8। कर्म वह शक्ति है जो जीव को संसार में बांधकर रखती है। 24/30। कालकूट विषय से भी अधिक विषाक्त प्रमाद है प्रमाद और हीन भावना को सहन करने में असमर्थ होते हैं कायर का जीवन जीते हैं और मृत तुल्य है। 25/12। व्यक्ति के सोच पर ही बंध और मोक्ष अवलंबित है। 26/2। व्यक्ति और वस्तु को ठीक मत करो वह तो पर पदार्थ है स्व का सोच ठीक करो। 26/4। सज्जन पुरुष कभी भी अपने उपकारी के उपकार को विस्मरण नहीं करते हैं। 27/8। आत्मधर्म ही मुख्य धर्म है, उस धर्म की प्राप्ति हेतु शोध धर्म है। 28/15। सज्जन पुरुष हितकारी शिक्षा को अवश्य ही स्वीकार करते हैं।30/4।

इस प्रकार आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने नीति वाक्यों का सृजन कर जनसामान्य का परोपकार तो किया ही है साथ ही शिष्टाचार, सदाचार सम्यक् आचरण, सकारात्मक चिन्तन और आत्महित के साथ सामाजिक हित को भी उत्साहित करते हुए सर्व वर्ग के व्यक्तियों को सन्मार्ग पर गतिमान किया है। यह वे नीति वाक्य हैं, जिन्हें युगों-युगों तक अपने जीवन में चरितार्थ कर व्यक्ति अपने आपको धन्य मानेगा।

इन नीति वाक्यों को हिन्दी से प्राकृत भाषा में अनुवादित कर **श्रमण मुनि आदित्यसागर जी महाराज** ने जैन साहित्य भंडार को तो समृद्ध किया ही है साथ ही उन्हें प्रमाणित की कसौटी पर खरा उतारकर उन्हें जनमानस के अन्तः पटल पर अंकित करने का सफलतम कार्य किया है। जिसे युगों-युगों तक श्रद्धा भक्ति के साथ पढ़ा एवं अनुकरण किया जायेगा।

प्रास्ताविक

डॉ० पंकज जैन शास्त्री, भोपाल

इन्दौर, (म.प्र.)

शताब्दी देशनाचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज ने 'सत्यार्थ बोध' कृति में वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया है। सत्य का साक्षात्कार तो वस्तुतः वीतरागता और समत्व की कठिन साधना से ही किया जा सकता है, परन्तु साधक की गहन आत्मानुभूतियाँ जब उनकी लेखनी से शब्दरूप लेकर अभिव्यक्त होती हैं तो वे सत्यार्थी जीवों के लिए सत्यार्थ बोध की यात्रा में एक प्रबल प्रेरक निमित्त तो बन ही जाती हैं।

मुक्तिपथ के अप्रतिम और अडिग साधक पूज्य आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज ने अपनी गहन आध्यात्मिक साधना से वस्तुस्वरूप के अनैकान्तिक स्वरूप का यथार्थ अनुभव करके जिस अभूतपूर्व आत्मानन्द का रसपान किया है, आचार्यश्री ने निःस्वार्थ भाव से परम वात्सल्यपूर्वक भव्यात्माओं को उस अनुभूत आत्मानन्द का रसपान सत्यार्थ बोध कृति में कराया है। जन-जन के कल्याण की भावना से आचार्यश्री ने इस कृति का सृजन हिन्दी भाषा में किया है।

आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज के आज्ञानुवर्ती, प्राकृत महोदधि, जिनधर्म-प्रभावक श्रुतसंवेगी मुनिश्री आदित्यसागर जी महाराज ने सत्यार्थ बोध की सार्वकालिक महत्ता को प्रतिष्ठापित करने के लिये इस कृति को प्राच्य भाषा प्राकृत में अनूदित किया है। श्रुतसंवेगी पूज्य मुनिश्री आदित्यसागर जी महाराज ने अद्यावधि लगभग चालीस हजार गाथा प्रमाण प्राकृत ग्रन्थों का सृजन किया है। पूज्य मुनिश्री द्वारा सृजित यह विशाल ग्रन्थ राशि न केवल परिमाण की दृष्टि से विशाल है, वरन भाषा और भाव की दृष्टि से भी महनीय है। प्राकृत साहित्यसृजन की यह असाधारण यात्रा पूज्य मुनिश्री की विलक्षण प्रतिभा और अथक सारस्वत पुरुषार्थ की परिचायक है।

श्रुतसंवेगी पूज्य मुनि श्री आदित्यसागर जी महाराज ने प्राकृत भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अकल्पनीय पुरुषार्थ किया है। प्राकृत भाषा में निबद्ध शताधिक प्राचीन ग्रन्थों का भाषात्मक दृष्टि से सूक्ष्म अध्ययन किया है। प्राकृत भाषा के व्याकरण सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का भाषा विज्ञान की दृष्टि से व्यापक अध्ययन किया है। **साथ ही दक्षिण भारत के कर्नाटक आदि प्रान्तों की यात्रा करके दुर्गम और सुदूर क्षेत्रों में पहले कन्नड़ लिपि में उपलब्ध प्राचीन प्राकृत पाण्डुलिपियों का भी श्रमसाध्य अध्ययन किया है।** इस अनवरत श्रुत साधना के फलस्वरूप पूज्य मुनिश्री प्राकृत व्याकरण और छंद शास्त्र के सिद्धहस्त निष्णात विद्वान् बन चुके हैं। आपकी रचनाएँ व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण परिनिष्ठित रहती हैं। **उनमें संज्ञा, धातु, क्रियापद, प्रत्यय एवं अव्यय आदि का इतना प्रचुर प्रयोग किया गया है कि पूज्य मुनिश्री**

आदित्यसागर जी महाराज की रचनाओं की अप्रमित शब्दराशि से अनेक शब्दकोशों का निर्माण हो सकता है।

वर्तमान में भारत सरकार जिस नयी शिक्षा नीति पर विशेष बल दे रही है, उसमें भारतीय प्राच्य भाषाओं के अध्ययन, शिक्षण एवं प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस दृष्टि से पूज्य मुनिश्री आदित्यसागर जी महाराज के द्वारा प्राकृत भाषा के संरक्षण एवं उत्थान के लिये किये जा रहे उपक्रमों का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। **पूज्य मुनिश्री प्राकृत भाषा में साहित्य सृजन के साथ-साथ प्राकृत भाषा के शिक्षण शिविरों के माध्यम से नयी पीढ़ी के लिये सरल और सुबोध शैली में प्राकृत का पठन-पाठन भी करा रहे हैं।** इससे नयी पीढ़ी प्राकृत शास्त्रों को पढ़ने ओर समझने में सक्षम हो रही है। पूज्य मुनिश्री के इन प्रयासों से प्राकृत भाषा में उपलब्ध प्राचीन और नवीन ग्रन्थ नयी पीढ़ी के लिये केवल श्रद्धा और पूजा-अर्चना तक सीमित नहीं रह गये हैं। नयी पीढ़ी प्राकृत भाषा में निबद्ध शास्त्रों का स्वयं अध्ययन करके इनमें निबद्ध अमूल्य आध्यात्मिक रहस्यों और मानवीय मूल्यों को आत्मसात् करके अपने जीवन को सम्यक् दिशा प्रदान कर रही है।

प्राचीन जैन आगम ग्रन्थों की भाषा प्राकृत के उत्थान एवं नयी पीढ़ी को संस्कारित करने के लक्ष्य की संपूर्ति हेतु पूज्य मुनिश्री आदित्यसागर जी महाराज ने अपने गुरु महान् अध्यात्म योगी आचार्य श्री विशुद्धसागर जी की हिन्दी भाषा की गद्य शैली में नीति और अध्यात्म से आप्लावित 'सत्यार्थ बोध' कृति को प्राकृत में अनूदित करने का अभूतपूर्व कार्य किया है। 'सच्चत्थ-बोहो' शीर्षक से अनूदित यह अमूल्य कृति गुरु के प्रति अगाध समर्पण एवं श्रुत सपर्या के साथ-साथ एक और उद्देश्य की संपूर्ति करती है। वह उद्देश्य यह है कि प्राकृत भाषा में अनूदित होकर यह कृति भाषा की दृष्टि से मूल आगम ग्रन्थों की श्रेणी में स्थान प्राप्त करके स्वाध्यायी श्रावकों के मध्य शास्त्र-पीठिका तक पहुँच सकेगी।

यदि ''सत्यार्थ-बोध'' (सच्चत्थ-बोहो) को पर विषय की दृष्टि से दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि यह कृति अपने विषय वैशिष्ट्य के कारण अनुपम और अद्वितीय है। इसमें पूज्य आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज ने अपनी आध्यात्मिक साधना, सतत ज्ञानाराधना एवं गहन मौलिक चिंतन से निश्रित अमृत बिन्दुओं का संग्रह किया है। इस कृति में अहिंसा, सत्यता, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य-भाव, विवेक, धैर्य, दया, दम (संयम), त्याग, समाधि, गुरु, शिष्य, अध्यात्म-योग, संस्कार, पुण्य-पाप, आस्था, कर्म, धर्म, सोच, शिक्षा एवं सदाचार आदि इकतीस विषयों पर शास्त्रीय दृष्टि के साथ-साथ व्यावहारिक दृष्टि से विचार मंथन किया गया है। **यदि इस कृति को 'आधुनिक कुरल काव्य' कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।**

पूज्य प्रज्ञाश्रमण श्रुतसंवेगी मुनिश्री आदित्यसागर जी महाराज ने इस कृति को जिस सरसता और सौष्ठव से प्राकृत भाषा में अनूदित किया है उससे इस कृति के अध्ययन का आनन्द अपरिमित रूप से वृद्धिंगत हुआ है। मूल ग्रन्थ के प्राकृत अनुवाद का अध्ययन करने पर विद्वान् पाठकगण अनुभव करेंगे कि कुशल अनुवादक पूज्य मुनिश्री आदित्यसागर जी महाराज ने शब्दशः अनुवाद करके मूल कृतिकार के भावों की पूर्ण रक्षा की है। साथ ही विषय को और अधिक स्पष्ट भी कर दिया है।

अहिंसा धर्म की महत्ता प्रतिपादित करते हुए सत्यार्थ-बोध में लिखा है कि—''विश्व-शान्ति प्रदायक धर्म

अहिंसा है। विश्व-मैत्री का जनक अहिंसा है। ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण गुण अहिंसा में विद्यमान हैं।'' इसका प्राकृत अनुवाद करते हुए 'सच्चत्थ-बोहो' में श्रुतसंवेगी पूज्य मुनिश्री आदित्यसागर जी महाराज ने लिखा है कि—**''अहिंसा विस्स-संति-दायगो धम्मो। सा विस्समित्ती जणगा वि। लोयस्स सयलगुणा अहिंसाए विज्जमाणा।''**

उपर्युक्त अनुवाद शब्दशः है, परन्तु पूज्य मुनिश्री ने 'ब्रह्माण्ड' शब्द का शब्दशः प्राकृतीकरण नहीं किया है। इसका कारण यह है कि 'ब्रह्माण्ड' शब्द लोकव्यवहार की दृष्टि से प्रचलित है, परन्तु जैन आगम ग्रन्थों की दृष्टि से 'लोक' शब्द और अधिक व्यापक अर्थ प्रदान करता है।

सम्पूर्ण सत्यार्थ-बोध आत्म-जागृति और अन्तः प्रेरणा प्रदान करने वाले दुर्लभ सुनीति वाक्यों से परिपूरित है। प्राकृत अनुवाद से ग्रन्थ के सुनीति वाक्यों की हृदयग्राहिता वृद्धिंगत हो गयी है।

'सत्यार्थ-बोध' में कृतिकार आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज ने समाधि की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि—विश्व मैत्री को स्थापित करने की कला समाधि है। समाधि में लीन योगी के लिए ब्रह्माण्ड में कोई भी प्राणी शत्रु के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता, वहाँ शत्रु-मित्र के विकल्प का ही अभाव हो जाता है। सम्पूर्ण वसुन्धरा सामान्य प्रतिभासित होती है, यह योग विद्या का अपूर्व अचिन्त्य प्रभाव है।

उपर्युक्त नीतिवाक्य का शब्दशः अनुवाद बड़ा ही प्रभावी है। अनुवादकार लिखते हैं कि—**वीसमेत्तिं ठाविदकरणकला समाही। समाहि-रत्तजोगिस्स वीसे कोवि पाणी रिवूरूवे ण दिस्सेदि, तत्थ मित्तामित्त-वियप्प-अभावो होदि। सयल-वसुंधरा सामण्णा दिस्सेदि, अयं जोगविज्जाए अपुव्व-अचिंत-पहावो त्ति।।**

कुछ स्थलों पर ग्रन्थ का अनुवाद इतना सुगम है कि प्राकृत भाषा का सामान्य ज्ञाता भी शब्दार्थ और भावों को ग्रहण कर लेता है। जैसे गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए 'सच्चत्थ-बोहो' में लिखा है कि—**''दिव्व-पयासगो गुरू, गुरुपयासं विणा तच्चबोहो णत्थि तहा तच्चबोह-अभावे आदसोहो वि असंभवो। आदबोह-आदसोहेण भवियो रूवादीद-अवत्थं भजेदि।** इसी प्रकार शिष्य के कर्तव्य पर प्रकाश डालते हुए 'सच्चत्थ-बोहो' में लिखा है कि—**सिस्सो कदावि सग-गुरुं कुविदं ण कुणेदु, तं पडि वीसासघादं ण कुणेदु तहा सदा तस्स आणं पालेदु, एवमेव सिस्स-कत्तव्वं।।**

अन्त में सत्यार्थ-बोध (सच्चत्थ-बोहो) के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि मात्र शब्दों से इस कृति का मूल्यांकन संभव नहीं है। **इस कृति के कृतिकार देशनाचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज एवं अनुवादक श्रुतसंवेगी पूज्य मुनिश्री आदित्यसागर जी महाराज ने इस कृति के लेखन और अनुवादन में अपनी अनुभव एवं चिंतन संपदा की अूल्य निधि भव्यात्माओं के कल्याणार्थ लोकार्पित कर दी हैं,** इसलिये इस अनुपम कृति के अध्ययन के साथ-साथ श्रवण, मनन एवं नित्याध्ययन से ही कृतिकार एवं अनुवादक के पवित्र उद्देश्य की संपूर्ति संभव है।

प्रस्तावना

प्राकृतमनीषी श्रुतसंवेगी
श्रमणरत्न आदित्यसागर जी

सत्यार्थ-ज्ञान की प्राप्ति सत्यार्थ-साहित्य से ही संभव है और सत्यार्थ-बोध कराने वाले साहित्य से ही संस्कृति की रक्षा संभव है। भरत चक्रवर्ती के इस भारत देश में अनेकों गुरुलघु संस्कृतियाँ पल्लवित हुईं। **उन सभी गुरुलघु संस्कृतियों में से गुरुता को प्राप्त प्राच्य दिगंबर जैन श्रमण-संस्कृति अनादि-निधन सनातन संस्कृति है।**

सिर्फ कहने मात्र से कोई भी संस्कृति सनातन नहीं कही जा सकती। पहले उसे तर्क और युक्ति की कसौटी पर कसा जाता है, पश्चात् सत्यार्थ निर्णय सामने आता है। **जिस संस्कृति का कोई कर्त्ता-हर्ता हो उसका अभाव सुनिश्चित है, उसे सनातन नहीं कहा जा सकता है।** कहा भी है—**'जं किंचिवि उप्पण्णो, तस्स विणासो हवदि णियमेण। –** ***कार्तिकेयानुप्रेक्षा।।*** प्राच्य दिगंबर जैन श्रमण संस्कृति किसी के भी द्वारा बनाई नहीं गई, वो तो थी, है और रहेगी। आदिब्रह्मा प्रथमतीर्थेश भगवान् वृषभदेव से लेकर 24वें तीर्थंकर वर्धमानस्वामी तक सभी तीर्थंकर भगवंतों ने स्वयं सनातन श्रमण संस्कृति में जन्म लेकर उसका गुणगान किया, उसमें कथित आचार-विचारों को ग्रहण करके दीक्षा धारण करी तथा पर्याय के अंत में निर्वाण/शिवधाम प्राप्त कर उसे गौरवान्वित भी किया है।

सत्यार्थ-भाव से चिंतन किया जाये तो आप पायेंगे कि सत्यार्थ सनातन श्रमण संस्कृति का प्रासाद मुख्य चार स्तंभों में टिका हुआ है। ये स्तंभ हैं—**1. श्रमण, 2. श्रावक, 3. साहित्य, 4. पुरातत्त्व।** जो सर्वविध परिग्रह और पापों के त्यागी हैं और पूर्णरूप से अहिंसा का परिपालन करते हैं; वे **श्रमण** कहे जाते हैं। जो श्रद्धावान, क्रियावान और विवेकवान हों, सत्यार्थश्रद्धान से युक्त हों तथा श्रद्धान के अनुरूप आचार-विचार के धारक भी हों; वे **श्रावक** कहे जाते हैं। जो सर्वसत्त्व-प्राणियों के हितार्थ व्याख्यान करता हो, उसे **साहित्य** जानना चाहिये। जो सत्यार्थ-साहित्य को चित्रित करे, उसे **पुरातत्त्व** समझना चाहिये।

● जैनधर्म-जैनदर्शन ही विश्व-सनातन-धर्म

कहा जाता है कि स्वर्ण को किसी कसौटी या अग्नि से डर नहीं लगता, क्योंकि वह जानता है कि वह स्वर्ण है। चाहे उसे घिसा जाये, काटा जाये या फिर पिघलाया जाये, स्वर्ण तो स्वर्ण ही रहेगा। ठीक इसी प्रकार जैनदर्शन सनातन श्रमण संस्कृति को चाहे जिस तर्क की कसौटी पर घिसा जाये, चाहे जिस युक्ति के अस्त्र-शस्त्र से काटा जाये अथवा सत्य की भट्टी में परीक्षित भी क्यों न किया जाये तो भी वह सनातन-संस्कृति ही सिद्ध होगी। ध्यान रखें—**''भीड़ सत्य का प्रमाणपत्र नहीं होती, भीड़ तो जादूगर के पास भी देखी जाती है। भीड़ सत्य नहीं होती, सत्य के पीछे भीड़ अवश्य हो सकती है।''**

जैनधर्म जैनदर्शन ही विश्व सनातन धर्म और दर्शन है, इसे सिद्ध करने वालों के पास तर्क, युक्ति, प्रमाण आदि सभी सत्यार्थ अस्त्र-शस्त्र हैं। विशेष बात यह है कि जो ऐसा नहीं मानते, उन्हें स्व कुतर्कों को एवं स्वहठ को छोड़कर अपने ही कल्पित-ग्रन्थों को देख लेना चाहिये। जैनदर्शन की सनातनता के प्रमाण स्वयं को सनातन कहने वालों की पोथियों में स्वयं उल्लिखित हैं, फिर वो चाहे वेद हों या फिर पुराण। **जैनदर्शन में प्राप्त विपुल सत्यार्थ-साहित्य तथा उसके सिद्धान्त इस बात को प्रामाणिकता देते हैं कि सनातन संस्कृति जैनसंस्कृति ही है।**

- **भारतीय-साहित्य में जैन साहित्य का महत्त्व एवं स्थान**

भारतीय साहित्य वाङ्मय में जैन साहित्य का स्थान उच्चतम है। यदि भारतीय साहित्य में से जैन साहित्य को हटा दिया जाये तो लगभग खाली ही हो जायेगा। वर्तमान में प्राप्त साहित्य में से 70% साहित्य जैनदर्शन के पास है। **प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, तेलगू, हिन्दी, राजस्थानी, डुंडारी आदि अनेकों भाषाओं में प्राप्त साहित्य प्रायः जैनदर्शन के ही पास है।** लिपियों की जननी कही जाने वाली ब्राह्मी लिपि के दातार स्वयं प्रथम तीर्थेश वृषभ देव ही थे। ब्राह्मी लिपि से ही सर्वप्रथम ग्रन्थलिपि का निर्माण हुआ जो आगे जाकर तमिल-लिपि बन गई। कन्नड़, हिन्दी आदि लिपियाँ भी ब्राह्मी लिपि से ही उद्भूत हुई हैं।

सनातन सत्यार्थ श्रमण संस्कृति में प्राप्त विपुल साहित्य विपुल विषयवस्तुओं से परिपूर्ण है। लगभग सभी विधाओं में जैनसाहित्य संप्राप्त है। **प्राच्य सनातन श्रमण संस्कृति वाङ्मय में वर्णित सिद्धान्त, कथा-साहित्य, काव्य-विद्या, जीवाजीव-विज्ञान-विद्या, नीति-विद्या, भूगोल-विद्या, कृषि विज्ञान-विद्या, गृहनिर्माण-विद्या, गान-विद्या, नृत्य-विद्या, औषध-विद्या (आयुर्वेद), अध्यात्म-विद्या (आत्मज्ञान), शब्द-विद्या (व्याकरण), लिपिविज्ञान-विद्या, नयप्रमाण-विद्या, तर्क-विद्या, यन्त्र-विद्या, मन्त्र-विद्या, तन्त्र-विद्या, ज्योतिष-विद्या, वास्तुविज्ञान-विद्या, योग-विद्या, ध्यान-विद्या, अलंकार-विद्या, छान्दस्-विद्या, गणित-विद्या प्रभृति** सहस्त्रों विषयों के साथ-साथ मोक्ष के साक्षात् कारणभूत **चारित्र-विषयक सत्यार्थ-साहित्य** सकल विश्व में पूज्य, स्तुत्य, वंदनीय है।

सिद्धान्त के विषय में षट्खण्डागम-ग्रन्थ, कथा-साहित्य में पद्मपुराण, काव्य-विद्या में चन्द्रप्रभचरित्र, जीवाजीवविज्ञान-विद्या में गोम्मटसार, नीति-विद्या में नीतिवाक्यामृत, भूगोल-विद्या में तिलोयपण्णत्ति, नृत्य-गान-विद्या में संगीत-समयसार, औषध-विद्या में कल्याणकारक और पुष्पायुर्वेद, अध्यात्म-विद्या में समयपाहुड, शब्द-विद्या में जैनेन्द्रव्याकरण, लिपिविज्ञान-विद्या में ब्राह्मीलिपि प्रशिक्षण, नयप्रमाण-विद्या में नयचक्र-न्यायविनिश्च-अष्टसहस्त्री आदि, तर्क-विद्या में प्रमा-प्रमेय, यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र विद्या में लघुविद्यानुवाद और भद्रबाहुसंहिता आदि, ज्योतिष-विद्या में तिलोयसार, भारतीय जैन ज्योतिषादि, सर्वावश्यक चारित्र-विद्या में मूलाचारादि, वास्तुविज्ञान-विद्या में वत्थुसार, ध्यानविद्या में झाणज्झयणपाहुड, ज्ञानार्णवादि, अलंकार-विद्या में अलंकार-चिंतामणि, छान्दस्-विद्या में छन्दशास्त्र, गणित-विद्या में गणितसार आदि अनेकों ग्रन्थ आज भी समुपलब्ध हैं।

जैन साहित्य में भी अधिकतम एवं प्राचीन साहित्य भगवान महावीर स्वामी के सदुपदेश की भाषा में प्राकृतभाषा में ही है। **जैन वाङ्मय की विषयवस्तु एवं प्रतिपादन-शैली अपने आप में भिन्न एवं शिरमोर है। इस बात को कुछ संस्कृतियाँ मुक्त-हस्त से स्वीकारती हैं और कुछ मूक-हस्तों से, मगर समझते**

सब लोग सब कुछ ही हैं। भारतीय साहित्य सम्पदा यद्यपि अपने बौद्धिकबल, आचरण, चिंतन, प्रज्ञा-पटुता से लबालब भरी है तथापि जैन साहित्य सम्पदा के बल पर ही यह बात सार्थक हो पायेगी। अस्तु भारतीय साहित्य सम्पदा में जैन साहित्य का महत्त्व एवं स्थान सर्वोच्चता को प्राप्त है, इसमें किंचित् भी संशय नहीं है।

● साहित्य-सम्पदा में दिगंबर जैनाचार्य एवं जैनश्रमणों की भूमिका

साहित्य हमारी बुद्धि, मन और चारित्र के साथ-साथ व्यक्तित्व को भी विराटता देने में मित्रवत् सहयोगी सिद्ध होता है। इस साहित्य-शिरोमणि प्राच्य जैन सनातन श्रमण संस्कृति को गौरवमय बनाने के लिये प्राचीन निर्ग्रंथ जैनाचार्यों, ज्ञानयज्ञ में तल्लीन तपस्वी श्रमणों ने अपनी साधना से अपने बहुमूल्य समय को निकालकर सत्यार्थ-साहित्य की संरचना करके साहित्य-वाङ्मय के लिये अपना महत्त्वपूर्ण एवं घोर-परिश्रम युक्त योगदान दिया है। इस योगदान के माध्यम से उन सभी ने स्वविवेक को जाग्रत करने की सत्यार्थ-प्रेरणा दी, क्योंकि संसार में अविवेक से बड़ा अपकारक अन्य कोई नहीं। संसारी प्राणी जो भी कष्ट भोगता है, चिंता कलह-ईर्ष्या करता है, आत्महत्या जैसे अपराध करता है अथवा जितने भी अनर्थकारीकार्य होते हैं, वे अविवेक के बिना सम्भव ही नहीं हैं, अतः **सुखी, प्रशंसनीय जीवन जीने के लिये विवेक बहुत आवश्यक है।**

साहित्य-सृजक पूर्वाचार्यों, निर्ग्रंथ बहुश्रुतज्ञ श्रमणवृन्दों ने गुरुपरंपरा, आगम-अध्ययन, स्वपुष्कल-प्राञ्जलप्रज्ञा, स्वानुभव के साथ-साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को ज्ञान में रखते हुये साहित्य का सृजन किया। केवल सृजन ही नहीं, अपितु उनकी प्रतिलिपियाँ करके अनेकों स्थानों में भी संस्थापित किया। ग्रन्थरचनाकारों की पंक्तियों में सर्वप्रथम जैनाचार्य हुये श्री गुणधराचार्य। उन्होंने "**पेज्जदोसपाहुड**"/ **कसायपाहुड** की रचना करी। आचार्य गुणधरस्वामी के पश्चात् उनकी पीठ पुजी और आचार्य शिवार्यस्वामी ने "**मूलाराधना**" लिखी। आचार्य अर्हद्बलि स्वामी ने "**क्रियासार**" ग्रन्थ का सृजन किया। श्रीधरसेनाचार्य ने आयुर्वेद-शास्त्र "**जोणिपाहुड**" की रचना की। इन पूर्वाचार्यों के अलावा सहस्रों और भी जैनाचार्य हुये जिन्होंने सत्यार्थ-साहित्य का लेखन करके भारतीय-वाङ्मय को गौरव प्रदान किया है। उनमें से कुछ ग्रन्थों और उनके कर्त्ताओं के नाम यहाँ देखते हैं—

क्र.	नाम (आचार्य/मुनि)	ग्रन्थनाम	क्र.	नाम (आचार्य/मुनि)	ग्रन्थनाम
1.	श्री पुष्पदंत-भूतबलिस्वामी	षट्खंडागम	2.	श्री कुंदकुंदस्वामी	समयपाहुडादि 84 पाहुड ग्रंथ
3.	श्री उमास्वामी	तत्त्वार्थसूत्र	4.	श्री समन्तभद्रस्वामी	आप्तमीमांसा आदि ग्रन्थ
5.	श्री कुमारस्वामी	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	6.	श्री श्रीदत्ताचार्य	जल्प निर्णय
7.	श्री मल्लवादीस्वामी	द्वादशारनयचक्र	8.	श्री सर्वनंदिस्वामी	लोकविभाग
9.	श्री पूज्यपाद देवनंदिस्वामी	सर्वार्थसिद्धि आदि	10.	श्री वज्रनंदिस्वामी	प्रमाण ग्रन्थ
11.	श्री योगेन्दुस्वामी	परमात्मप्रकाश	12.	श्री सिद्धसेन दिवाकर	सम्मइसुत्तं
13.	श्री पात्रकेसरीस्वामी	पात्रकेसरी स्तोत्र	14.	श्री ऋषिपुत्र	निमित्तशास्त्र
15.	श्री मानतुंगाचार्य	भक्तामरस्तोत्र	16.	श्री भट्टाकलंकस्वामी	राजवार्तिकादि
17.	श्री तिरुतक्कतेवर	जीवनचिंतामणि	18.	श्री प्रभाचन्द्रस्वामी	तत्त्वार्थसूत्र द्वितीय
19.	श्री रविषेणस्वामी	पद्मपुराण	20.	श्री कुमारसेनाचार्य	आप्तमीमांसावृत्ति
21.	श्री सुमतिदेवस्वामी	सन्मतितर्क टीका	22.	श्री जटासिंहनंदिस्वामी	वरांगचरित

23.	श्री बुद्धस्वामी	बृहत्कथाश्लोकसंग्रह	24.	श्री अपराजितस्वामी	विजयोदयाटीका
25.	श्री जिनसेन स्वामी-1	हरिवंश पुराण	26.	श्री अनन्तकीर्तिस्वामी	प्रामाण्यभंग
27.	श्री वादीभसिंहसूरि	क्षत्रचूड़ामणि	28.	श्री विद्यानंदस्वामी	आप्तपरीक्षा आदि
29.	श्री उद्योतनाचार्य	कुवलय माला	30.	श्री वीरसेनस्वामी	धवला टीका
31.	श्री कुमारनंदिस्वामी	वादन्याय	32.	श्री श्रीधराचार्य	ज्योतिर्ज्ञानविधि
33.	श्री महावीराचार्य	गणितसार	34.	श्री जिनसेनाचार्य-2	आदिपुराण
35.	श्री उग्रादित्याचार्य	कल्याणकारक	36.	श्री गुणभद्राचार्य	उत्तरपुराण
37.	श्री गोलाचार्य	उत्तरपुराण (शेष)	38.	श्री सिद्धर्षि	भवप्रपंचकथा
39.	श्री अमृतचंद्राचार्य	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	40.	श्री माधवचंद्राचार्य	त्रिलोकसार टीका
41.	श्री अमितगतिस्वामी-1	योगसार-प्राभृतादि	42.	श्री अभयनंदिस्वामी	जैनेंद्रमहावृत्ति
43.	श्री हरिषेणाचार्य	बृहत्कथाकोश	44.	श्री देवसेन-2	दर्शनसार
45.	श्री कुलभद्राचार्य	सारसमुच्चय	46.	श्री इंद्रनंदिस्वामी	श्रुतावतार
47.	श्री कनकनंदिस्वामी	सत्त्वत्रिभंगी	48.	श्री सोमदेवस्वामी	नीतिवाक्यामृतादि
49.	श्री भट्टवोसरि	आयज्ञान	50.	श्री रविभद्र	आराधनासार
51.	श्री वीरनंदि-2	आचारसार	52.	श्री प्रभाचन्द्र-4	प्रमेयकमलमाला
53.	श्री कनकामरस्वामी	करकंडु चरिउ	54.	श्री महासेनस्वामी-2	प्रद्युम्न चरित्र
55.	श्री अनंतवीर्य-1	सिद्धि विनिश्चयवृत्ति	56.	श्री पद्मनंदि-4	जंबूदीवपण्णत्ति
57.	श्री चामुंडरायमुनि	चारित्रसार	58.	श्री नेमिचन्द्राचार्य	गोम्मटसारादि
59.	श्री हरिषेणाचार्य	धम्मपरिक्खा	60.	श्री नयनंदि-1	सुदंसण-चरिउ
61.	श्री शान्त्याचार्य	जैनतर्कवार्तिकवृत्ति	62.	श्री क्षेमंधरस्वामी	बृहत्कथामंजरी
63.	श्री माणिक्यनंदिस्वामी-2	परीक्षामुखसूत्र	64.	श्री शुभचंद्राचार्य	ज्ञानार्णव
65.	श्री वादिराज-2	एकीभावस्तोत्र	66.	श्री पद्मसिंद स्वामी	ज्ञानसार
67.	श्री दुर्गदेव स्वामी	रिष्ट-समुच्चय	68.	श्री धवलाचार्य	हरिवंश
69.	श्री पद्मनंदि-5	पद्मनन्दि पंचविंशतिका	70.	श्री श्रीचन्द्राचार्य	पुराणसार
71.	श्री नेमिचन्द्राचार्य	दव्वसंगह	72.	श्री वसुनंदिस्वामी	प्रतिष्ठापाठादि
73.	श्री देवसेनाचार्य-3	सुलोयणा चरिउ	74.	श्री पद्मकीर्ति	पासणाह चरिउ
75.	श्री श्रुतकीर्ति	पंचवस्तु टीका	76.	श्री ब्रह्मदेवसूरी	द्रव्यसंग्रह टीका
77.	श्री नरेन्द्रसेन-1	सिद्धांतसार संग्रह	78.	श्री जयसेनाचार्य-5	कुंदकुंदत्रयी टीका
79.	श्री जिनचंद्राचार्य-3	सिद्धान्तसार	80.	श्री चन्द्रप्रभाचार्य	प्रमेयरत्नकोश
81.	श्री वादीभसिंह सूरी	स्याद्वादसिद्धि	82.	श्री गोविंदाचार्य	कर्मस्तव-वृत्ति
83.	श्री नयसेनाचार्य	धर्मामृत	84.	श्री योगचन्द्राचार्य	दोहासार
85.	श्री अनन्तवीर्यलघु	प्रमेयरत्नमाला	86.	श्री वीरनंदिस्वामी-4	आचारसार
87.	श्री श्रीधरस्वामी-4	पासणाह चरिउ	88.	श्री पद्मप्रभमल्लधारीदेव	नियमसार टीका

89.	श्री सिंहाचार्य	प्रद्युम्न चरित्र	90.	श्री मल्लिषेणाचार्य	सज्जन चित्तवल्लभ
91.	श्री गुणधरकीर्ति	अध्यात्मतरंगिणी टीका	92.	श्री प्रभाचंद्राचार्य-6	क्रियाकलाप
93.	श्री अमरकीर्तिगणी	णेमिणाह चरिउ	94.	श्री माघनंदि-4	शास्त्रसार-समुच्चय
95.	श्री नेमिचंद्र सैद्धांति	कर्म प्रकृति	96.	श्री पार्श्वदेवस्वामी	संगीत समयसार
97.	श्री देवेन्द्रमुनि	बालग्रह चिकित्सा	98.	श्री रविचन्द्राचार्य	आराधनासार समुच्चय
99.	श्री गुणभद्राचार्य-2	धन्यकुमार चरित	100.	श्री माघवचन्द्र त्रैविद्य	क्षपणासार
101.	श्री अभयचन्द्रस्वामी	स्याद्वाद भूषण	102.	श्री यशःकीर्ति-3	धर्मशर्माभ्युदय
103.	श्री भावसेन त्रैविद्याचार्य	कातन्त्ररूपमाला	104.	श्री अजितसेनाचार्य	शृंगारमंजरी
105.	श्री भास्करनंदि	ध्यानस्तव	106.	श्री नागदेव स्वामी	मदनपराजय
107.	श्री वाग्भट्टाचार्य-2	छन्दानुशासन	108.	श्री श्रुतिमुनि	परमागमसार
109.	श्री वामदेवस्वामी	भावसंग्रह	110.	श्री पद्मनंदिलघु-8	यत्याचार
111.	श्री पद्मनंदिस्वामी-9	भावनापद्धति	112.	श्री पद्मनाभस्वामी	यशोधर चरित
113.	श्री सकलकीर्तिस्वामी	मूल ाचार-प्रदीपादि	114.	श्री यशः कीर्ति-6	जिणरत्तिकहा
115.	श्री सोमदेव सूरी-2	आस्त्रवत्रिभंगी टीका	116.	श्री प्रभाचन्द्राचार्य-10	तत्त्वार्थरत्न
117.	श्री मलयकीर्तिस्वामी	मूलाचार प्रशस्ति	118.	श्री शुभकीर्तिस्वामी	संतिणाह चरिउ
119.	श्री विद्यानंदि-2	सुदर्शन चरित	120.	श्री भानुकीर्तिस्वामी	जीवन्धररास
121.	श्री विजय सिंहाचार्य	अजितनाथपुराण	122.	श्री जिनचंद्रभट्टारक	सिद्धान्तसार
123.	श्री धर्मधराचार्य	नागकुमार चरित	124.	श्री सोमकीर्तिस्वामी	सप्तव्यसन कथा
125.	श्री मेधावीस्वामी	धर्मसंग्रह श्रावकाचार	126.	श्री ज्ञानभूषण-1	तत्त्वज्ञानतरंगिणी
127.	श्री श्रुतसागर सूरी	तत्त्वार्थवृत्ति आदि	128.	श्री महनंदिस्वामी	पाहुड दोहा
129.	श्री श्रुतकीर्तिस्वामी	हरिवंशपुराण	130.	श्री रत्नकीर्ति-3	भद्रबाहु चरित
131.	श्री ज्ञानभूषणस्वामी-2	कर्मप्रकृति टीका	132.	श्री सकलभूषणभट्टारक	उपदेश माला
133.	श्री वादिचन्द्रस्वामी	पवनदूत	134.	श्री चन्द्रकीर्तिस्वामी	पार्श्वनाथ पुराण
135.	श्री सोमसेनभट्टारक	शब्दरत्नप्रदीप	136.	श्री ज्ञानकीर्तिदेव	यशोधर चरित
137.	श्री अभयकीर्ति	अनन्तव्रत कथा	138.	श्री पार्श्वकीर्ति	सुदर्शन चरित
139.	श्री कुंथुसागराचार्य (ऐनापुरवाले)	भावत्रयफलप्रदर्शी आदि ग्रन्थ	140.	श्री विरागसागराचार्य	रत्नत्रयवर्धिनी टीका आदि
141.	श्री विशुद्धसागराचार्य	वस्तु महाकाव्यादि 200 ग्रन्थ	142.	श्री सुनीलसागराचार्य	णिग्गंथभावणादि अनेक ग्रन्थ

इस प्रकार अनेकों सूरीश्वर, श्रमण और तपोनिष्ठ साधुओं ने अपने शुद्धोपयोग के बहुमूल्य समय को निकालकर प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश आदि साहित्यिक भाषाओं में विविध-विद्याओं में जैनवाङ्मय के कोश को संवर्धित किया। इस प्रकार पिछले 2000 वर्षों से निरन्तर श्रुतपुत्र, विद्याव्यसनी, जिनशासन भक्त, सरस्वती-आराधक निर्ग्रंथाचार्यों ने ग्रन्थों की रचना करके श्रुतपरंपरा की रक्षा की है जो आज भी गतिमान है।

● प्रस्तुत ग्रन्थ सच्चत्थ-बोहो (सत्यार्थ-बोध)

प्रस्तुत ग्रन्थ सच्चत्थ-बोहो (सत्यार्थ-बोध) को सम्प्रति बीसवीं शताब्दी का सर्वोच्च नीति और मनोविज्ञान

का ग्रन्थ माना जाये तो भी कम होगा। प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में हम निम्नलिखित बिंदुओं में क्रमशः चर्चा करेंगे—

- **ग्रन्थकार की आचार्य परंपरा।**
- **ग्रन्थकार का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व।**
- **ग्रन्थ का विषय-विवेचन।**
- **ग्रन्थ का लेखन काल एवं स्थान।**
- **ग्रन्थ का प्राकृतानुवाद।**

● ग्रन्थकार की आचार्य परंपरा

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य की इस शुद्ध-विशुद्ध निर्दोष परंपरा में 19-20वीं शताब्दी में आद्याचार्य 108 श्री आदिसागर जी हुये जिनका जन्म अंकलीकर ग्राम में हुआ। आप घोर-तपस्वी, अल्पाहारी, स्वदीक्षित, वनवासी, निर्दोष चारित्र धारक श्रमणाचार्य थे।

इसी शुभंकरी अदूषित-परंपरा में **अट्ठारह भाषाविद्, मंत्रवादी, तीर्थभक्तशिरोमणी, बहुप्रभावीव्यक्तित्व के धनी, विश्वकीर्तिलब्ध आचार्य भगवन् महावीरकीर्ति जी मुनिराज** हुये, आपने श्री आदिसागर आचार्य भगवन् के पट्टाचार्य पद को सुशोभित किया और गुजरात के मेहसाणा ग्राम में समाधि की प्राप्ति की।

आचार्यदेव महावीरकीर्ति जी की कीर्ति बढ़ानेवाले, जिनशासन के परमभक्त और उनके प्रथम शिष्य हुये आचार्यभगवन् श्री विमलसागर जी मुनिराज। आप अष्टांग महानिमित्तज्ञानी, परमोपकारी, चेतनाचेतन तीर्थोद्धारक तथा वात्सल्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति ही थे।

आचार्यदेव विमलसागर जी के शिष्य हुये **उग्रतपस्वी, मासोपवासी, धर्म दिवाकर आचार्य श्री सन्मतिसागर जी यतिराज।** आप आचार्य महावीरकीर्ति जी मुनिराज के पट्टाचार्य पद पर आसीन हुये थे। आप तपस्या की साक्षात् प्रतिमूर्ति रहे। वैज्ञानिक भी आपके तप से आश्चर्यान्वित थे।

पूर्वोक्त उभयाचार्यों से दीक्षित अर्थात् तपस्वी-सम्राट् आचार्य श्री सन्मतिसागर जी से क्षुल्लक दीक्षा धारक तथा वात्सल्य-रत्नाकर आचार्य श्री विमलसागर जी से निर्ग्रंथ दीक्षा से सुशोभित **आचार्य श्री विरागसागर जी हुये। आप स्वात्मानुशासक, सुविशाल चतुर्विध संघ के नायक, सिद्धान्तमर्मज्ञ, अनेकों संस्कृत-प्राकृत टीकाओं के कर्ता हैं।** आपने अपने अनेकों सुयोग्य श्रमण शिष्यों को गणीपद और सुयोग्य आर्यिकाओं को गणिनीपद प्रदान किये, इसलिये सर्वजगत् आपको **गणाचार्य** के नाम से भी जानते हैं।

गणाचार्य भगवान् के प्रियाग्र-प्रथम दीक्षित श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी इस ग्रन्थ के कर्ता और इस गौरवशाली परंपरा के ध्रुवतारे हैं। आप स्वयं बहुप्रज्ञावंत हैं तथा बहुप्रतिभासम्पन्न श्रमणसमूह के कुशलसंचालक भी हैं।

● ग्रन्थकार का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

सत्यार्थ-बोध ग्रन्थ के कर्ता शताब्दी देशनाचार्य 108 श्री विशुद्धसागर जी इस भारतीय साहित्य परंपरा के लिये वरदान रूप में सिद्ध हुये। आप सुविशुद्ध सुविमल विरागयुक्त शुद्ध व्यक्तित्व एवं विपुल-विशुद्ध कर्तृत्व के स्वामी हैं।

वर्तमान में चर्याशिरोमणि की उपाधि से प्रसिद्ध श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी अध्यात्म-विद्या में प्रवीण, न्यायदर्शन के सर्वाधिकारी, वैराग्य से ओत-प्रोत, मृदु-मधुर और गंभीर व्यक्तित्व के अधिपति, सहिष्णु-परिणामी, संघ की स्थिति-उत्पत्ति और संरक्षण में कुशल तथा बहु-आयामी व्यक्तित्व के स्वामी हैं। पूज्य गुरुदेव के चित्त में श्री जिन नमोस्तु-शासन के प्रति अगाढ़ श्रद्धा, समर्पण एवं अभिरुचि है।

जो आचार्यवर्य श्री धरसेनस्वामी की तरह अपनी पर्याय का प्रत्येक क्षण श्रुत के संवर्धन एवं संरक्षण में ही व्यतीत करते हैं, जिनका सिद्धान्तपक्ष वीरसेनस्वामी के समान है, जिनकी अध्यात्म-विद्या में स्वामी कुंदकुंदाचार्य की छवि सुस्पष्ट प्रतिभाषित होती है, जिनका व्याकरणपक्ष पूज्यपाद और भावसेनत्रिवैद्याचार्य के समान ही है, जिनकी प्रवचन और साहित्य कला में रविषेणस्वामी के साथ-साथ जिनसेनस्वामी के दर्शन हो जाते हैं, जिनके अंतस में समन्तभद्र-स्वामी सी निर्डरता निर्भीकता है, जिनके तर्क भट्टाकलंकस्वामी की बराबरी करते हैं, जो आचार्य शान्तिसागर जी की तरह दशों दिशाओं में विहार करके जिनशासन की प्रभावना एवं स्थापना कर रहे हैं; ऐसे आध्यात्मिक सत्गुरु हैं देशनाचार्य 108 श्री विशुद्धसागर जी।

● कथावतार—जन्म ग्राम

आपका गृहस्थ अवस्था का नाम बालक राजेन्द्र कुमार था। पूरे ग्रामवासी आपके प्रति सर्वतः सौहार्द और वात्सल्य रखते थे, सभी आपको प्यार से लला कहकर पुकारते थे। लला राजेन्द्र का जन्म भिंड नगर के समीप पूर्व दिशा में लगभग 15 कि.मी. दूर रूर नामक ग्राम में हुआ था। यहाँ कोई भी क्रूर निवास नहीं करता था इसलिये इस ग्राम का नाम रूर था अथवा ये भी कहा जा सकता है कि इस ग्राम में जिनशासन के शूर का जन्म होने वाला था इसलिये भी इस ग्राम का नाम रूर प्रसिद्ध था। इस ग्राम के समीप चंबल की सहायक कही जाने वाली नदी ''सिंधु'' बहती है जो ये दर्शाती है कि यहाँ विशुद्ध सिंधु का उद्भव होगा। यह ग्राम पहाड़िनुमा भूभाग पर बसा है। यहाँ विनयवंत धर्मात्मा यदुवंशी प्रसिद्ध हैं। यदुवंशियों के साथ कुछ घर ठाकुरों के भी हैं। जैनानुयायियों का यहाँ पिछले 200 वर्ष से मात्र एक ही घर रहता है।

● पारिवारिक-परिवेश एवं जन्म-प्रसंग—

आज से 200 वर्ष पूर्व वहाँ जो पीढ़ी निवास करती थी उसके मुखिया का नाम श्री **समोखनलाल था जिनके सुपुत्र हुये श्री रामनारायण जी।** श्री रामनारायण जी व्यावसायिक, धार्मिक, सामाजिक, वैद्यज्ञानकुशल, दयाद्रचित्त संतस्वभावी सद्गृहस्थ थे। सुस्पष्ट है कि जहाँ पति-पत्नी की वृत्ति में साधुत्व हो उस घर में जो संतान आयेगी वह भी नागरिक होते हुये साधुत्व के वैभव से दगदगाती रहेगी। श्री रामनारायण जी की बगिया में कुछ ही वर्षों में छः पुष्प खिल उठे, जिनमें चार पुत्र हैं और दो पुत्रियाँ। बुद्धसेन, इन्द्रसेन, कपूरचन्द्र और रमेशचन्द्र इन चारों पुत्रों के क्रमशः ये नाम थे।

गृह-उपवन में बारी थी सातवें पुष्प की। पूज्य मातुश्री रत्तीबाई की पावन-कुक्षि में इस बार कोई विशेष जीव अवतरित हो चुका था। उनके दुःख-सुख की भनक कभी पारिवारिक जनों को नहीं हो पाती थी, ऐसी स्थिति में श्री रामनारायण जी स्वतः दो-चार दिन के अंतर से टोह ले लेते थे कि उनकी अर्द्धांगिनी अस्वस्थ तो नहीं हैं। माँ रत्तीबाई सदा प्रसन्न रहती थीं। मंदिर और मांगलीक कार्यों में अधिक समय देती थीं, अतः रामनारायण जी भी निश्चिंतता से रहते थे।

माताश्री को स्वप्न में जिनालय, जिनदेव, कभी तीर्थंकर, कभी धर्म-ध्वजायें, कभी पंचकल्याणक महोत्सव तो कभी सोनागिरि के चन्द्रनाथ स्वामी दिखते रहते थे। इन स्वप्नों की चर्चा मातुश्री संकोचवंश श्री रामनारायण जी से नहीं कर पाती थीं, मगर इतना अवश्य जान गई थीं कि कुक्षि में पल रहा जीव विवेकवान, धर्मात्मा, चारित्रवान और निकट भव्यात्मा है; तभी तो घर के साथ-साथ समूचे ग्राम में आर्थिक-प्रगति की लहर चल पड़ी है। जून माह में गेहूँ, चने आदि खाद्यान्न खलिहानों से चलकर घर पहुँचे तो किसान चकित थे कि इस वर्ष तो पूर्व की तुलना में अधिक दाने आये हैं। यह शुभ-प्रसंग देखते हुये माताजी भी चकित और हर्षित थीं। धीरे-धीरे छः माह हो गये। नवम्बर-दिसंबर में आनेवाली धान की खेती भी पूर्व वर्षों से अधिक बेहतर थी।

मातुश्री के गर्भ को फलित हुये सातवाँ माह ही चल रहा था कि उन्हें कुछ बेचैनी हुई। यद्यपि रामनारायण जी स्वयं कुशलवैद्य थे तथापि उन्होंने सचेत-गृहस्थ कर्तव्यपूर्ण किया और अर्द्धांगिनी को लेकर भिंड चले गये चिकित्सक से परामर्श हेतु। भिण्ड नगर में वैद्य और डॉक्टर तो थे ही, उनकी ससुराल भी थी, अतः कोई परेशानी नहीं हुई। होती भी कैसे विश्व की परेशानियों का समाधान करने वाला जीव जो आ रहा था।

कुक्षि में ठहरा हुआ भावी-परमात्मा मानो संसार में ज्यादा दिन नहीं रुकने की भावना से ही ओतप्रोत था, इसलिये गर्भ की वेदना से यथाशीघ्र मुक्ति चाहता था। अतएव अनायास ही नारायण कृष्ण की तरह रामनारायण जी के पुत्र ने सतमास में ही जन्म ले लिया। प्राप्त जानकारी के अनुसार दिन था 18 दिसंबर 1971, शनिवार, प्रातःकाल 3 बजकर 41 मिनट। जन्मजात बाल के चेहरे में पिता रामनारायण और मातुश्री रत्तीबाई की छवि सुस्पष्ट थी। उस बालक में एक तरफ तो राम सी भद्रता, निर्भीकता, सत्यता, उज्ज्वल चारित्र, राज्यकला, नीतिनिपुणता, धैर्य, विनय, आज्ञापालन की भावना और बुद्धिकौशल था वहीं दूसरी ओर नारायण सी सुंदरता, आकर्षिता, मधुर भाषा आदि थी। इनके साथ-साथ नवजात बालक में रत्तीबाई की तरह रत्तीभर (किंचित्) भी इन्द्रियसुखाभिलाषा, राग-परिणति न थी।

वर्षों से आश लगाये हुये 'रूर' ग्राम को दुःख हुआ। वह अपने ही एक महापुरुष की जन्मभूमि कहलाने से वंचित हो गया था, वहीं भिण्ड नगर गद्गद् था, क्योंकि उसे अचानक ही इस परमसौभाग्य की प्राप्ति हो चुकी थी। शिशु की उम्र दिन से बढ़कर सप्ताह तक पहुँच गई थी। सप्ताह से माह पूर्ण हो गया था। उस दिन रूर से आये हुये पारिवारिक जन शिशु सहित माता-पिता को सोत्साह घर ले गये। गृहसदस्यों ने शिशु की आगवानी की, तब उन्हें अनुभूत हुआ कि केवल गृह-सदस्य ही नहीं, अपितु अनेकों ग्रामीण जन भी सपरिवार शिशु के स्वागत के लिये उमड़ आये थे। वे स्वागत कर रहे थे या दर्शन ये वे लोग नहीं जानते थे, मगर काल सब जानता था। वह सोच रहा था कि यह **माह भर का दिगम्बर-शिशु कालान्तर में देश का सर्वोच्च दिगम्बराचार्य बनेगा।**

● **नामकरण-संस्कार**—

घर या बाहर के आदमियों को शिशु का नाम ज्ञात नहीं था, न ही माह भर के शिशु का नाम रखा गया था, पर किसी को इसकी चिंता भी नहीं थी। जिसे जो नाम मन में आता था, वह उस नाम से ही उस शिशु को पुकारता था। तब एक बात पर विश्वास हुआ कि प्रभु के हजारों नाम कैसे और क्यों पड़े थे?

शिशु के दर्शनार्थ रामनारायण जी के घर पर दिन-प्रतिदिन भीड़ बढ़ती जा रही थी। शिशु का मासूम सा चेहरा, मनमोहक हसी सभी को अपनी ओर आकृष्ट करती थी। एक दिन की घटना है नामकरण के पहले की, जब बहुत-सी महिलायें बहुत पास-पास बैठकर गृह में बातें कर रही थीं शिशु की। तब शिशु के माता-पिता घबरा

उठे, कहीं कुछ अनहोनी न हो जाये। उसी वक्त बालक के दादाजी सवात्सल्य भाव से बोल उठे—आप लोग बहुत सावधानी से बैठें, कहीं **''लला''** को आप लोगों का धक्का न लग जाये। उन्होंने तो सचेत भावना से कहा था, परन्तु उस दिन शिशु का नाम बिना नामकरण के ही **''लला''** पड़ गया था।

लोग समय निकालकर आते-जाते रहते थे। लला दूज के चाँद की तरह वृद्धिमान होते गये। एक दिन सादगी के साथ चौकोत्सव रखा गया। धूमधाम से चौकोत्सव जन्म के दो माह के पश्चात् आयोजित किया गया। आकांक्षी जन समय पर पहुँचते गये। जो लोग लौट रहे थे उन्होंने दबी जवान से पूछा—**''लला''** का नाम क्या रखा गया है? श्री रामनारायण जी ने कहा उसकी बुआ ही नाम-करण करेंगी। बुआ कटोरी देवी जो घंटों तक लला को निहारकर उसकी तुलना इन्द्र से कर रहीं थे, अचानक बोल पड़ीं—**''यह बालक तो इन्द्रों पर भी राज्य करेगा, इसलिए इसका नाम ''राजेन्द्र'' चलेगा।** उपस्थित नर-नारी, परिवार, इष्ट, बंधुजन, सहर्ष तालियाँ बजाकर अपना समर्थन देकर लला को राजेन्द्र नाम से पुकारने लगे। दो महिने के लला अब राजेन्द्र हो चुके थे। किसे पता था उनका नाम राजेन्द्र क्यों रखा गया था। मगर काल सब जानता था। वह सोच रहा था—**''जो कालान्तर में सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करेगा, वह इन्द्रपूज्य श्रमणाचार्य विशुद्धसागर का यह ''राजेन्द्र' एक बालरूप है।**

● **कथानायक की शिक्षा, मित्र-मण्डली और क्रियाभावना**—

कुछ दिनों के उपरान्त बालक राजेन्द्र का नाम शाला की पहली कक्षा में लिखा गया। स्कूल (शाला) आते-जाते एक वर्ष बीत चुका था। राजेन्द्र जितनी तत्परता से विद्या के अर्जन में समय देते थे, उससे अधिक उत्साह मंदिर और विभिन्न धार्मिक कार्यक्रमों के लिये रखते थे। सुबह-शाम मंदिर जाना, दर्शन करना, भजन-आरती में समय देना, माता-पिता को देखकर ही सीखे थे।

एक दिन बड़े भाई इन्द्रसेन जी ने उन्हें पौराणिक कथा सुनाई, जिसमें बतलाया कि एक भवदेव थे जो अपने छोटे भाई भूदेव के साथ वात्सल्यपूर्वक धार्मिक क्रियायें करते थे। एक दिन दोनों मंदिर से लौटते समय प्रतिज्ञा कर बैठे कि हम लोग भविष्य में साथ-साथ दीक्षा लेंगे। समय आने पर उन्होंने वैसा कदम उठाया भी, जिससे सकल घर-परिवार-नगर आश्चर्य में पड़ गया था। राजेन्द्र को अपने भाई के मुख से यह कथा रुचिकर लगी और वे मन ही मन सोचने लगा—क्या ऐसा क्षण हम भाइयों को भी उपलब्ध होगा?

धार्मिक और सहिष्णु राजेन्द्र पढ़ाई में रमता गया, किंतु दौड़ना खेलना इन सबसे दूरी भी बनाता गया। **एक बार बहनों ने पूछा कि लला! तू मैदान में खेलने क्यों नहीं जाता? तब राजेन्द्र ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा–दीदी! मैं भविष्य में दैगंबरी निर्वाण दीक्षा लूँगा। सुना है जिसका अंग-भंग हो जाता है, उसे दीक्षा नहीं दी जाती। अतः मैं अपने शरीर को खेलकूद में नहीं लगाना चाहता हूँ।** राजेन्द्र के उच्च विचार सुनकर दीदियाँ दंग रह गईं। पूरे परिवार को सच्चाई मालूम हो गई।

गाँव की प्राथमिक शाला और उसके बाद मिडिल स्कूल की कक्षाओं को उत्तीर्ण करने में राजेन्द्र को कठिनाई नहीं हुई। अध्ययन-प्रवीण स्मरण शक्ति-सम्पन्न राजेन्द्र सहपाठियों के साथ शिक्षकों को भी आकर्षित करते थे।

प्राथमिक शाला तो गाँव में ही घर के निकट थी, अतः आने-जाने की किसी को चिंता नहीं होती थी, किन्तु माध्यमिक शाला रूर ग्राम से 2 मील दूर ऊमरी ग्राम में थी। राजेन्द्र प्रतिदिन अपने सह-पाठियों के साथ

पैदल ही चले जाते थे, पढ़ने के उपरान्त पुनः पैदल ही लौट आते थे; मानो भविष्य काल का अभ्यास ही कर रहे हों। उनका पैदल आना-जाना सभी परिवारजनों को कष्टप्रद होता था। फलतः पिताश्री ने उन्हें एक साइकल खरीदकर दी और बोले लला! इस पर चले जाया करो। पिता के आज्ञाकारी राजेन्द्र एक-दो बार साइकल से गये, किंतु उन्हें अच्छा नहीं लगा। उन्हें साइकल 'शत्रु' प्रतीत होने लगी। फलतः उन्होंने पिता को धन्यवादपूर्वक साइकल लौटा दी और कहा—ये मेरे योग्य नहीं है।

भविष्यदृष्टा काल देख रहा था कि भविष्य में जिसे अपने पैरों से सारे भारत की भूमि नापना है, उसे वाहन या सहारे की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इस प्रकार राजेन्द्र सदा ही पक्षियों-सा कलरव करते हुये मित्रों के साथ पैदल ही शाला जाते और आते थे। भले ही वे शरीर में छोटे कद के थे, मगर उस समय भी मित्रों में वे ही नेतृत्व करते थे। राजेन्द्र के सारे मित्र उनके शब्दों को अक्षरशः पालते थे। राजेन्द्र और उनके दो अजैन मित्रों के बीच एक बार चर्चा हुई कि चलो साधु बन जाते हैं, मगर लला ने कहा मैं तो दिगंबर साधु ही बनूँगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके मित्रों की संगत भी धार्मिक ही थी।

राजेन्द्र के बाल्यावस्था के अनेकों प्रसंग हैं मगर विस्तारभयात् एक प्रसंग को यहाँ लिख रहा हूँ—''एक दिन लला जब स्कूल में थे तो देखते हैं कि कुछ उद्दण्ड बच्चे घेरा बनाकर गिलहरी के साथ छेड़छाड़ कर रहे हैं। उसे हाथों से ढकेल रहे हैं और हस-हसकर उसे आसमान में उछाल भी रहे हैं। राजेन्द्र निर्भीक हो उस भीड़ में घुस गये और गंभीरता से कह पड़े—''यह उचित नहीं है अदया का काम है, उसे मत सताओ, वह मर जायेगा।'' कुछ उद्दण्ड छात्र इस बात को सुन खड़े हो गये, कुछ भाग गये। तब तक वह गिलहरी अधमरी हो चुकी थी। राजेन्द्र अपनी दृढ़श्रद्धा और दयार्द्र-चित्त को लेकर उसके समीप बैठ गये और हाथ फेरते हुये उसे णमोकार महामृत्युंजय मंत्र सुनाने लगे। उसी वक्त एक कड़क स्वभाव के शिक्षक छात्रसमूह को देखकर वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने अपने स्वभावानुसार कड़क स्वर में कहा—''यहाँ क्या हो रहा है, किस बात के लिये भीड़ इकट्ठी कर रखी है?'' एक बालक बोला—''जैन (राजेन्द्र) गिलहरी को ज़िंदा कर रहा है।'' इतने में ही गिलहरी कुछ सचेत हुई और भागकर वृक्ष पर जा चढ़ी। छात्रसमूह दंग था और शिक्षकवर्य प्रसन्न थे। शिक्षक महोदय वात्सल्य और स्नेह से पूरित हो राजेन्द्र के कंधे पर हाथ रखकर कहते हैं—सच में तुम संत स्वभावी ही हो।

शनैः शनैः राजेन्द्र 10वीं कक्षा में पहुँच गये, मगर मध्य का समय उन्होंने विद्या-अर्जन के साथ-साथ ग्रन्थ स्वाध्याय और साधुसेवा में ही व्यतीत किया।

● राजेन्द्र से बाल ब्रह्मचारी राजेन्द्र की यात्रा :: वैराग्यभाव—

धीरे-धीरे वक्त आ चला था राजेन्द्र की मोक्षमार्ग की शिक्षा का, वैराग्यमयी कक्षा का। कुछ दिनों से लला (राजेन्द्र) के ऊपर मुनिभक्ति का रंग अधिक ही देखने को मिल रहा था। अब उम्र हो चुकी थी 13-14 वर्ष की। साथ के बच्चे जिस तरह सिनेमा देखने के लिये भिण्ड के चक्कर लगाते थे, भैया राजेन्द्र मुनिवर के दर्शनार्थ भिण्ड नगर के चक्कर लगाते थे।

एक प्रसंग स्मरण में आ रहा है। यह बात तब की है जब राजेन्द्र 13 वर्ष के थे। तीर्थराज सम्मेद शिखर जी की यात्रा के दौरान प्रभु पार्श्वनाथ की स्वर्णभद्रकूट में राजेन्द्र ने रात्रि भोजन त्याग और बिना देवदर्शन के अन्नजल का त्याग, ये दो मुख्य प्रतिज्ञायें ग्रहण की वो भी स्वेच्छा स्वप्रेरणा से। पिताजी को जब यह बात ज्ञात हुई तो पहले उन्हें लगा कि अभी बच्चा है, ये क्या जाने नियम-संयम। मगर शिखर जी की यात्रा से लौटते वक्त

जब सभी के बहुताग्रह करने पर भी भैया राजेन्द्र ने पानी की एक बूँद भी ग्रहण न की, तब उन्हें इस बात का दृढ़निश्चय हो गया कि बालक प्रतिज्ञा में दृढ़ है।

अब भैया राजेन्द्र का चित्त मुनिचर्या के दर्शन और पालन की ओर आकर्षित हो रहा था। अतः निमित्तवशात् 14 वर्ष की आयु में जब वे पिताजी के साथ सिद्धक्षेत्र सोनागिरी पहुँचे तो मुनि वसतिका में मुनिचरणों में ही बैठ गये। उनका मन ब्रह्मचर्य व्रत लेने का हो रहा था। उसी वक्त श्री रामनारायण जी भैया का मन समझ गये और रागवशात् उन्हें वहाँ से उठाकर ले गये। मोह उनसे कह रहा था कि अधिक समय तक इसे मुनियों के पास नहीं छोड़ना अन्यथा मुनि ही बन जायेगा।

एक समय की बात है जब आचार्य भगवन् विद्यासागर जी मुनिराज ससंघ पपौरा तीर्थक्षेत्र, टीकमगढ़ में स्थिति थे। यह बात सन् 1986 की है। रूर-भिंड के श्रावक एक बड़ी बस करके तीर्थक्षेत्र पपौरा को जा रहे थे। भैया राजेन्द्र ने सोचा कि अच्छा मौका है। यात्रा भी हो जायेगी और ब्रह्मचर्य व्रत भी ले लूँगा। उनका सोचना हुआ और उनके पिता इस बात को समझ गये। पुनः मोहवश उन्होंने उन्हें उस यात्रा में जाने नहीं दिया।

पाठकगण एक बात का ध्यान रखें कि **होनहार को कोई नहीं टाल सकता।** और हुआ भी कुछ ऐसा ही। **श्रमण विरागसागर जी** अपने संघसहित भिण्ड नगर पधारे। सचेत पिता दर्शन करके साथ में ही राजेन्द्र को पढ़ाई आदि का बहाना दे वापस ले आये। बहिन शोभा जी ने चौका लगाकर सम्पूर्ण संघ को आहार दान की भावना भायी। भावना पूर्ण तो हुई, मगर मुनि श्री बाहुबलि सागर जी के आहार नहीं हो पाये क्योंकि वे त्यागी-व्रतियों से ही आहार लेते थे। बहिन शोभा के मन में युक्ति आई और उन्होंने भैया राजेन्द्र को पिता से आग्रह करके भिण्ड बुलवा लिया। बड़ी बहिन की युक्ति राजेन्द्र की गृहवास से मुक्ति का साधन सिद्ध हुई। मुनि श्री के आहार हुये और कुछ दिन वे भी वहीं मुनि दर्शनार्थ रुक गये। गुरूणां गुरु आचार्य विरागसागर जी से इन दिनों निकटता बढ़ती गई और ग्रन्थाध्ययन भी बढ़ता गया।

मन में आया कि अब व्रत और दीक्षा का निवेदन पूज्यगुरुवर विरागसागर जी से किया जाये। तब उनकी उम्र 16 वर्ष की थी। मगर बात आई गई हो गई। इस बीच गुरुसामीप्य बढ़ता गया और मुनिवर विरागसागरजी का भिण्ड से विहार हुआ। राजेन्द्र भैया भी उनके साथ थे। दिन था 16 नवंबर 1988 का जब संघ में एक क्षुल्लक दीक्षा का प्रसंग आया और उसी दिन भैया राजेन्द्र ने भी गुरु जी से निवेदन कर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। भैया राजेन्द्र अब हो गये बाल ब्रह्मचारी राजेन्द्र भैया।

● ब्र. राजेन्द्र से क्षुल्लक श्री यशोधर सागर—

ब्र. राजेन्द्र भैया संघस्थ थे ही, अतः एक दिन उन्होंने गुरुवर से क्षुल्लक दीक्षा की प्रार्थना की। गुरुवर ने कहा—''वर्षायोग के पश्चात् विचार करेंगे।'' आप अतिशय क्षेत्र सोनागिरि जी में हमारे निमित्तज्ञानी गुरुवर आचार्य विमलसागर जी विराजित हैं, वहाँ जाइये, दर्शन कीजिये और दीक्षा की प्रार्थना कीजिये और उन्हीं से दीक्षा लीजिये।''

मुनिवर का वाक्य सुनकर राजेन्द्र भैया शंकित हो गये। उन्हें लगा जैसे किसी ने उतंग पर्वत से नीचे ढकेल दिया हो। अपनी प्रज्ञा को संयोजित कर उन्होंने वार्ता आगे बढ़ाने का साहस किया—हे गुरुदेव! मैं तो आपसे दीक्षा चाहता हूँ। मुनिवर राजेन्द्र भैया के संकेतों को समझ रहे थे। मेरे गुरु हैं, अतः मैं तो उनके चरणों में ही

जाने का परामर्श दूँगा। ब्रह्मचारी की बात को गहराई से समझ रहे थे, अतः मुनिवर का मान ही नहीं, मन भी रखने के लिये वे उनसे आज्ञा लेकर सोनागिरि चले गये।

सोनागिरि का दृश्य अलबेला था। विशाल भीड़ थी। राजेन्द्र भैया भीड़ में गुरुवर तक पहुँचने में संकोच महसूस कर रहे थे, अतः उन्होंने पहले तीर्थ वंदना की और फिर दादा गुरु के पास गये। झिझकते हुये उनके समीप पहुँचे, श्रीफल चढ़ाया। उन्हें धोती-दुपट्टा में देख आचार्य श्री ने उन पर विशेष ध्यान दिया। पूछ बैठे- बेटे! कहाँ से आये हो? भैया जी ने उत्तर दिया- भिण्ड से।

आचार्य श्री निमित्तज्ञानी थे, अतः आगे की बात वे स्वतः बोल पड़े—''तुम्हें मुनि विरागसागर जी ने भेजा है। दीक्षा लेना चाहते हो। दीक्षा का मुहूर्त भी अच्छा है। परन्तु सुनो, विरागसागर जी जन्मजात संकोची हैं वे अपने हर शिष्य को मेरे द्वारा दीक्षित किये जाने का विनम्र प्रयास किया करते हैं। मुझे उनकी यह दृष्टि भली लगती है, किंतु अब मेरा विचार है कि आपको उनके करकमलों से दीक्षा मिलनी चाहिये। उन्होंने अपना कर्तव्य पूरा किया। अब आप मेरे कर्तव्य की पूर्ति में सहायक बनिये। लौटकर जाइये और उनसे उनके गुरु के वचन कहिये। संभव हो तो आठ दिन बाद आकर पुनः वार्ता करिये। आशीर्वाद।''

गुरु आज्ञा लेकर सोनागिर सिद्धक्षेत्र के लिये यथासमय ब्र. राजेन्द्र जी पुनः चले और प्रातःकाल गुरुवर के पास पहुँचे। उनकी चरण वंदना करी। गुरुदेव ने उनसे सधी हुई आवाज में कहा—भैयाजी! आज मेरे समक्ष श्री जी का अभिषेक कर लो क्योंकि शायद आगे अवसर न मिले। वहाँ पूज्य गुरुदेव के मुखारविंद से ब्रह्मचारी जी ने शान्तिधारा भी की। आहारोपरान्त सामायिक और तदुपरान्त कथा में आचार्य भगवन् ने कहा—**''आप जाइये। मैंने आशीर्वाद और स्वीकृति दे दी है। तुम जहाँ जाओगे तुम्हारी जय जयकार होगी।''**

भिण्ड पहुँचकर पूज्य विरागसागर जी के समक्ष विनयपूर्वक सारा विवरण प्रस्तुत किया। मुनिवर मुस्कुराते रहे, जैसे उन्हें गुरुदेव का वरदान ही प्राप्त हुआ हो और उन्होंने **11 अक्टूबर 1989** को नवसाधकों की दीक्षा-समारोह के 1 दिन पूर्व 10 अक्टूबर को दीक्षार्थी की अनुमोदनार्थ भव्य बिनौली निकाली।

11 अक्टूबर की सुबह मुनिवर के पूर्व संकेतानुसार एक नाई उनके कक्ष में बैठा था एक तरफ और दूसरी तरफ छोटे से लला का केशलोंच प्रारंभ हुआ। ब्रह्मचारी जी ने ठान लिया था कि अब स्वाधीन वृत्ति ही स्वीकारूँगा। अतएव नाई को स्पर्श करने न दूँगा। **इसी दिन 1 मुनि दीक्षा और 1 क्षुल्लक दीक्षा हुई और बालब्रह्मचारी राजेन्द्र भैया बने 105 क्षुल्लक श्री यशोधरसागर जी। एक घटना इस दिन और हुई इसी दिन रामनारायण जी ने भी 61 वर्ष की उम्र में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया।**

● **क्षुल्लक से ऐलक पद—**

पूज्य मुनिवर के संघ में विराजमान क्षु. यशोधरसागर जी कुछ दिनों से बेचैनी का अनुभवन कर रहे थे। कारण था देहस्थ वस्त्र। कुछ दिनों से क्षुल्ल्लक जी के ऊपर फैले वस्त्र से दबे जा रहे थे। उन्हें लग रहा था, **जब चार अंगुल चौड़ी लंगोटी से काम चल सकता है तो चार हाथ के दुपट्टे को कौन साधक पसंद करेगा।** अतः एक दिन क्षु. यशोधरसागर जी अपने गुरु जी से विनयपूर्वक सूत्रों में बोले—**हे पूज्यवर! मेरा भार कम कीजिये, मैं अवांछित परिग्रह से दबा जा रहा हूँ।** गुरुदेव भी मुस्काये और बोले—**''वाचना के समापन पर।''**

हीरा-पन्ना रत्नों की भूमि पन्ना-नगरी में आया ऐतिहासिक दिन। पन्ना नगर के लिये **19 जून 1991**

का दिन महत्त्वपूर्ण था, कारण कि उन्हें भी ऐतिहासिक सौभाग्य प्राप्त होने जा रहा था। उस दिन पूज्य विरागसागर जी ने वाचना-समापन महोत्सव की पावनता बढ़ा दी, क्योंकि **उन्होंने क्षु. यशोधरसागर जी को ऐलक दीक्षा (लघु मुनि दीक्षा) प्रदान की थी।**

● **यशोधरसागर जी बने विशुद्धमनः मुनि विशुद्धसागर**—

कुछ काल पश्चात् संघ ने पन्ना से विहार कर दिया और श्रावकों के साथ अतिशय क्षेत्र श्रेयांसगिरि पहुँच गया। इस क्षेत्र का पूर्व में **शीरापहाड़** नाम था। **शीरापहाड़ संघ की प्रभावना से श्रेयांसगिरि हुआ।** इस क्षेत्र पर चतुर्थकाल का अनुभव होता है तथा यहाँ पर आये दिन अतिशय होते ही रहते हैं। गुरुवर के अंतेवासिन् ऐलक जी वंदनार्थ पर्वत में स्थित गुफाओं में गुरुवर के साथ प्रविष्ट हुये ही थे कि—भगवान आदिनाथ प्रभु के दिव्य प्रतिबिंब को देखकर अंतस में एक गूँज हुई—'तीर्थंकरों के उपासक हम, दिगम्बर भगवंतों के समक्ष लंगोटी का परिग्रह लिये हुये क्यों जा रहे हैं? लंगोट की क्या आवश्यकता है?' भीतरी गूँज ओठों पर आ गई और वहीं गुरुवर से सविनयपूर्वक बोले—**हे दिगम्बर देव! मुझे भी दिगम्बरत्व प्रदान कीजिये।** गुरुवर बोले—**धैर्य रखो, समय आ रहा है।**

इस वार्ता के पश्चात् सन् 1991 का मंगल चातुर्मास पर्वतराज श्रेयांसगिरि में ही सम्पन्न हुआ। ढलते चातुर्मास में ऐलक श्री का स्वास्थ्य भी ढलता चला जा रहा था। भक्तों के ही समान एक तीव्रज्वर भी आपका साथ नहीं छोड़ पा रहा था। लगभग 20 दिन से निरंतर ज्वर अपना प्रकोप दिखा रहा था, कोई भी औषधि कार्यकारी न हो पायी। तब ऐलक श्री को रत्नत्रय रूपी औषधि की चाह हुई और उन्होंने गुरुदेव से निवेदन किया कि—**दयानिधान! करुणा मूर्ति श्रमणेश! कहीं में लंगोट लगाये ही न चले जाऊँ। मुझ पर भी कृपा कर दो। मुझे निर्वाण-दीक्षा प्रदान कर दो।** मुनिवरश्री विरागसागर जी ने बहुत मार्मिक संबोधन दिया। मगर भवितव्यता अब आ चुकी थी और ऐलक जी का भी दृढ़ निश्चय था। शिष्य की दृढ़ता और सत्याग्रह को देखकर मुनिवर ने सहर्ष अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। जब मैंने इस प्रसंग के बारे में गुरुदेव से पूछा था, तब गुरुदेव ने एक ही बात कही—**''मेरे गुरुदेव धन्य! धन्य! धन्य! हैं, उन सा दयावंत कोई नहीं है, कारण कि जिस अवस्था में मैंने दीक्षा का निवेदन किया था कोई और होता तो दीक्षा नहीं देता।''**

आ गया वह पावन दिन जिसका इंतजार था भावी भगवान् आत्मा को। **सन् 1991 कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को मुनिवर विरागसागर जी ने मुनि दीक्षा की तिथि घोषित कर दी।** मानो पूर्णिमा का चांद ही भूमण्डल पर अवतरित होनेवाला है, संसार के ताप से संतापित मनुष्यों को शीतलता देने के लिये। परम पूज्य मुनिवर श्री विरागसागर जी ने उस तीव्र ज्वर में ऐलक यशोधरसागर जी को बना दिया **महाश्रमण विशुद्धमनः मुनि श्री विशुद्धसागर। गुरुदेव बताते हैं जैसे-जैसे मुनि दीक्षा के संस्कार होते जा रहे थे, वैसे-वैसे ज्वर भी जाता जा रहा था।** अब से निर्ग्रन्थावस्था को प्राप्त निर्ग्रन्थ श्रमण निष्परिग्रही आत्मा का आनन्द लेने लगे। गुरुदेव से मुनिवर बहिरंग चर्या का ज्ञान, आगमिक ज्ञान तथा आंतरिक-आत्मिक ज्ञान का लाभ लेना भी प्रारंभ कर दिया।

● **पृथक् उपसंघ का आदेश**—

यथानाम तथागुण श्रमण मुनि विशुद्धसागर जी की साधना की सुगंध चारों दिशाओं में पुष्पगंधवत् फैलने

लगी थी। सभी श्रावक उन्हें अपने नगर में ले जाने लालायित थे, मगर बाज़ी मार गये रजवांस के पुण्यात्मा भव्यश्रावक। बात है सन् 1995 की। अब आचार्य बन चुके मुनिवर विरागसागर जी से पंचकल्याणक हेतु रजवांस (सागर) से पधारे। उन्होंने सागर में चल रही वाचना को भंग न करने का निर्णय किया और संघ के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ श्रमण विशुद्धसागर जी के साथ ऐलक विज्ञानसागर को गुरु-आज्ञा प्राप्त हुई। धूम-धाम से समारोह सम्पन्न हुआ और रजवांस की पीठ पुजी। उसके फलस्वरूप आज तक गुरुदेव 142 पंचकल्याणक करा चुके हैं।

सन् 1995 से श्रुत की ज्ञानगंगा बहाने वाले श्रमण विशुद्धसागर जी यद्यपि लघुकाय के थे, किन्तु उनका प्रभाव विशालकाय था। सन् 2003 से विद्वान् और समाज जन्य उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व से प्रभावित होकर अत्याकर्षित होने लगे थे। इसके पश्चात् मुनिवर की प्रभावना दूज के चाँद की तरह वृद्धिंगत होती गई।

● **श्रमणत्व से आचार्यत्व :: औरंगाबाद हुआ रंगारंग—**

सन् 2007 औरंगाबाद श्रमणों की आबादी से रंगारंग हो रहा था। तीन पीढ़ी के श्रमण एक मंच में एक साथ विराजमान थे। **प्रमुख थे मासोपवासी श्रमणाचार्य 108 श्री सन्मतिसागर जी महाराज।** आचार्य विरागसागरजी ने उनसे परामर्श किया कि– योग्य शिष्यों को आचार्य पद देने की मनसा है। ज्येष्ठाचार्य बोले— पहले रहस्यग्रन्थ (प्रायश्चित्त ग्रन्थ) पढ़ाइये। आज्ञानुसार आचार्य भगवन् ने त्रयश्रमणों को प्रायश्चित्त ग्रन्थ का पाठ कराया और आचार्यपद की घोषणा हुई। स्थान था औरंगाबाद। यह वही स्थान था जहाँ आचार्य विरागसागर जी को आचार्य विमलसागर जी ने मुनि दीक्षा दी थी।

महावीर जयंती के पावन दिवस में 31 मार्च 2007 को पट्टाचार्य श्री सन्मतिसागर जी की सन्निधी में श्रमण विशुद्धसागर जी बने श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी। गुरु के वरदहस्तों से सम्पन्न हुआ आचार्यपदारोहण। इस दिन के साक्षी लाखों श्रावकों के साथ-साथ 70 महाश्रमण भी थे। एक तरह श्रमण हुये श्रमणाचार्य वहीं दूसरी ओर आचार्य विरागसागर जी बने गणाचार्य।

2007 के बाद से अर्थात् आचार्य पदारोहण के पश्चात् से आचार्य भगवन् का यश, ज्ञान, प्रभुत्व सब कुछ प्रतिसेकेंड बढ़ता जा रहा है। **मैंने आचार्य भगवन के प्रथम बार दर्शन स्वग्राम जबलपुर संस्कारधानी में किये थे, सन् था 2008। प्रथमदर्शन में ही मैंने उन्हें अपना गुरु-मित्र-तारणहारा सब कुछ मान लिया था।** सहस्त्रों कथायें, दृष्टान्त, प्रसंग मेरी स्मृति में हैं, मगर अधिक लिखूँगा तो प्रस्तावना के स्थान पर गुरुदेव की जीवनी ही लिख जायेगी; इसलिये मन मारकर इसे यहीं विराम देता हूँ।

● **अध्यात्मयोगी का कर्तृत्व पक्ष—**

17 वर्ष की उम्र में क्षुल्लक पद, 18-19 वर्ष की उम्र में ऐलक पद, 20 वर्ष की उम्र में मुनिपद और 36 वर्ष की अल्पायुष्क में 36 मूलगुण धारण करके आचार्य बननेवाले पूज्य गुरुदेव आज जिनशासन की आन-बान-शान हैं। युवाओं के हृदयसम्राट हैं। जहाँ एक ओर गुरुदेव तार्किकश्रमण हैं, वहीं दूसरी ओर कुशल-शास्त्रज्ञ दार्शनिक भी हैं; एक ओर महाकाव्यों के रचयिता हैं, तो दूसरी ओर महानीतिज्ञ हैं; जहाँ एक ओर पूज्यपादगुरुदेव कुशल लेखक हैं, वहीं दूसरी ओर प्रखर-प्रवक्ता भी हैं।

मात्र दसवीं कक्षा तक लौकिक पढ़ाई करनेवाले गुरुदेव आज लाखों जन समुदाय को पारलौकिक ज्ञान परोस रहे हैं। बीच में बताना चाहूँगा आपके गृहस्थावस्था के पिता श्री रामनारायण जी ने मुनि विश्वजीतसागर जी बनकर समाधिमरण-धारण कर इस पर्याय को धन्य किया और देहदायक परमोपकारी मातुश्री ने क्षुल्लिका श्री विश्वमति माता जी की पर्याय धारण कर स्त्री पर्याय को सार्थक किया था।

आचार्य भगवन् अभी तक 12 राज्यों में 75,000 किलोमीटर से अधिक विहार कर चुके हैं और पंचकल्याणक शिरोमणि की उपाधि से विभूषित पूज्यगुरुदेव सन् 2024 तक 145 पंचकल्याणक पूर्ण कर चुके होंगे। 51 पंचकल्याणक तो मैंने ही गुरुदेव के साथ देखे हैं। सन् 1989 से लेकर 2023 तक गुरुदेव 35 चातुर्मास सानन्द पूर्ण कर चुके हैं। जिनका विवरण कुछ इस प्रकार है—

1989	**भिण्ड (म.प्र.)**	**1990**	**टीकमगढ़ (म.प्र.)**
1991	**श्रेयांसगिरि (म.प्र.)**	**1992**	**द्रोणगिरि (म.प्र.)**
1993	**श्रेयांसगिरि (म.प्र.)**	**1994**	**बीना (म.प्र.)**
1995	**पन्ना (म.प्र.)**	**1996**	**छतरपुर (म.प्र.)**
1997	**दुर्ग (छ.ग.)**	**1998**	**भिलाई (छ.ग.)**
1999	**झांसी (उ.प्र.)**	**2000**	**सागर (म.प्र.)**
2001	**सिलवानी (म.प्र.)**	**2002**	**भोपाल (म.प्र.)**
2003	**ललितपुर (उ.प्र.)**	**2004**	**विदिशा (म.प्र.)**
2005	**अमरावती (महा.)**	**2006**	**सोलापुर (महा.)**
2007	**इन्दौर (म.प्र.)**	**2008**	**जबलपुर (म.प्र.)**
2009	**अशोकनगर (म.प्र.)**	**2010**	**उज्जैन (म.प्र.)**
2011	**सागर (म.प्र.)**	**2012**	**आगरा (उ.प्र.)**
2013	**नागपुर (महा.)**	**2014**	**भोपाल (म.प्र.)**
2015	**भीलवाड़ा (राज.)**	**2016**	**भिलाई (छ.ग.)**
2017	**इन्दौर (म.प्र.)**	**2018**	**औरंगाबाद (महा.)**
2019	**भिण्ड (म.प्र.)**	**2020**	**वैशाली कुंडलपुर (बिहार)**
2021	**सम्मेदशिखर जी (झार.)**	**2022**	**रायपुर (छ.ग.)**
2023	**बड़ौद (उ.प्र.)**		

गुरुदेव अनेकों वाचनायें, वेदिप्रतिष्ठा आदि सम्पन्न करा चुके हैं। **आपके द्वारा अभी 2024 जनवरी तक 63 (58) दीक्षायें दी जा चुकी हैं।** जिनके नाम, समय, स्थान आदि नीचे दिये जा रहे हैं—

सन् 2006, श्रवणबेलगोल, कर्नाटक में 3 क्षुल्लक दीक्षायें—

1. **क्षुल्लक श्री 105 मनोज्ञ सागर जी**
2. **क्षुल्लक श्री 105 प्रमेय सागर जी**
3. **क्षुल्लक श्री 105 प्रशम सागर जी**

सन् 2007, इन्दौर मध्यप्रदेश में 4 मुनिदीक्षायें—

4. श्रमणरत्न 108 श्री मनोज्ञसागर जी मुनिराज
5. श्रमणरत्न 108 श्री प्रमेयसागर जी मुनिराज
6. श्रमणरत्न 108 श्री प्रशमसागर जी मुनिराज
7. श्रमणरत्न 108 श्री प्रत्यक्षसागर जी मुनिराज

सन् 2008, जबलपुर मध्यप्रदेश में 1 क्षुल्लकदीक्षा—

8. क्षुल्लक 105 सिद्धसागर जी

सन् 2009, अशोकनगर मध्यप्रदेश में 3 मुनिदीक्षायें—

9. श्रमणरत्न 108 श्री सुप्रभसागर जी मुनिराज
10. श्रमणरत्न 108 श्री सुव्रतसागर जी मुनिराज
11. श्रमणरत्न 108 श्री सुयशसागर जी मुनिराज

सन् 2011, सागर मध्यप्रदेश में 7 मुनिदीक्षायें—

12. श्रमणरत्न 108 श्री अनुत्तरसागर जी मुनिराज
13. श्रमणरत्न 108 श्री अनुपमसागर जी मुनिराज
14. श्रमणरत्न 108 श्री अरिजितसागर जी मुनिराज
15. श्रमणरत्न 108 श्री आदित्यसागर जी मुनिराज
16. श्रमणरत्न 108 श्री अप्रमितसागर जी मुनिराज
17. श्रमणरत्न 108 श्री आस्तिक्यसागर जी मुनिराज
18. श्रमणरत्न 108 श्री आराध्यसागर जी मुनिराज

सन् 2013, नागपुर महाराष्ट्र में 5 मुनिदीक्षायें—

19. श्रमणरत्न 108 श्री प्रणेयसागर जी मुनिराज
20. श्रमणरत्न 108 श्री प्रणीतसागर जी मुनिराज
21. श्रमणरत्न 108 श्री प्रणवसागर जी मुनिराज
22. श्रमणरत्न 108 श्री प्रणतसागर जी मुनिराज
23. श्रमणरत्न 108 श्री प्रणुतसागर जी मुनिराज

सन् 2015, भीलवाड़ा राजस्थान में 7 मुनिदीक्षायें—

24. श्रमणरत्न 108 श्री सर्वार्थसागर जी मुनिराज
25. श्रमणरत्न 108 श्री साम्यसागर जी मुनिराज
26. श्रमणरत्न 108 श्री समर्थसागर जी मुनिराज
27. श्रमणरत्न 108 श्री सहजसागर जी मुनिराज
28. श्रमणरत्न 108 श्री समत्वसागर जी मुनिराज

29. श्रमणरत्न 108 श्री सम्पूर्णसागर जी मुनिराज
30. श्रमणरत्न 108 श्री सदयसागर जी मुनिराज

सन् 2017, इन्दौर मध्यप्रदेश में 8 मुनिदीक्षायें—

31. श्रमणरत्न 108 श्री साध्यसागर जी मुनिराज
32. श्रमणरत्न 108 श्री संकल्पसागर जी मुनिराज
33. श्रमणरत्न 108 श्री सौम्यसागर जी मुनिराज
34. श्रमणरत्न 108 श्री सारस्वतसागर जी मुनिराज
35. श्रमणरत्न 108 श्री सद्भावसागर जी मुनिराज
36. श्रमणरत्न 108 श्री संजयंत सागर जी मुनिराज
37. श्रमणरत्न 108 श्री संयतसागर जी मुनिराज
38. श्रमणरत्न 108 श्री साक्ष्यसागर जी मुनिराज

सन् 2019, भिण्ड मध्यप्रदेश में 3 मुनि, 1 क्षुल्लक दीक्षा—

39. श्रमणरत्न 108 श्री यशोधरसागर जी मुनिराज
40. श्रमणरत्न 108 श्री योग्यसागर जी मुनिराज
41. श्रमणरत्न 108 श्री यतीन्द्रसागर जी मुनिराज
42. क्षुल्लक श्री 105 यत्नसागर जी

सन् 2019, ग्वालियर मध्यप्रदेश में, 1 ऐलक दीक्षा—

43. ऐलक श्री 105 यत्नसागर जी

सन् 2021, सम्मेदशिखर जी झारखण्ड में, 6 मुनि, 1 क्षुल्लक दीक्षा—

44. क्षुल्लक श्री 105 श्रुतसागर जी
45. श्रमणरत्न 108 श्री यत्नसागर जी मुनिराज
46. श्रमणरत्न 108 श्री निर्ग्रन्थसागर जी मुनिराज
47. श्रमणरत्न 108 श्री निर्मोहसागर जी मुनिराज
48. श्रमणरत्न 108 श्री निस्संगसागर जी मुनिराज
49. श्रमणरत्न 108 श्री निर्वृत्तसागर जी मुनिराज
50. श्रमणरत्न 108 श्री निर्विकल्पसागर जी मुनिराज

सन् 2022, रायपुर छत्तीसगढ़ में, 3 मुनि दीक्षायें—

51. श्रमणरत्न 108 श्री जयेन्द्रसागर जी मुनिराज
52. श्रमणरत्न 108 श्री जितेन्द्रसागर जी मुनिराज
53. श्रमणरत्न 108 श्री जयन्तसागर जी मुनिराज

सन् 2022, दुर्ग छत्तीसगढ़ में, 1 क्षुल्लक दीक्षा—

54. क्षुल्लक श्री 105 सोऽहंसागर जी

सन् 2023, चिचोली महाराष्ट्र में, 1 मुनि दीक्षा—

55. श्रमणरत्न 108 श्री सुभगसागर जी मुनिराज

सन् 2023, बड़ौद उत्तरप्रदेश में, 8 मुनि दीक्षायें—

56. श्रमणरत्न 108 श्री सिद्धसागर जी मुनिराज

57. श्रमणरत्न 108 श्री सिद्धार्थसागर जी मुनिराज

58. श्रमणरत्न 108 श्री सहर्षसागर जी मुनिराज

59. श्रमणरत्न 108 श्री सत्यार्थसागर जी मुनिराज

60. श्रमणरत्न 108 श्री सार्थकसागर जी मुनिराज

61. श्रमणरत्न 108 श्री सार्थसागर जी मुनिराज

62. श्रमणरत्न 108 श्री समकितसागर जी मुनिराज

63. श्रमणरत्न 108 श्री सम्यकसागर जी मुनिराज

सन् 2024, रतलाम मध्यप्रदेश में, 1 मुनि, 2 क्षुल्लक दीक्षायें—

64. श्रमणरत्न 108 श्री शीलसागर जी मुनिराज

65. क्षुल्लक श्री 105 श्रेय सागर जी

66. क्षुल्लक श्री 105 श्रेयश सागर जी

दिगम्बराचार्य गुरुदेव विशुद्धसागर जी यतिराज अल्पाहारी और श्रुतार्थ बहुश्रमी हैं। आप आज तक हजारों पृष्ठों को लेखन और उससे कई गुना अधिक देशना ग्रन्थों के महान् कर्ता हैं। अनेकों चेतन-अचेतन कृतियों के कर्ता होने पर भी आपके अंतरंग में किंचित् मात्र भी कर्तृत्व की गंध नहीं है। गुरुदेव अभी तक 200 से अधिक ग्रन्थों का लेखन कर चुके हैं। कुछ के नाम यहाँ लिखने का प्रयास कर रहा हूँ—

- **शुद्धात्म-तरंगिणी (हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी, प्राकृत, संस्कृत)**
- **निजात्म-तरंगिणी (हिन्दी, मराठी, प्राकृत, संस्कृत)**
- **निजानुभव-तरंगिणी (हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत)**
- **स्वानुभव-तरंगिणी (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, प्राकृत, संस्कृत)**
- **तत्त्वबोध (हिन्दी, प्राकृत)**
- **आत्मबोध (हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत)**
- **विचार**
- **सत्यार्थ प्रबोध (नैतिक निबंध)**
- **प्रवचन-प्रभा (हिन्दी, अंग्रेजी)**
- **प्रवचन-प्रदीप (हिन्दी, अंग्रेजी)**
- **प्रवचन-पीयूष (हिन्दी, अंग्रेजी)**
- **भवाब्धेस्तारको गुरु (आ. विमलसागर जी पर)**
- **गुरवो भवन्ति शरणं (आ. विद्यासागर जी पर)**
- **वात्सल्यपर्व (रक्षाबंधन कथा)**
- **चिंता रहस्य (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी)**

- जीवन रहस्य
- आनन्दित जीवन
- धैर्य
- सहज जीवन
- सही सोच
- विशुद्ध मुक्तिपथ
- बोधिसूत्र (हिन्दी, मराठी, प्राकृत)
- सारसूत्र (हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत)
- पंचशील सिद्धान्त (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी)
- सम्यक्-विचार
- अध्यात्म-वाणी
- देशनावचनामृत
- अमृतबिन्दु (हिन्दी, मराठी)
- अध्यात्म-वचनामृत
- अध्यात्म-अमृत
- अध्यात्म-अमिय
- आगम-अमृत
- आईना
- बोधवाक्यामृत (हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृतादि 25 भाषाओं में)
- बोधिसंचय (हिन्दी, मराठी)
- अर्हत् सूत्र (हिन्दी, मराठी)
- अध्यात्म-प्रमेय
- अध्यात्म-सूत्र
- तत्त्वतरंगिणी
- देशना-बिन्दु
- देशनासंचय
- दिव्व-वयणं (हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृत)
- भव्व-वयणं (हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृत)

- विशुद्ध-वचनामृत (हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत)
- परमार्थ-सूत्र
- विशुद्ध-सूत्र
- सद्बोध-सूत्र
- सामायिक कैसे?
- विशुद्ध-देशना
- विशुद्ध-काव्याञ्जलि
- कर्म-विपाक (हिन्दी, प्राकृत)
- सम्यक्-नीतिकाव्य
- चिद्-स्वभाव
- वस्तु-स्वभाव
- ज्ञायक-भाव
- शब्द अध्यात्मपंथी का
- ध्रुव-स्वभाव
- स्वानुभव
- शुद्धात्म-काव्यतरंगिणी
- वस्तुत्व-महाकाव्य (महाकाव्य रचना)
- सत्यार्थ-बोध (हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृत)
- स्वरूप-संबोधन-परिशीलन (हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत)
- इष्टोपदेश-भाष्य (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, प्राकृत)
- समाधितंत्र-अनुशीलन (हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृत)
- सोलहकारण भावना अनुशीलन
- श्रमणधर्म देशना (लघु)
- स्वरूप-संबोधन (लघु)
- पुरुषार्थ-देशना (हिन्दी, मराठी, कन्नड़)
- अध्यात्म-देशना (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, प्राकृत) (योगसार पर)
- तत्त्व-देशना (तत्त्वसार पर)
- तत्त्वार्थ-देशना (तत्त्वार्थसूत्र पर)

- प्रेक्षा-देशना (वारसाणुपेक्खा पर)
- सर्वोदयी-देशना (इष्टोपदेश पर)
- स्वरूपदेशना (स्वरूप-संबोधन पर)
- श्रावक धर्मदेशना (रत्नकरण्डक-श्रावकाचार पर)
- सागार-अनगार-धर्म-देशना (रयणसार पर)
- सामायिक-देशना (भावना द्वात्रिंशतिका पर)
- पृच्छना-देशना (प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका पर)
- श्रमण धर्म-देशना (क्षमादि-दसधर्म पर)
- सैंतालीस-शक्तियाँ
- अलिंगग्गहणं (एक गाथा पर)
- वर्धमान-देशना (समणसुत्तं पर)
- परमात्म-देशना (परमात्मप्रकाश पर)
- देशना (कुरलकाव्य पर)
- परमागम-देशना (पंचास्तिकाय पर)
- सैंतालीस नय
- समयदेशना (समयपाहुड पर 17 भागों में)
- प्रकृष्ट देशना (प्रवचनसार पर 18 भागों में)
- नियम देशना (नियमसार पर 3 भागों में)
- सद्देशना (सार-समुच्चय पर 6 भागों में)
- सद्ज्ञान देशना (ज्ञानांकुश पर 2 भागों में)
- परमार्थ तत्त्वदेशना (तत्त्वानुशासन पर 6 भागों में)
- सुभाषित-देशना (सुभाषितरत्नावली पर 5 भागों में)
- निर्ग्रन्थ-देशना (आत्मानुशासन पर 6 भागों में)

अतः यह बात सुस्पष्ट है कि **पुरातत्त्व, साहित्य और चेतनसाहित्य अर्थात् श्रमण परंपरा को देनेवाले दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर जी का अध्यात्मज्ञान सर्वोच्चकोटि का है। मेरा यह अनुभव रहा है कि भले ही किसी भी अनुयोग या विषय का ग्रन्थ हो, कठिन हो या नीरस हो, आपकी देशना उसे सरस, सरल, सुगम और हृदयग्राही बना देती है। लोकप्रिय श्रमणाचार्य चर्याशिरोमणि, ज्ञानशिरोमणि, पंचकल्याणक शिरोमणि, अध्यात्मशिरोमणि पूज्यपाद गुरुदेव के कर्तृत्व और व्यक्तित्व को शब्दों में बाँध पाना असंभव ही है। कुल मिलाकर सारी बातों का सार कहूँ तो गुरुदेव**

श्री की वाणी, चर्या, व्यवहार और व्यक्तित्व सुख, शान्ति, समृद्धि और अभ्युदय–निःश्रेयस पद की प्राप्ति के लिये सर्वोपरि यंत्र है, मंत्र है, तंत्र है॥

● ग्रन्थ सच्चत्थ बोहो (सत्यार्थ-बोध) का विषय प्रमेय—

सम्प्रति काल में भटकी हुई मानवता के लिये सत्यार्थ-पथ प्रदर्शक, चिंतन-मनन की गूढ़तम विषय-वस्तु से ओत-प्रोत; देश-राष्ट्र-समाज, वृद्ध, प्रौढ़, युवक-युवती, बालक, शैक्ष्य, रोगी, व्यापारी, खिलाड़ी, व्यसनासक्त, क्रोधी, पापी आदि सभी मनोवृत्ति वाले मानवों के लिये जीवनोन्नयनार्थ एक अनुपम अकल्पनीय आदित्यवत् प्रकाशमान, चन्द्रमावत् शीतल मौलिक-कृति है; यह ''सत्यार्थ-बोध'' ग्रन्थ। **''सत्यार्थ-बोध'' अध्यात्मयोगी, श्रुतसंवर्धक, स्वाध्याय-प्रेरक, शताब्दी-देशनाचार्य, प्रज्ञावंत शिष्यों के सर्वाधिकार स्वामी, आज्ञासिद्ध, सिद्धसारस्वत, प्रत्युत्पन्नमति के अधिपति, सर्वप्रिय, सर्वजनमान्य निर्ग्रंथाचार्यवर्य गुरुदेव विशुद्धसागर जी** की अंतरंग चित्त सरिता मनः-आर्णव से उद्भूत रत्नमिव बहुमूल्य एक और मौलिक कृति है।

यह सत्यार्थ-बोध ग्रन्थ पाश्चात्य-कुसभ्यता में भ्रमित मानवों के लिये शान्त और सत्य-पथ को देने वाला है, सुसुप्त मानवीय मूल्य को जाग्रति प्रदान करने वाला है, नीति-नैतिकता शून्य चित्तों में नीति नैतिकता भरने वाला है, क्रूर-हिंसक प्रवृत्तिमान जीवों के चित्ताश्रम में धार्मिकायतन को संस्थापिक करनेवाला है। **नमोस्तुशासन के उद्घोषक, अहिंसा के पथिक, आत्मयोगनिष्ठ, निर्ग्रन्थपदविहारी, निष्पृह-साधक, स्वान्त-सुखलीन, बहुश्रुतज्ञ, विश्वमैत्री-पक्षधर, करुणावंत, समता की प्रतिमूर्ति, सहिष्णु, परिग्रह-भावशून्य, न्यायविद्या-प्रवीण, स्वात्मध्यानी, स्व-परतत्त्वज्ञानी, निर्ग्रंथ श्रमण परंपरा के शिरोमणि, जिनशासन के कोहिनूर, अपने गुरु के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ अंतेवासिन्, जगत्पूज्य, गुण-ऋद्धि-सम्पन्न, सर्वमान्य-तत्त्वान्वेषी, आत्मान्वेषी, आदित्यसदृश पूज्य एवं प्रकाशमान श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी** की सृजित यह **''सत्यार्थ-बोध''** ग्रन्थराज यद्यपि हिन्दी भाषा में है, मगर जीवन के सत्यार्थ निर्माण के लिये जनोपयोगी, मननीय, पठनीय, चिंतनीय, अनुकरणीय, रक्षणीय, स्तुत्य महत्त्वपूर्ण कृति है।

'सत्यार्थ-बोध' हिन्दी-प्रेमियों के लिये **सरल-सुगम्य** है, नीति-प्रेमियों के लिये अमृत-पाथेय है, आत्मोन्नति-प्रेमियों के लिये हितैषी है, चारित्र-प्रेमियों के लिये **आनन्दप्रद गरिष्ठ-वाङ्मय** है तथा स्वाध्याय-रसिकों के लिये **आनन्द का उद्यान** है। **इस महान सत्यार्थ-प्रतिपादक ग्रन्थ में सत्य का विवेचन है, मगर हठारोपण नहीं है; इसमें न्याय है, मगर न्याय की शाब्दिक जटिलता नहीं है; इसमें प्रत्येक शब्द में पद में वाक्य में अध्याय में मतार्थ है, मगर धर्म-संप्रदाय और पंथवाद की दुर्गंध नहीं है; इसमें उभयनय की व्याख्या है, मगर किंचित् भी अन्याय नहीं है; इसमें मानवीयता के नैतिक-मूल आयाम/ शिक्षा है, मगर हठवाद या पक्षपात नहीं है; इसमें स्व-कर्तव्यवाद की सुरभि है, मगर कर्त्तावाद की बदबू नहीं है; इसमें कुलाचार है, मगर ज़्यादती नहीं है; इसमें सत्यार्थ का उद्योतन है, मगर किसी के ऊपर कटाक्ष के बाण नहीं है; इसमें हर स्थान पर सुभाषित नीतियाँ हैं, मगर पृष्ठपेषण नहीं है; इसमें प्राणीमात्र के प्रति प्रेम है, मगर वासना की पुष्टि किंचित् भी नहीं है; इसमें सदाचार का कथन है, मगर दुराचार का व्याख्यान नहीं है।**

सत्यार्थ सच भी यही है कि सज्जन, दयालू महापुरुष स्वात्मकल्याण तो करते ही हैं मगर जगत् कल्याण

का महानकल्याणकारी पुरुषार्थ भी नियमित रूप से करते ही हैं, विशेषता इतनी है कि उनके इस कृतोपकार में कर्तृत्व की गंध नहीं आती। फलस्वरूप जन-जन उनके सर्वहितंकर, मृदु-मधुर-गंभीर, सिद्धिदायक, सार्थक, मीमांसापूर्ण, अभिराम, चित्ताकर्षक, हृदयहारी शान्तिकर वचनों को श्रवण कर, ग्रहण कर आशातीत शान्ति का अनुभवन करते हैं।

यह महान नीतिपूर्ण ग्रन्थ यद्यपि आचार्य भगवन् के द्वारा देश प्रचलित हिन्दी भाषा में लिखा गया है, पुनरपि इस ग्रन्थ को चिरस्थायित्व देने के लिये मुझ अल्पज्ञ **(आदित्यसागरजी)** ने इसे जैनागम की मूल प्राच्य भाषा जैन-शौरसेनी-प्राकृत में अनुवादित किया। **इस ग्रन्थ में कुल 31 अध्याय हैं,** जिनमें से कुछ अध्याय लघुकाय हैं, कुछ मध्यम-काय हैं और कुछ विशाल काय भी हैं; मगर सभी में चिंतनीय मननीय विषय दीर्घकाय ही है। सबसे छोटा अध्याय सातवाँ अध्याय है वह मात्र 7 सूत्रों का है और उसका नाम पमोदो (प्रमोद) है। सबसे बड़ा अध्याय तीसवाँ अध्याय है, वह 179 सूत्रों का है और उसकी विषयवस्तु में सप्तव्यसन के साथ-साथ आचार्य सोमदेव कथित अट्ठारह (18) व्यसनों का बृहत् सोदाहरण व्याख्यान है, इस अध्याय का नाम विसणं (व्यसन) है। एक बार हम सम्पूर्ण अध्यायों का प्रमाण और नाम जान लेते हैं। यथा—

क्रमांक	अध्याय का नाम	विवेच्य-विषय की सूत्र-संख्या
1.	**अहिंसा** (Non-Injury)	11-सूत्र
2.	**सत्यता** (Truthfulness)	10-सूत्र
3.	**अचौर्य** (Non-Stealing)	9-सूत्र
4.	**ब्रह्मचर्य** (Celibacy)	12-सूत्र
5.	**अपरिग्रह** (Non-Possession)	10-सूत्र
6.	**मैत्री** (Benevolence)	9-सूत्र
7.	**प्रमोद** (Joy)	7-सूत्र
8.	**कारुण्य** (Compassion)	11-सूत्र
9.	**माध्यस्थ-भाव** (Neutrality)	18-सूत्र
10.	**विवेक** (Discrimination)	10-सूत्र
11.	**धैर्य** (For bearance)	37-सूत्र
12.	**दया** (Kind heartedness)	37-सूत्र
13.	**दम (संयम)** (Self-restraint)	37-सूत्र
14.	**त्याग** (Renunciation)	37-सूत्र
15.	**समाधि** (Supreme-Meditation)	37-सूत्र
16.	**गुरु** (The-Guru)	37-सूत्र
17.	**शिष्य** (The-Disciple)	37-सूत्र
18.	**अध्यात्म-योग** (The-Soul-Yoga)	37-सूत्र
19.	**संस्कार** (Soul-impressions)	37-सूत्र

20.	**आत्म-तत्त्व** (Soul-Substance)	37-सूत्र
21.	**सहज-जीवन** (Innate Life)	37-सूत्र
22.	**पुण्य-पाप** (Merit-Demerit)	37-सूत्र
23.	**आस्था** (Trustfulness)	37-सूत्र
24.	**कर्म** (Karma)	37-सूत्र
25.	**अप्रमाद** (Non-Negligence)	37-सूत्र
26.	**सोच** (Thought)	43-सूत्र
27.	**अनुग्रह (उपकार)** (Beneficence)	18-सूत्र
28.	**धर्म** (Dharma)	20-सूत्र
29.	**उत्तम-क्षमाधर्म** (Supreme Forbearance)	10-सूत्र
30.	**उत्तम-मार्दवधर्म** (Supreme Modesty)	7-सूत्र
31.	**उत्तम-आर्जवधर्म** (Supreme Straight Forwardness)	5-सूत्र
32.	**उत्तम-शौचधर्म** (Supreme Purity)	2-सूत्र
33.	**उत्तम-सत्यधर्म** (Supreme Truthfulness)	7-सूत्र
34.	**उत्तम-संयमधर्म** (Supreme Self-restraint)	2-सूत्र
35.	**उत्तम-तपधर्म** (Supreme Austerity)	2-सूत्र
36.	**उत्तम-त्यागधर्म** (Supreme Renunciation)	9-सूत्र
37.	**उत्तम-आकिंचन्यधर्म** (Supreme Non-attachment)	1-सूत्र
38.	**उत्तम-ब्रह्मचर्यधर्म** (Supreme Celibacy)	1-सूत्र
39.	**शिक्षा** (Education)	49-सूत्र
40.	**व्यसन** (Addictions)	10-सूत्र
41.	**जुआ-व्यसन** (Gambling)	6-सूत्र
42.	**मांस-व्यसन** (Eating Flesh)	23-सूत्र
43.	**मद्य-व्यसन** (Drinking Alcohol)	9-सूत्र
44.	**वेश्या-व्यसन** (Sexual Intercoruse with a Harlot)	6-सूत्र
45.	**शिकार-व्यसन** (Hunting)	2-सूत्र
46.	**चोरी-व्यसन** (Stealing)	11-सूत्र
47.	**पर-रमणी-रमण-व्यसन** (Sexual Intercourse with wife of Another)	5-सूत्र
48.	**पिशुन-व्यसन (Backbiting)**	5-सूत्र
49.	**दिवाशयन-व्यसन (Sleeing In Daytime)**	8-सूत्र
50.	**निंदा-व्यसन (Censuring Others)**	16-सूत्र
51.	**गीतश्रवण-व्यसन (Listening to Songs)**	6-सूत्र

52.	**नृत्यदर्शन-व्यसन (Watching of Dance)**	12-सूत्र
53.	**वादित्रश्रवण-व्यसन (Listening to Music)**	3-सूत्र
54.	**वृथागमन-व्यसन** (Aimless Moving About)	7-सूत्र
55.	**ईर्ष्या-व्यसन** (Jealousy)	8-सूत्र
56.	**साहस-व्यसन** (Recklessness)	2-सूत्र
57.	**अर्थदूषण-व्यसन** (Squandering wealth)	9-सूत्र
58.	**अकारणवध-व्यसन** (Aimless Killing of Living Beings)	10-सूत्र
59.	**द्रव्यहरण-व्यसन** (Snatching wealth of others)	5-सूत्र
60.	**कर्कशवचन-व्यसन** (Harsh words)	10-सूत्र
61.	**दण्डपारुष्य-व्यसन** (Punishing others Unla)	6-सूत्र
62.	**सदाचार** (Good-Conduct)	54-सूत्र
		कुल =1071-सूत्र

कुल मिलाकर यह 'सत्यार्थ-बोध' ग्रन्थ प्राकृत अनुष्टुप् श्लोकों की संख्या की अपेक्षा **4,000 श्लोक प्रमाण हैं**, सूत्रों की अपेक्षा **1071 सूत्र प्रमाण है,** अध्याय की अपेक्षा से **31 अध्याय प्रमाण है, प्रति-अध्यायों सहित अध्यायों की संख्या 62** हो जाती है एवं प्रमेय की अपेक्षा से यह ग्रन्थ अनंत प्रमाण है।

सर्वप्रथम प्रारंभ में दो आर्या-गाथाओं के द्वारा मंगलाचरण किया गया। यथा—

सिद्धे सुद्ध-पसिद्धे, विसुद्ध-पद-भाव-दायगे सव्वे।
पणमिय णिच्चं णिच्चे, विभाव-रहियं गदिं पत्ते॥1॥

सच्चत्थ-बोह-समयं, विचित्त-मंगल-पमेय-संजुत्तं।
वोच्छं भविय-जणाणं, विसुद्ध-उवयार-भावेणं॥2॥

मंगलाचरण में कहा गया कि—'विशुद्धपद और विशुद्धभावों के प्रदाता तथा विभाव-रहित नित्य-गति को प्राप्त, सम्पूर्ण-शुद्ध, प्रसिद्ध, नित्य सिद्ध-परमात्माओं की वंदना करके नाना प्रकार के अद्भुत प्रमेयों से समन्वित **'सत्यार्थ-बोध'** नामक सत्यार्थ-ग्रन्थ को विशुद्ध-हितकर भावों से भव्य जनों के लिये कहता हूँ।।1/2।।

मंगलाचरण के उपरान्त ग्रन्थारंभ में ग्रन्थकार जिनमत के मूल सिद्धान्त अहिंसा की व्याख्या करते हैं, कारण कि धर्म का प्रारंभ अहिंसा से ही होता है तथा सत्यार्थ-जीवन के लिये अहिंसा का ज्ञान अनिवार्य अंग है। वे लिखते हैं—

अहिंसा विस्स-संति-दायगो धम्मो। सा विस्स-मेत्ती-जणगा वि। लोयस्स सयलगुणा अहिंसाए विज्जमाणा। अहिंसा किल परमबंभो॥1/1॥

अर्थात्—विश्व-शान्ति प्रदायक धर्म अहिंसा है। विश्व-मैत्री का जनक अहिंसा है। ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण गुण अहिंसा में विद्यमान हैं। अहिंसा ही परमब्रह्म है।।1/1।।

पाण-अविओगकरणं इयत्त-धम्मो अहिंसा णत्थि, अवित्त कस्सचिदवि जीवस्स पाण-हरण-

चिंतणं चित्ते ण करणं अहिंसा॥1/3॥ अर्थात्—'प्राण का वियोग नहीं करना'—मात्र इतना धर्म अहिंसा नहीं है, अपितु किसी भी जीव के प्राणों के हरण के मन में विचार भी नहीं लाना अहिंसा है।।1/3।।

आगे आचार्य गुरुवर विशुद्धसागर जी प्रेरणा देते हुये लिखते हैं कि—**परम-धम्म-अहिंसा दुब्बलाणं धम्मो णत्थि, सा दु बलवंताणं धम्मो। जो णिय-कसायदो पराजिदो होदि, सो करेदि हिंसाकम्मं। उत्तमजणा धरेंति अप्प-परेसुं दया-भावं। अंतोकरणे किंचिवि असुह-संकप्प-वियप्प-अणागमणं भाव-अहिंसा॥1/4॥ अर्थात्** परम-धर्म अहिंसा दुर्बलों का धर्म नहीं, अपितु अहिंसा बलवंतों का धर्म है। जो अपनी कषाय से पराजित हो जाता है, वही हिंसा कर्म करता है। श्रेष्ठजन स्वपर दोनों पर दयाभाव रखते हैं। अंतःकरण में किंचित् मात्र भी अशुभ संकल्पों-विकल्पों को उत्पन्न नहीं होने देना भाव-अहिंसा है।

अवराणं अण्णपाण-णिरोहं, अंग-छेदण-भेदणं.....अहिंसा-धम्म-विरुद्धाणि हिंसाकम्माणि॥1/5॥ अर्थात् दूसरों के अन्नपान में बाधा डालना, अंगों का छेदन-भेदन करना, वध-बंधन करना, बलिदान करना, द्रव्य-भाव प्राणों का वियोग करा देना, कर देना अथवा करनेवाले की अनुमोदना—ये सब कार्य अहिंसा धर्म के विरुद्ध हैं अर्थात् हिंसा-कर्म हैं।।1/5।।

आगे आचार्यश्री हिंसक यज्ञों का विरोध करते हुये कहते हैं कि—**कोडि-कोडिजण्ण-सहस्स.....तुज्झ णत्थि॥1/6॥** अर्थात् कोटि-कोटि यज्ञों अथवा सहस्त्रों तीर्थों की वन्दना के फल की अपेक्षा एक जीव के प्राणों की रक्षा करना अधिक अच्छा है। यदि आप किसी को प्राण-दान देने में समर्थ नहीं हो तो किसी के प्राण-हरण का अधिकार भी आपको नहीं है।।1/6।।

इसके पश्चात् अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है, ऐसा लिखकर ग्रन्थकार कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या करते हुये लिखते हैं कि हिंसा के बढ़ते ही प्रकृति उसका बदला जरूर लेती है। करुणा, दया, अनुकंपा सब अहिंसा के ही अंग हैं। नरमेध, अश्वमेध, गोमेधादि हिंसा यज्ञों का गलत अर्थ निकालनेवाले अधमनर हैं, ऐसा कहा। इस अध्याय के अंत में गुरुदेव लिखते हैं कि—**णिग्गंथ-महव्वदी-समणा.....अण्णविह-हिंसं पि णेव करेदि॥1/11॥** अर्थात्-निर्ग्रन्थ महाव्रती मुनि आरम्भी, उद्योगी, विरोधी एवं संकल्पी चारों ही प्रकार की हिंसा का त्याग करते हैं। गृहस्थ देशव्रती मात्र संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है तथा व्यर्थ में अन्य हिंसा भी नहीं करता है।।1/11।।

द्वितीय सत्यता नाम के अध्याय में आचार्य देव निर्भीकता से मात्र 10 सूत्रों में श्रमण एवं श्रावकों के योग्य सत्यता का प्रतिपादन किया। वे कहते हैं कि—**वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन करना, विपरीत, हीनाधिक कथन नहीं करना तथा प्रशस्त साधु-वचनों का बोलना सत्यधर्म है॥2/1॥ धर्मात्मा को सत्य-वचन प्राणों से अधिक प्रिय लगते हैं। प्रभावी-जन मितभाषी होते हैं, क्योंकि बहुप्रलाप प्रभुत्व-शक्ति का अभाव कर देता है। जो भाषण स्वयं के लिये मधुर नहीं लगता वह अन्य के लिये भी प्रयोग न करें॥2/2॥**

आगे वे लिखते हैं कि—**असच्चभासी होदि वीसस्स.....आगमेदि॥2/3॥** अर्थात् असत्यभाषी विश्व का अविश्वासी होता है, स्व-परिजन भी उस पर विश्वास नहीं करते, फिर अन्य की क्या कहें? हितकारी, मृदु, मधुर, गंभीर, विश्व-बंधुत्व के कारण-भूत वचनों का प्रयोग व्यक्ति के व्यक्तित्व का ज्ञापक है।।2/3।। **असच्च-भासगा कज्ज-करणत्थं.....पियं गेण्हंति॥2/4॥** अर्थात् असत्य-भाषण करने वाले लोग

काम साधने के लिये बहुत मीठा-अपनापन दिखाते हैं, परन्तु समय पाकर वे असत्य-भाषी दगा दे जाते हैं। साधु-पुरुषों के वचन हित, मित, प्रिय तथा धर्मयश-वृद्धि के कारण होते हैं। ज्ञानीजन प्राणों से भी प्रिय सत्य को स्वीकार करते हैं।।2/4।। **सच्चवयणं.....विंत्तिजीवणं। जे.....वयणसिद्धी॥2/5॥** अर्थात् सत्यवचन, सत्यजीवन स्वयं ही उच्चता के शिखर का जीवन है। इसके लिये पर की प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है। जो गुण स्वयं में नहीं, फिर भी उन गुणों से युक्त स्वीकारना, यह असत्य वाक्-वृत्ति का जीवन है। जो पुरुष आगमानुकूल सत्य-भाषण करते हैं, उन्हें वचन-सिद्धि हो जाती है।।2/5।।

आगे आचार्य भगवन् नीति की शिक्षा देते हुये कहते हैं कि—**यदि आप अपनी बात सुनाना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम स्वयं दूसरे की बात को ध्यान से सुनना होगा। जो भाषण दूसरों को कष्ट-प्रद हो, पर-निन्दापरक, हिंसायुक्त कर्कश हो; ऐसे भाषण का पूर्ण त्याग करें।** वे कहते हैं कि—**वही वार्ता तत्त्वचर्चा है जिसमें विसंवाद नहीं, विसंवाद से विशुद्धि का विनाश होता है। कर्कश शब्दों का घाव बाण से भी अधिक कष्टप्रद होता है। जैसे सरिता का शीतल जल प्राणिमात्र के लिये शीतलता देता है, वैसे ही सज्जनों के संस्कारित-वचन प्राणिमात्र के लिये शीतलता प्रदान करते हैं।** इस अध्याय के अंत में वे सत्यवचनालाप की सत्यार्थ-प्रेरणा देते हुये कहते हैं कि—**आत्मसाधक व्यर्थ के वचनालाप से आत्मरक्षा करता है। वचनों का संयम रखना साधक का अनिवार्य अंग है, क्योंकि लोक में बड़े-बड़े अनर्थ वाणी-असंयम से ही हुये हैं। जिसकी वाणी में स्याद्वाद विराजमान है, उसकी वाणी ही जगत् में स्वपर-कल्याणी है। स्याद्वाद-शून्य वचन अस्त्र से भी अधिक घातक होते हैं॥2/6-2/10॥**

तीसरे अचौर्य नामक अध्याय में आचार्य भगवन् ने किसी भी कारण से चोरी न करने की प्रेरणा देते हुये 9 सूत्रों में कहा कि—'**जीवो लोहकसाय-परिग्गह-सण्णावसादो चोरिय-सरिसं हीणकम्म-करणत्थं उज्जदो होदि। जदा जीवो अत्थेय-धम्मं पालेज्जा तदेव परम-तच्चणिण्णयो हुज्जा॥3/2॥**' अर्थात्-लोभ-कषाय, परिग्रह-संज्ञा के वश हुआ प्राणी चोरी जैसे हीनकर्म करने को तैयार हो जाता है। परम-तत्त्व का निर्णय तभी होगा जब जीव अस्तेय धर्म का पालन करेगा।

सामान्यजन को संबोधन देते हुये ग्रन्थकार लिखते हैं कि—**सग-समए सग-कज्जं ण करणं पि समयस्स चोरियं। जह सगधणं तुं पियं, तहेव इदरजणाणं पि पियं सगधणं तम्हा कस्सचिद पीदिभूद-धणहरणं पाणहरण-सरिसं॥3/3॥** अर्थात् अपने समय पर स्व-कार्य न करना भी समय की चोरी है। जैसे स्वधन आपको प्रिय है उसी प्रकार से अन्यजनों को भी स्वधन प्रिय है, इसलिये किसी के प्रीतिभूत धन का हरण प्राण-हरण के तुल्य है।

अब यहाँ चोर को संबोधन देते हुये कहा है कि—**चोर पूर्ण आयु को नहीं भोग पाता, या तो पर अस्त्रों-शस्त्रों से मृत्यु को प्राप्त होता है या संक्लेशता से अकाल-मरण को प्राप्त होता है। तस्कर की आत्मा से 'निर्भय' शब्द तो समाप्त ही हो जाता है, चोर प्रतिक्षण भय-ग्रस्त रहता है॥3/4॥** अस्तेय व्रती को चेतावनी देते हुये कहा कि—**अस्तेय व्रतधारक साधर्मीजनों से विसंवाद-भाव को प्राप्त नहीं होता॥3/5॥** साधु-पुरुषों को संबोधन देते हुये कहा कि—**साधु-पुरुष राज्य के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करते, शासन की आज्ञा, जो नीति-न्याय युक्त हो, उसका प्राणपन से पालन करते हैं॥3/6॥**

आगे राजा को कहते हुये लिखा कि—**राजा का कर्तव्य है प्रजा से कर (Tax) ले, वृक्ष के**

फलवत। जैसे कृषक वृक्ष से फल ही लेता है, परन्तु जड़मूल वृक्ष का विघात नहीं करता, क्योंकि आगामी फल भी उसी वृक्ष में आयेंगे, उसी प्रकार से राजा प्रजा से कर (Tax) तो ले, परन्तु प्रजा का सर्वहरण न करे। यदि राजा बिना कारण प्रजा का सर्वहरण करता है, तो वह भी चोर है॥3/7॥ निर्ग्रन्थ साधुओं से कहा—**जो भाव मोक्षमार्ग में कारण हैं साधक के लिये उन्हीं भावों पर स्थिर होने का सतत प्रयास करना चाहिये। यदि साधक साधु-भेष में असाधु-भावों की अनभूति लेता है तो वह साधु-भावों की तस्करी कर रहा है, स्व के साधु-भावों का विघातक है, दीर्घसंसारी है॥3/8॥** इस अध्याय के अंत में आचार्य परमेष्ठी सज्जनों को संबोधन देते हैं कि—**परकीय पदार्थ को स्व कहकर प्रचार करना, सुंदर दिखाकर असुंदर वस्तु देना अचौर्यव्रत का दूषण है। सज्जन पुरुष अपने कर्तव्य-पालन में उत्साहित होते हैं, जो लोग स्वकर्तव्य में उत्साह-हीन जीवन जीते हैं वे श्रेष्ठ कर्तव्यकार्य की चोरी करते हैं॥3/9॥**

चौथे अध्याय में चतुर्थ महाव्रत की चर्चा करते हुये 12 सूत्रों में लिखा कि—**लोए आदबल-देहबल-वड्ढगं.....सुण्णाइं॥4/1॥** अर्थात् ब्रह्माण्ड में यदि आत्मबल, देहबल-वर्धक कोई परम-औषधि है तो उसका नाम है 'ब्रह्मचर्य-धर्म'। कामशक्ति को क्षीण कर, ब्रह्मभाव में लीन रहकर गुरु-आश्रम में निवास करना ब्रह्मचर्य है। लोक में सम्पूर्ण-व्रतों का राजा यदि कोई व्रत है, तो वह ब्रह्मचर्य-व्रत है। ब्रह्मचर्य व्रत के अभाव में सम्पूर्ण-व्रत थोथे हैं, गंधहीन पुष्पवत। ब्रह्मचर्य अंक है, शेष व्रत अंकहीन शून्य हैं।

अब्रह्मभाव से रक्षणार्थ ग्रन्थकार सर्वविधजनों को प्रेरणा देते हुये आगे 10 सूत्र और लिखे हैं। उन्हें संक्षेप से देखते हैं—

*** 'ब्रह्मचर्य' दृष्टि से अब्रह्म पर जिसका नियंत्रण है उसका मन ब्रह्ममय स्वतः हो जाता है। जो अब्रह्म में रुचि रखते हैं उन्हें ही अब्रह्म-भाव पीड़ित करता है॥4/2॥**

*** व्रतों में ब्रह्मचर्य, मणियों में पारसमणि, रत्नों में हीरा, धातुओं में सोना, वनस्पति में मलयगिरि चंदन, धर्म में अहिंसा-धर्म; त्रैलोक्य-प्रसिद्ध है॥4/3॥**

*** जो व्यक्ति स्ववीर्य का क्षरण करता है, वह स्वजीवन का घातक है। वीर्य शरीर की अंतिम धातु है; जो तेज, बुद्धिबल प्रदान करने वाला है। श्रेष्ठ-विचार को जन्म देने वाला वीर्य होता है॥4/4॥**

*** वीर्य-हीन शरीर निस्तेज, प्रमादपूर्ण, आलस्यपूर्ण, रुग्ण, रक्त-दोषता, मुख-शरीर पर फोड़े-फुन्सी युक्त होता है तथा श्रेष्ठ-जनों के मध्य हीनता-दीनता सम्पन्न होता है॥4/5॥**

*** यदि इह-लोक में सत्कार, परलोक में परम-सुख की कामना है, तो स्व के शील का निर्दोष पालन करो॥4/6॥**

*** शील की रक्षा के लिये इष्ट-गरिष्ठ भोजन, स्त्रियों की राग भरी कथा, उनके मनोहर-अंगों का अवलोकन, पूर्व-भोग-स्मरण का त्याग अनिवार्य है॥4/7॥**

*** शरीर-चेष्टाजन्य अब्रह्म का जहाँ कोई विकल्प ही नहीं, वहीं परमार्थ-ब्रह्मचर्य है॥4/7॥**

*** जगत् से शून्य स्व में अशून्य-भाव ब्रह्मचर्य-भाव है॥4/8॥**

*** सम्पर्क, आलाप, प्रीति, विश्वास, परिणय; पाँच बिन्दु अब्रह्मलीनता के कारण हैं॥4/9॥**

*** निज चैतन्य भाव से पृथक् दृष्टि ले जाना अब्रह्म-भाव है, कुशील-परिणाम है। जगत् पूज्यता के भाव बनाने से जगत्पूज्य नहीं हुआ जाता, त्रैलोक्य-पूज्य स्वब्रह्म पर जो प्रतिष्ठित है, वह जगत् में पूजा जाता है॥4/9॥**

*** शरीर और आयु की रक्षा के लिये दो वस्तुओं की रक्षा करना अनिवार्य अंग है, उदरस्थ-अग्नि और वीर्य। इन दोनों के बल पर ही शरीर स्वस्थ रहता है॥4/10॥**

*** जो विद्यार्थी जीवन में स्ववीर्य की पूर्ण रक्षा करता है, किसी भी प्रकार से आत्म-वीर्य का नाश नहीं करता, उसे सरस्वती की सिद्धि हो जाती है॥4/11॥**

*** भोग भोगनेवाला तो पापबंध को प्राप्त होता ही है, परन्तु भोग भावना रखनेवाला भी पापबंध को प्राप्त होता है, इसलिये काम-इच्छा का भी त्याग करो॥4/12॥**

अब आगे विस्तार के भय से अपरिग्रहादि अध्यायों में प्रस्तुत विषय को संक्षेप से प्राकृत-भाषा के साथ देखते हैं। ग्रन्थकार पूज्यपाद गुरुदेव ने बड़े ही मार्मिक हृदयस्पर्शी सत्यार्थ-शब्दों एवं भाषा का प्रयोग आगे के अध्यायों में किया है। यथा—

''परिग्रह''

* **परपदत्थाइं पडि ममत्तभावो परिग्गहो॥5/1॥**
परपदार्थों के प्रति ममत्व-परिणामों का होना परिग्रह है।

* **जत्थ जत्थ इच्छा, तत्थ तत्थ परिग्गहो॥ 5/1॥**
जहाँ-जहाँ इच्छा है, वहाँ-वहाँ परिग्रह है।

* **पदत्थे अहियारो होदु वा ण होदु पर-ममत्तं परिग्गहो॥5/1॥**
पदार्थ पर अधिकार हो अथवा न हो, पर-ममत्व है तो परिग्रह है।

* **वत्थु-परिग्गहो णत्थि ममत्तं परिग्गहो॥5/1॥**
वस्तु परिग्रह नहीं है, ममत्व परिग्रह है।

* **कारणस्स कारणादो परवत्थुं पि परिग्गहो भासिदो॥5/1॥**
कारण का कारण होने से परवस्तु को भी परिग्रह कहा है।

* **जत्थ- जत्थ अणिच्छा णिम्ममत्तं च तत्थ तत्थ परवत्थुगहणस्स भावाभावो त्ति, जत्थ परइच्छा-परवत्थु-अभावो तत्थ अपरिग्गहभावो॥5/2॥**
जहाँ-जहाँ अनिच्छा, निर्ममत्व-भाव है वहाँ-वहाँ परवस्तु के ग्रहण के परिणामों का अभाव है; जहाँ पर-इच्छा, परवस्तु दोनों का अभाव है, वहाँ अपरिग्रह-भाव है।

* **सम्मतच्चणाणं जीवं पहाणं कुव्वेदि, परपदत्थस्स ममत्तमदो णियं विरलेंति॥5/2॥**
सम्यक्तत्त्व का ज्ञान जीव को महान् बनाता है, परपदार्थ के ममत्व का मद आत्मा से दूर कर देता है।

* **जीवो लोहकसाय-परिग्गहसण्णा-वसादो विचित्त-वावारं पावसंगहं च किच्चा होदि दुग्गदि-पत्तो॥5/3॥**

लोभ-कषाय और परिग्रहसंज्ञा के वश जीव अनेक प्रकार के व्यापार कर पाप का संग्रह कर दुर्गति का पात्र बनता है।

* **साहु-असाहवो य परिग्गहेण पहाविदा होंति, एरिसं मिट्ठुण्णं परिग्गहो॥5/4॥**
साधु-असाधु दोनों ही परिग्रह से प्रभावित हो जाते हैं, ऐसी मिठाई परिग्रह है।
* **सच्चत्थ-जीवण-जीवणत्थं परिग्गहदो पुण्ण-पुहुत्त-जीवणं जिय॥5/4॥**
सत्यार्थ-जीवन जीना है तो परिग्रह से पूर्ण पृथक्-जीवन जियो।
* **असुहज्झाणदो आददेवस्स रक्खाभावा दु परिग्गहत्तो ममत्तचागं कुणहि॥5/5॥**
अशुभ-ध्यानों से आत्मदेव की रक्षा के भाव हैं, तो परिग्रह से ममत्व का त्याग करो।
* **परिग्गहेण सह संसारभमणं, ण दु णिव्वाण-गमणं॥5/8॥**
परिग्रह के साथ संसारभ्रमण ही होता है, निर्वाण-गमन नहीं होता है।

''मैत्री''

* **पाणीमेत्तं पडि मायाकंखारहिद-भावो अंतरंगे रागद्दोस-बुद्धिसुण्णो साहगभावो साहणा-कुसलत्तं च मेत्तीभावो॥6/1॥**
प्राणी मात्र के प्रति मायाचारी रहित, बिना आकांक्षा के, अंतरंग में रागद्वेष बुद्धि शून्य होकर जो साधक के भाव साधना की कुशलता है, वह मैत्री-भाव है।
* **वद-उववास-साहणा-बहिरंगसाहणा। सत्तुमित्तं पडि सहजुप्पण्ण-सम्मभावो अंतरंग-मेत्ती॥6/1॥**
व्रत-उपवास की साधना बहिरंग-साधना है। शत्रु-मित्र के प्रति साम्यभाव सहज-उत्पन्न होना अंतरंग-मैत्री है।
* **मेत्तीभावदो होदि अंतरंग-पीदिबोहो। मेत्तीभावे जादिपंथ-संपदाय-गंधो णवि होदि, णिब्भेद-पीदिभावो मेत्तीभावो॥6/1॥**
अंतरंग में प्रीति का बोध मैत्री-भाव से होता है। मैत्री-भाव में जाति-पंथ-सम्प्रदाय की गंध नहीं होती, निर्भेद प्रीति-भाव मैत्री-भाव।
* **परदुक्ख-कारणस्स उप्पादण-अभावो मेत्ती॥6/1॥**
पर के दुःखों का कारण न होना मैत्री है।
* **हिदएण हिदय-मेलणं मित्तत्तं॥6/2॥**
हृदय से हृदय का मिलन मित्रता है।
* **जो दुव्विसणे णेदि, सो णत्थि सम्मित्तं; सो दु अणुऊल-रिवू॥6/3॥**
जो दुर्व्यसन में ले जाये वह सच्चा मित्र नहीं, अपितु अनुकूल शत्रु है।
* **हीणायरणी-मित्तत्तं पडि समयं कट्ठपदं॥6/3॥**
हीनाचारी की मित्रता पल-पल में कष्टप्रद होगी।

* **सत्थीजणेहिं मित्तत्तं सिविणे वि ण कादव्वं॥6/4॥**
  स्वार्थीजनों से मित्रता स्वप्न में भी नहीं करनी चाहिये।
* **दुट्ठ-मित्तत्तेण सग्गुणा लोहसंगदीए अणलमिव जरंति॥6/4॥**
  दुष्टों की मित्रता से सद्गुण ऐसे ही पिटते हैं जैसे लोहे की संगति से अग्नि पिटती है।
* **जो धम्म-सक्किदि-रक्खाए पुण्णरूवेण समप्पिदो, कुमग्गदो पुण्णरित्तो तं सिग्घमेव सगमित्तं कुणेहि॥6/5॥**
  जो धर्म-संस्कृति की रक्षा में सर्वस्व समर्पित करने को तैयार हो, कुमार्ग से पूर्ण रहित हो उसे शीघ्र ही अपना मित्र बना लो।
* **सहस्स-अण्णाणी-मित्तत्तो एगो णाणी-रिवू वरो उत्तमो॥6/6॥**
  सहस्त्रों अज्ञानी मित्रों की अपेक्षा एक ज्ञानी शत्रु अच्छा है।
* **मित्तस्स मित्तत्तं दिग्घजीवी-करणत्थं मित्तेण महुरभासण-पओगं कुणहि, णवरि कडुग-भासणं विस-सरिसं॥6/7॥**
  मित्र की मित्रता को दीर्घ-जीवी बनाकर रखना चाहते हो तो मित्र से मधुर-भाषण का प्रयोग करो, क्योंकि कटुक-भाषण विष तुल्य है।
* **तावं मित्त-मित्तत्तं जीविदं जावं उहयमित्त-मज्झे सिरि-इत्थी-रागो ण पवेसेदु॥6/8॥**
  मित्र की मित्रता तभी तक जीवित रहती है, जब दोनों मित्रों के मध्य श्री (धन) और स्त्री का राग प्रवेश न करे।
* **णियत्थवसादो सगीया पडि सव्वस्स मित्ती पयडेदि, णं अयं भूदत्थ-सम्म-मित्तीभावो णत्थि॥6/9॥**
  स्वार्थ के वश होकर अपनों के प्रति सबकी मैत्री प्रकट होती है, परन्तु यह सत्यार्थ सम्यक् मैत्री-भाव नहीं है।

''प्रमोद''

* **मुह-पसण्णदा-पहुदीहिं अंतरंगे भत्ति-अणुराग-पयडीकरणं पमोदो॥7/1॥**
  मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा अंतरंग में भक्ति और अनुराग व्यक्त होना प्रमोद है।
* **जस्स हिदए सग्गुणिणो पडि असम्माणो, तस्स हिदयो किं हिदयो? सो दु सुक्ख-पासाण-खंडो॥7/1॥**
  जिसके हृदय में सद्गुणियों के प्रति सम्मान नहीं, उसका हृदय क्या हृदय? वह तो शुष्क पाषाण का टुकड़ा है।
* **सरलचित्ता गुणीजणा पस्संता हि पीदीए परिपूरंते॥7/2॥**
  सरल हृदयी जीव गुणीजनों को देखते ही प्रीति से लबालब भर जाते हैं।
* **जो सग्गुणी-जीवेसुं पि अवगुणं पस्सेदि, तस्स कागदिट्ठी जा मुत्तं मोत्तूणं मलं गेण्हेदि॥7/3॥**

जो सद्गुणी जीवों के अंदर भी अवगुण देख रहा है, उसकी काकदृष्टि है, जो कि मोती छोड़कर मल को चुग रहा है।

* **जे गुणीजणा दट्ठूणं मुहं वालंति, तेसुं अदु धम्मत्तभाव-अभावो त्ति॥7/4॥**
जो गुणीजनों को देखकर मुख मोड़ते हैं उनके अंदर अभी धर्मत्व-भाव का अभाव है।
* **धम्म-धम्मप्पा पस्सिय चित्ते उप्पण्णो पसण्णभावो सच्चत्थ-पमोदभावो त्ति॥7/7॥**
धर्म-धर्मात्मा को देखकर जो अंतरंग में गद्गद्-भाव है, वही सत्यार्थ प्रमोद-भाव है।

''कारुण्य''

* **जीवदयाभावो कारुण्णं॥8/1॥**
जीवों पर दयाभाव रखना कारुण्य भाव है।
* **जो करुणादो एगजीवरक्खणं करेदि, सो भवियवरो कोडि-कोडितित्थवंदणफलं पावेदि॥8/2॥**
जो करुणापूर्वक एक जीव की रक्षा करता है, वह भव्यवर कोटि-कोटि तीर्थों की वंदना के फल को प्राप्त होता है।
* **जत्थ करुणावासो तत्थेव माणवत्तं जीविदं॥8/3॥**
मानवता वहीं जीवित रहती है, जहाँ करुणा का वास है।
* **करुणादाणं वीसस्स सव्वसेट्ठदाणं॥8/4॥**
करुणादान विश्व का सर्वश्रेष्ठ दान है।
* **जत्थ पाणिमेत्तं पडि करुणाभावो तत्थेव समणत्तं, वेसमेत्ते समणत्तं णवि पस्सेज्जा॥8/8॥**
साधुता वहीं है जहाँ प्राणिमात्र के प्रति करुणाभाव है, भेषमात्र में साधुता नहीं देखना।
* **कारुण्ण-संपण्णो विसुद्ध-भावेहिं दुग्गदिणासं किच्चा सुगदिं लहेदि, तम्हा कारुण्णं खु सव्व-सुहयारी॥8/9॥**
कारुण्ण-भाव सम्पन्न जीव विशुद्ध भावों से दुर्गति का नाश कर सुगति को प्राप्त होता है, इसलिये करुणाभाव ही सर्व-सुखकारी है।

''माध्यस्थ-भाव''

* **रागद्दोसादु ण करणं पक्खपादं मज्झत्थभावो॥9/1॥**
माध्यस्थ-भाव द्रव्य और भाव दोनों हिंसा से जीव की रक्षा करता है।
* **आदसंति-परम-मंतं मज्झत्थ-भावो॥9/4॥**
आत्मशान्ति का परम-मंत्र माध्यस्थ-भाव है।
* **बहिरब्भंतर-विगाराणं विणासत्थं मज्झत्थ-भावो परमरसायणं॥9/6॥**
अंतरंग-बहिरंग विकारों को नष्ट करने के लिये माध्यस्थ-भाव परम-रसायन है।
* **मज्झत्थेण विणा सेट्ठ-जोग्ग पुरिसाणं जोग्गत्तमुल्लं ण हवेदि॥9/9॥**
माध्यस्थता के बिना श्रेष्ठ-योग्य-पुरुषों की योग्यता की कीमत नहीं हो सकती है।

* **पक्खवाद सुण्णभावो मज्झत्थभावो॥9/10॥**
  पक्षपात शून्य भाव का नाम ही तो माध्यस्थ-भाव है।
* **भुवणमित्तं हवेदुं धारेहि मज्झत्थभावस्स अवलंबणं॥9/14॥**
  जगत् का मित्र बनकर जीना है तो एकमात्र माध्यस्थ-भाव ही आलंबन है।

''विवेक''

* **हेयोवादेए भेदबुद्धी, गेज्झ-अगेज्झस्स भेदणाणं, तच्च-अतच्चस्स परिक्खण-कोसल्लं च विवेगो॥10/1॥**
  हेय-उपादेय में भेद करने की बुद्धि, ग्राह्य-अग्राह्य का भेदज्ञान, तत्त्व-अतत्त्व की परीक्षा-कौशल्य का नाम विवेक है।
* **विवेगदो गुरुं णो किंपि मित्तं, अविवेगदो गुरुं णो किंपि अमित्तं; अयं सणादण-सिद्धंतो॥10/2॥**
  विवेक से बड़ा कोई मित्र नहीं है और अविवेक से बड़ा कोई शत्रु नहीं है; यह सनातन सिद्धान्त है।
* **जो अवियारपुव्वगं करेदि कज्जं, सो सगजीवणे माणसिग-देहिग-विचित्त-कट्ठाइं पडिक्खणे लहेदि॥10/4॥**
  अविचारपूर्वक जो कार्य करता है, वह अपने जीवन में मानसिक एवं शारीरिक अनेकों कष्टों को क्षण-क्षण में प्राप्त होता है।
* **विवेगीजणा सगम्हि कुणंति संतिवेदणं, एवं विवेगहीणो जीवेदि असंति-पुण्णजीवणं॥10/8॥**
  विवेकीजन अपने आप में शान्ति का वेदन करते हैं, वहीं विवेकहीन अशान्तिपूर्ण जीवन जीता है।
* **जो विवेगरित्तो होदूणं करेदि कज्जं, सो लोए रिवुत्तवड्ढिं करेदि॥10/9॥**
  जो व्यक्ति विवेक से रिक्त होकर कार्य करता है, वह लोक में शत्रुता की वृद्धि करता है।

''धैर्य''

* **माणवजादि-आभरणं धेरियं॥11/1॥**
  धैर्य मानव-जाति का आभूषण है।
* **धीरत्तेण णिहिल-उवसग्ग-परिसहा पसण्णचित्तेण णायग-भावेण य सहिज्जदे, ण दु अधीरत्तेण॥11/3॥**
  धीरता से सम्पूर्ण उपसर्ग-परिषहों को प्रसन्नचित्त, ज्ञायक-भाव से सहन किया जा सकता है, अधीरता से नहीं।
* **धीरस्स धेरियं दट्ठूणं कट्ठाइं पि कट्ठरूवे होंति॥11/4॥**
  धीर पुरुष के धैर्य को देखकर कष्ट भी कष्ट में पड़ जाते हैं।
* **अधीराणं मित्तं धेरियं। अधीरत्तं माणसिग-पीडाए अदिरित्तं अण्णं किंचणं पि णो देदि एवं धेरियं देहिग-माणसिग-वायणिग-सयल-विवदादो रक्खेदि॥11/8॥**

अधीरों का मित्र धैर्य है। अधीरता मानसिक पीड़ा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देती, जबकि धैर्य शारीरिक, मानसिक, वाचनिक सम्पूर्ण विपदाओं से रक्षा करता है।

* **कहं धारेदि विसमदासु समदं, धिज्जवंतं समया हि इमा विज्जा॥11/17॥**
विषमताओं में समता कैसे रखी जाती है, यह विद्या धैर्यशाली के ही पास होती है।

''दया''

* **लोए सगपर-आणंददं वत्थुं दया॥12/2॥**
स्व-पर आनन्दप्रद लोक में कोई वस्तु है तो वह दया है।
* **जत्थ सिरि-इत्थी-रागो तत्तो दया गच्छेदि॥12/5॥**
जहाँ श्री और स्त्री का राग प्रवेश कर जाता है, वहाँ से दया का पलायन हो जाता है।
* **दयाभाव-अभावे धम्मणामस्स किंपि वत्थुं णत्थि। जत्थ दयाकरुणा-अभावो तत्थ ववहार-धम्म-अभावो परमट्ठधम्मस्स गंधं चेव णत्थि॥12/12॥**
दया के अभाव में धर्म नाम की कोई वस्तु नहीं। जहाँ पर दया-करुणा का अभाव है, वहाँ व्यवहार-धर्म का ही अभाव है, परमार्थ-धर्म की तो गंध ही नहीं।
* **जत्थ कसायाभावो, तत्थेव परमदया॥12/20॥**
कषाय अभाव जहाँ, वहीं परम-दया है।
* **सद्देहिं सह आचरणे वि दया होदव्वा॥12/27॥**
दया शब्दों के साथ आचरण में भी आना चाहिये।

''दम''

* **मणुण्ण-अमणुण्ण-इंदियविसएसु रागद्दोस-विरदी दम-संजमो॥13/1॥**
मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष की विरति दम-संयम है।
* **जा समया संजमो, ते खलु लोए वीसास-पत्ता॥13/2॥**
जिनके पास संयम है, लोक में वे ही लोग विश्वास के पात्र हैं।
* **जत्थ इंदियकसाय-दमणं, तत्थेव जीवणे आणंदो॥13/9॥**
जहाँ इंद्रिय और कषायों का दमन है, वहीं जीवन में चमन है।
* **जो इंदियमणाणं दम्मेदि, सो चरिचाए सह सगचरिचाए वि सिरिजिणसासण-पहावणं करेदि॥13/17॥**
जो इंद्रिय व मन का दमन करता है, वह चर्चा से ही नहीं स्वचर्या से भी श्री जिनशासन की प्रभावना करता है।
* **दमीजणा जमीजणा॥13/22॥**
दमीजन ही यमीजन होते हैं।
* **जत्थ इंदियसुह-विसयकसायदमणं, तत्थेव साहगं लहेदि आदसुहसंतोसं च॥13/31॥**
साधक को आत्मसुख एवं संतोष वहीं प्राप्त होता है, जहाँ इंद्रियसुख व विषयकषाय का दमन है।

''त्याग''

* **अंतरंगे पबुद्धाणं विसयकसायतरंगाणं चत्तेहि, णवरि एदे उहयलोए कट्ठदा॥14/1॥**
  अंतरंग में उठती विषय-कषायों की लहरों का त्याग करो, क्योंकि ये उभय-लोक में कष्ट देने वाली हैं।
* **परमो धम्मो चागो। चागेण विणा ण होदि समाहिलीणत्तं॥14/9॥**
  त्याग परम धर्म है। त्याग के बिना समाधि की लीनता नहीं होती।
* **जे परवत्थुसंगहं जाणंते, णं दाणं ण जाणंते, ते महादुहिदा॥14/10॥**
  वे लोग महादुःखी हैं, जो परवस्तु का संग्रह करना तो जानते हैं, परन्तु दान देना नहीं जानते।
* **संसारवड्ढगो संसारणासगो वा किल भावो॥14/13॥**
  भाव ही संसारवर्धक है और भाव ही संसारनाशक है।
* **चाएण जीवो होदि महाणो। चाएण विणा लोयववहारो वि सुक्खो होदि, परमट्ठो दु णेव आरंभेदि, तम्हा दिढत्तेण चागधम्मं पालेहि॥14/15॥**
  त्याग से जीव महान् बनता है। बिना त्याग के लोक व्यवहार भी शुष्क हो जाता है, परमार्थ तो प्रारंभ ही नहीं होता है, इसलिए दृढ़ता से त्याग-धर्म का पालन करो।
* **धण-धण्ण-धराणं चागोवरंतं पि जीवस्स अवर-बहुलचागो होदि अवसेसो, सो त्थि चागस्स रागस्स चागो॥14/32॥**
  धन, धान्य, धरा का त्याग करने के उपरान्त भी जीव को बहुत कुछ और त्याग करना अवशेष होता है, वह है त्याग के राग का भी त्याग।

''समाधि''

* **पसत्थ-सुक्कधम्मज्झाणं च समाही। समाहिणा विणा वीसस्स संपुण्ण-साहणाओ णिव्वाणलद्धीए अकिंचिदकराओ॥15/1॥**
  प्रशस्त शुक्ल व धर्म्यध्यान समाधि है। समाधि के बिना विश्व की सम्पूर्ण साधनायें निर्वाण प्राप्ति में अकिंचित्कर हैं।
* **आदसिद्धिसाहणं समाही। समाहिणा विणा आदसिद्धी असंभवा॥15/2॥**
  आत्मसिद्धि का साधन समाधि है। समाधि के बिना आत्मसिद्धि संभव नहीं।
* **मेत्तं जोगी-अणुहवगम्मो समाही-आणंदो॥15/6॥**
  समाधि का आनंद एकमात्र योगी के अनुभवगम्य है।
* **कायकसायचागी हि समाहि-साहणाए साहगो होदि॥15/11॥**
  काय एवं कषाय का त्यागी ही समाधि-साधना का साधक हो सकता है।
* **ममत्तं समाहिस्स पबलरिवू। जत्थ जत्थ ममत्तं, तत्थ तत्थ समाहि-अभावो॥15/13॥**
  ममत्व-भाव समाधि का प्रबल-शत्रु है। जहाँ-जहाँ ममत्व खड़ा है, वहाँ-वहाँ समाधि का अभाव है।
* **काम-कोह-मिट्ठभोयण-परपसंसा-सगपूया-परिणामा य समाहि-साहगस्स विस-सरिसा। समाहि-इच्छुगं इमेहिं कारणेहिं ऊसरेज्जा॥15/26॥**

काम, क्रोध, मिष्टभोजन, पर की प्रशंसा, स्वपूजा के परिणाम समाधि-साधक के लिये विष-तुल्य हैं। समाधि के इच्छुक को इन कारणों से दूर ही रहना चाहिये।

''गुरु''

* **जे गुरु-गुरुत्तणदो पुण्णा, दुग्गुणादो पुण्ण-दूरा, पंथ-सुण्णा, सच्चत्थ-पह-णायगा, पाणिमेत्तं पडि कल्लाण-चिंतगा, भव-सायर-उत्तिण्णे समत्थवंता; ते खलु सच्चप्प-गुरू॥16/1॥**

गुण-गुरुता से जो पूर्ण हैं, दुर्गुणों से पूर्ण दूर हैं, पंथों से शून्य, सत्यार्थ-पथ के नेता हैं, प्राणिमात्र के कल्याण के चिंतक हैं, भवसागर उत्तीर्ण करने में समर्थवान हैं, वही सच्चे गुरु हैं।

* **बहिरब्भंतर-सुद्धि-संपण्णो महापुरिसो हि गुरुसण्णं भजेदि, णेव अण्णो इदरो॥16/8॥**

अंतरंग-बहिरंग शुद्धि सम्पन्न महापुरुष ही गुरु-संज्ञा को प्राप्त होता है, अन्य नहीं।

* **जीवण-विगासे गुरुणो महत्तपुण्णठाणं। सच्चप्प-गुरुं विणा आदविगासो असंभवो॥16/14॥**

जीवन-विकास में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। सच्चे-गुरु के बिना आत्म-विकास संभव नहीं है।

* **सच्चप्प-गुरओ होंति अणवेक्ख-उवयारगा। सच्चत्थ-गुरओ परोवयारं तु कुव्वंति, णं पडि-उवयारे किंचिवि वंछं णो कुव्वंति॥16/25॥**

सच्चे-गुरु अनपेक्ष उपकारक होते हैं। सच्चे गुरु पर का उपकार तो करते हैं, परन्तु बदले में कुछ भी आकांक्षा नहीं रखते हैं।

* **आदजोदिं पयासिदत्थं गुरओ पबलणिमित्तं। सीसं जोदिमय-जीवणत्थं गुरुणो अणुसासणं अच्चंत-आवस्सगं॥16/33॥**

आत्मज्योति को प्रकाशमान करने के लिये गुरु प्रबल निमित्त हैं। शिष्य को ज्योतिर्मय जीवन के लिये गुरु का अनुशासन अत्यंत आवश्यक है।

''शिष्य''

* **जो होदि सिट्ठो, सदायारी, कत्तव्व-णिट्ठो, गुरुभत्तो, भवभयभीदो, तच्च-पिवासू, सरल-सहाववंतो, पमाद-सुण्णो, विज्जाणुरागी य; सोच्चिय उत्तमो सिस्सो॥17/1॥**

शिष्य वही श्रेष्ठ होता है जो शिष्ट, सदाचारी, कर्तव्यनिष्ठ, गुरुभक्त, भव से भयभीत, तत्त्व-पिपासु, सरल-स्वभावी, प्रमाद-शून्य एवं विद्यानुरागी हो।

* **विज्जा-लाहत्थं सिस्सो हविज्जिस्सदि, सिस्सत्तं विणा णो विज्जा-सिद्धी; पसिद्धमिदं॥17/4॥**

विद्या-प्राप्ति के लिये शिष्य बनना ही पड़ेगा, शिष्य बने बिना विद्यासिद्धि नहीं होती है, यह प्रसिद्ध है।

* **जम्हि देसे गोवंस-सिस्ससंपदा य णत्थि, सो देसो चागणिज्जो; णं तत्थ जीवण-धम्मक्खयं होदि॥17/13॥**

जिस देश में गौवंश एवं शिष्यसम्पदा न हो, वह देश त्यागनेयोग्य है; क्योंकि जीवन एवं धर्म का वहाँ क्षय होता है।

* **विवेगी-णाणी-सिस्सा गुरुणो अणुऊलायरणं हि करेंति॥17/24॥**
विवेकी और ज्ञानी शिष्य गुरु के अनुकूल ही आचरण करते हैं।

* **णिक्कसाय-णिव्वियार-परमत्थतच्चभावणापुण्ण-पत्तवच्छल्ल-जुत्तस्स गुरुणो हि सिस्सत्तं सेयोकरं॥17/33॥**
निष्कषाय, निर्विकार, परमार्थ-तत्त्व की भावना से पूर्ण, पात्र-वात्सल्य युक्त गुरु के ही शिष्य बनना श्रेयस्कर है।

''अध्यात्म-योग''

* **मण-वयण-काय-किरियाए णिरोहित्ता एगसरूवे णिच्छल-थिरत्तेण अप्पस्स उवओगस्स अप्पम्हि लीणत्तं; अज्झप्प-जोगो॥18/1॥**
मन-वचन-काय की क्रिया का निरोध कर एक स्वरूप में निश्चल स्थिरतापूर्वक आत्मा के उपयोग को आत्मा में ही लीन करना 'अध्यात्म-योग' है।

* **वीसस्स परा-विज्जा अज्झप्प-विज्जा॥18/3॥**
विश्व की परा-विद्या 'अध्यात्म-विद्या' है।

* **सरीर-इंदियादो पुहं अदिंदिय-आणंद-वेदणं कारमाणा अज्झप्प-विज्जा॥18/4॥**
शरीर-इंद्रियों से परे अतीन्द्रिय-आनंद का वेदन करनेवाली 'अध्यात्म-विद्या' है।

* **असंतचित्तं संतकारी-विज्जा अज्झप्प-विज्जा॥18/7॥**
अशान्त-चित्त को शान्त करने की विद्या 'अध्यात्म-विद्या' है।

* **अज्झप्पिग-णाणी-पुरिसो णिंदाकसायजयी मिदभासी-भोजी य होदि॥18/22॥**
आध्यात्मिक-ज्ञानी पुरुष निंदा-कषायजयी, मितभाषी, मितभोजी होता है।

* **केवलं णियप्प-बंभेण खु विअंभेहि, एवंचिय अज्झप्प-दसा॥18/30॥**
एकमात्र निजात्मब्रह्म से ही प्रभावित रहो, यही अध्यात्म-दशा है।

''संस्कार''

* **माणवजीवणे महाणत्तं दीणत्तं च सक्कारेहिं हि आगमेदि॥19/1॥**
मानव जीवन में महानता व दीनता संस्कारों से ही आती है।

* **कुसक्कारो जसोकित्ति-णाणविण्णाण-कुलीणत्त-साहुत्ताणं जुगवं णासेदि॥19/3॥**
कुसंस्कार यशःकीर्ति, ज्ञान-विज्ञान, कुलीनता, साधुता सबका युगपत् नाश कर देता है।

* **सक्कारवंतो सव्वत्थ सम्माणं भजेदि तहा सक्कार-हीणो सव्वत्थ अवमाणं भजेदि॥19/11॥**
संस्कारवान सर्वत्र सम्मान को प्राप्त होता है तथा संस्कारहीन सर्वत्र अपमान को प्राप्त होता है।

* **धण-धरणीदो वि अग्घवंतो सुसक्कारो॥19/12॥**
धन-धरती से भी अर्घवान यदि कुछ है, तो वह सु-संस्कार है।

* **जदा देस-रट्ठ-समायम्हि सुसक्कार-रक्खणं होहिदि, तदेव धम्म-जस-संपत्ति-सक्किदि-रक्खणं संभवं॥19/20॥**

  धर्म, यश, सम्पत्ति और संस्कृति की रक्षा तभी संभव है, जब देश, राष्ट्र, समाज में सुसंस्कारों की रक्षा होगी।

* **आगमणाणं णिद्दोसचरिया य सक्कारसीलं समया हि होदि। जे आद-सक्कारजुत्ता, ते खलु कुसल-णादा॥19/24॥**

  आगमज्ञान, निर्दोषचर्या संस्कारशील के पास ही रहती है। कुशल-ज्ञाता वे ही हैं, जो आत्मसंस्कार युक्त हैं।

''आत्मतत्त्व''

* **जं सद-चिद-आणंदमयं, परभावादो भिण्ण-सहाववंतं, णाण-दंसण-सहाववंतं, जडत्तसुण्णं, चेयण्णभूदं च; तं खलु आददव्वं॥20/1॥**

  जो सत्-चित्-आनंदमय है, परभावों से भिन्न स्वभाववान, ज्ञान-दर्शन स्वभावी है, जड़त्वशून्य, चैतन्यभूत है, वह आत्मद्रव्य है।

* **जो परमबंभ-उवासगो उवस्सभावं लहेदि, सो चेव आदतच्चं॥20/3॥**

  परमब्रह्म का उपासक उपास्य-भाव को जो प्राप्त होता है, वही आत्मतत्त्व है।

* **आदतच्चं आदतच्चं हि जाणेदि, अण्ण-तच्चेसुं अणुहवण-जोग्गदा-अभावो त्ति॥20/17॥**

  आत्मतत्त्व को आत्मतत्त्व ही जानता है, अन्य तत्त्वों में जानने की योग्यता का अभाव है।

* **बहि-वियप्प-सुण्णे सदि खलु आदतच्च-णाणं होदि॥20/21॥**

  बहिर-विकल्पों से शून्य होने पर ही आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है।

* **अब्भंतर-विसुद्धी णिम्मल-भावाणं पगिट्ठदा य आदतच्चस्स सहजेण अणुहवं कारेदि॥20/22॥**

  अंतरंग की विशुद्धि, निर्मल परिणामों की प्रकृष्टता आत्मतत्त्व का सहज अनुभव करा देती है।

''सहज-जीवन''

* **सहजत्तं माणव-जीवणस्स अहिणाणं। मायापवंचणाए माणवत्त-अंसो वि णत्थि। जदि सम्मं माणवत्तं इच्छेसि दु सहजजीवणं जीवेहि॥21/1॥**

  सहजता मानव जीवन की पहचान है। माया, छलकपट में मानवता का अंश भी नहीं होता। सच्ची मानवता को प्राप्त करना है तो सहज-जीवन जीना सीखो।

* **सहजदा-जीवणं जीवस्स विउल-तव-साहणा अत्थि॥21/2॥**

  सहजता का जीवन जीना व्यक्ति के लिये एक बड़ी तपसाधना है।

* **सहज-जीवणत्थं णिल्लोहत्तं णिरहंकारत्तं च होदव्वं। लोही अहंकारी कदावि सरलत्तं सहजत्तं च णेव लहेदि॥21/10॥**

सहज-जीवन जीने के लिये निर्लोभता, निरहंकारता होना चाहिये। लोभी-अहंकारी कभी भी सरलता और सहजता को प्राप्त नहीं कर पाता।

* **सहज जीवणं फास-रस-गंध-वण्ण-सुण्णं आदाणंद-रसपुण्णं च होदि॥21/15॥**
सहज-जीवन स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से शून्य तथा आत्मानंद रस से पूर्ण होता है।
* **सहज-जीवो सव्वस्स पियो आदरिसो य होदि तहा तस्स सव्वे सहजरूवेण हि णिउड्ढंति॥21/34॥**
सहज-व्यक्ति सभी का प्रिय और आदर्श होता है तथा उसके लिये सभी सहज ही तत्पर रहते हैं।

''पुण्य-पाप''

* **संसारीहिं सह लोए सव्वत्थ पुण्णापुण्णोदयो कज्जं करेदि॥22/6॥**
संसारी प्राणियों के साथ लोक में सर्वत्र पुण्य-पाप का उदय कार्य कर रहा है।
* **पुण्णस्स पबलदाए असच्चं पि सच्चं होदि॥22/7॥**
पुण्य की प्रबलता में असत्य भी सत्य हो जाता है।
* **पुण्णपावाणि कम्मज-भावा, णासवंता य॥22/14॥**
पुण्य-पाप दोनों ही कर्मज-भाव हैं, नाशवान हैं।
* **पुण्णोदए इत्तियो हस्सिदो मा हुव जत्तो आद-विसुद्धि-घादो होहिदि॥22/15॥**
पुण्योदय में इतने हर्षित मत हो जाना कि जिससे आत्म-विशुद्धि का ही लोप हो जाये।
* **तच्चण्हू पुण्णापुण्णोदएसुं सामण्ण-भावं धरेदि, सो जाणेदि दोण्णि हि पुग्गल-वियारा॥22/19॥**
तत्त्वज्ञ जीव पुण्योदय व पापोदय दोनों में ही सामान्य भाव रखता है, वह जानता है कि दोनों ही पुद्गल का विकार हैं।
* **पुण्णप्पा-जीवस्स णिंदादो सगपुण्ण-खयो होदि॥22/35॥**
पुण्यात्मा जीव की निंदा करने से स्वपुण्य का क्षय होता है।

''आस्था''

* **अट्ठा-रज्जू णवि दिस्सदि, किण्णु अंतरंगस्स दिढ-बंधणं अत्थि; जं गजेहिं पि ण भिंददे॥23/1॥**
आस्था की डोर दिखती नहीं, परन्तु अंतरंग का दृढ़-बन्धन है; जो कि हाथियों से भी नहीं तोड़ा जा सकता है।
* **वीसासेण सह किदं कज्जं सयमेव समावेदि, किण्णु कज्ज-खमदं पडि पुण्ण-अट्ठा आवस्सगा॥23/2॥**
विश्वास के साथ किया गया कार्य स्वयमेव ही पूर्ण होता है, पर कार्य-क्षमता के प्रति पूर्ण आस्था होना अनिवार्य है।
* **जं समया सम्म-अट्ठा होदु, तमेव मोक्खमग्ग-पहो सच्चत्थ-मग्गो दिस्सेदि॥23/3॥**
मोक्षमार्ग का रास्ता, सत्यार्थ-मार्ग उसी को दिखता है; जिसके पास सम्यक्-आस्था हो।

* **अट्ठा-वीसास-सड्ढा-पदीदीहिं जीवो आणंदं भजेदि॥23/11॥**
  आस्था, विश्वास, श्रद्धा और प्रतीति के माध्यम से व्यक्ति आनंद को प्राप्त होता है।
* **जम्हि सच्चत्थ-तच्चं पडि अट्ठा, सोच्चिय वीसे मरणोवरंतं पि जिवेदि॥23/17॥**
  जिसके अंदर सत्यार्थ-तत्त्व के प्रति आस्था है; वही विश्व में मृत्यु के उपरान्त भी जीवित रहता है।

''कर्म''

* **जदि सुहासुह-कम्मादो आदरक्खा-भावो त्थि, दु सुहासुहकिरिया-परिणामादो पडिक्खणं आदरक्खणं कुणेहि॥24/4॥**
  शुभाशुभ कर्मों से आत्मरक्षा का भाव है; तो शुभाशुभक्रिया एवं परिणामों से प्रतिक्षण आत्मरक्षा करो।
* **लोए पुग्गल-भमणं कालाधीणं तहा जीव-भमणं कम्माधीणं। एरिसा विवत्था जीव-पुग्गलाणं तेयालिगा, सगकिदा ण दु ईसरकिदा॥24/11॥**
  लोक में पुद्गल का भ्रमण कालाधीन है और जीव का भ्रमण कर्माधीन। ऐसी व्यवस्था जीव और पुद्गल की त्रैकालिक है, ईश्वरकृत नहीं स्वकृत है।
* **कम्मसिद्धंतस्स बोहाभावे जीवो संसारे विविह-किलेसं लहेदि तहा मिच्छा-अट्ठाए णिमज्जित्तु सम्मत्त-णासं कुणेदि॥24/13॥**
  कर्म सिद्धान्त के बोध के अभाव में जीव संसार में अनेक प्रकार के क्लेश को प्राप्त कर रहा है और मिथ्या-आस्था में डूबकर सम्यक्त्व का नाश कर रहा है।
* **जीवं संसारे बंधमाणा सत्ती कम्मं हि अत्थि तहा कम्ममुत्ते सदि आदा सिद्धत्तं लहेदि॥24/30॥**
  कर्म वह शक्ति है, जो जीव को संसार में बांधकर रखती है और कर्म से मुक्त होते ही आत्मा सिद्धत्व को प्राप्त करता है।

''अप्रमाद''

* **कुसल-कज्जेसुं अणालस्स-भावो, उस्साहेण पत्तेग-धम्मिग-अणुट्ठाणं पुण्ण-करणं, पण्णरस-पमादादो पडिक्खणं आदरक्खणं अप्पमादो॥25/1॥**
  कुशल-कार्यों में आलस्य नहीं करना, उत्साहपूर्वक प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान को पूर्ण करना, पन्द्रह प्रमादों से प्रतिक्षण आत्मरक्षा करना अप्रमाद है।
* **जे आदिच्चोदयस्स पच्छा पडिजग्गंति, ते जीवणे किं विगासं करिस्संति?॥25/4॥**
  जो सूर्योदय के उपरान्त उठते हैं; वे क्या जीवन में विकास कर पायेंगे?
* **अप्पमत्त-जीवणं वीसस्स पवित्तं जीवणं॥25/10॥**
  अप्रमत्त-जीवन विश्व का पवित्र जीवन है।
* **पमादाधीणस्स सगहिदभावणाए समयो णेव होदि॥25/14॥**
  जो प्रमाद के आधीन है उसे स्वहित भावना के लिये समय ही नहीं मिल सकता।
* **जीवणुत्थाणे पमादो महारिवू॥25/25॥**
  प्रमाद जीवन-उत्थान में महाशत्रु है।
* **पमाद-वसादो जीवो होदि विवेकसुण्णो॥25/31॥**
  प्रमाद के वश होकर जीव विवेक-शून्य हो जाता है।

''चिंतन''

* **जीवस्स चिंतणे हि बंधमोक्खा आलंबिदा। चिंतणाणुसारेण हि जीवणं सिज्झेदि॥26/1॥**
  व्यक्ति के सोच पर ही बंध और मोक्ष आलंबित है। सोच के अनुसार ही जीवन बनता है।
* **उत्तम-पुरिसाण चिंतणं पि उत्तममेव होदि तहा अधम-पुरिसाण चिंतणं णीचं हि होदि॥26/5॥**
  उत्तम-पुरुषों की सोच भी उत्तम ही होती है और अधम-पुरुषों की सोच निम्न ही होती है।
* **जीवस्स जीवणसइली तस्स चिंतणाणुसारेण होदि॥26/12॥**
  जीव की जीवन-शैली उसके सोच के अनुसार बनती है।
* **जीवस्स भोयण-भासण-रीदि-वत्थाभरण-संगदीदो होदि तस्स चिंतणस्स बोहो॥26/13॥**
  व्यक्ति के भोजन, भाषण, रीति, वस्त्राभूषण और संगति से उसके सोच का बोध हो जाता है।
* **चिंतण-णिम्मलदाए सुसत्थ-सज्झाओ आवस्सगंगं॥26/30॥**
  सोच की निर्मलता के लिये सद्-शास्त्रों का स्वाध्याय अनिवार्य अंग है।

''अनुग्रह''

* **जे सग-जीवणस्स पत्तेग-खणं सगपर-उवयारे जुंजंति, तेसिं जीवाणं जीवणं हि धण्णं॥27/1॥**
  उन जीवों का जीवन ही धन्य है जो अपने जीवन के अंश-अंश को, प्रत्येक क्षण को स्वपर-उपकार में लगाये हैं।
* **सज्जणा उवयारी-माणवा णाणा-कट्ठाणि सहित्ता, सग-पाणाणं पि चिंतं मुंचिय परपाण-रक्खणं करेंति॥27/2॥**
  सज्जन, उपकारी-मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर; अपने प्राणों की भी चिंता छोड़कर पर के प्राणों की रक्षा करते हैं।
* **सज्जणा कदावि सगोवयारिस्स उवयार-विम्हरणं ण करेंति॥27/8॥**
  सज्जन-पुरुष कभी भी अपने उपकारी के उपकार का विस्मरण नहीं करते हैं।
* **जो सगे करुणाए अद्द-चित्तो होदि, सो हि परोवयार-भावं उप्पज्जेदि॥27/13॥**
  जो स्वयं में करुणा से आर्द्र-चित्त होता है, वही परोपकार के भाव उत्पन्न कर पाता है।
* **लोगिग-पारमट्ठिग-खेत्तेसुं उवयारस्स आवस्सगत्तं॥27/14॥**
  लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों ही क्षेत्रों में उपकार की आवश्यकता है।
* **उवयार-भावो उक्किट्ठो धारेज्जा, णवरि उवयारगं पडिक्खणं होदि पुण्णासवो॥27/16॥**
  उपकार-भाव उत्कृष्ट रखना चाहिये, क्योंकि उपकार करने वाले को प्रतिक्षण पुण्यास्रव होता है।

''धर्म''

* **धम्मो वत्थुणो भूदत्थ-सच्चत्थ-सहावो, धम्मो संपदाओ णत्थि॥28/1॥**
  धर्म सम्प्रदाय नहीं; अपितु धर्म तो वस्तु का भूतार्थ, सत्यार्थ-स्वभाव है।

* **जत्थ कोहाभावो, तत्थेव खमाधम्मो॥28/21॥**
  क्रोध का अभाव जहाँ होगा, वहीं क्षमा-धर्म होगा।
* **जो णाण-पूया-कुल-जादि-बल-रिद्धि-तव-देहादीसुं अहंभावं ण धारेदि तहा इमत्तो मदत्तो रहिदेण जो जीवणं जीवेदि, तमेव सक्खं मोक्खतच्चस्स परमबंधुभूद-मद्दवधम्मो पयडेदि॥28/33॥**
  ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप एवं शरीरादि में जो अहं भाव नहीं रखता तथा इन मदों से रहित होकर जो जीवन जीता है, उसी को साक्षात् मोक्ष-तत्त्व का परम बंधु मार्दवधर्म प्रकट होता है।
* **पगरिसलद्ध-लोह-णिव्वित्ती उत्तमसउच-धम्मो। सुइत्त-पूरिदो सउच-धम्मो॥28/43॥**
  प्रकर्ष प्राप्त लोभ की निर्वृत्ति उत्तम शौच-धर्म है। शौच-धर्म शुचिता से पूरित है।
* **जो वत्थुसहावो जहा अत्थि तं तहेव कहणं, ण णूणं ण अहिगं; इदं सच्चं॥28/45॥**
  जो वस्तु का स्वभाव जैसा है उसे वैसा ही कहना; न न्यून न अधिक, यह सत्य है।
* **पाणी-इंदियाणं असुहपउत्तीए णिउत्ती संजम-धम्मो॥28/52॥**
  प्राणी एवं इन्द्रियों की अशुभ-प्रवृत्ति की निवृत्ति स्वरूप 'संयम-धर्म' है।
* **कम्मक्खयत्थं किदा साहणा उत्तम-तवधम्मो॥28/54॥**
  कर्मक्षय के लिये जो साधना की जाती है, वह उत्तम तप-धर्म है।
* **णिम्ममत्त-भावजुत्तेण सगवत्थुचागो दाणं अहवा संजदजोग्ग-आहार-ओसह-अभय-सत्थ-दाणं चागधम्मो॥28/56॥**
  निर्ममत्व-भाव से युक्त होकर स्ववस्तु का त्याग करना दान है अथवा संयत के योग्य आहार, औषध, अभय तथा शास्त्र, ये चार प्रकार का दान करना 'त्याग धर्म' है।
* **देहादि-परपदत्थादो पुण्ण-ममत्तचागो आकिंचण्ण-धम्मो॥28/65॥**
  शरीरादि पर-पदार्थों से पूर्ण-ममत्व का त्याग करना आकिंचन्य-धर्म है।
* **जत्थ लोयस्स सयल-इत्थीसुं मादु-भगिणी-भावो, पसुवित्ति-सुण्णं एगमेत्तं चिदबंभ-आदसरूवे रमणं, एगीभूद-चिदविलासो, परभावादो पुण्ण-उदास-दसा विगारीभाव-सुण्णदसा, तत्थेव परम-बंभचेर-धम्मो त्थि॥28/66॥**
  जगत् की स्त्री मात्र में माँ-भगिनी (बहिन) भाव का जहाँ परिणाम है, पशु-वृत्ति से शून्य एकमात्र चिद्-ब्रह्म आत्मस्वरूप में रमण है, एकीभूत चैतन्य-विलास है, पर-भावों से पूर्ण-उदास, विकारी-भावों से शून्य-दशा, परम ब्रह्मचर्य-धर्म है।

''शिक्षा''

* **देस-रज्ज-पंत-णयर-गाम-जणपद-समाय-परिवार-धम्मसंपदाय-विगासो सिक्खाए एव णिहिदो। जत्थ सिक्खा सक्खरदा, तत्थ विगाससीलदा॥29/1॥**
  किसी देश, राज्य, प्रान्त, नगर, गाँव, जनपद, समाज, परिवार, धर्म, सम्प्रदाय का विकास निहित है तो शिक्षा से। जहाँ शिक्षा है, साक्षरता है; वहाँ विकासशीलता है।

* **अण्णाणी णिवसणं वरं, किण्णु दुट्ठ-पुरिसस्स सेवं किच्चा सिक्खा-लाहो वरो णत्थि॥29/4॥**

  अज्ञानी रहना श्रेष्ठ है, परन्तु दुष्ट-पुरुष की सेवा करके शिक्षा प्राप्त करना अच्छा नहीं है।

* **सदायार-पुण्णा सिक्खा होदव्वा, णाय-णीदि-सदाचारं विणा सिक्खा सुसिक्खा-सण्णं ण पडिवज्जेदि॥29/19॥**

  शिक्षा सदाचार पूर्ण हो; बिना न्याय, नीति और सदाचार के शिक्षा सुशिक्षा संज्ञा को प्राप्त नहीं होती।

* **पुरिस-सिक्खाए सह णारिं पि सिक्खिदं होज्जा, णवरि दोण्हं संजोगादो हि होदि सिक्खिद-परिवारो॥29/2॥**

  पुरुष की शिक्षा के साथ-साथ नारी को भी शिक्षित होना अनिवार्य है, क्योंकि दोनों के संयोग से ही शिक्षित-परिवार बनता है।

''व्यसन''

* **विसणं सा पउत्ती, जा जीवणे एगहुत्तं उवट्ठिदा होदु, पुणो मुहू मुहू तं करणस्स भावा होंति॥30/1॥**

  व्यसन वह आदत है जो जीवन में एक बार लग जाये, फिर बार-बार उसे करने के भाव होते हैं।

* **कल्लाण-मग्गत्तो जे पदिदेदि, सुमग्गत्तो विरेयदि, कुमग्गे धरेदि, सग्गुरु-सग्गुणादो पुहुत्तं करेदि, तं महाभयंकर-कट्ठदायगं विसणं अत्थि॥30/3॥**

  कल्याण-मार्ग से जो पतित करे, सद्मार्ग से दूर करे, कुमार्ग में रख दे, सद्गुरुओं एवं सद्गुणों से जो मिलन न करने दे; वह महाभयंकर कष्ट-प्रदाता व्यसन है।

* **विजय-पराजय-लक्खं गेण्हिय णिबंधणेण जाओ वि कीडाओ होंति वा कज्जाइं कीरिज्जंते, ते सव्वे जुआ॥30/11॥**

  हार-जीत के लक्ष्य के लेकर, शर्त लगाकर जो भी खेल खेले जाते हैं या कार्य किये जाते हैं; वे सब जुआ-व्यसन हैं।

''सदाचार''

* **सदायारवंता सगीय-परिचयं मुह-सद्देहिं सह सम्मायरणेण हि देंति॥31/1॥**

  सदाचारी लोग अपना परिचय अपने मुख के शब्दों से ही नहीं, अपितु समीचीन-आचरण से ही दे देते हैं।

* **इट्ठवत्थु-जीवविओगे जं दुक्खं जायदे, सो सोगो॥31/18॥**

  इष्ट-वस्तु व व्यक्ति के वियोग में जो दुःख होता है; उसे शोक कहते हैं।

* **सदायरणं जीवस्स जीवणं उच्चत्तं दच्छेदि, सज्जादित्तं सुकुलत्तं च वड्ढेदि॥31/24॥**

  सदाचरण व्यक्ति के जीवन को ऊँचाइयाँ प्रदान करता है, सज्जातित्व एवं सुकुलता को वर्धमान करता है।

* **सदायारी पत्तेगकज्जं समए करेदि, णवरि समए किदं कज्जं सेट्ठं फलवंतं च होदि॥31/28॥**

सदाचारी प्रत्येक कार्य समय पर करता है, क्योंकि समय पर किया गया कार्य श्रेष्ठ और फलवान होता है।

इस महान-ग्रन्थ के विषय के बारे में जितना लिखा जाये उतना कम है। यह **''सत्यार्थ-बोध''** ग्रन्थ गुरु-विशुद्ध के मुखोदधि से उत्पन्न रत्नों से खचित है। पूर्व में इस ग्रन्थ के 30वें अध्याय को लेकर मैंने **(श्रमण आदित्यसागर)** और श्रुतसमर्पित **श्रमण अप्रमितसागर जी** ने एक कृति का संकलन किया था जिसका नाम था **व्यसन-रहस्य**। और आनेवाले समय में **श्रुतसेवी श्रमण सहजसागर जी** इस ग्रन्थ की सूक्तियों का संकलन कर पाठकों, स्वाध्याय रसिकों के लिये **सत्यार्थ-सूत्र** नामक कृति भी प्रस्तुत करने वाले हैं।

● ग्रन्थ सत्यार्थ-बोध का लेखन काल एवं स्थान

सामान्य लेख अथवा कृति का लेखन करना श्रमसाध्य कार्य है, फिर ऐसे सर्वसत्त्वानुग्रही महान ग्रन्थ का लेखन पुष्कल परिश्रम एवं चिंतन के मंथन का प्रतिफल ही है। **जैसे प्रसूति की पीड़ा प्रसूति माँ ही जानती है, विद्वानों का परिश्रम विद्वान ही जानते हैं, ठीक इसी प्रकार एक कुशल आगम का लेखक ही आगम-लेखक के परिश्रम को समझ पाता है।** एक अनुसंधान के अनुसार—**जो श्रम मीलों पद विहार में लगता है, घंटों-घंटों शारीरिक परिश्रम से जो थकान उत्पन्न होती है; उससे कई गुना अधिक मानसिक एवं शारीरिक थकान या श्रम मनोयोगपूर्वक समीचीनता से युक्त कुछ पृष्ठों को लिखने में उत्पन्न होता है।** फिर सोचिये सैंकड़ों सम्यक्-पृष्ठों के लेखन-श्रम की क्या व्याख्या करें? वह तो शास्त्र प्रणेता ही जानता है।

साहित्य-संस्कृति शासनाचार्य गुरुदेव श्री विशुद्धसागर जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ ऐसा ही परिश्रम किया है। प्रस्तुत ग्रंथ **'सत्यार्थ-बोध'** का लेखन दक्षिण-भारत की तीर्थवंदना के सु-अवसर पर सन्-2018 में तेलंगाना-प्रदेश में दिगंबर जैन तीर्थ कुलचाराम के समीप, हैदराबाद शहर में श्री दिगंबर जैन मंदिर में ग्रीष्म-वाचना में प्रारम्भ किया, मध्य में **'वस्तुत्व'** महाकाव्य के लेखन कार्य के कारण इस ग्रन्थ के लेखन को विश्राम दिया। पश्चात् तीर्थंकर भगवान् महावीर-स्वामी की जन्म, निर्वाण एवं प्रथम-देशना भूमि के निकट-निश्रा में चंडीग्राम, माधोगढ़ नगर, नालंदा जनपद, बिहार-प्रान्त, वैदिक-उद्यान में तीर्थंकर भगवान् महावीर-स्वामी की जन्म-जयन्ती पर, महामारी कोरोना के अंतर्गत सन् 2020 में पूर्ण किया।

● सत्यार्थ-बोध से 'सच्चत्थ-बोहो' की यात्रा :: प्राकृत-रूपान्तरण

मैं पूज्यपाद गुरुदेव का बहुत उपकार मानता हूँ जो उन्होंने मुझ अल्पज्ञ को इस ग्रन्थ के प्राकृत अनुवाद/रूपान्तरण के योग्य समझा। हुआ यह कि एक सुधी श्रावक के हाथों से गुरुदेव ने इस ग्रन्थ को छतरपुर प्रवास के दौरान भिजवाया और आशीर्वाद पूर्वक आदेश दिया कि—**''इस ग्रन्थ का प्राकृत भाषा भगवान् महावीर की भाषा में अनुवादित करें।''** फिर क्या था गुरु-आशीष पाते ही ग्रन्थानुवाद का शुभारंभ कर दिया। किन्तु अन्य ग्रन्थों के लेखन एवं अध्ययन के चलते इस महान ग्रन्थ का अनुवाद रोकना पड़ा।

सन् 2023 भीलवाड़ा राजस्थान, अक्टूबर के महिने में पूज्यगुरुदेव की पुनः पृच्छना आयी—''ग्रन्थ का

क्या हुआ?'' तब मुझे स्मरण में ग्रन्थ का अनुवाद याद आया और **लगभग 75 दिनों में इस ग्रन्थ का 4,000 श्लोक प्रमाण अनुवाद 10 दिसंबर को अणिंदा पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र में सम्पूर्ण हुआ।**

यह ग्रन्थ कैसे प्राकृत भाषा में लिखा गया मैं स्वयं नहीं जानता। गुरु-आशीष और गुरुदेव के द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही इस अनुवाद का कारण रहा। **कर्म ने बहुत विघ्न किये, मगर श्रमण अप्रमितसागर, श्रमण सहजसागर और कुछ सुधी श्रावक, गुरुभक्तों का प्रोत्साहन और सहयोग उन विघ्नों पर हावी रहा।** इस प्रकार मात्र 4 महिने के परिश्रम के बाद यह ग्रन्थ अनुवाद सहित स्वाध्याय प्रेमियों के लिये संप्रस्तुत है।

● **उपसंहार :**

सार ये है कि यह 'सच्चत्थ-बोहो' ग्रन्थ सत्यार्थ-बोध कृति प्राणिमात्र के उत्थानार्थ तत्त्वान्वेषी, निर्ग्रंथवर्यनाथ, प्राञ्जलप्रज्ञापति, आत्मसुखानुरक्त, पाण्डित्यप्रिय, सिद्धहस्त, संस्कृतिशासनाचार्य श्री गुरु विशुद्धसागर जी की अविस्मरणीय कृति है। आनेवाले युगों-युगों तक श्रावक एवं श्रमण यूथ उनके इस उपकार को कभी भूल नहीं पायेगा। श्रमण संस्कृति भी उनके इस महत् श्रम से कृतज्ञ रहेगी, माँ शारदा उन पर सदा अपना वरद-हस्त बनाये रखेगी। इस ग्रन्थ के अध्ययन से मुझे यह अनुभव हुआ कि—**'इस ग्रन्थ के स्वाध्याय के बाद पाठक अपनी कमजोरियों पर काम करेंगे और कुछ सुप्त शक्तियों को जाग्रत भी करेंगे।'**

मैंने यह अनुभूत किया कि निम्नांकित 60 कमजोरियों को इस ग्रन्थ के अध्ययन से दूर किया जा सकता है।

1.	भावशून्यता	2.	अतिसंवेदनशीलता	3.	निराशावादिता
4.	ढीठता	5.	संदेहपूर्ण व्यवहार	6.	लक्ष्यहीनता
7.	अनुशासनहीनता	8.	अस्तव्यस्तता	9.	नकारात्मक-दृष्टिकोण
10.	बहुप्रलापता	11.	एकाकीपन	12.	असामाजिकता
13.	अधीरता	14.	ढीलापन	15.	अकौशल
16.	अलोकप्रियता	17.	प्रतिशोधभावना	18.	बहिर्मुखीभाव
19.	जिद्दीपना	20.	सहानुभूतिहीनता	21.	शंकालुता
22.	मध्यमार्गीयता	23.	विद्वेष	24.	बेचैनी
25.	क्रोधपना	26.	भयभीतता	27.	आलोचनात्मकता
28.	नादानता	29.	असुरक्षित-भावना	30.	शीघ्रकोपक्रिया
31.	चिंताशीलता	32.	रुचिहीनता	33.	उत्साहहीनता
34.	प्रतिरोधीता	35.	विवादव्यवहार	36.	बड़बोलापन
37.	विस्मृतिरोग	38.	दुस्साहसपना	39.	तुनकमिज़ाजी
40.	अनिर्णायकता	41.	असहिष्णुता	42.	अनिच्छुकता
43.	गर्वीलापन	44.	कायरता	45.	प्रमादचित्तता
46.	क्षमाहीनता	47.	लापरवाही	48.	चालबाज़ी
49.	बीच में बोलना	50.	झिझक	51.	संदेहवादिता
52.	स्नेहहीनता	53.	उदासीनता	54.	दुर्ध्यान

55.	जल्दबाज़ी	56.	ज़ोर से बोलना	57.	मुँहफटता
58.	छोटी सोच	59.	संदिग्ध-भावना	60.	परतंत्रता

इन कमज़ोरियों को जीतने के उपरान्त 60 शक्तियाँ भी आपके अंतःकरण में जाग्रति को प्राप्त होती हैं। उन्हें भी समझ लेते हैं। यथा—

1.	साहस	2.	विनोदशीलता	3.	अनुकूलशीलता
4.	लगनशीलता	5.	संवेदनशीलता	6.	विश्लेषणात्मकता
7.	आज्ञाकारिता	8.	विश्वासोत्पादकता	9.	शान्तता
10.	आत्मजागरण	11.	मिलनसारता	12.	दृढ़-इच्छाशक्ति
13.	नियंत्रण	14.	उपायकुशलता	15.	स्फूर्ति
16.	आदरपूर्ण-व्यवहार	17.	संयतभावना	18.	प्रफुल्लितपना
19.	संतुष्टि	20.	आत्मनिर्भरता	21.	धैर्य
22.	सकारात्मकता	23.	प्रवर्तक-परिणति	24.	असंदिग्धता
25.	सहजता	26.	समयसूचकता	27.	भद्रता
28.	स्पष्टवादिता	29.	दोस्ताना	30.	वफ़ादारता
31.	सशक्त	32.	आनंदपूर्णता	33.	सम्यक्नीतिज्ञता
34.	खुशमिज़ाजी	35.	सुसंगत	36.	आत्मविश्वास
37.	स्वतंत्रता	38.	अनाक्रामकता	39.	विचारशीलता
40.	संतोषी	41.	ऊर्जावान	42.	निर्भीकता
43.	पूर्णतावादी	44.	अटल	45.	निष्ठावान
46.	निर्णायकता	47.	प्रमुखता	48.	सहिष्णुता
49.	अच्छीव्यावहारिकता	50.	आकर्षकता	51.	विनयभाव
52.	आध्यात्मिकता	53.	लोकप्रियता	54.	सक्रियता
55.	मार्गदर्शनता	56.	संतुलितभावना	57.	प्रवर्तकता
58.	नेतृत्वकला	59.	अलुब्धता	60.	क्षमाशीलता

इस बृहत्प्रस्तावना को विराम देता हुये **मैं अप्रमितज्ञानोपयोगी, सहजज्ञानानंदरसिक, श्रमणसंस्कृतिरक्षकादित्य, अध्यात्मयोगी, स्वाध्यायसंवर्धक गुरुदेव श्री विशुद्धसागर जी का उपकार मानता हूँ कि उन्होंने मुझ अल्पश्रुतज्ञ को इस बृहत्श्रुतसेवा का अवसर देने की कृपा करी।** गुरुदेव के मंगलाशीष से यह कार्य सम्पन्न हुआ है, अन्यथा मैं तो उनके समक्ष एक तुच्छ तृण भी नहीं हूँ। मैं गुरु-भगवन् के चरणों में भक्तिपूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, उन्होंने मुझ पर यह भार देकर मेरी सुषुप्त-शक्ति का जागरण किया है। यदि कहीं माँ सरस्वती की सेवा या गुरु-आज्ञा के पालन में कोई न्यूनता रह गई तो क्षमा प्रार्थी हूँ।

॥ णमो णमो सिद्ध-साहूणं ॥

16/01/2024 **विशुद्धपदाकांक्षी**

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव **लघुश्रमण**

हिम्मतनगर, गुजरात, भारत

संपादकीय

—श्रुतप्रिय श्रमण अप्रमितसागर

दिगंबर जैन सनातन श्रमण संस्कृति में अनेकानेक प्रतिबुद्ध श्रमणवृंदों ने अपनी स्थिर प्रज्ञा का सदुपयोग कर जिनशासन के सरस्वती भण्डार में बढ़ोत्तरी कर भव्यात्माओं को यथार्थ जीवन जीने की कला का बोध प्रदान किया है। **जिनशासन की यह अनूठी-परम्परा रही है कि जिन-जिन जीवों ने जिनशासन में जन्म लिया, दैगम्बरी दीक्षा धारण की उन्होंने अपनी शक्ति अनुसार जिनशासन को प्रकाशमान किया है।** किन्हीं ने विशेष तपानुष्ठान करके, किन्हीं ने ध्यानानुष्ठान करके, किन्हीं ने ग्रंथों की रचना करके। वर्तमान में भी ऐसे अनेक प्रतिबुद्ध श्रमणवृंद हैं जो सरस्वती कोश की वृद्धि करने में प्रयासरत हैं। जिन्हें अध्ययन कर भव्यात्मायें वैराग्य की मणिमालाओं को धारण कर संसार वारीधि से तिरने के लिये रत्नत्रय की नौका में सवार होकर अपने जीवन को धन्य करती हुई जिनशासन की महती प्रभावना करने में अपूर्व योगदान कर रही हैं।

मेरे आराध्य शिक्षा दीक्षा प्रदाता पूज्य गुरूदेव शताब्दी देशनाचार्य 108 विशुद्धसागर जी यतिराज इस सदी के ऐसे महाश्रमण हैं जो निरंतर ही स्व-पर की कल्याण भावना से ओत-प्रोत होकर भव्यात्माओं को अंतर्मुखी दृष्टि प्रदान कर वैराग्यमयी जीवन जीने की प्रेरणा दे रहे हैं। जिनके मुखारविंद से केवल जिनेन्द्र प्रणीत वचनावलियाँ ही हमेशा उद्घोषित हुआ करती हैं। आपकी निर्भीक, निष्पक्ष देशना श्रावक-श्राविकाओं को ही नहीं, अपितु सकल मानव समाज के हृदय में अपूर्व स्थान बना रही है। **आप अध्यात्म-विद्या में निष्णात, न्याय दर्शन ज्ञाता, सिद्धांतविद्, गंभीर-प्रवक्ता, मधुर-भाषी, रहस्यग्रंथ ज्ञाता, अध्ययन-अध्यापन प्रवीण, जिनशासन की वृद्धि के अनुरागी, उपसर्ग परीषहों में समताभाव को धारण करने वाले, स्याद्वाद-अनेकांतमयी देशना से जन-जन की मिथ्या धारणाओं को खण्डित करने वाले, कुशल संघनायक, स्व-पर को सद्बुद्धि प्रदान करने वाले परभावों से दूर ले जाकर स्व-स्वभाव की ओर ले जाने वाले, ध्यानाराधनारत योगी हैं।** आपने अपनी अल्पवय में दो सौ से अधिक ग्रंथों का सृजन कर स्वाध्याय प्रेमियों को अद्भुत सौगात दी है।

एक प्रसंग यहाँ उल्लेखित करना बहुत जरूरी समझता हूँ जो कि पूज्य गुरूदेव की साधना में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। एक गुरु भाई ने पूज्य गुरुदेव से जिज्ञासा प्रकट की कि—''**आपने अपने सम्पूर्ण साधना के काल में ऐसी कौन सी साधना की जिससे आपका पुण्य और बुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती जा रही है?**'' सुधी पाठकों को इस जिज्ञासा का सम्यक् समाधान सुनने लायक तो है ही साथ ही गुनने लायक भी है। पूज्य गुरुदेव ने कहा कि—''**मैंने सम्पूर्ण साधना के काल में हर परिस्थिति में मंदकषाय रखने का ही पुरुषार्थ किया है, यही मेरी पुण्य और बुद्धि का उत्तरोत्तर वृद्धि का कारण**

बनी है।'' आपके गुणों का बखान करना मुझ अल्पज्ञ के लिये सूरज को दीपक दिखाना ही है। आप में एक विशेष गुण और है **आप सभी के साथ रहकर भी किसी के साथ नहीं; अपने पास ही रहते हैं।** आपका जिनशासन के प्रति कर्त्तव्य, कृतित्व और व्यक्तित्व धन्य धन्य धन्य हैं।

सत्य जीवंत जीवन जीने का बोध प्रदान करने वाली है, यह ''**सत्यार्थ बोध**'' कृति। इस कृति में अहिंसा आदि इकतीस विषयों को प्रकाशित किया है। कृति का विषय आत्महितैषी भव्य-आत्माओं के लिये पठनीय एवं अनुकरणीय है। जिसमें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा हेतु **अहिंसा की प्ररूपणा** है, असत्य-जीवन से सत्य-जीवन जीने के लिये **सत्यता की प्ररूपणा** है, चौर्य रहित होने के लिये **अचौर्य की प्ररूपणा** है, ब्रह्मधर्म में लीन होने के लिये **ब्रह्मचर्य की प्ररूपणा** है, परिग्रहवादी युग में रहकर भी अपरिग्रही जीवन जीने के लिये **अपरिग्रह की प्ररूपणा** है, सर्वप्राणी समूह से मित्रता का भाव प्रकट करने के लिये **मैत्री की प्ररूपणा** है, प्रमुदित जीवन जीने के लिये **प्रमोद की प्ररूपणा** है, दयादृष्टि से सृष्टि के दर्शन करने के लिये **कारुण्य की प्ररूपणा** है, राग-द्वेष रहित होने के लिये **माध्यस्थ की प्ररूपणा** है, हेय-उपादेय बुद्धि को जागृत करने के लिये **विवेक की प्ररूपणा** है, विकट संकटों में स्थिर रहने के लिये **धैर्य की प्ररूपणा** है, सर्वजीव समाज की रक्षा हेतु **दया की प्ररूपणा** है, असंयमित जीवन की संयमित बनाने के लिये **दम (संयम) की प्ररूपणा** है, सुख-शांति के लाभ हेतु **त्याग की प्ररूपणा** है, सर्वप्राणी समूह के प्रति सम बुद्धि धारण करने के लिये **समाधि का प्ररूपणा** है, सच्चे मार्गदर्शक का ज्ञान कराने हेतु **गुरु की प्ररूपणा** है।

आदर्श शिष्य की पहचान कराने हेतु **शिष्य की प्ररूपणा** है, निजात्मदेव से जुड़ने हेतु **अध्यात्म-योग की प्ररूपणा** है, अनादि-अविद्या के संस्कारों के निराकरण हेतु संस्कार की प्ररूपणा है, सम्पूर्ण तत्त्वों में आत्मतत्त्व ही उपादेय है इसलिये **आत्म-तत्त्व की प्ररूपणा** है, अनादिकाल से असहज जीवन जिया है इसलिये **सहज-जीवन की प्ररूपणा** है, पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख है इस विज्ञान के हेतु **पुण्य-पाप की प्ररूपणा** है, सच्चा शास्ता बनने का रास्ता आस्था से ही जाग्रत होता है इसलिये **आस्था की प्ररूपणा** है, अपना किया शुभाशुभ अपन भोगते हैं अन्य कोई नहीं इसलिये कर्म की प्ररूपणा है, अप्रमत्त दशा की प्राप्ति हेतु **अप्रमाद की प्ररूपणा** है, नकारात्मक चिंतन को सकारात्मक करने के लिये **सोच की प्ररूपणा** है, स्व-पर के ऊपर उपकार की भावना को जाग्रत करने के लिये **अनुग्रह की प्ररूपणा** है, वास्तविक वस्तु का जो स्वभाव है उसे जानने के हेतु धर्म की प्ररूपणा है, अशिक्षित जीवन दुःख का हेतु है और शिक्षित जीवन सुख का इसलिये **शिक्षा की प्ररूपणा** है, बुरी आदतों को छोड़कर अच्छी आदतों के अपनाने के लिये **व्यसन की प्ररूपणा है** और अखिल विश्व में पूज्यता पाने, विश्वासपात्र बनने के लिये **सदाचार की प्ररूपणा** है।

इन अनुपम बिंदुओं को अपने जीवन में जो भी मुमुक्षु अंगीकर करेगा वह अवश्य ही आत्मसिद्धि के लाभ को प्राप्त होगा। ऐसा यह ''**सत्यार्थ बोध**'' अध्यात्म-नीति परक महाग्रंथ सकल अर्थों की सिद्धि का दायक है।

इस अनूठी कृति को **मेरे अग्रज प्राकृत-विद्या-व्यसनी श्रुतसंवेगी श्रमण आदित्यसागर जी मुनिराज** ने तीर्थंकर भगवंतों की मूल भाषा प्राकृत भाषा में अनुवाद किया। इस ग्रंथ के अनुवाद करते समय अनुवादक की एक विशेषता यह रही कि—इस विशाल ग्रंथ को मात्र 75 दिन की अवधि में ही 4000 श्लोक प्रमाण बनाकर पूर्ण कर दिया गया। पूज्य श्री आचार्य भगवंत के एक ऐसे अनूठे शिष्यों में हैं। वो जो भी कार्य गुरु जी से हाथों में लेते हैं, उसे दिन-रात एक करके संपूर्णता की ओर ले जाते हैं।

पूज्य श्री विशुद्ध महोदधि से शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर अभी तक लगभग 40000 श्लोक प्रमाण प्राकृत में लेखन कार्य कर चुके हैं आपने हिन्दी, संस्कृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषा में लगभग 180 कृति का सृजन किया है। आपके व्यक्तित्व के विषय में जरूर कहना चाहूँगा कि आप एक स्पष्टवादी वक्ता हैं, जिसके कारण आपसे अच्छे लोगों का जुड़ाव अच्छी तरह से हो जाता है।

आप एक निर्भीक वक्ता के साथ-साथ अपने जीवन के अनुभवों को आगम भाषा में परिवर्तित कर भव्य जनों को मनमोहित करने का कार्य बखूबी जानते हैं। आप ''क्षमा वीरस्य भूषणं'' की पंक्ति को जीवन चरित्रार्थ कर जीते हैं। आपका कर्तृत्व और व्यक्तित्व धन्य है, आपका गुरु के प्रति श्रद्धा समर्पण का जो निश्छल भाव है वह भी धन्य है और आप जैसे गुरुभाई को पाकर मैं भी धन्य हूँ।

इस कृति का संपादन करते समय बड़ा महत्त्वपूर्ण अनुभव प्राप्त हुआ जो कि सभी गुरु भगवंतों और गुरु भाईयों के अंतरंग को स्पर्शित करेगा। जब गुरु भगवन् ने यह कृति पूज्य श्री के करतलों प्रदान की तो उन्होंने यह विचार नहीं किया कि—मैं इस कृति का किसी विद्वान् से प्राकृत भाषा में अनुवाद करा लूँ, उन्होंने अपने ही शिष्य को उतना योग्य समझकर यह कार्य करके हस्तकमलों में प्रदान कर दिया। इस बात से यह स्पष्ट झलकता है कि—**कृतिकार के अंतरंग में अपने शिष्य के प्रति कितना अनुराग है।** वे चाहते हैं कि—**हमारा शिष्य दिन-दूरी रात चौगुनी ज्ञान और यश की वृद्धि को प्राप्त हो।**

अब अनुवादक के विषय में जो अनुभव हुआ वह यह कि जब पूज्य श्री को कृति प्राप्त हुई तो उन्होंने सारे कार्य गौण कर गुरुआज्ञा को ही सर्वोपरि मानकर प्राकृत भाषा में अनुवाद करना प्रारंभ कर दिया और अल्प-अवधि में ही ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान कर दी।

समय आया ग्रंथ के संपादन का। यूँ तो यह कार्य पूज्य श्री स्वयं अच्छी तरह से करना जानते हैं, फिर भी उन्होंने मुझ अल्पज्ञ को उस लायक समझकर वात्सल्य से पूरित होकर यह कार्य मुझे सौंप दिया। इस कार्य को देते समय मैंने विचार किया कि पूज्य श्री जैसे वो स्वयं है वैसा वे अपने अनुज को भी बनाना चाहते हैं।

इस कृति को लगभग आठ बार पूर्णावलोकन किया गया और विशेष बात यह रही कि—**पूज्य श्रमण आदित्यसागर जी और पूज्य श्रमण सहजसागर जी ने भी संपादन में पूर्ण सहयोग देकर इस कृति को उच्च शिखर तक पहुँचाने का अथक प्रयास किया।**

फिर भी अगर कोई त्रुटि अवशेष हो तो बुधजन मुझे इस त्रुटि से अवगत कराने की कृपा करें, क्योंकि आगम में भी कहा है—''**को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे**''।

इस अपूर्व ग्रंथ की संपादकीय का कार्य मुझ अल्प श्रुतधारी को प्रदान कर पूज्य श्री ने मेरे ज्ञानकोश की वृद्धि की है। मैं अपना अहो अहो अहो सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे यह कार्य संपादित करने का अवसर मिला। अगर मुझ छद्मस्थ से संपादन करते समय कोई त्रुटि अवशेष रह गयी हो सरस्वती माँ मुझे क्षमा करे।।

॥ विशुद्धात्मने नमः ॥

16/01/2024
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव
हिम्मतनगर, गुजरात, भारत

विशुद्धगुणाकांक्षी
श्रुतप्रिय श्रमण अप्रमितसागर

चरियासिरोमणि-देसणाइरिय-विसुद्धसागर-विरइदो
सच्चत्थ-बोहो

चर्याशिरोमणि-देशनाचार्य-विशुद्धसागर-विरचित
सत्यार्थ-बोध

मंगलाचरणं
(आर्यागाथा)

सिद्धे सुद्ध-पसिद्धे, विसुद्ध-पद-भाव-दायगे सव्वे।
पणमिय णिच्चं णिच्चे, विभाव-रहियं गदिं पत्ते॥1॥

सच्चत्थ-बोह-समयं, विचित्त-मंगल-पमेय-संजुत्तं।
वोच्छं भविय-जणाणं, विसुद्ध-उवयार-भावेणं॥2॥

शब्दार्थ—विशुद्ध-पद और विशुद्ध-भावों के प्रदाता तथा विभाव-रहित नित्य-गति को प्राप्त सम्पूर्ण शुद्ध, प्रसिद्ध, नित्य सिद्धों की वन्दना करके विचित्र अर्थात् नाना प्रकार के अद्भुत प्रमेयों से समन्वित सत्यार्थ-बोध नामक सत्यार्थ ग्रन्थ को विशुद्ध हितकर भावों से भव्य जनों के लिए कहता हूँ।।1-2।।

1

सच्चत्थ-बोहो
(सत्यार्थ-बोध)

अहिंसा
(अहिंसा)

1. अहिंसा विस्स-संति-दायगो धम्मो। सा विस्स-मित्ती जणगा वि। लोयस्स सयलगुणा अहिंसाए विज्जमाणा। धण्ण-किसि व्व अहिंसा, सेसाणि वदाणि अहिंसा-रक्खणट्ठं परिहि व्व। णिच्छय-ववहार-धम्मा पलेंति अहिंसा-आधारे हि। असुह-कल्लोलाओ णेव पहावेंति अहिंसगं। अहिंसा किल परमबंभो। चिदबंभ-रत्तो जोगी लहेदि परमबंभ-अहिंसं, जत्थ घत्त-घादग-भावाभावो त्थि॥

1. विश्व-शान्ति प्रदायक धर्म अहिंसा है। विश्व-मैत्री का जनक अहिंसा है। ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण गुण अहिंसा में विद्यमान हैं। अहिंसा धान्य की खेती है; शेष व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए बाड़ी है। व्यवहार और परमार्थ धर्म अहिंसा के बल पर ही चलते हैं। अशुभ-तरंगें अहिंसक को प्रभावित नहीं कर पातीं। अहिंसा परमब्रह्म है। चिद्ब्रह्म में लीन योगी परमब्रह्म अहिंसा को प्राप्त होता है; जहाँ घात्य-घातक भाव का भी अभाव हो जाता है।

---

2. अहिंसा सयल-विज्जासु उत्तमा विज्जा। जो इदं विज्जं सिज्झेदि, तस्स सयल-वियाराभावो सहजो होदि। णूणं अकसाय-भावो अहिंसा। सबल-णिब्बलस्स सयल-रक्खगा अहिंसा। सग-पर-रक्खणस्स बंभत्थो अहिंसा। अहिंसगो करेदि सग-पर-रक्खणं। दया-अदया-भाव-सुण्णो चिदबंभ-सहज-अणुहवो परम-विसुद्धभावो परम-अहिंसा। सग-पर-दव्वपाण-अविओगो दव्व-अहिंसा, सग-भावेसुं कासायिग-भावस्स अणुप्पत्ती भाव-अहिंसा। भाव-अहिंसा-अभावे दव्व-अहिंसा-मेत्तं परमबंभ-कारणं णत्थि॥

2. सर्व-विद्याओं में श्रेष्ठ-विद्या अहिंसा है। जो इस विद्या को सिद्ध कर लेता है उसके सम्पूर्ण विकारों का अभाव सहज ही हो जाता है। यथार्थ में अकषाय-भाव का नाम ही अहिंसा है। सबल-निर्बल सभी की रक्षक है अहिंसा। स्व-पर की रक्षा का ब्रह्मास्त्र है अहिंसा। अहिंसक स्व की भी रक्षा करता है और पर की भी। दया-

अदया भाव शून्य चिद्ब्रह्म की सहज अनुभूति परम विशुद्ध-भाव का नाम है; परम अहिंसा। स्व-पर के द्रव्य प्राणों का वियोग नहीं करना द्रव्य-अहिंसा है और स्व के भावों में काषायिक भाव का उत्पन्न नहीं होने देना भाव-अहिंसा है। भाव-अहिंसा के अभाव में मात्र-द्रव्य अहिंसा परमब्रह्म का कारण नहीं है।

---

3. पाण-अविओगकरणं इयत्त-धम्मो अहिंसा णत्थि, अवित्त कस्सचिदवि जीवस्स पाण-हरण-चिंतणं चित्ते ण करणं अहिंसा॥

3. 'प्राणों का वियोग नहीं करना'–मात्र इतना धर्म अहिंसा नहीं है, अपितु किसी भी जीव के प्राणों के हरण के मन में विचार भी नहीं लाना अहिंसा है।

---

4. पत्तेगजीवस्स जीवण-अहियारो त्थि, तं जीवणदाणं तुज्झ कत्तव्वं। अहियारेण सह सग-कत्तव्व-चिंतणं कुणेहि। परम-धम्म-अहिंसा दुब्बलाणं धम्मो णत्थि, सा दु बलवंताणं धम्मो। जो णिय-कसायदो पराजिदो होदि, सो करेदि हिंसाकम्मं। उत्तमजणा धरेंति अप्प-परेसुं दयाभावं। अंतोकरणे किंचिवि असुह-संकप्प-वियप्प-अणागमणं भाव-अहिंसा। भाव-अहिंसा-पालगो हि भूदत्थे अहिंसगो, सोच्चिय सुगदि-पत्तो। मेत्तं दव्व-अहिंसावद-पालगो सिद्धगदिं लहिस्सदि॥

4. प्रत्येक जीव जीने का अधिकार रखता है, उसे जीने देना आपका कर्तव्य है। मात्र अधिकार का ही नहीं, साथ में अपने कर्तव्यों का भी ध्यान रखो। परम-धर्म अहिंसा दुर्बलों का धर्म नहीं, अपितु अहिंसा बलवानों का धर्म है। जो अपनी कषाय से पराजित हो जाता है। वही हिंसा कर्म करता है। श्रेष्ठ जन स्व-पर दोनों पर दया भाव रखते हैं। अंतःकरण में किञ्चित् मात्र भी अशुभ संकल्पों-विकल्पों को उत्पन्न नहीं होने देना भाव-अहिंसा है। भाव-अहिंसा पालक ही यथार्थ में अहिंसक है और वही सुगति का पात्र है। मात्र द्रव्य-अहिंसाव्रत का पालक सुगति (सिद्धगति) को प्राप्त नहीं कर पाएगा।

---

5. अवराणं अण्णपाण-णिरोहं, अंग-छेदण-भेदणं, वहबंधणं, बलिदाणं, दव्वभाव-पाणविओगं च करणं कारणं कीरंतं अणुमोदणं वा; एदाणि सयल-कज्जाणि अहिंसा-धम्म-विरुद्धाणि हिंसाकम्माणि। आदहिदूणं इमाण सयलकज्जाण चागो उत्तम-मग्गो॥

5. दूसरों के अन्नपान में बाधा डालना, अङ्गों का छेदन-भेदन करना, वध-बंधन करना, बलिदान करना, द्रव्य-भाव प्राणों का वियोग करा देना, कर देना अथवा करने वाले की अनुमोदना—ये सब कार्य अहिंसा धर्म के विरुद्ध हैं अर्थात् हिंसा-कर्म हैं। आत्महितार्थी के लिए इन सब कार्यों का त्याग करना ही श्रेष्ठ मार्ग है।

---

6. कोडि-कोडिजण्ण–सहस्सतित्थवंदणा-फलावेक्खाए एग-जीवस्स पाण-रक्खणं अमिदं वरं। जदि तुमं कंचिदवि पाणदाणे असमत्थो दु कस्सचिदवि पाणहरण-अहियारो वि तुज्झ णत्थि। पाणीमेत्तस्स पियत्त-भावा दु तिजोगदो कुण पाणीरक्खणं। जो इंदिय-सुहभोगरागे तस-थावर-जीव-घादं णवि करेदि, सोच्चिय परमसुह-भोत्ता। सो अप्पदव्व-वयादो अहिगदव्व-लद्धी इव जीवणं जीवेदि।

6. कोटि-कोटि यज्ञों अथवा सहस्त्रों तीर्थों की वन्दना के फल की अपेक्षा एक जीव के प्राणों की रक्षा करना अधिक अच्छा है। यदि आप किसी को प्राण-दान देने में समर्थ नहीं हो तो किसी के प्राण-हरण का अधिकार भी आपको नहीं है। प्राणी-मात्र के प्रिय बनने के भाव हैं, तो मन-वचन-काय से प्राणियों की रक्षा करो। परम सुख का भोक्ता वही होता है जो इन्द्रिय सुख तथा भोग के राग में त्रस-स्थावर जीवों का घात नहीं करता है। वह अल्प-द्रव्य के व्यय से अधिक-द्रव्य प्राप्तिवत जीवन जीता है।

---

7. जहेव मेरूदो गुरू खंधो णत्थि, आयासदो गुरुं दव्वं णत्थि, परमाणूदो लहुं दव्वं णत्थि; तहेव अहिंसादो गुरू कोवि धम्मो णत्थि एवं हिंसादो हीणं कज्जं णत्थि। धण्णं तिणं च भुंजिय अमिद-दायग-धेणुमहिसी-पहुदि-पाणिघादकरणं उवयारीणं उवयारो णत्थि। जे तिरिया माणव-जीवणस्स आजीविगाए णिय-जीवणं समप्पेंति, ते णिरीह-मूग-तिरियाणं घादो माणवस्स अमाणवत्तं। हे माणव! तुज्झ माणवत्त-णयणेसुं णीरं आगमेज्जा। जीवणदाण-दायगाणं जीवण-हरणं माणव-धम्मो णत्थि। णरो वा पसू होदु पयडी पुढवीए सव्वेसिं जीव-अहियारं देदि। अहो णर! पराहियार-हणणं तुज्झ कत्तव्वं णत्थि, अविदु हिंसा एव। विहा मा कुणधि वणप्फदि-घादं, इदं तु वसुंधराए सुंदरत्त-आभरणं। वसुहा-आभरणं हरेस्सदि दु पुढवी-माऊ णेव सहिस्सदि एवं पुणो सुणामी-भूकंप-सरिसा उवद्दवा होहिंति तहा पाणीणं रुविहिंति।।

7. मेरु से बड़ा स्कन्ध नहीं, आकाश से विशाल कोई द्रव्य नहीं, परमाणु से छोटा कोई द्रव्य नहीं, उसी प्रकार अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं और हिंसा से तुच्छ-हीन कोई कार्य नहीं। धान्य-घास खाकर अमृत (दुग्ध) देने वाली गाय-भैंसादि प्राणियों का घात करा देना यह उपकारी का उपकार नहीं। जो तिर्यंच प्राणी मानव जीवन की आजीविका में अपने जीवन को सौंप रहे हैं। उन निरीह-मूक पशुओं की हत्या करा देना मानव की मानवता नहीं है। हे मानव! तेरे मानवता के नयनों में नीर आना चाहिए। जीवन-दान देने वाले का जीवन ले लेना मानव-धर्म नहीं है। प्रकृति ने पृथ्वी पर सबको जीने का अधिकार दिया है, चाहे नर हो, पशु हो। अहो नर! पर के अधिकारों का हनन करना तेरा कर्तव्य नहीं, अपितु दूसरों के अधिकारों को हनन करना हिंसा है। मत करो व्यर्थ में वनस्पति का घात, यह तो पृथ्वी की सुन्दरता का आभूषण है। वसुधा के आभूषण छीनोगे तो पृथ्वी माँ सहन नहीं कर पाएगी और फिर भूचाल होगा, सुनामी जैसे उपद्रव होंगे और प्राणियों को बिलखना पड़ेगा।

---

8. करुणा-दया-अणुकंपादीणि अहिंसाए अंगाणि। अहिंसा-अभावे करुणा दया अणुकंपा य णत्थि। दयाविसुद्धधम्म-अभावे जाव-अणुट्ठाण-पूया-विहाणाइं विहा एव। जत्थ जीव-संहारो तत्थ धम्मो णत्थि। जदि परपाण-हरण-पदाडणादो धम्मो मण्णेज्जा, पुण का हुज्जा अधम्म-परिभासा?

8. करुणा, दया, अनुकम्पा सब अहिंसा के अंग हैं। अहिंसा के अभाव में न करुणा, न दया, न अनुकम्पा। दया से विशुद्ध धर्म के अभाव में जाप-अनुष्ठान, पूजा-विधान सब व्यर्थ ही जानो। जहाँ जीवों का संहार हो वहाँ धर्म नहीं है। यदि पर प्राणों के हरण-प्रताड़न से धर्म जाना जाएगा, तो फिर अधर्म की परिभाषा क्या होगी?

---

9. सग-विवेगं उब्बुद्धत्तं आवस्सगत्तं। णरमेह-अस्समेह-गोमेह-जण्णस्स अत्थो पाणिणो कुंडे आहूदीकरणं णत्थि। सग-माणवत्तं रक्खिदूणं माणवस्स अंतरंगे असुरीवित्ति-चागो णरमेह-जण्णो। गोघादो गोमेहो णत्थि, अविदु गो गमणं। पावपउत्तिं पडि गमण-अभावो गोमेह-जण्णो। अस्सो तुरंगो। किं अस्स-घादो अस्समेहो? णेव। अस्सो व्व चित्तस्स तिव्वगदि-अवरोहणं अस्समेह-जण्णो। महिस-हणणं विसालकाय जीवाणं रत्त-पवाहणं च महिस-बली णत्थि। पमाद-पदीगो महिसो, तम्हा सग-पमाद-विसज्जणं महिस-जण्णो। अण्णाणी रूवगं तस्सरूवं मण्णदे, इदं पुण्ण-असच्चं।।

9. अपने विवेक को जाग्रत करने की आवश्यकता है। नरमेध, अश्वमेध, गोमेध यज्ञ का अर्थ यह नहीं है कि आप प्राणियों को कुण्ड में आहूत कर दो। नरमेध का तात्पर्य है कि मानव अपनी मानवता को सुरक्षित रख कर जो अंतरंग में असुरी-वृत्ति है उसको छोड़े। गोमेध का अर्थ गौ (गाय) का घात नहीं है, अपितु गौ से तात्पर्य गौ अर्थात् गमन। जो पाप प्रवृत्ति में गमन हो रहा है उसका अभाव करो, यह गोमेध का अर्थ है। अश्व का अर्थ घोड़ा है, तो क्या घोड़े का घात करना अश्वमेध है? नहीं। अश्व की भाँति चित्त की द्रुतगति है, उसे रोकना अश्वमेध है। महिष की बलि का अर्थ भैंसे को मारना नहीं, विशालकाय प्राणियों का रक्तास्रव कराना नहीं, अपितु महिष प्रमाद का प्रतीक है, इसलिए अपने प्रमाद-आलस्य का विसर्जन करना है। अज्ञानियों ने रूपक को वैसा स्वरूप समझ लिया, जो पूर्ण असत्य है।

---

10. अहिंसाए वीसे संति-आणंद-संदेसं दीयदे, अण्णो कोवि वीस-संति-मग्गो णत्थि। टंकुक्किण्ण-णायग-भावे पविट्ठ-पुरिसो केवलं चेयण्ण-भगवद-आदावलंबणं गेण्हेदि। तत्थ बहिरंग-संकप्प-वियप्पाणं पुण्ण-अभावो। तत्थ सम्मभाव-जुत्तो आदसंति-संपण्णो परमट्ठदो अहिंसा-धम्मो।।

10. विश्व में शान्ति, आनन्द का संदेश देना है, तो अहिंसा के माध्यम से ही दिया जा सकता है, अन्य कोई मार्ग विश्वशान्ति का नहीं है। टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-भाव में प्रविष्ट पुरुष एकमात्र चैतन्य भगवान्-आत्मा का

आलम्बन लेता है। वहाँ बहिरंग संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव है। वहाँ साम्यभाव से युक्त आत्मशान्ति से सम्पन्न परमार्थ से अहिंसा-धर्म है।

---

11. णिग्गंथ-महव्वदी-समणा आरंभी-उज्जोगी-विरोही-संकप्पी-हिंसाचागं करेंति। गिहत्थ-देसव्वदी होदि मेत्तं संकप्पहिंसाचागी तहा विहा अण्णविह-हिंसं पि णेव करेदि॥

11. निर्ग्रन्थ महाव्रती मुनि आरम्भी, उद्योगी, विरोधी एवं संकल्पी चारों ही प्रकार की हिंसा का त्याग करते हैं। गृहस्थ देशव्रती एकमात्र संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है तथा व्यर्थ में अन्य हिंसा भी नहीं करता है।

2

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

सच्चत्तं

(सत्यता)

1. वत्थुणो भूदत्थ-सरूव-कहणं विवरीद-हीणाहिग-अकहणं पसत्थ-साहुवयण-भासणं च सच्चधम्मो। सच्च-अवमाणं कीरिज्जदे, पुणरवि सच्चं सच्चमेव होदि। कदावि सच्चं ण होदि अवमाणिदं, अवित्त ते कुणंति सच्चावमाणं, जे खलु लोयम्हि लहेंति अवमाणं॥

1. वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन करना, विपरीत, हीनाधिक कथन नहीं करना तथा प्रशस्त साधु-वचनों का बोलना सत्यधर्म है। सत्य का अपमान किया जा सकता है, परन्तु फिर भी सत्य-सत्य ही रहता है। सत्य कभी भी अपमानित नहीं होता है, अपितु जो सत्य का अपमान करते हैं वे ही लोक में अपमान को प्राप्त हो जाते हैं।

---

2. सच्चवयणं धम्मप्पं पाणादो अहिगं पियं। पहावीजणा मिदभासी होंति, णवरि बहुप्पलावो करेदि पहुत्त-सत्ति-णासं। जं भासणं णियत्थं अमहुरं संलक्खेदि, तं अण्णत्थं णवि पउंजेज्जा। सज्जणा गुरुजण-समक्खे अप्प-गंभीर-अत्थपहाण-विणय-मिस्सिदवयण-पओगं कुणंति। महाजणा सग-मुहादो परणिंदं सग-पसंसं च णेव कुणंति॥

2. धर्मात्मा को सत्य-वचन प्राणों से अधिक प्रिय लगते हैं। प्रभावी-जन मितभाषी होते हैं, क्योंकि बहुप्रलाप प्रभुत्व-शक्ति का अभाव कर देता है। जो भाषण स्वयं के लिए मधुर नहीं लगता वह अन्य के लिए भी प्रयोग न करें। सज्जन व्यक्ति गुरुजनों के समक्ष अल्प, गम्भीर, अर्थ-प्रधान, विनय-मिश्रित वचनों का ही प्रयोग करते हैं। महाजन स्व-मुख से न तो कभी दूसरों की निन्दा करते हैं और न ही स्वयं की प्रशंसा करते हैं।

---

3. जे गुणीजणाण गुण-कित्तण-सुवासिदा ते हि मुहकमला, तेसुं मुह-कमलेसुं साहु-जणा

भमरो व्व भमेंति। असच्चभासी होदि वीसस्स अवीसासी। जदा तम्हि सगपरिजणा वि वीसासं णो कुणंति, पुण अण्णस्स का कहा? हिदयर-मिदु-महुर-गंभीर-वीस-बंधुत्तकारणभूद-वयणुवओगो वत्ति-वत्तित्त-णावगो। असच्च-भासगा कदावि आद- सत्तिं णो लहेंति एवं भाव-विसोही ता समया कदावि ण आगमेदि। असच्चभासगस्स सव्वत्थ होदि अवमाणं, सो सयमेव करेदि सग-जसघादं। मुसाभासी लहेदि साहुजणेसु अहोठाणं।।

3. वे ही मुख-कमल हैं; जो गुणीजनों के गुण-कीर्तन से सुवासित हैं, उन मुख-कमलों पर साधुजन भ्रमर की भाँति भ्रमण करते हैं। असत्य-भाषी विश्व का अविश्वासी होता है, स्व-परिजन भी उस पर विश्वास नहीं करते, फिर अन्य की क्या कहें? हितकारी, मृदु, मधुर, गंभीर, विश्व-बंधुत्व के कारणभूत वचनों का प्रयोग व्यक्ति के व्यक्तित्व का ज्ञापक है। असत्य-भाषण करने वाले कभी भी आत्म-शक्ति को प्राप्त नहीं होते, भाव-विशुद्धि तो उनके निकट कभी नहीं आती। असत्य-भाषी का सर्वत्र अपमान होता है, वह स्वयं ही स्व-यश का घात करता है। मृषा-भाषी साधुजनों में निम्न स्थान पाता है।

---

4. असच्च-भासगा कज्ज-करणत्थं विउल-महुर-णियत्तं पदरिसंति, णं समए सदि ते असच्च-भासगा वंचणं देंति। साहु-पुरिस-वयणाइं हिद-मिद-पिय-धम्म-जस-वड्ढिकारणाइं। णाणीजणा सच्चं पाणदो वि पियं गेण्हंति। पाणा तु अणेगभवेसु अणेगहुत्तं लद्धा, लहिस्संति वा, सच्चलाहो पुण पुण णो होदि। जदि जीवो एगभवे हि तिजोगदो सच्चं गेण्हेज्जा दु जम्मजरामिच्चुक्खयो हुज्जा। ते साहु-पुरिसा धण्णा, जे सच्चत्थ-धम्मामिद-सेवणं कुणंति तहा अण्ण-जणा कारेंति।।

4. असत्य-भाषण करने वाले लोग काम साधने के लिए बहुत मीठा-अपनापन दिखाते हैं, परन्तु समय पाकर वे असत्य-भाषी दगा दे जाते हैं। साधु-पुरुषों के वचन हित-मित-प्रिय तथा धर्म-यश वृद्धि के कारण होते हैं। ज्ञानीजन प्राणों से भी प्रिय सत्य को स्वीकार करते हैं। प्राण तो अनेक भवों में अनेक बार प्राप्त हुए हैं, होते रहेंगे, परन्तु सत्य बार-बार प्राप्त नहीं होता है। एक भव में ही जीव मन-वचन-काय से सत्य को स्वीकार ले, तो जन्म-जरा-मृत्यु का क्षय हो जाए। वे साधु-पुरुष धन्य हैं जो सत्यार्थ-धर्मामृत का पान करते हैं तथा अन्य जनों को कराते हैं।

---

5. महुरभासणादो-विपण्णं समया वासावेक्खाए वणखंडवासो वरो। सच्चवयणं सच्चजीवणं सयमेव उच्चत्त-सिहर-जीवणं, इमस्स पर-पसंसाए आवस्सगत्तं णत्थि। जे गुणा सगम्हि णत्थि पुणरवि सगं गुणजुदमण्णत्तं असच्च-वाग-वित्ति-जीवणं। गुणीणं गुण-गहणाभावो असच्च-मण-वियप्पो एवं एवमेव वियप्पो करेदि गुणहीणं। जेसिं वयणाइं सग्गुण-कित्तणे संलग्गेंति, मेत्तं तेसिं वयणबलो सम्म-सत्थगो। जे कुणंति आगमाणुऊलं सच्चभासणं, तेसिं होदि वयणसिद्धी।।

5. मधुर भाषण से दरिद्री-जनों के पास वास करने की अपेक्षा वन-खण्ड का वास श्रेष्ठ है। सत्य-वचन, सत्य-जीवन स्वयं में ही उच्चता के शिखर का जीवन है। इसके लिए पर की प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है। जो गुण स्वयं में नहीं, फिर भी उन गुणों से युक्त स्वीकारना, यह असत्य वाक्-वृत्ति का जीवन है। गुणीजनों के गुणों को नहीं स्वीकारना यह असत्य मन का विकल्प है और यही विकल्प गुणहीन बना देता है। जिनके वचन सद्गुणों के कीर्तन में लगते हैं, मात्र उनका ही वचन-बल सम्यक्-सार्थक है। जो पुरुष आगमानुकूल सत्य भाषण करते हैं, उन्हें वचन-सिद्धि हो जाती है।

---

6. जदि तुमं सग-वयणाइं सावणं इच्छेसि दु पढमं सयं परवयणं झाणेण सुणेज्जा। परकट्ठदायग-परणिंदापरग-हिंसाजुद-कक्कस-भासणाणं पुण्ण-रूवेण चत्तेहि। एदाइं सव्व-वयणाइं असच्च-पक्खपोसगाइं। जेसुं वयणेसुं आदहिदं णाणिणो ताइं वयणाइं भासेंति सुणेंति तहा समणुजाणेंति॥

6. यदि आप अपनी बात सुनाना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम स्वयं दूसरे की बात को ध्यान से सुनना होगा। जो भाषण दूसरों को कष्ट-प्रद हो, पर-निन्दापरक, हिंसा-युक्त, कर्कश हो, ऐसे भाषण का पूर्ण त्याग करें। ये सब वचन असत्य की कोटी में आने वाले हैं। ज्ञानी-जन वे ही वचन बोलते हैं, वे ही वचन सुनते हैं, उन्हीं वचनों की अनुमोदना करते हैं जिन वचनों में आत्महित निहित हो।

---

7. विसंवादेण विसोहि-णासो तदो जम्हि अविसंवादा सा खलु वत्ता तच्च-चरिचा। विसोहि-अभावे संसार-वड्ढी। संसारहाणीए तच्च-चरिचा, ण दु संसारवड्ढीए। कक्कस-सद्द-अरुसो सरत्तो अहिगो कट्ठप्पदो। सरो देहमेत्तं जज्जेदि, णं वाणी-तिक्खणत्तं अंतोकरणे जज्जरेदि। महुरभासणेण किण्ह-भुजंगं पि आवेसिज्जदे। महुर-पिय-मिद-हिद-भासणं सयलवीसं सगवसकरण-विज्जा। जीवो दप्प-ममत्त-भासाए साहु-पुरिसत्तो पुहं होदि॥

7. वही वार्ता तत्त्वचर्चा है जिसमें विसंवाद नहीं, विसंवाद से विशुद्धि का विनाश होता है। विशुद्धि के अभाव में संसार-वृद्धि होती है। तत्त्ववार्ता संसार-वृद्धि के लिए नहीं, अपितु संसार-हानि के लिए होती है। कर्कश शब्दों का घाव बाण से भी अधिक कष्टप्रद होता है। बाण मात्र शरीर को विदीर्ण करता है, परन्तु वाणी की तीक्ष्णता अंतःकरण को विदीर्ण कर देती है। मधुर-भाषण से काले नाग को भी वश कर लिया जाता है; यह विश्व को स्ववश करने की विद्या है—मधुर-प्रिय-मित-हितकारी भाषण। अहंकार-ममकार की भाषा से व्यक्ति साधु-पुरुषों से दूर चला जाता है।

---

8. सरिदा-सीयल-णीरं-पाणीमेत्तस्स सीयत्तं देदि, तहेव सज्जणाणं सक्कारिद-वयणं पाणीमेत्तस्स सीयत्तं देदि। वाणीए सव्वजणपियं मेत्ती-अमिदं होदु, णेव कडुत्तविसं। सव्वहिद-वंछगो देदि पंथ-संपदाय-भिण्णो होदूणं पाणीमेत्तस्स विस्सबंधुत्त-सदुवएसं।।

8. सरिता का शीतल जल प्राणिमात्र के लिए शीतलता प्रदान करता है, उसी प्रकार सज्जनों के संस्कारित-वचन प्राणिमात्र के लिए शीतलता प्रदान करते हैं। वाणी में कटुता का विष न हो, मैत्री का अमृत हो जो सर्वजनप्रिय होता है। सर्व-हित-वांछक पंथ-संप्रदायों से भिन्न होकर प्राणिमात्र के लिए विश्वबन्धुता का सदुपदेश देता है।

---

9. जस्स भासा हि कडुत्त-पुण्णा, तस्स भाव-दसा कियत्ता कडू होहिदि? सद्दोवओगो वि समणत्त-पुण्णो होदव्वो। साहुवेस-मेत्तेण साहुत्त-अहिणाणं णत्थि, भासा-भावेसु साहुत्तं, पुण साहुवेसधारणं पि वरं। सेट्ठपदस्स अणुऊल-भासा वि सेट्ठत्तेण सक्कारिदा होदव्वा। धम्म-समाय-सक्किदि-सेवं करंता वि उज्जल-विवेगपुण्ण-वाणी-अभावे मूढा सम्माणं णवि लहेंति। परजीवपीडाकारगा सद्दा वि सज्जणा णवि भासेंति, णवरि ते जाणेंति सद्दघावो विउलगहणो होदि जो सरले अंतोकरणे होदि। मा कुण एरिसाणं सद्दाणं पि पओगं जेण परोपरे पीदि-विओगं वेर-संजोगं च होज्जा। धण्णा ते साहगा जेसिं वयणाइं अमिददो अहिग-महुराइं, मयंक-पहादो अहिग-सीयलाइं; ते हु वसुहाए मेत्तीभावस्स ठावगा। जदि तुमं सच्च-संपत्ति-रक्खणं इच्छेहि दु सयल-साहणासुं वरसाहणाभूद-मोणवदस्स णिद्दोसपालणं कुणहि।।

9. जिसकी भाषा ही कटुतापूर्ण है; उसके भावों की दशा कितनी कटु होगी? शब्दों का प्रयोग भी साधुतापूर्ण होना चाहिए। साधु-भेष मात्र से साधुता की पहचान नहीं है, भाषा-भाव में साधुता है तो साधु-भेष बनाना भी श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ पद के अनुकूल भाषा भी श्रेष्ठता से संस्कारित होना चाहिए। अज्ञ प्राणी धर्म, समाज, संस्कृति की सेवा करते हुए भी उज्ज्वल, विवेकपूर्ण-वाणी के अभाव में सम्मान को प्राप्त नहीं होते। पर-प्राणी पीड़ाकारक शब्द भी सज्जन लोग नहीं बोलते, क्योंकि उन्हें बोध होता है कि शब्द का घाव बहुत गहरा होता है जो सीधा अन्तःकरण में होता है। ऐसे शब्दों का भी प्रयोग मत करो जिससे परस्पर में प्रीति का वियोग हो जाए तथा वैर का संयोग हो जाए। धन्य वे साधक जिनके वचन अमृत से भी अधिक मीठे, चन्द्रमा की चाँदनी से अधिक शीतल हैं; वे ही धरती पर मैत्री-भाव स्थापक हैं। यदि आप सत्य-सम्पत्ति की रक्षा चाहते हैं, तो सम्पूर्ण साधनाओं में श्रेष्ठ साधना मौनव्रत का निर्दोष पालन करो।

---

10. आदसाहगो करेदि णिरत्थग-वयणालावदो आद-रक्खणं। वयण-संजमधारणं साहगस्स आवस्संगं, णवरि लोए विउल-अणत्था वाणी-असंजमेण हि जादा। जस्स वाणीए सियवादो

विज्जमाणो, तस्स वाणी हु लोए सग-पर-कल्लाणी। सियवाद-सुण्ण-वयणाइं अत्थदो वि अहिग-घादगाइं होंति॥

10. आत्मसाधक व्यर्थ के वचनालाप से आत्मरक्षा करता है। वचनों का संयम रखना साधक का अनिवार्य अङ्ग है, क्योंकि लोक में बड़े-बड़े अनर्थ वाणी-असंयम से ही हुए हैं। जिसकी वाणी में स्याद्वाद विराजमान है, उसकी वाणी ही जगत् में स्व-पर कल्याणी है। स्याद्वाद-शून्य वचन अस्त्र से भी अधिक घातक होते हैं।

3

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

अचोरियं

(अचौर्य)

1. कस्सचिद णिहिदं पदिदं विम्हिदं वा परवत्थुं आणाए विणा गहणं, अण्णं अदत्तं गेण्हाविज्ज तदा परगीय-अदत्तवत्थु-पओगस्स अणुमोदणं च चोरियं। जो एरिसं ण करेदि, सो अचोरिय-वदी। जगदीए पर-सामित्तस्स हेम-अज्जुण-वज्ज-रयणादि-दव्वाइं आणाए विणा अप्पडिग्गहणं चावि अचोरियं। जीवं सगधणं पाणसरिसं पियं होदि। जो करेदि परधणहरणं, सो तस्स पाणहरणं हु करेदि। जत्थ चोरियं तत्थ हिंसा अवस्संभावी एवं सा हिंसा दुअरूवा होदि। धणं पुरिसाणं एयारसो पाणो, जो धणहरणं सो तस्स पाणहरणं। अवरदिट्ठीए दस्सू धणरागे करेदि धणिगहिंसं वा कदाचि धणिगेण विरुद्धे दस्सु-हिंसा वि होदि, तम्हा साहुजणा चोरिय-पावदो आदरक्खणं पडिक्खणं कादव्वं। मेत्तं धणहरणं हि चोरियं णत्थि, परगीय-सामित्तजुत्तं वत्थुं अणुमदीए अंतरेण गहणं पि चोरियं॥

1. किसी की रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई, पर-वस्तु को बिना आज्ञा के ग्रहण कर लेना, अन्य को करा देना तथा परकीय अदत्त वस्तु के प्रयोग करने की अनुमोदना करना चोरी है। जो ऐसा नहीं करता, वह अचौर्य व्रती है। जगति पर पर-स्वामित्व के स्वर्ण, हीरा, वज्र, रत्न आदि द्रव्यों को बिना आज्ञा के स्वीकार नहीं करना अचौर्य है। व्यक्ति को स्व-धन प्राणों जैसा प्रिय होता है। जो पर-धन का हरण करता है वह उसके प्राणों का ही हरण करता है। जहाँ चोरी होगी वहाँ हिंसा अवश्यम्भावी होती है, वह हिंसा द्वैत रूप होती है। धन पुरुषों के लिए ग्यारहवाँ प्राण है, जो धन-हरण है वह उसका प्राण-हरण है। दूसरी दृष्टि से देखें तो चोर धन के राग में धनवान की हिंसा कर देता है अथवा कभी धनिक द्वारा पकड़ा जाने पर चोर की हिंसा होते देखी जाती है, इसलिए साधुजनों को चोरी-पाप से आत्मरक्षा प्रतिक्षण करना चाहिए। धन-हरण ही चोरी नहीं है, जो भी वस्तु परकीय स्वामित्व युक्त है, उसको उसकी अनुमति के बिना ग्रहण करना भी चोरी है।

---

2. जीवो लोहकसाय-परिग्गह-सण्णावसादो चोरिय-सरिसं हीणकम्म-करणत्थं उज्जदो होदि।

जदा जीवो अत्थेय-धम्मं पालेज्जा तदेव परम-तच्चणिण्णयो हुज्जा। तक्खर-भावो णवि देदि सगपरं च संतिं। जदा परिणामेसुं संति-अभावो तदा कत्थ तच्च-णिण्णयो?

2. लोभ-कषाय, परिग्रह संज्ञा के वश हुआ प्राणी चोरी जैसे हीन-कर्म करने को तैयार हो जाता है। परम तत्त्व का निर्णय तभी होगा जब जीव अस्तेय धर्म का पालन करेगा। तस्कर-भाव न स्व को शान्ति देते हैं, न पर को। जब परिणामों में शान्ति का अभाव है, तब तत्त्व-निर्णय कैसा?

---

3. सग-समए सग-कज्जं ण करणं पि समयस्स चोरियं। जह सगधणं तुम्ह पियं, तहेव इदरजणाणं पि पियं सगधणं तम्हा कस्सचिद पीदिभूद-धणहरणं पाणहरण-सरिसं साहुपुरिसा पर-गेह-अंगणदो अग्गे पिच्छणाए विणा णवि पवेसंति। धम्मप्पा धम्मप्प-मज्झे कदावि विसंवादं ण करेंति तदेव होदि णिद्दोस-अचोरिय-वदं। सग-भाव-विसोहि-घादगो वि दस्सू। अचोरिय-वदी पडिक्खणं पसीदेदि, तस्स अंतोकरणे णवि होदि चोरिय- किच्चसंकिलेसत्त-विसं। परवत्थु-हरणकत्ता बहिरब्भंतर-संकिलेसत्त-अणले दहदि॥

3. अपने समय पर स्व-कार्य न करना भी समय की चोरी है। जैसे स्वधन आपको प्रिय है उसी प्रकार से अन्य जनों को भी स्वधन प्रिय है, इसलिए किसी के प्रीतिभूत धन का हरण प्राण-हरण के तुल्य है। साधु-पुरुष पर के गृह-आँगन से आगे बिना पूछे प्रवेश नहीं करते हैं। धर्मात्मा-पुरुष धर्मात्मा के मध्य कभी भी विसंवाद नहीं करते, तभी निर्दोष-अचौर्य व्रत होता है। स्व-भावों की विशुद्धि का घातक भी चोर है। अचौर्य व्रत पालक प्रतिक्षण प्रसन्न रहता है; उसके अन्तःकरण में चौर्य-कृत्य संक्लेशता का विष नहीं रहता है। पर-वस्तु का हरणकर्ता अंतरंग-बहिरंग संक्लेशता की अग्नि में झुलसता रहता है।

---

4. दस्सू णवि भुंजिज्जेदि पुण्णाउं, सो दु पर-अत्थसत्थेहिं मिच्चुं लहेदि अहवा संकिलेसत्तेण लहेदि अकाल-मरणं। दस्सू पडिक्खणं भय-गत्थो होदि तम्हा तक्खरप्पादो णिब्भयसद्दो णस्सेदि। दस्सु-जीवणं जग-पीदिसुण्णं सुक्खं च होदि। धम्मत्थकामसिव-पुरिसत्थेसुं तक्खरो असंतिं लहेदि। दस्सुं दट्ठूणं सगबंधुणो वि तं कुक्कुर व्व पेक्खंति, दस्सू कस्सचिदवि पियो णो होदि। साहुजणा वि दस्सूदो धारेंति सावधाणिं। धणाभावे वि सावधाणी-कारणं अवजसासंका; तक्खर-सहवासदो होदि लोयाववादो। णाणी-मज्झेहि णाणी-सहवासो होदि॥

4. चोर पूर्ण आयु को नहीं भोग पाता, या तो पर अस्त्रों-शस्त्रों से मृत्यु को प्राप्त होता है या संक्लेशता से अकाल-मरण को प्राप्त होता है। तस्कर की आत्मा से 'निर्भय' शब्द तो समाप्त ही हो जाता है, चोर प्रतिक्षण भय-ग्रस्त रहता है। चोर का जीवन जगत् की प्रीति से शून्य व शुष्क बन जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों ही पुरुषार्थों में तस्कर शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता है। चोर को देखकर स्व-बंधु भी उसे श्वान सा देखते

हैं, चोर किसी का प्रिय नहीं होता है। साधुजन भी चोर से सावधानी रखते हैं। धन का अभाव होने पर भी सावधानी रखने का कारण अपयश की आशंका है; तस्कर के साथ रहने से लोकापवाद हो सकता है। ज्ञानीजनों का सहवास ज्ञानीजनों के ही मध्य होता है।

---

5. अत्थेय-वदी साधम्मीदो विसंवादं ण करेदि पत्तेगधम्मप्पं पडि वच्छल्लभावं धारेदि। अचोरिय-वदी धम्मप्पं पडि विरोहभावं चत्तेदि, सव्वेसिं ठाणदाणं करेदि तहा सगठाणदो कंचिदवि पदिदकरणभावं णो कुणदि॥

5. अस्तेय व्रतधारक साधर्मी जनों से विसंवाद-भाव को प्राप्त नहीं होता, प्रत्येक धर्मात्मा के प्रति वात्सल्य भाव बनाकर चलता है। अचौर्य व्रत पालक धर्मात्मा के प्रति विरोध-भाव का त्याग कर देता है, सभी के लिए स्थानदान करता है, स्व-स्थान से किसी को पतित करने के भाव नहीं लाता है।

---

6. जदि तुमं देसमहव्वदी तु परोवयारं कुज्जा, णं उवकिदं सगोवयार-मिदिं णवि कारंति। देहमहव्वदी परकिद-हरिद-वत्थुस्स उवओगं ण करेदि। तदुवओगे अचोरियवदे दोसो त्थि। साहु-पुरिसा रज्जविरुद्ध-कज्जाइं ण कुणंति, ते णीदि-णायजुदं सासण-आणं पाणादो पालेंति॥

6. पर का उपकार करना चाहिए; परन्तु उपकृत को स्व-उपकार की याद नहीं दिलाना चाहिए, यदि आप अणु एवं महाव्रतों के पालक हैं तो। पर के द्वारा की गई चोरी की वस्तु का प्रयोग भी नहीं करता अणुव्रती-महाव्रती। जो परकृत चोरी की वस्तु का प्रयोग कर लेता है उसके अचौर्यव्रत में दोष हैं। साधु-पुरुष राज्य के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करते, शासन की आज्ञा, जो नीति-न्याय युक्त हो, उसका प्राणपन से पालन करते हैं।

---

7. रुक्खफलमिव पयादो करगहणं महीव-कत्तव्वं। जहेव किसगो फलवंत-रुक्खत्तो फलमेव गेण्हेदि णं जडमूलत्तो रुक्ख-विघादं णवि करेदि णवरि आगामीफलाइं पि तम्हि रुक्खम्हि आगमेंति; तहेव महीवो पयादो करं गेण्हेज्जा, सव्वहरणं णेव कुज्जा। जदि महीवो अकारणं हि पयाए सव्वहरणं कुणदि दु सो वि दस्सू एव। आदाणप्पदाण-भावदंडो हीणाहिगो णो होज्जा अचोरियव्वदिस्स एवंविह-वित्ती होदि। जो माणे उम्माणे वा हीणाहिगत्तं कुणेदि, सो णत्थि णिद्दोस-अचोरियवदी। सो जिणसासण-कम्मदंड-किरियादो सग-रक्खणं णवि करिज्जदे। जं वत्थुं जस्स कज्जस्स उवजुत्तं तस्सोवओगं तम्हि कज्जम्हि कादव्वं, जो णो पालेदि इमं विहिं सो करेदि कारण-कज्ज-विपज्जासं। तस्स अत्थेय-वदम्हि दोसो तहा चोरिय-मायाचार-सक्कारा तस्स कज्जं कुणंति; अयं बोहो होदि॥

7. राजा का कर्तव्य है प्रजा से कर ले, वृक्ष के फलवत। जैसे कृषक वृक्ष से फल ही लेता है परन्तु

जड़मूल से वृक्ष का विघात नहीं करता, क्योंकि आगामी फल भी उसी वृक्ष पर आएँगे, उसी प्रकार से राजा प्रजा से कर तो ले, परन्तु प्रजा का सर्व-हरण न करे। यदि राजा बिना कारण प्रजा का सर्व-हरण करता है, तो वह भी चोर है। लेन-देन के मापदण्ड न हीन हों और न अधिक हों, इस प्रकार की वृत्ति जो करता है उसके अचौर्य व्रत पलता है। जो पुरुष मान-उन्मान में हीन-अधिकता रखता है वह निर्दोष अचौर्य व्रत पालक नहीं है। जिन-शासन कर्मदण्ड की क्रिया से वह अपने को सुरक्षित नहीं रख सकता है। जो वस्तु जिस कार्य के लिए उपयुक्त है उसका उपयोग उसी कार्य में करना चाहिए, इस विधि का जो पालन नहीं करता है,वह कारण-कार्य विपर्यास कर रहा है। वह अस्तेय व्रत में दोष लगा रहा है चोरी-मायाचारी के संस्कार उसके कार्य कर रहे हैं, इस बात का बोध होता है।

---

8. साहगस्स मोक्खमग्गकारणभूदेसु भावेसु थिरत्त-पुरिसत्थं णिच्चं कादव्वं। जदि साहगो साहुवेसे असाहुभावाणुभवणं करेदि दु सो साहुभाव-तक्खरिं करेदि। सग-साहुभाव-विघादगो दिग्घसंसारी वा। पुण्ण-रूवेण सग-संजमे सोच्छाह-सगठावणं साहगस्स अचोरियवदं। सग-गुणट्ठाणदो पदिदित्तु वि गुणट्ठाणजण्ण-पूयणलाहो तहा सेट्ठुसाहगेहिं सग-विणयो कारिदो अचोरियवदाभावो त्ति। एरिसो साहगो मायाकसाय-दूसिदचित्तेण कुमरणं पावेदि॥

8. जो भाव मोक्षमार्ग में कारण हैं साधक के लिए उन्हीं भावों पर स्थिर होने का सतत पुरुषार्थ करना चाहिए। यदि साधक साधु-भेष में असाधु भावों की अनुभूति लेता है तो वह साधु भावों की तस्करी कर रहा है, स्व के साधु भावों का विघातक है, दीर्घसंसारी है। स्व-संयम में उत्साह के साथ पूर्णरूप से स्थापित रहना साधक का अचौर्यव्रत है। स्वगुणस्थान से पतित होकर भी गुणस्थान-जन्य पूजा को प्राप्त करना तथा श्रेष्ठ साधकों से स्व की विनय करवाना अचौर्यव्रत का अभाव है। उस साधक के अन्दर माया-कषाय से दूषित चित्त-युक्त नर कुमरण को प्राप्त होता है।

---

9. परगीय-पदत्थं सगीयं भासिय पचारो, सुंदरं दरिसिय असुंदर-वत्थुं पदाणं अचोरियवद-दूसणं। सज्जणा सगकत्तव्व-पालणे उस्साहिदा होंति। जे सग-कत्तव्वे णिरुस्साह-जीवणं जीवेंति, ते सेट्ठुकत्तव्व-कज्जचोरियं कुणंति। जदि कोवि भिण्णजीवो सग-कज्ज-किरियं तुमं णो भाविज्जदे दु तं दंसणचेट्ठुं मा कुण, पुणो वि तुमं पेहेसि दु सा वि चोरियं, तस्स भावहिंसा वि अत्थि। परगीयवत्थुं पिच्छणं विणा गहणं तु चोरियं, केवलं इयत्तं चोरियं णत्थि, परगीय-गुत्तचरिचं लुक्किय सवणं पि चोरियं। इमादो सग-पर-परिणामेसुं किलेसो विसोहिणासो वा होदि, लोए पयडे सदि महाहिंसा-रूवजुद्धो वि संभवो तहा धम्म-धम्मप्पा पडि अणत्था-भावो वि जायदे॥

9. परकीय पदार्थ को स्व कहकर प्रचार करना, सुन्दर दिखाकर असुन्दर वस्तु देना अचौर्यव्रत का दूषण

है। सज्जन पुरुष अपने कर्तव्य-पालन में उत्साहित होते हैं, जो लोग स्व-कर्तव्य में उत्साह-हीन जीवन जीते हैं वे श्रेष्ठ कर्तव्य कार्य की चोरी करते हैं। यदि कोई भिन्न व्यक्ति अपना कार्य या क्रिया को आपको नहीं दिखाना चाहता, तो उसे देखने की चेष्टा मत करो, यदि फिर भी छुपकर आप देखते हैं तो वह चोरी है, उसके भावों की हिंसा है। परकीय वस्तु को बिना पूछे ग्रहण करना तो चोरी है, पर इतनी ही सीमा चोरी की नहीं समझना, परकीय गुप्त बात को छुपकर सुनना भी चोरी है। इससे स्व-परिणाम और पर-परिणामों में क्लेश का संचार होता है, विशुद्धि का नाश होता है, लोक में व्यक्त करने पर महाहिंसा रूप युद्ध भी सम्भव है, धर्म-धर्मात्माओं के प्रति अनास्था भाव जाग्रत होता है।

4

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

बंभचेरं

(ब्रह्मचर्य)

1. लोए आदबल-देहबल-वड्ढगं परमोसहं बंभचेरधम्मं। कामसत्तिं खीणित्ता बंभभावे रमित्तु गुरु-आसमे णिवासो बंभचेरं। लोए सयलवदराया बंभचेर-वदं। बंभचेर-वदाभावे सयलवदाइं णिस्साराइं गंधहीण-पुप्फमिव। बंभचेरवदं अंकं, सेसाइं वदाइं अंकसुण्ण-सुण्णाइं। सुण्णं सुण्णं हि होदि, अत्थवंतं तु अंकं। जदि अंके सुण्णाइं होंति दु अंकमुल्लं वड्ढमाणं होदि, तहेव वदेसुं अंकट्ठाणे बंभचेरवदं, बंभचेरेण सह सेसवदाइं सोहिदाइं बंभचेराभावे अवर-वदाइं अंकसुण्ण-सुण्णाइं जाणेज्जा। बंभरक्खा हि आदरक्खा॥

1. ब्रह्माण्ड में यदि आत्मबल, देहबल-वर्धक कोई परम-औषधि है तो उसका नाम है 'ब्रह्मचर्य-धर्म'। कामशक्ति को क्षीण कर, ब्रह्मभाव में लीन रहकर गुरु-आश्रम में निवास करना ब्रह्मचर्य है। लोक में सम्पूर्ण व्रतों का राजा यदि कोई व्रत है, तो वह ब्रह्मचर्य व्रत है। ब्रह्मचर्य व्रत के अभाव में सम्पूर्ण व्रत थोथे हैं, गंधहीन पुष्पवत। ब्रह्मचर्य व्रत अंक, शेष व्रत अंक-हीन शून्य हैं। शून्य-शून्य ही रहता है, अर्थवान कोई है, तो वह अंक है। यदि अंक पर शून्य आते हैं तो अंकों की कीमत वृद्धिमान हो जाती है, उसी प्रकार व्रतों में अंक स्थान पर ब्रह्मचर्य व्रत है, ब्रह्मचर्य व्रत के साथ शेष व्रत शोभायमान होते हैं। ब्रह्मचर्य के अभाव में अन्य व्रत अंक-रिक्त शून्य समझो। ब्रह्मरक्षा आत्म-रक्षा है।

---

2. जेसु ठाणेसु दिट्ठि-गमणादो कामदाहो जायदे, तेसु ठाणेसु दिट्ठिं पुहं कुज्जा। जस्स दिट्ठि-अबंभे णिरोहो तस्स चित्तं बंभमयं सदो होदि। जेसिं अबंभे रुई तेसिं हि पीडेदि अबंभभावो। जेसिं अबंभे अरुई णूणं ता वीदरागिणो लोयस्स कावि सत्ती बंभभावच्चुदे ण समत्था। सयलवीसं सगं पडि आकस्सणस्स परमविज्जा बंभचेरं, सीलदिढस्स सिरिचरणेसुं देवा वि आगमिय णमेंति। बंभचेर-पालणत्थं मणसोही आवस्सगा। मणमहो वियारबले जीविदो। अबंभुप्पत्ती मणे होदि, तणेण

अबंभसेवणं बहु-अप्पं। जीवो करेदि सव्वाहिगं माणसिग-मेहुणं, तस्स तिव्वत्तं हि काय-पवीयारे णेदि। माणसिग-मेहुणं माणसिग-रोगं उप्पज्जेदि। उम्मादचित्तविब्भम-ताव-असहिण्णु-दिग्घसास-देहकंपण-मिच्चु-खुहा-तिसा-अभाव-पहुदीओ अवत्थाओ होंति तिव्वकामाउरस्स॥

2. जिन स्थानों पर दृष्टि जाने से काम-दाह उत्पन्न होती है उन स्थानों से दृष्टि को पृथक् कीजिए। दृष्टि के अब्रह्म पर जिसका नियंत्रण है उसका मन ब्रह्ममय स्वतः हो जाता है। जो अब्रह्म में रुचि रखते हैं उन्हें ही अब्रह्म-भाव पीड़ित करता है। जिनकी अब्रह्म में रुचि ही नहीं उन वीतरागियों को जगत् की कोई भी शक्ति ब्रह्म-भाव से च्युत करने में समर्थ नहीं है, ऐसा निश्चित मानो। सम्पूर्ण-विश्व को स्व के प्रति आकर्षण की परम विद्या ब्रह्मचर्य है, शील-दृढ़ के श्रीचरणों में देव भी आकर शीश झुकाते हैं। ब्रह्मचर्य पालने हेतु मनशुद्धि अनिवार्य है। मनमथ विचारों के बल पर जीवित रहता है। अब्रह्म की उत्पत्ति मन में होती है, तन से अब्रह्म का सेवन बहुत कम होता है। व्यक्ति सर्वाधिक मानसिक-मैथुन करता है, मानसिक मैथुन की तीव्रता ही काय-प्रवीचार में ले जाती है। मानसिक मैथुन मानसिक रोग उत्पन्न कर देता है। उन्माद, पागलपन, ताप, भूख-प्यास न लगना, चिड़चिड़ापन, लम्बी श्वासें, शरीर-कंपन, मृत्यु आदि अवस्थाएँ तीव्र कामी-पुरुष की होती हैं।

---

3. अयं जीवो सयलजोगं धारेदु, अणसणादि-घोरतवं तवेदु, आइरियसंघ-सेवं कुणदु, विणयवित्तिं सयलागमं च धरेदु पुणरवि अंतरंगे जदि विसयवंछा अबंभपरिणामा विज्जमाणा तो कहिद-सयल-किरियाओ अकज्जवंताओ। वदेसु बंभचेरं, मणीसु पारसमणी, रयणेसु वज्जं, धाऊसु सुवण्णं, वणप्फदीसु मलयगिरि-चंदणं, धम्मेसु अहिंसाधम्मं च तिलोय-पसिद्धं। साहु-पुरिसा पसण्णदाए पाणविओगं गेज्झंति, णं पर-कलत्तं रयण-जडिदे सदि वि ण गेज्झंति। सीलवंतस्स दारिद्दं पि भूसणं कुसीलस्स वेहवं मेत्तं पुण्णमलं। णिद्दोस-सीलत्तो अग्गी वि सीयलजलं, विसं पि अमिदं, सूली वि सिंहासणं, सत्तू वि मित्तं तहा असुह-कज्जं पि सुहरूवं होंति॥

3. यह जीव समस्त-योग धारण कर ले, अनशनादि घोर तप तपे, आचार्य संघ की सेवा करे, विनय-वृत्ति धारण करे, समस्त आगम को धारण कर ले और फिर भी यदि अंतरंग में विषयाभिलाषा है, अब्रह्म परिणाम है तो उपरोक्त सम्पूर्ण क्रियाएँ अकार्यकारी हैं। व्रतों में ब्रह्मचर्य, मणियों में पारसमणि, रत्नों में हीरा, धातु में सोना, वनस्पति में मलयगिरि चंदन, धर्म में अहिंसा धर्म त्रैलोक्य प्रसिद्ध है। साधु-पुरुष प्राण-वियोग स्वीकार लेते हैं प्रसन्नता के साथ, परन्तु पर-नारी को रत्नजड़ित होने पर भी नहीं स्वीकारते। शीलवान की दरिद्रता भी भूषण हैं, कुशील का सम्पूर्ण वैभव मात्र पुण्य का मल है। निर्दोष शील के योग से अग्नि भी शीतल-जल, विष भी अमृत, शूली भी सिंहासन, शत्रु भी मित्र और अशुभ कर्म भी शुभरूप हो जाते हैं।

---

4. पर-इत्थी-लंपडी इहलोए अवजसपत्तं परलोए दुग्गदिपत्तं होदि। जसवंता पाणहरणं

कारिज्जंति, संपत्ति-विणासं पि पस्सेंति, णं पर-इत्थी-चित्तं पि रागेण णेव पस्सेंति। जो सग-वीरिय-खरणं करेदि, सो सग-जीवण-घादगो। वीरियं तेय-बुद्धिबल-दायगं उच्चवियार-जम्मजं च देहस्स चरमधाऊ॥

4. पर-स्त्री लम्पटी इस लोक में अपयश और परलोक में दुर्गति का पात्र होता है। यशवान नर प्राण-हरण करा सकते हैं, सम्पत्ति विनाश देख सकते हैं, परन्तु पर-स्त्री का चित्र भी राग से नहीं देखते। जो व्यक्ति स्व-वीर्य का क्षरण करता है, वह स्व-जीवन का घातक है। वीर्य शरीर की अंतिम धातु है; जो तेज, बुद्धि-बल प्रदान करने वाला है। श्रेष्ठ-विचार को जन्म देने वाला वीर्य होता है।

---

5. वीरियरित्तदेहं तेयरहिदं पमादपुण्णं, रुगणं, रत्तदोसत्तं, वदणे विद्दहि-पिडिगाजुदं, सेट्ठजणमज्झे हीणदीणत्तण-संपण्णं च होदि। वीरिय-संपण्णदेहं तेजवंतं सुगंधवंतं सरसत्तं, सुभगत्तं णयणेसु विसिट्ठि-पगास-संपण्णजुदं च होदि। तादो संपुण्णलोया विमोहंति। विसयासत्तो जादि-कुल-धम्म-कित्ति-विण्णाण-विभूदि-सच्चसुइत्तक्खयं च करेदि तहा होदि विवेग-सुण्णो वि। तस्स जीवणं आणंदरित्तं आरंभेदि॥

5. वीर्य-हीन शरीर निस्तेज, प्रमादपूर्ण, आलस्यपूर्ण, रुग्ण, रक्त-दोषता, मुख-शरीर पर फोड़े-फुन्सी युक्त होता है तथा श्रेष्ठ-जनों के मध्य हीनता-दीनता सम्पन्न होता है। वीर्य सम्पन्न शरीर तेजवान, सुगन्धवान, सरसता, सुभगता, नेत्र में विशिष्ट ज्योति-सम्पन्नता से युक्त होता है, उससे सम्पूर्ण-लोक आकर्षित होते हैं। विषयासक्त जीव विवेक-शून्य हो जाता है। वह जाति, कुल, धर्म, कीर्ति, विज्ञान, विभूति, सत्य-शुचिता का क्षय कर लेता है। उसका आनन्द-रिक्त जीवन प्रारम्भ हो जाता है।

---

6. जदि इहलोए सक्कारवंछा परलोए परमसोक्खवंछा दु सग-सीलस्स णिद्दोस-पालणं कुज्जा। सगीयचारित्तं णिम्मलं तु तुमं जस-कल्लाण-पुरक्खारं च लहिस्ससि। जे माणवा सग-कोमार-वद-रक्खणं किदा, ते धण्णा धण्णा धण्णा। जे पवीयार-सुण्णा, ते सोहम्मिंददो वि महंता॥

6. यदि इह-लोक में सत्कार, पर-लोक में परम-सुख की कामना है, तो स्व के शील का निर्दोष पालन करो। स्वयं का चारित्र निर्मल है तो आप ही यश, कल्याण, पुरस्कार प्राप्त करोगे। धन्य-धन्य-धन्य हैं वे मानव, जिन्होंने अपने कुमार-व्रत को नष्ट नहीं होने दिया। सौधर्म-इन्द्र से भी बड़े वे लोग हैं जो प्रवीचारों से शून्य हैं।

---

7. सीलरक्खणत्थं इत्थीरागकहासवण-इट्ठगरिट्ठभोयण-इत्थीमणोहरंगावलोयण- पुव्वभोग-मिदि-चागो य आवस्सगो सीलभूसण-सोहिदस्स अण्णाभूसणाइं अणावस्सगाइं। जो बंभचेरं दिढत्तेणं

पालेदि, सोच्चिय आदबंभे पवेसेदि। जस्स बंभचेरं अदिढं, पडिक्खणं तस्स चित्तं अथिरं होदि। अथिर-चित्तवंतस्स बंभधम्म-पवेसो कच्छव-पिट्ठे केसंकुरणमिव णेयं। परमबंभरदो जोगी आदत्थो होदि। जत्थ देह-चेट्ठाजणण-अबंभस्स कोवि वियप्पो णत्थि, तत्थेव परमट्ठ-बंभचेरं॥

7. शील रक्षा के लिए इष्ट-गरिष्ठ भोजन, स्त्रियों की राग भरी कथा, उनके मनोहर अङ्गों का अवलोकन, पूर्व भोग-स्मरण का त्याग अनिवार्य है। जो शीलाभूषण से शोभायमान है उसके लिए अन्य आभूषणों की कोई आवश्यकता नहीं है। आत्म-ब्रह्म में वही प्रवेश कर पाता है, जो ब्रह्मचर्य का पालन दृढ़ता से करता है। जिसका ब्रह्मचर्य दृढ़ नहीं उसके चित्त में चंचलता प्रतिक्षण रहती है। चंचल चित्तवान को ब्रह्मधर्म में प्रवेश की बात करें तो वह कच्छप-पीठ पर बाल-अंकुरण तुल्य है। ब्रह्मभाव स्वरूप-लीनता, परम ब्रह्मलीन योगी आत्मस्थ हो जाता है। शरीर-चेष्टा जन्य अब्रह्म का जहाँ कोई विकल्प ही नहीं वहीं परमार्थ ब्रह्मचर्य है।

---

8. भवसुण्णो णिए असुण्णभावो बंभचेर-भावो। सगदो भिण्ण-दव्वाणि मज्झे ण पुव्वे आसी, ण वट्टमाणे संति, णेव भाविकाले होहिंति; तम्हा पस्स णियप्प-पदेसेसु परपदत्थाणं असदं। णियप्प-सोक्खं तु णिए आसी, अत्थि, होहिदि त्ति। चिदबंभ-भावो परमभावो त्ति, जत्थ एरिसो सगाणुमुही भावो तत्थेव बंभचेर-भावो॥

8. जगत् से शून्य स्व में अशून्य भाव ब्रह्मचर्य-भाव है। स्वात्म-प्रदेशों में पर-पदार्थों का असत् देखो, स्व से भिन्न द्रव्य मेरे में न पूर्व में थे, न वर्तमान में हैं, न भविष्य में होंगे। स्वात्मसुख तो स्व में था, स्व में ही है, स्व में ही रहेगा। चिद्-ब्रह्मभाव परम-भाव है, ऐसा स्वानुमुखी भाव जहाँ है वहीं ब्रह्मचर्य-भाव है।

---

9. णियचेयण्णं-भावदो पुहं दिट्ठि-गमणं अबंभभावो कुसील-परिणामो। लोय पुज्जत्त-भावेहिं लोयपुज्जो णवि होदि, तिलोयपुज्ज-सगबंभे जो पडिट्ठिदो सो होदि लोय-पुज्जो। संसग्ग-आलाव-पीदि-वीसास-परिणया य अबंभलीणत्तकारणाइं। पढमं जीवो परोपरे संसग्गं वड्ढेदि, पुण कुणदि वयणालावं, तादो वड्ढेदि पीदी, पीदीए वीसासो, वीसासस्स पच्छा परिणय-अबंभ-सेवणं ति; तम्हा बंभभाव-रक्खणत्थं विसम-सम-लिंगत्तो संसग्गो संपक्को वा णवि होदव्वो॥

9. निज चैतन्य भाव से पृथक् दृष्टि ले जाना अब्रह्म-भाव है, कुशील-परिणाम है। जगत् पूज्यता के भाव बनाने से जगत् पूज्य नहीं हुआ जाता, त्रैलोक्य-पूज्य स्व-ब्रह्म पर जो प्रतिष्ठित है, वह जगत् में पूजा जाता है। सम्पर्क, आलाप, प्रीति, विश्वास, परिणय पाँच बिन्दु अब्रह्म-लीनता के हैं। सर्वप्रथम व्यक्ति परस्पर में सम्पर्क बढ़ाता है, फिर वचनालाप करता है, वचनालाप से प्रीति बढ़ती है, प्रीति से विश्वास, विश्वास हुआ कि-परिणय अर्थात् अब्रह्म सेवन, इसलिए ब्रह्म-भाव रक्षा के लिए विषमलिङ्ग एवं समलिङ्ग से संपर्क ही नहीं रखना चाहिए।

---

10. देहाऊणं रक्खणत्थं उदरत्थ-अगणि-वीरिय-रक्खणं आवस्सग-अंगं। देहं होदि दोण्हं बलम्हि आरोग्गं। सज्जणो संताणुप्पत्ति-मेत्तस्स काम-पुरिसत्थ-सेवणं करेदि, ण दु देह-धम्म-विणासत्थं। संताणदो सणादणधम्मो वड्ढमाणो तम्हा जदि तुमं सगं वसे ण कुणसि कामसेवणं कुणसि पुण देहपाणरूववीरियं विहा विणासित्ता वसुंधराए मा हुव भारभूदो, देहि संताणजम्मं च॥

10. शरीर और आयु की रक्षा के लिए दो वस्तुओं की रक्षा करना अनिवार्य अंग है, उदरस्थ-अग्नि और वीर्य। इन दो के बल पर ही शरीर स्वस्थ रहता है। सज्जन मात्र सन्तान उत्पत्ति के लिए काम-पुरुषार्थ का सेवन करता है, न कि देह और धर्म-नाश के लिए। सन्तान से सनातन धर्म वर्धमान होता है, इसलिए काम-सेवन यदि करना ही है, अपने आपको वश नहीं कर पा रहे तो शरीर का प्राण-वीर्य उसे व्यर्थ में नष्ट करके धरती पर भार नहीं बनो, सन्तान को जन्म दो।

---

11. जो विज्जत्थी जीवणे सगवीरियं संरक्खेदि, केण वि पयारेण आदवीरिय-णासं ण करेदि, तं होदि सरस्सदी-सिद्धी। वीरिय-रक्खाए मत्थिक्ख-रक्खा, तादो मेहा-सत्तिवड्ढी। बंभचेर-रक्खाए मणुस्सणी-मेत्तदो पुहुत्तं आवस्सगं णत्थि, अविदु कुज्जा आदरक्खणं इत्थीवाची सद्दादो वि। चउव्विह-इत्थीहिं मणुस्सणी-जोणीमदी-देवी-अचेयणित्थीहिं होदि अबंभं, तम्हा चउसुंतो पुहुत्तं होदव्वं। इत्थी-पडिमाए अबंभभावा जाएंति, पुण सा कट्ठपडिमा वत्थलेव-पडिमा, मिट्टिगा-णिम्मिदा इत्थी-पुत्तलिगा पासाण-पडिमा वा, तम्हा संपुण्ण-इत्थी-आकिदीदो बंभयारीणं कादव्वं आदरक्खणं॥

11. जो विद्यार्थी जीवन में स्व वीर्य की पूर्ण रक्षा करता है, किसी भी प्रकार से आत्म-वीर्य का नाश नहीं करता, उसे सरस्वती की सिद्धि हो जाती है। वीर्य रक्षा से मस्तिष्क की रक्षा होती है, उससे मेधा-शक्ति की वृद्धि होती है। ब्रह्मचर्य रक्षा हेतु मात्र मनुष्यनी से ही दूर नहीं रहना, अपितु स्त्रीवाची शब्द से भी आत्मरक्षा करना है। चार प्रकार की स्त्रियों से अब्रह्म होता है, उन चारों से दूर रहना चाहिए—मनुष्यनी, तिर्यंचनी, देवी, अचेतन स्त्री। स्त्री की प्रतिमा चाहे वह काष्ठ प्रतिमा हो, वस्त्र या लेप प्रतिमा हो, मिट्टी से निर्मित स्त्री, पुत्तलिका, पाषाण की प्रतिमा, फोटो आदि के अवलोकन से अब्रह्म भाव उत्पन्न होते हैं, इसलिए सम्पूर्ण स्त्री-आकृतियों से ब्रह्मचारी को आत्म-रक्षा करनी चाहिए।

---

12. जे अपागिदिग-रूवेण सगवंछा-पुत्तिं कुणेंति, ते सग-धम्मसक्किदि-रिवुणो। णियदठाणेणं इच्छापुत्तीदो संताणजम्मं, जं धम्म-सक्किदिं विद्धिंगदं करेदि। अपागद-मेहुणेणं णवि होदि संताणजम्मं। जे कुणेंति पागिदिग-मेहुणं णं ओसहादीहिं संताणजम्मं संरुद्धंति, ते वि घोरपावी धम्मसक्किदि-रिवुणो वा। तिव्व-कामवंछा वि अबंभभावो। भोगं भुंजमाणं तु लहेदि पावबंधं, णं भोगभावणा-सामी वि लहेदि पावबंधं; तम्हा कामिच्छाचागं पि कुणहि॥

12. अप्राकृतिक रूप से जो अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं वे स्व और धर्म-संस्कृति के शत्रु हैं। नियत स्थान से इच्छापूर्ति करने से सन्तान का जन्म होता है, जो कि धर्म-संस्कृति को आगे वृद्धिंगत करता है। अप्राकृत मैथुन से सन्तान का जन्म नहीं होता। जो प्राकृतिक मैथुन करते हैं, परन्तु औषधि आदि के माध्यम से सन्तान को जन्म नहीं लेने देते, वे भी घोर-पापी, धर्म-संस्कृति के शत्रु हैं। तीव्र कामेच्छा भी अब्रह्म-भाव है। भोग भोगने वाला तो पाप-बंध को प्राप्त होता ही है, परन्तु भोग-भावना रखने वाला भी पाप-बंध को प्राप्त होता है, इसलिए काम-इच्छा का भी त्याग करो।

5

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

अपरिग्गहो

(अपरिग्रह)

1. परपदत्थाइं पडि ममत्तभावो परिग्गहो। जत्थ जत्थ इच्छा, तत्थ तत्थ परिग्गहो पुणो पदत्थे अहियारो होदु वा ण होदु पर-ममत्तं परिग्गहो। वत्थुं परिग्गहो णत्थि ममत्तं परिग्गहो, पुणो किं कारणं वत्थुचागवयणं? ममत्तं परिग्गहो, जह अग्गी इंधणासिदो दहेदि, इंधणं विणा अग्गि-अत्थित्तं णत्थि पुणो वि इंधणं अग्गी णत्थि दोण्णि सुतंताणि; तहेव चेयण्णवियारो ममत्तं ण दु परवत्थु-वियारो, पुणो वि अवत्थुम्हि ममत्तं णत्थि, वत्थुम्हि एव होदि। कारणस्स कारणादो परवत्थुं पि परिग्गहो भासिदो। जत्थ जत्थ परवत्थुं तत्थ तत्थ णियमेण परिग्गहभावो, जत्थ वत्थुं णत्थि तत्थ परिग्गहभावो भजणीयो, तम्हा जो ममत्तं परिग्गहो भासिय परवत्थुं संगहिय उम्मत्तेदि एवं भासेदि–''वत्थुं गेण्हिय वि णिग्गंथो हं, णवरि मज्झे ममत्तं णत्थि''–इमा तेसिं अण्णाणीणं सगवंचणा। ममत्त-परिग्गहसण्णा-लोहकसाएहिं विणा परवत्थुगहणं कहं होदि?

1. पर-पदार्थों के प्रति ममत्व-परिणामों का होना परिग्रह है। जहाँ-जहाँ इच्छा है, वहाँ-वहाँ परिग्रह है, चाहे पदार्थ पर अधिकार हो अथवा न हो, पर-ममत्व है तो परिग्रह है। वस्तु परिग्रह नहीं है, ममत्व परिग्रह है, तो फिर वस्तु त्याग करने को क्यों कहा जाता है? यदि ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसे उत्तर समझाना चाहिए कि— परिग्रह तो ममत्व ही है, परन्तु जैसे अग्नि ईंधन के आश्रित जलती है, बिना ईंधन के अग्नि का अस्तित्व नहीं दिखता, फिर भी ईंधन अग्नि नहीं होता, दोनों स्वतंत्र हैं। उसी प्रकार से ममत्व चैतन्य का विकार है, पर-वस्तु का नहीं, फिर भी ममत्व अवस्तु में नहीं होता, वस्तु में ही होता है। कारण का कारण होने से पर-वस्तु को भी परिग्रह कहा है। जहाँ-जहाँ पर-वस्तु होगी वहाँ-वहाँ नियम से परिग्रह भाव होगा, जहाँ वस्तु नहीं है वहाँ पर परिग्रह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, इसलिए जो व्यक्ति ममत्व को परिग्रह कहकर पर-वस्तुओं का संग्रह कर उन्मत्त हो रहा है कि मैं वस्तु स्वीकार करके भी निर्ग्रन्थ-संज्ञा को प्राप्त हूँ, क्योंकि मेरे अन्दर ममत्व नहीं है, यह उन भोले प्राणियों की स्व-वंचना है। बिना ममत्व, परिग्रह-संज्ञा, लोभ-कषाय के पर-वस्तु को स्वीकार कैसे कर सकते हैं?

2. जत्थ जत्थ अणिच्छा णिम्ममत्तं च तत्थ तत्थ परवत्थुगहणस्स भावाभावो त्ति, जत्थ परइच्छापरवत्थु-अभावो तत्थ अपरिग्गहभावो। परम-सुह-संति-हेदू आकिंचण्णभावो। परभावभिण्णं जीवणं जीयमाणो साहु-पुरिसो सगं परमप्पा कारेदि। जे वि परमप्प-पदं पत्ते ते सव्वे अपरिग्गहभावत्तो त्ति। चिंतासुण्णा चेयण्णाणुभूदी अपरिग्गह-सहाविस्स हि संभवा। चेयण्णाणुभूदि-आणंदं विणा कोवि परमप्प-पदं णो लहेदि। भूदत्थबोहे सदि परिग्गह-पेदो सयमेव विलीएदि। जावं जीवं भूदत्थबोहं-मंतस्स अणुवलद्धी, तावं परिग्गह-पेदो पीडेदि। सम्मतच्चणाणं जीवं पहाणं कुव्वेदि, परपदत्थस्स ममत्तमदो णियं विरलेंति। परिग्गहरागो आददेवम्हि कम्मरयं छादेदि, साहुजणा अस्स रहस्सस्स जाणित्ता परिग्गहममत्तादो णियं विरलेंति। इच्छाओ असीमाओ आयासं पि लहुं हुज्जा णं माणव-इच्छाओ खुद्दाओ णवि हुंति॥

2. जहाँ-जहाँ अनिच्छा, निर्ममत्व भाव है वहाँ-वहाँ पर-वस्तु के ग्रहण के परिणामों का अभाव है, जहाँ पर-इच्छा पर-वस्तु दोनों का अभाव है, वहाँ अपरिग्रह-भाव है। परम सुख-शान्ति का हेतु आकिञ्चन्य-भाव है। पर-भावों से भिन्न जीवन जीने वाला साधु-पुरुष स्वयं को परमात्मा बना लेता है। जो भी परमात्मा पद को प्राप्त हुए हैं वे सब अपरिग्रह-भाव से हुए हैं। चिन्ता से शून्य चैतन्य की अनुभूति अपरिग्रह स्वभावी के ही सम्भव है। चैतन्यानुभूति आनन्द के बिना कोई भी प्राणी परमात्म-पद को प्राप्त नहीं कर सकता। भूतार्थबोध होने पर परिग्रह का प्रेत स्वयमेव विलीन हो जाता है। जब तक भूतार्थ-बोध मंत्र की अनुपलब्धि है जीव को तभी तक परिग्रह प्रेत पेरता है। सम्यक्-तत्त्व का ज्ञान जीव को महान् बनाता है, पर-पदार्थ के ममत्व का मद आत्मा से दूर कर देता है। परिग्रह का राग आत्मदेव पर कर्मों की रज आच्छादित कर देता है, साधुजन इस रहस्य का अधिगम कर परिग्रह के ममत्व से निज को पृथक् कर लेते हैं। इच्छाएँ असीम हैं, आकाश छोटा हो जाए, परन्तु मानव की इच्छाएँ छोटी नहीं होतीं।

---

3. जीवो लोहकसाय-परिग्गहसण्णा-वसादो विचित्त-वावारं पावसंगहं च किच्चा होदि दुग्गदि-पत्तो। जीवणे जावदियं दव्वस्स आवस्सगत्तं णत्थि तादो अहिगं जीवो दव्वज्जणं करेदि, पुणो रक्खण-संवड्ढणरागे सग-पाणंतं हि करेदि। एगिंदिय-जीवदो असण्णी-सण्णी-पंचिदिया तावं परिग्गहसण्णा-गसिदा, सगकल्लाण-णाणं तेसिं णत्थि। मदिराए उम्मत्तो अप्पसमए अरुजो होदि, किण्णु परिग्गहमदेण उम्मत्तो भवे भवे अरुजो णो होदि। परिग्गही संति-णिद्दं च णवि लहेदि, संतीदो णवि जेमेदि, सुतंतो होदूणं मग-वियरणं पि ण करेदि एवं चिंताभयाइं तस्स अहोणिस-मित्ताइं। परभावममत्तं आदविसोहि-घादे समत्थकारणं। मुमुक्खुणो पुण्ण-आद-पबोहणेण परभावादो आदरक्खणं कादव्वा॥

3. लोभ-कषाय और परिग्रह-संज्ञा के वश होकर जीव अनेक प्रकार के व्यापार कर पाप का संग्रह कर दुर्गति का पात्र बनता है। जितनी द्रव्य की जीवन में आवश्यकता नहीं पड़ती, उससे अधिक व्यक्ति द्रव्य का अर्जन करता है, फिर रक्षण, संवर्धन के राग में अपने प्राणों का ही अन्त कर लेता है। एक-इन्द्रिय

जीव से लेकर असंज्ञी और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तक परिग्रह-संज्ञा से ग्रसित हैं, स्व-कल्याण का उन्हें भान ही नहीं है। मदिरा का उन्मत्त व्यक्ति अल्प समय में स्वस्थ हो सकता है, परन्तु परिग्रह के मद से उन्मत्त-पुरुष भवों-भवों में स्वस्थ नहीं हो पाता। परिग्रही-पुरुष न शान्ति की नींद ले पाता, न शान्ति से भोजन कर पाता, स्वतंत्र होकर पथ में विचरण भी नहीं कर पाता, चिन्ता-भय दिन-रात के उसके मित्र बन जाते हैं। पर-भावों का ममत्व आत्म-विशुद्धि का घात करने में समर्थ कारण हैं। मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे पर-भावों से आत्मरक्षा पूर्ण आत्म-जाग्रति के साथ करें।

---

4. साहु-असाहवो य परिग्गहेण पहाविदा हवंति, एरिसं मिट्ठुण्णं परिग्गहो। परिग्गहादो सुरक्खणत्थं णिप्पुहभाव-आयसं धारेज्जा। परिग्गह-ममत्तेण णाणा-जीवाणं समत्त-विघादं किच्चा तेसिं णिट्ठुर-हिंसगा किदं। सच्चत्थ-जीवण-जीवणत्थं परिग्गहदो पुण्ण-पुहुत्त-जीवणं जिय। णिम्ममत्तभावो भेदवियाणकला। जदा जीवणं सयलपरिग्गह-भारं सगभावादो णिगसावेदि। परिग्गहसंचय-भावेसुं ईसरस्स सच्चत्थवाणी णवि थिरेदि। लोही परिग्गहसण्णी आगमाणुऊलभासणे भयभीदो। अदिसंगह-ममत्तं च पाणीणं चिंताकारणं आदसुहघादगं। जदा जीवो ममत्त-संगहवित्तीदो कुव्विहिदि आदरक्खणं तदेव आदस्स णिराउलसोक्खलद्धी संभवा। परिग्गही वट्टमाणे णिसंगत्त-आणंदरित्तो भावीपज्जाए विचित्त-दुक्खलद्धी हवेदि। दुक्खकारणं परिग्गहसंचयसमए अट्टरुद्दज्झाण-संकप्प-वियप्प-परिणामा णेया।।

4. साधु-असाधु दोनों ही परिग्रह से प्रभावित हो जाते हैं, ऐसी मिठाई परिग्रह है। परिग्रह से सुरक्षित रहने के लिए निस्पृह भाव का कवच धारण करना होगा। परिग्रह की ममता ने अनेकों जीवों की समता का विघात कर उन्हें क्रूर-हिंसक बना दिया। सत्यार्थ-जीवन जीना है तो परिग्रह से पूर्ण पृथक् जीवन जिओ। भेद-विज्ञान की कला निर्ममत्व-भाव है। सम्यक्-अर्थ का बोध तभी जाग्रत होता है जब जीवन सम्पूर्ण परिग्रह के भार को स्व-परिणामों से निकाल देता है। परिग्रह-संचय के भावों में भगवान् की सत्यार्थ-वाणी स्थापित नहीं होती। लोभी परिग्रह-संज्ञी आगमानुकूल भाषण करने में भयभीत होता है। अति-संग्रह, अति-ममत्व दोनों प्राणी की चिन्ता के कारण हैं, आत्मसुख के घातक हैं। जो आत्मा का निराकुल-सुख है उसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब जीव ममत्व-भाव, संग्रह-वृत्ति से आत्मरक्षा करेगा। परिग्रहवान वर्तमान में निसंगता के आनन्द से रिक्त रहता है, भावी पर्याय में नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है। दुःख का कारण परिग्रह-संचय में होने वाला आर्त-रौद्रध्यान तथा संकल्प-विकल्प परिणाम समझना।

---

5. णिस्संगत्तं णिग्गंथत्तं पडि णेदि, णिस्संगत्तेण विणा जीवो णिग्गंथो णो होदि। वत्थादि-अच्छादिदा अण्णाणीजीवा अंतरंगसंग-परिचायगा बहिरंग-संग-पदरिसगा वि होंति, अस्स फलं

पंचपरावट्टणभूद-संसार-पडिभमणं। झाणसाहणाए विघडण-पबलहेदू परिग्गहो, सो चित्तं पडाय व्व अथिरं करेदि। जहा वाऊ पडायाए थिरत्तघादं तहा परिग्गहो झादस्स झाणघादं करेदि। परमज्झाण-सिद्धीए परिग्गहत्तो पुण्ण-णिस्संगो विरत्तो वा होदूणं जिय। दुज्झाण-थंभो परिग्गहो। जहा लया थंभासयदो विड्ढिमाणा होदि दुज्झाणं परिग्गहासयादो विड्ढिमाणा होदि। असुहज्झाणदो आददेवस्स रक्खाभावा दु परिग्गहत्तो ममत्तचागं कुणहि॥

5. निसंगता निर्ग्रन्थता की ओर ले जाती है, बिना निसंगता के जीव निर्ग्रन्थ नहीं बन सकता। जो वस्त्रादि से आच्छादित भोले प्राणी हैं, अंतरंग-संग के परिचायक बहिरंग-संग का प्रदर्शन कर रहे, फलभूत अवस्था पंचपरावर्तन संसार में भ्रमण। ध्यान-साधना को भङ्ग करने का प्रबल हेतु परिग्रह, चित्त को पताका की तरह चलायमान कर देता है। जैसे वायु ध्वजा की स्थिरता का घात करती है वैसे ही परिग्रह ध्याता के ध्यान का घात करता है। परम-ध्यान की सिद्धि चाहिए तो परिग्रह से पूर्ण निसंग, विरक्त होकर जिओ। दुर्ध्यान के लिए स्तंभ है परिग्रह। जैसे लता के वर्धमान होने के लिए स्तंभ आश्रय की आवश्यकता होती है, बेल आश्रय पाकर वृद्धिमान होती है, उसी प्रकार खोटे ध्यान परिग्रह का आश्रय पाकर वृद्धिमान होते हैं। अशुभ-ध्यानों से आत्मदेव की रक्षा के भाव हैं, तो परिग्रह से ममत्व का त्याग करो।

---

6. परिग्गहेण सह कल्लाणवंछा धेणु-विसाणदो दुद्धधारादंसण-सरिच्छा। जदा पच्छिमदिसाए आदिच्चो उग्गमेहिदि, सदो आयासत्तो पुप्फाइं णिज्झरेहिंति, कच्छव-पिट्ठकेसेहिं रज्जू सिज्झेहिदि, बंझा-इत्थी सगबालगं धेणुविसाणदो णिज्झरंतं दुद्धपाणं करावेहिदि तदेव मढाधीस-पीढाधीसाणं कल्लाणं होहिदि। परिग्गहेणं वीसे हिंसावित्ती विड्ढिमाणा। सव्वे कलहा परवत्थुं णियभूदवत्थु-करणस्स एव। लोए परिग्गह-परिणामो होज्जा दु अहिंसाधम्मो वड्ढमाणो होज्जा। परदव्वं कदावि जीवत्तभूदं ण होसी, होदि, णेव होहिदि। पुणो वि बुद्धि-सुकुमारा आद-दव्वं मोत्तूणं परदव्वे रज्जित्ता सुद्धप्पभावं णस्सेंति॥

6. परिग्रह के साथ कल्याण की इच्छा करना गाय के सींगों से दुग्ध-धारा के दर्शन करना है। मठाधीशों (पीठाधीशों) का कल्याण तभी होगा जब पश्चिम दिशा में सूर्य उदय हो रहा होगा, आकाश से पुष्प झर रहे होंगे, कछुए की पीठ के बालों से रस्सी बन रही होगी, बन्ध्या-स्त्री अपने बालक को गाय के सींगों से निकले दुग्ध का पान करा रही होगी। परिग्रह के कारण विश्व में हिंसा-वृत्ति वृद्धिमान हो रही है, जो भी झगड़े हैं वे सब पर-वस्तु को निज-वस्तु बनाने के हैं। लोक में परिग्रह का परिमाण हो जाए तो अहिंसा धर्म वर्धमान हो जाए। पर-द्रव्य न कभी जीवत्वभूत हुआ, न होगा, न वर्तमान में है। फिर भी बुद्धि-सुकुमार लोग आत्मद्रव्य को छोड़; पर-द्रव्य में ही राग कर शुद्धात्म-भाव का नाश कर रहे हैं।

---

7. परमट्ठेण लोए मंगलुत्तम-सरणभूदो मेत्तं णियप्पा पुणो वि मूढा तं एगं मोत्तूणं वीसे अणप्पभूद-दव्वेसुं सगीयस्स मंगलं उत्तमं सरणं गवेसंति; इदं सव्वं मोहममत्तं। धणदासत्तं जो पगिण्हेदि तं जगदीए सव्वस्स दासत्तं पगिण्हेहिदि। जीवो धणरागे अकरणिज्जकज्जं पि कुव्वदि उच्चकुलजादो परिग्गहवसादो णीचकुलुप्पण्ण-गहेसुं दासकम्मं करेदि। धिगत्थु एरिसं धणं जं सामिं पि सेवगो कुणदि॥

7. परमार्थ से लोक में मंगलोत्तम-शरणभूत एकमात्र निजात्मा है, फिर भी अज्ञ-प्राणी उस एक को छोड़कर विश्व में अनात्मभूत द्रव्यों में स्व का मंगल, उत्तम, शरण खोज रहे हैं; यह सब मोह का ही महत्त्व है। धन की दासता जिसने स्वीकार कर ली उसे जगति पर सबकी दासता स्वीकार करना पड़ती है। धन के राग में जीव अकरणीय कार्य भी कर लेता है। उच्च-कुल में उत्पन्न परिग्रह के वश होकर नीच कुलोत्पन्न घरों में दास-कर्म करने को तैयार हो जाता है। ऐसे धन को धिक्कार हो जो स्वामी को सेवक बना देता है।

---

8. परिग्गहं लहिय मा कुण अहंबुद्धिं। धण-धरणी-कुडुंब-परिवार-रज्जपदाणि पुव्वकम्म-फलोदयो त्ति। तिव्वकसाएण इमेसिं भोगो पावबंधकारणं। तुमं ण जाणेसि, कदा पावोदयो होस्सदि। राआ वि रंका सेवगा वा हवंति तहा सेवगा वि राआ हवंति। विसिट्ठ-पुण्णप्पणो वि सव्व-दिणाणि सरिसाणि ण होंति। खेत्त-वत्थु-हिरण्ण-सुवण्ण-धण-धण्ण-दासी-दास-कुप्प-भंड-मिच्छत्त-कोह-माण-माया-लोह-हस्स-रदि-अरदि-भय-सोग-दुगुच्छा-इत्थी-पुरिस-णउंसगवेदा; एदे बहिरब्भंतर-परिग्गहचागे सदि जीवो लहेदि सिद्धिं। परिग्गहेण सह संसारभमणं ण दु णिव्वाण-गमणं॥

8. परिग्रह को पाकर अहं बुद्धि मत करो। धन, धरती, कुटुम्ब-परिवार, राज्य-पद ये सब पूर्व-कर्म का फलोदय जानो। तीव्र कषाय के साथ इनका भोग करने से पाप-बंध होता है। पापोदय कब आ जाए, नहीं ज्ञात तुझे। राजा भी रंक-सेवक होते देखे जाते हैं और सेवक भी राजा बनते देखे जाते हैं। विशिष्ट पुण्यवान के भी सभी दिन एक से नहीं होते। क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भाँड एवं मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद; ये बाह्य अंतरंग परिग्रह के त्याग करने पर ही जीव सिद्धि को प्राप्त होता है। परिग्रह के साथ संसार भ्रमण ही होता है, निर्वाण गमन नहीं होता।

---

9. लोए ते जीवा धण्णा धण्णा, जे सव्वभोमरज्जं लहिदूणं जिण्णातिणतुल्लं मुणिदूणं णिग्गंथ-दियंबर-दिक्खं धरिदूणं तिलोयपुज्जसिद्धत्तं लहीअ। परिग्गह-लित्तस्स दसा मुहे रोटिगाखंडजुत्त-कुक्कुर-सरिसा। जो कुक्कुरो मुहे रोटिगं चप्पिय धावेदि णवि मुंचेदि, णवि भुंजेदि; तस्स पिट्ठादो णाणाकुक्कुरा धावेंति कट्ठं च देंति। तहेव जो परिग्गहभोगं णो कुणदि णेव दाणं कुणदि, तस्स धणस्स पिट्ठादो णाणा-दस्सवो धावेंति, पाण-अभावेण सह धण-अभावो वि जादो॥

9. वे ही जीव लोक में धन्य-धन्य हैं; जिन्होंने सार्वभौम राज्य को प्राप्त कर जीर्ण तृण-तुल्य जान निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा धारण कर त्रैलोक्य-पूज्य सिद्धत्व को प्राप्त किया। परिग्रह में लिप्त जीव की दशा मुख में रोटी के टुकड़े को दबाए श्वान के समान है। जो कुत्ता मुख में रोटी दबाकर दौड़ता है, न छोड़ता है, न खाता है, उसके पीछे अनेक कुत्ते लगे होते हैं और कष्ट देते हैं। उसी प्रकार परिग्रह का जो न भोग कर रहा है, न दान कर रहा है उसके धन के पीछे अनेक लुटेरे लगे होते हैं; प्राण भी जाएँ, धन भी जाए।

---

10. पुण्णजोगदो लद्ध-संपत्तिभोगो आवस्सगो णत्थि। जदि जोगं धरित्ता संपत्ति-परिच्चागं कीरिज्जदे दु तं पुण्णं मुत्तिसंपत्ति-साहणाए साहणं होस्सदि। ते णरुत्तमा वरा, जे परसंपत्तिं कट्ठमिव पस्सेंति, सग-संपत्तिं पुण्णफलं मण्णेंति, णं पुण्ण-संपत्तीओ णियधुव-सिद्धप्पादो अच्चंतपुहं पेक्खंति।

10. पुण्य-योग प्राप्त सम्पत्ति का भोग करना अनिवार्य नहीं है, यदि योग धारण कर सम्पत्ति का परित्याग कर दिया जाता है तो वह पुण्य मुक्ति-सम्पत्ति की साधना का साधन बनेगा। वे नरोत्तम श्रेष्ठ हैं जो पर-सम्पत्ति को लोष्ठवत देखते हैं, स्व-सम्पत्ति को पुण्य का फल मानते हैं, परन्तु पुण्य व सम्पत्ति दोनों को निज ध्रुव भगवान्-आत्मा से अत्यन्त भिन्न देखते हैं।

6

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

मेत्ती

(मैत्री)

1. पाणीमेत्तं पडि मायाकंखारहिद-भावो अंतरंगे रागद्दोस-बुद्धिसुण्णो साहग-भावो साहणा-कुसलत्तं च मेत्तीभावो। वद-उववास-साहणा बहिरंगसाहणा। सत्तुमित्तं पडि सहजुप्पण्ण-सम्मभावो अंतरंग-मेत्ती। मेत्तीभावदो होदि अंतरंग-पीदिबोहो। मेत्तीभावे जादिपंथ-संपदाय-गंधो णवि होदि, णिब्भेद-पीदिभावो मेत्तीभावो। इमम्हि सव्व-जादि पंथ-संपदाय-देसपदेस-धम्मिगेण सह मित्तत्तं होदि। एगजादिजीवविसेसं पडि रागभावो मित्तत्तं णत्थि, अविदु एगिंदियदो पंचिंदियजीव-पज्जंतं लोयस्स पाणीमेत्तं पडि मेत्तीभावो होदि। परदुक्खकारणस्स उप्पादण-अभावो मेत्ती। पाणीमेत्तं पडि करुणा-दिट्ठीए तेसिं उवयारो मित्तधम्मो। मित्तेण वीसास-घादं कदावि ण कुज्जा, अवीसासिं कदावि मित्तं ण कुज्जा। वीसे मित्तत्तं एरिसो संबंधो जम्हि जदि धम्मसंपदायपंथरागो णत्थि, अविदु हिदय-वीसासो होदि॥

1. प्राणिमात्र के प्रति मायाचारी रहित, बिना आकांक्षा के, अंतरंग में राग-द्वेष बुद्धि शून्य होकर जो साधक के भाव साधना की कुशलता है, वह मैत्री-भाव है। व्रत-उपवास की साधना बहिरंग-साधना है। शत्रु-मित्र के प्रति साम्य-भाव सहज उत्पन्न होना अंतरंग-मैत्री है। अंतरंग में प्रीति का बोध मैत्री-भाव से होता है। मैत्री भाव में जाति-पंथ-सम्प्रदाय की गंध नहीं होती, निर्भेद प्रीति-भाव मैत्री-भाव। किसी भी जाति, पंथ, सम्प्रदाय, देश-प्रदेश, धर्म वाले के साथ मित्रता होती है। मित्रता का तात्पर्य किसी एक जाति जीव-विशेष के प्रति राग-भाव नहीं है, अपितु एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव पर्यन्त जगत् के प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भाव होता है। पर के दुःखों का कारण न होना मैत्री है। प्राणिमात्र के प्रति करुणा-दृष्टि पूर्वक उनका उपचार करना मित्र का धर्म है। मित्र के साथ विश्वासघात कभी नहीं करना, अविश्वासी को कभी मित्र नहीं बनाना। विश्व में मित्रता ऐसा संबंध है जिसमें जाति-धर्म-सम्प्रदाय-पंथ का राग नहीं, अपितु हृदय का विश्वास होता है।

2. जं भावं मादु-पिदु-गुरुं च समया वि णेव भासिज्जदे, तं भावं पि मित्तं समया भासिज्जदे, हिदएण हिदय-मेलणं मित्तत्तं। भूदत्थ-मित्तं सगमित्तस्स धणेण सह पाणं पि देदि। जत्थ सुहदिण-सरिसा पीदी दुक्खदिणेसुं पि, तमेव जाणेहि सगमित्तं। मेत्ती अंतोकरण-मेलणं; तं विणासं णवि होदव्वं। जहा मित्तस्स मित्तत्तं णस्सेदि, तदा पाण-वियोगदो हि अहिगा पीडा होदि। लोए मित्तस्स मित्तत्तं हि महुरअमो संबंधो। विणा संबंधं संबंधो मित्तत्तं। णिद्धणत्तं पस्सिय उवेक्खंताणि इत्थी-मित्ताणि चागणिज्जाणि। इत्थीरागो मित्ताणुरागो धणत्तो णत्थि हिदयत्तो त्ति। असुहदिणेसुं पि णिय-हिदयंगणे णिवासणिज्जं मित्तत्तं कुज्जा। अवरदंसणाणुसारेण णारायण-सुदामा-सरिसं मित्तत्तं कादव्वं। बालसहा-सुदामा मित्तस्स समायार-पत्ते सदि णारायणो सिंहासणं मुंचित्ता पासाददारे मित्तं समया गच्छीअ। णिद्धण-मित्तस्स णिद्धणत्तं णारायणेण ण पस्सदे, तेण मित्तस्स मित्तत्त-दंसणं किदं।।

2. जो बात माता-पिता और गुरु के पास नहीं रखी जाती वह बात भी मित्र के पास रखी जाती है। हृदय-से-हृदय का मिलन मित्रता है। सच्चा मित्र वही होता है जो अपने मित्र के लिए धन ही नहीं प्राण भी देने को तैयार रहता है। सुख के दिनों में जैसी प्रीति थी, दुःख के दिनों में भी वैसी प्रीति के दर्शन जहाँ होते हैं, उसे ही अपना मित्र समझो। मैत्री अन्तःकरण की जोड़रूपता है, उसे नष्ट नहीं होने देना। प्राणों के वियोग से भी अधिक पीड़ा तब होती है जब मित्र की मित्रता नष्ट होते दिखे। ब्रह्माण्ड में सबसे मधुर संबंध यदि कोई है तो वह मित्र की मित्रता है। बिना रिश्तों का संबंध मित्रता है। जो निर्धनता को देखकर मुख मोड़ ले ऐसी स्त्री व मित्र त्यागने योग्य हैं। स्त्री का राग, मित्र का अनुराग धन से नहीं, हृदय से होता है। मित्रता ऐसी करना जो अशुभ के दिनों में भी अपने हृदयांगन से बाहर नहीं करना। नारायण श्रीकृष्ण एवं सुदामा जैसी मित्रता करना। सुदामा बाल-सखा का समाचार पाते ही नारायण श्रीकृष्ण सिंहासन छोड़कर महल के द्वारे पर सुदामा को लेने पहुँच गए। गरीब सुदामा की गरीबी श्रीकृष्ण को नहीं दिखी, अपितु मित्र की मित्रता का दर्शन किया।

---

3. जो दुव्विसणे णेदि, सो णत्थि सम्मित्तं; सो दु अणुऊल-रिवू। सो इच्छाए अणुऊलो अवस्सो, णं असुह-कज्जेसु णेदि तम्हा रिवू। पावफलं दुग्गदी तहा जा पावं पडि णेदि सो कहं मित्तं होदि? सो दु रिवू एव। जदा पदण-मग्गत्तो रक्खिय धम्ममग्गे मित्तं धरेदि भूदत्थ-मित्त-बोहो तदेव होदि। मित्तं मदिरालयट्ठाणे जिणालाए, कुसत्थट्ठाणे सुसत्थं पडि एवं उम्मग्गत्तो सुमग्गं पडि णेदि। जह अंबुदा रुक्खभूमिं सगीय-वरिसाए अद्दं किच्चा सस्सेण परिपूरेदि तहेव भूदत्थमित्तं सग्गुण-सुण्णमित्तं पि सगीय-सग्गुणेहिं परिपूरेदि, तम्हा मित्तं सलिलपूरिदमेह-सरिसं होदि। जीवणे पित्तत्तं समगुणीहिं सगदो अहिग-गुणीहिं सह वा कादव्वं। जदि जीवणे दुक्खमुत्तिं इच्छेहि, पुण हीणगुणीहिं सह मित्तत्तं कदावि णो कुणेहि। हीणायरणी-मित्तत्तं पडिसमयं कट्ठपदं।।

3. जो दुर्व्यसन में ले जाए वह सच्चा मित्र नहीं, अपितु अनुकूल शत्रु है। इच्छा के अनुकूल अवश्य है, परन्तु खोटे कार्यों में ले जा रहा है, इसलिए शत्रु है। पाप का फल दुर्गति है। जो पाप में लगाए वो मित्र

कैसे हो सकता है? वह तो शत्रु ही है। सत्यार्थ मित्रता का बोध तब होता है जब पतन के मार्ग से बचाकर धर्म के मार्ग पर मित्र रख दे। मदिरालय के स्थान पर जिनालय ले जाए, कुशास्त्रों के स्थान पर सद्-शास्त्र की ओर ले जाए, उन्मार्ग से सद्मार्ग की ओर ले जाए। मित्र जल-पूरित मेघ के तुल्य होता है। जैसे बादल सूखी भूमि को अपनी वर्षा से आर्द्र कर फसल से हरा-भरा कर देते हैं, उसी प्रकार सच्चा मित्र सद्-गुणों से रिक्त मित्र को भी अपने सद्-गुणों से परिपूर्ण कर देता है। जीवन में मित्रता समान गुणी-जनों से करनी चाहिए अथवा स्व से अधिक गुण वालों से करनी चाहिए। हीन-गुणी से कभी मित्रता नहीं करनी चाहिए, यदि जीवन में दुःखों से मुक्ति चाहते हैं तो। हीनाचारी की मित्रता पल-पल में कष्टप्रद होगी।

---

4. सत्थीजणेहिं मित्तत्तं सिविणे वि ण कादव्वं, ते सत्थ-सिद्धीए पच्छा विच्छिज्जंते तहा तुज्झ जीवण-रहस्सं उग्घाडिय तुज्झ रिवुं बलवंतो कुणेंति। तुज्झ दुब्बलत्तणाइं पयडिय तुमं णिब्बलो कुणेंति। पाण-वियोगं गेण्हेदि मित्तरहस्सं णवि उग्घादेदि; एरिसं मित्तं रज्जपदं देदूणं पि गेण्हेहि। सदाचारी-पुण्णप्पणो मित्तत्तं सग्गुणकारी-जस-लोयपूयापदिट्ठा-कारणं, तं जीवणंतं चंदणसरिसं सुगंधं दच्छेहिदि, तम्हा विसिट्ठ-पुण्णप्पेहिं सह मित्तत्तं कादव्वं। दुट्ठ-मित्तत्तं धम्मजस-धण-धण्ण-वसंकुल-णासकारणं, तम्हा दुट्ठजण-मित्तत्तं तिजोगदो सहसा मुंचेदव्वं। सज्जणमित्तत्तं महुरं ति। जह इक्खु-मित्तत्तेण णीरं होदि महुरं, तहेव गुणीजण-मित्तत्तेण अप्पगुणी वि होदि गुणवंतो। दुट्ठ-मित्तत्तेण सग्गुणा लोहसंगदीए अणलमिव जरंते॥

4. स्वार्थीजनों से मित्रता स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए, वे लोग स्वार्थ सिद्ध होते ही छोड़ देंगे और आपके जीवन के रहस्य उद्घाटित कर आपके शत्रु को बलवान कर देंगे। आपकी कमजोरियाँ प्रकट कर निर्बल बना देंगे। प्राणों का वियोग स्वीकार कर लें, पर मित्र के रहस्य को किसी को न बताता हो, ऐसा मित्र मिलता हो तो राज्य देकर भी स्वीकार कर लेना। सदाचारी पुण्यात्मा-जीव की मित्रता सद्गुणकारी, यशवान, लोक पूजा-प्रतिष्ठा का कारण बनती है, वह जीवन के अन्त तक चन्दन की भाँति सुगंध प्रदान करेगी, इसलिए विशिष्ट पुण्यवानों के साथ मित्रता बनाकर चलें। दुष्टों की मित्रता धर्म, यश, धन, धान्य, वंश, कुल नाश का कारण बनती है, इसलिए दुष्टजनों की मित्रता मन-वचन-काय से शीघ्र छोड़ देना चाहिए। सज्जनों की मित्रता मधुर होती है, जैसे गन्ने की मित्रता से पानी भी मीठा हो जाता है उसी प्रकार गुणीजनों के साथ मित्रता करने से अल्प-गुणी भी गुणवान हो जाता है। दुष्टों की मित्रता से सद्गुण ऐसे ही पिटते हैं जैसे लोहे की संगति से अग्नि पिटती है।

---

5. जो धम्म-सक्किदि-रक्खाए पुण्णरूवेण समप्पिदो, कुमग्गदो पुण्णरित्तो तं सिग्घमेव सगमित्तं कुणेहि। जस्स जीवण-सेली सग-पसंसगा परणिंदगा ईसाजुत्ता, जो पर-उक्करिस-सहणे असमत्थो, अस्स जीवस्स मित्तदाए मित्तरित्तजीवणं सेट्ठं। णत्थि-मित्तदो अत्थिग-रिवू वरो। रिवू वड्ढमाणे कट्ठपदो होदि, धम्मत्तो पुहुत्तणेण णत्थिग-मित्तं आगामीभवे कट्ठपदं होस्सदि॥

5. जो धर्म-संस्कृति की रक्षा में सर्वस्व समर्पित करने को तैयार हो, कुमार्ग से पूर्ण रहित हो उसे शीघ्र ही अपना मित्र बना लो। स्व-प्रशंसक, पर-निंदक, ईर्ष्या से युक्त जिसकी जीवन शैली है, पर-उत्कर्ष सहन करने में जो असमर्थ है, ऐसे व्यक्ति की मित्रता की अपेक्षा मित्र-रिक्त जीना श्रेष्ठ है। आस्तिक-शत्रु भी श्रेष्ठ है, नास्तिक-मित्र की अपेक्षा। शत्रु वर्तमान में कष्टप्रद हो सकता है, परन्तु नास्तिक-मित्र आगामी भव में कष्टदायक होगा, धर्म से दूर रखकर।

---

6. सहस्स-अण्णाणी-मित्तत्तो एगो णाणी-रिवू वरो उत्तमो, णवरि सो तच्चस्स भूदत्थत्तं जाणावेहिदि, जेण भावी-वट्टमाणकालं सोक्खं होहिदि। सगीय-घणिट्ठ-मित्तं सव्वं देहि, मादु-ससा-पुत्ती-सगकलत्त-आदधम्मा य णवि देहि, इमेसिं दाणं घोर-अधम्मो। मित्तदो किंपि वयणं णेव गूहेहि, धम्मप्पणो दोसं जणग-जणणी-गुरुणो पडि णिंदा-भासणं च मित्तेण वि णेव कुज्जा॥

6. सहस्त्रों अज्ञानी मित्रों की अपेक्षा एक ज्ञानी शत्रु अच्छा है, क्योंकि वह तत्त्व की यथार्थता को समझाएगा जो कि भावीकाल में तथा वर्तमान में सुखप्रद होगा। अपने घनिष्ठ मित्र को सब दे देना, परन्तु माँ, बहिन, बेटी, स्व-पत्नी, आत्म-धर्म नहीं दे देना, इनका देना घोर अधर्म है। मित्र से कोई बात नहीं छिपाना, परन्तु धर्मात्मा की कमी,जनक-जननी एवं गुरु के प्रति निंदा-भाषण मित्र से भी नहीं करना।

---

7. मित्तस्स मित्तत्तं दिग्घजीवी-करणत्थं मित्तेण महुरभासणपओगं कुणहि, णवरि कडुग-भासणं विस-सरिसं। जह विस-भक्खणेण पाणा सरीरदो णिस्सरंते, तहेव कडुग-भासणेण मित्तत्त-पाणा णिस्संते। जो मित्तस्स गूढरहस्सं उग्घाडेदि, मित्तस्स गुत्तवयणाणि सत्तूहिं पयडेदि, अस्स मित्तस्स मित्तत्तं विसरुक्खस्स णीरदाण-सरिसं। इमत्तो मित्तत्तो सिग्घमेव मज्झत्थो होदव्वो, तत्तो सगस्स पुहुत्तं हि वरं॥

7. मित्र की मित्रता को दीर्घ-जीवी बनाकर रखना चाहते हो तो मित्र से मधुर-भाषण का प्रयोग करो, क्योंकि कटुक-भाषण विष-तुल्य है। जैसे विष-भक्षण से प्राण शरीर से निकल जाते हैं, उसी प्रकार कटुक-भाषण से मित्रता के प्राण निकल जाते हैं। जो मित्र के गूढ़-रहस्यों का उद्घाटन बाहर करें, मित्र की गुप्त-बातों को शत्रुओं से प्रकट करता हो, ऐसे मित्र की मित्रता विष-वृक्ष को पानी देने तुल्य है। उस मित्र से शीघ्र ही माध्यस्थ हो जाना चाहिए, उससे अपने आपको पृथक् कर लेना ही श्रेष्ठ है।

---

8. जदि मित्त-वयणाइं अम्हे सम्मदंसण-णाण-चारित्ते वड्ढिकारणाइं आदहिदे उवओगजुत्ताइं पुण कडुग-वयणाइं पि हरिसेण गेण्हेज्जा। रोगीणं रोगमुत्तीए जह कडुग-ओसह-सेवणं उवादेयं तहेव

हिदोवएसगस्स कडुगवयणाइं पि हिदयराइं जाणेहि। तावं मित्त-मित्तत्तं जीविदं जावं उहयमित्त-मज्झे सिरि-इत्थी-रागो ण पवेसेदु। जदा मित्ताणं मज्झे सिरि-इत्थी पवेसेदि तदा मित्तत्तं मुउरमिव भंजेदि॥

8. मित्र के वचन यदि हमारे सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र में वृद्धि के कारण हैं, आत्महित में कार्यकारी हैं तो कटुक भी क्यों न हों उन्हें सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। रोगी के लिए रोग मुक्ति के लिए जैसी कड़वी औषधि का सेवन उपादेय है वैसे ही हितोपदेश के कड़वे वचन भी हितकर जानो। मित्र की मित्रता तभी तक जीवित रहती है जब दोनों मित्रों के मध्य श्री (धन) और स्त्री का राग प्रवेश न करे। जिस क्षण मित्रों के मध्य श्री-स्त्री खड़ी हो जाती है, उसी क्षण मित्रता काँच के तुल्य टूट जाती है।

---

9. घणिट्ठमित्त-समक्खे अण्णादो कण्णे-कण्णे वत्तं णवि कुज्जा, अण्णहा मित्तचित्ते अवीसासो जायदे, पुणो वीसासट्ठावणा दुग्गमकज्जं। अहो णाणी! कंचिदवि मा पस्स सत्तुभावेण, सव्वदिणाणि णवि हुंति सरिसाणि। समओ परियट्टणसीलो पाणीमेत्तं पडि धार मित्तीभावं। सत्तू वि जायदे मित्तं, मित्तं पि जायदे सत्तू कम्मविवागे सदि; एसो संसार-सहावो। जदि तुमं अत्थिगो अहवा तुमं समया अण्णं दाणत्थं किंचिवि णत्थि अहवा तुज्झम्हि किवणत्तण-सब्भावो त्थि; पुणरवि दीण-दुहिदेहिं सह पाणीमेत्तं पडि मित्तीभावं कदावि णो मुचेज्जा। जो पाणीमेत्तं पडि मित्तीभावं धारेदि, तं समया सयलवीस-सहाणुभूदीओ सयमेव आगमेंति। णियत्थवसादो सगीया पडि सव्वस्स मित्ती पयडेदि, णं अयं भूदत्थ-सम्म-मित्तीभावो णत्थि। चदुग्गदि-जीवा पडि मित्तीभावो सरिसो होदि॥

9. घनिष्ठ मित्र के सामने अन्य किसी से कानों-कान बात नहीं करना, नहीं तो मित्र के अन्दर अविश्वास का जन्म हो सकता है, फिर पुनः विश्वास स्थापित होना कठिन कार्य है। अहो ज्ञानी! मत देखो किसी को शत्रुभाव से, सबके दिन एक से नहीं होते। समय परिवर्तनशील है, प्राणिमात्र से मैत्री भाव रखो। शत्रु भी मित्र बन जाता है, मित्र भी शत्रु बन जाता है, कर्म-विपाक पर; ऐसा ही संसार का स्वभाव है। यदि आपके पास किसी को कुछ देने को नहीं है अथवा कृपणता के कारण देना नहीं चाहते तो कोई बात नहीं, परन्तु दीन-दुःखी जीवों के प्रति ही नहीं प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव नहीं छोड़ देना, यदि आप आस्तिक्य हो तो। सम्पूर्ण विश्व की सहानुभूतियाँ उसके पास स्वयमेव आ जाती हैं जो प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भाव रखता है। स्वार्थ के वश होकर अपनों के प्रति सबकी मैत्री प्रकट होती है, परन्तु यह सत्यार्थ, सम्यक् मैत्री-भाव नहीं है। मैत्री-भाव तो चारों ही गतियों के जीवों के प्रति सदृश होता है।

7

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

पमोदो

(प्रमोद)

1. मुह-पसण्णदा-पहुदीहिं अंतरंगे भत्ति-अणुराग-पयडीकरणं पमोदो। सज्जणा गुणीजणा पस्सित्ता पसण्णचित्तं हुंति; एवमेव तेसिं सज्जणत्त-अहिणाणं। दुज्जणा साहुपुरिसा पस्सित्ता खिण्णचित्तं हुंति; एवमेव दुज्जण-अहिणाणं। जदि वि गुणीजणसम्माणेण सगीय-सम्माणो वड्ढमाणो होदि, पुणो हि पुण्णक्खीणो गुणीजण-सम्माणे कदावि णो होदि पहाणो। अंतरंग-अट्ठं वदणे पयडीकरण-कला पमोदभावो। पमोदभाव-सुण्णा सुक्ख-सरोवर-सरिसा, मेत्तं भूमि-गत्त-सरिसा जत्थ तिसाउरस्स णीरं णत्थि; णेव पउमस्स सुगंधो। पमुदिद-गदगदभावा भवियाणं हि हुंति। दुज्जणा सगगुणी-मेलणे मुहं वालेंति। कहं भग्गहीणं भगवं? जस्स हिदए सग्गुणिणो पडि असम्माणो, तस्स हिदयो किं हिदयो? सो दु सुक्ख-पासाण-खंडो, जो सगीय-सुक्खभावचागं ण करेदि अवित्त सो दु णीरम्हि वासे सदि वि सुक्खो हि होदि॥

1. मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा अंतरंग में भक्ति और अनुराग व्यक्त होना प्रमोद है। सज्जन पुरुष गुणीजनों को देखकर प्रसन्नचित्त हो जाते हैं, यही उनकी सज्जनता की पहचान है। दुर्जन साधु-पुरुषों को देखकर खिन्न-चित्त हो जाते हैं, यही दुर्जन की पहचान है। पुण्यक्षीण जीव गुणीजनों के सम्मान में कभी अगुवा नहीं बनता, जबकि गुणीजनों के सम्मान से स्वयं का सम्मान वर्धमान होता है। अन्दर की आस्था को मुख-मण्डल पर प्रकट करने की कला का नाम प्रमोद-भाव है। जिनके अन्दर प्रमोद भाव नहीं वे शुष्क सरोवर के तुल्य हैं, मात्र जमीन के गड्ढे के समान जहाँ प्यासे को पानी नहीं, कमल की सुगंध नहीं। प्रमुदित-भाव गद्‌गद्‌-भाव भव्य प्राणी के ही होते हैं। दुर्जन तो सद्‌गुणी जनों के मिलने पर मुख मोड़ लेते हैं, भाग्यहीन को भगवान् कहाँ? जिसके हृदय में सद्‌गुणियों के प्रति सम्मान नहीं, उसका हृदय क्या हृदय? वह तो शुष्क पाषाण का टुकड़ा है, जो अपने शुष्क भाव का त्याग नहीं करता, परन्तु वह तो पानी के अन्दर रहने पर भी सूखा ही रहता है।

---

2. सरलचित्ता गुणीजणा पस्संता हि पीदीए परिपूरंते। ते संजाणंते–धम्मप्पसम्माणो धम्मसम्माणो, धम्मप्पम्हि हि धम्मो पलेदि, धम्मप्पेण विणा णत्थि॥

2. सरल हृदयी जीव गुणीजनों को देखते ही प्रीति से लबालब भर जाते हैं। उन्हें यह सम्यक्-बोध है कि—''धर्मात्मा का सम्मान ही धर्म का सम्मान है, धर्म धर्मात्मा के ही अन्दर पलता है, धर्मात्मा के बिना धर्म कहीं नहीं होता।''

---

3. जेसिं चित्ते अवगुण-दंसण-भावणा जग्गेदि, ते अप्पधी खीण-पुण्णप्पा सग्गुणा कहं पस्संते? गुणवंताणं गुणावलोयणं गुणग्गाही-जीवो हि कुव्वेहिदि, अवगुणीचित्ते एरिसं विसोहिजंतं हि णत्थि, जं गुणीजणाणं अंतत्थ-गुणावलोयणं कुव्वेहिदि। जो सग्गुणी-जीवेसुं पि अवगुणं पस्सेदि, तस्स कागदिट्ठी जा मुत्तं मोत्तूणं मलं गेण्हेदि। कुणहि सुमणं णियमणं जेण सग्गुण-दंसणं होहिदि। जे अट्टरुद्दज्झाणचागं किच्चा धम्म-धम्मप्पं पडि पमुदिदभावं लहेदूणं णियचित्तकिलेसं रुंभंते, तेसिं मणं सुमणं सुहमणं च। गुणी णो होदि अवगुणी, अवगुणी गुणीसु अववाद-रेणुं खिव्वित्ता सगं अवगुण-भावस्स रेणु-धराए णवेदि। जह धेणुं सग-वच्छं पडि होदि पीदी, सा वच्छ-दंसणे सदि गुंजेदि; तहेव धम्मप्पाणो गुणीजण-दंसणे सदि पसीदित्ता वच्छल्लेण संभासंते, परोप्परे तच्चणाणं पयच्छंते।।

3. जिनके अन्दर अवगुण देखने की भावना जाग्रत होती है, वे अल्प-धी, क्षीण-पुण्य सद्गुणों को कैसे देख सकते हैं? गुणवानों के गुण अवलोकन गुणग्राही जीव ही कर पाएगा, अवगुणी के अंतःकरण में ऐसा विशुद्धि का यंत्र ही नहीं है जो कि गुणीजनों के अंतस्थ के गुणावलोकन कर सके। जो सद्गुणी जीवों के अन्दर भी अवगुण देख रहा है, उसकी काक-दृष्टि है, जो कि मोती छोड़कर मल को चुग रहा है। सुमन करो निज मन को, जिससे सद्गुणों का दर्शन होने लग जाए। मन उनके ही सुमन, शुभमन हैं, जो आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म-धर्मात्मा के प्रति प्रमुदित भाव को प्राप्त कर, अंतःकरण के क्लेश को विराम दे दें। गुणी अवगुणी नहीं हो सकता, परन्तु अवगुणी गुणीजनों पर अपवाद की धूल फेंककर स्वयं को अवगुण-भाव की धूल-धरा पर स्थापित कर लेता है। जैसे गाय को अपने बछड़े के प्रति प्रीति होती है, वह बछड़े को देखते ही रम्भाने लगती है, इसी प्रकार धर्मात्मा जीव गुणी-जनों को देखते ही प्रसन्नचित्त होकर वात्सल्यपूर्ण संभाषण करते हैं, परस्पर तत्त्व-ज्ञान का आदान-प्रदान करते हैं।

---

4. जे गुणीजणा दट्ठूणं मुहं वालेंति, तेसुं अदु धम्मत्तभाव-अभावो त्ति। जे माणकसायदो उम्मत्ता, जहेव मदिरापाई मज्जमदे कुल्लाए पडेदि तहेव दया-उवेक्खा-पत्ता ते अकम्मा। दप्पमदे पडंता पुरिसा गुणीजणा पडि असुहमणा होंति। सग्गुण-संपण्णाणं सक्कारं सिक्खेहि। जम्हि देह-णयर-समाय-समूहे गुणीजण-अवमाणं होदि तस्स अवणदी णियदा, इमम्हि कोवि संसयो णत्थि। पमोदभावो जीवस्स कासाइग-भावा णस्सेदि, अंतरंगे विसिट्ठ-सत्ति-संचारं जच्छेदि, विसेसाणंदधारा वि पवट्टेदि य। जे हुंति अप्पमुदिदा, ते विचित्त-सारीरिग-माणसिग-रोगगसिदा हुंति; तेसिं सहज-

संति-णाणं कदावि ण होदि, णेव ते गंभीरा हुंति, ते दु दुहे हुंति। जहा णीरेण देहमलो धुव्वेदि तहा मत्थिगे णवणव-उस्साहसत्ति-संचारो वि होदि, तहेव पमुदिदो सगपरं सुहं जच्छेदि। पसण्णचित्तं समया दुहिदो वि खणस्स सुहाणुभूदिं गेण्हेदि, तस्स अब्भंतर-पीडा समेदि। अणाहो वि सगीयं सणाहो मण्णेदि। गुणगाही-परिणदी वि जीवणस्स एगो महागुणो, सा पसत्थ-परिणामी-जीवम्हि हि पवेसेदि। अपसत्थ-परिणामी णवि होदि गुणगाही, तत्थ गुण-गहणत्त-पवेसस्स णिसेहो। साहुजणा गुणीजणा पस्सिदूणं तहेव तुट्ठंते, जहेव धेणू सगवच्छं पस्सिदूणं थण-पाणं कारित्ता तुट्ठेदि, पडिक्खणं वच्छमेव पस्सेदि। जहेव कामिणिं पस्सिदूणं विसयाहिलासाजुत्तं कामीजणं पुलेदि, तहेव गुणीजणा पस्सिदूणं णाणीजणं गुण-गहण-अहिलासाजुत्तं पुलेदि। गुणहीणेहिं सह सग्गवासो वि मुंचेज्जा, गुणवंतेहिं सह णरयवासो वरो, णवरि गुणवंत-सहवासो भविस्से सग्ग-मोक्खकारणं होस्सदि॥

4. जो गुणीजनों को देखकर मुख मोड़ते हैं उनके अन्दर अभी धर्मत्व-भाव का अभाव है। जो मान-कषाय से उन्मत्त हैं वे अभागे ऐसे ही दया एवं उपेक्षा के पात्र हैं जैसे मदिरा का सेवन करने वाला मद्य के नशे में नाली में पड़ा है। अहं के नशे में पड़े पुरुष गुणीजनों के प्रति अशुभ मन होते हैं। सद्गुणों से सम्पन्न जनों का सत्कार करना सीखो। जिस देश, नगर, समाज, समूह में गुणीजनों का अपमान होता हो उसकी अवनति नियत है, इसमें कोई संशय नहीं समझना। प्रमोद-भाव व्यक्ति के अन्दर के काषायिक-भावों को नष्ट कर देता है, अंतरंग में विशिष्ट शक्ति का संचार प्रदान करता है, विशेष आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है। जो व्यक्ति प्रमुदित नहीं हो वे नाना प्रकार के शारीरिक-मानसिक रोगों से ग्रसित होते हैं, उन्हें सहज-शान्ति का भान कभी नहीं होता, वे गंभीर नहीं होते, अपितु गम में होते हैं। जैसे जल से तन का मैल धुल जाता है और मस्तिष्क में नवीन उत्साह-शक्ति का संचार होता है, वैसे ही प्रमुदित पुरुष स्व-पर को सुख प्रदान करता है। प्रसन्नचित्त पुरुष के पास दुःखी व्यक्ति भी एक क्षण के लिए सुख की अनुभूति ले लेता है, उसकी अंतरंग व्यथा शांत हो जाती है। अनाथ भी अपने-आप को सनाथ महसूस करने लगता है। गुण-ग्रहणता भी जीवन का एक महान् गुण है, वह प्रशस्त परिणामी जीव के अन्दर ही प्रवेश पाती है। अप्रशस्त परिणाम वाला पुरुष गुण-ग्राही नहीं बन सकता, वहाँ गुण-ग्रहणता का प्रवेश निषेध है। साधुजन गुणीजनों को देखकर इस प्रकार से संतुष्ट होते हैं जिस प्रकार गाय अपने वत्स को देखकर आँचल पान कराकर संतोष को प्राप्त होती है, क्षण-क्षण बछड़े को ही देखती है। जैसे कामिनी को देखकर कामीजन को रोमांच होता है विषयाभिलाषा से युक्त होकर, उसी प्रकार गुणी-जनों को देखकर ज्ञानी-पुरुष को रोमांच होता है, गुण-ग्रहण की अभिलाषा से युक्त होकर। गुणहीनों के साथ स्वर्ग का वास मिलता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए, गुणवानों के साथ नरक में वास कर लेना श्रेष्ठ है, क्योंकि गुणवानों का सहवास भविष्य में स्वर्ग और मोक्ष का कारण होगा।

---

5. धणं देदूणं सुवण्ण-हेमाभरण-वत्थु-खेत्तादि-गहणं सक्कं, णं वीसस्स सयल-विभूदिं देदूणं पि गुण-गहणभाव-लाहो असक्को। गुण-गेज्झत्तं सव्वोवरि-गुणो। जस्स जीवणे गुण-गहण-भावो त्थि, सो वीसस्स सव्वसेट्ठ-पुरिसो त्ति॥

5. धन देकर अन्य वस्तु जैसे स्वर्ण, चाँदी के आभूषण, वास्तु-क्षेत्रादि ली जा सकती है, परन्तु विश्व की सम्पूर्ण विभूति खर्च करके भी गुण-ग्राह्यभाव नहीं लाया जा सकता। गुण-ग्राहकता सर्वोपरि गुण है। जिसके जीवन में गुण-ग्रहण भाव आ गया वह विश्व का सर्वश्रेष्ठ पुरुष बन जाएगा।

---

6. खुद्दजणा सव्वत्थ करेंति अवगुण-अवलोयणं। एरिसाइं वियार-णयणाइं, तेसिं उत्तम-पदत्थाइं अवेक्खेंति। भूदत्थे सोच्चिय गुणी, जो अवर-गुणीजणाणं गुणसम्माणं तु कुव्वेदि, णं ता पडि णवि करेदि ईसाभावं। जह अग्गीदो इंधणं णस्सेदि तहेव ईसावंतस्स सयलगुणा णस्सेंति। पमोदो णो होदि जादिपंथरागी, पमोदो होदि गुणाणुरागी। पमोदो वीसे अखंडत्त-पाढं सिक्खावेदि, णवरि जत्थ जादिपंथविसेसदो रागो तत्थ होंति खंडा। पमोदो होदि गुणीजणा दट्ठूणं, गुणी कम्हिचिदवि जादिपंथे होदि, तं पडि अणुरागो अखंडत्त-सुत्तं। चंडालकुलुप्पण्णो वि दुग्गुणजुत्तो होदि। कुलीणा कुल-लज्जारक्खणट्ठं जगदिसम्माण-इच्छाए वा सग्गुणा गेण्हेदव्वा तहा अवगुण-चागं झत्ति कादव्वा। सज्जणमज्झे सम्माण-लाहो णेव धण-वसुहाए, सो दु होदि भूदत्थसग्गुण-णिहिदो॥

6. क्षुद्रजन सर्वत्र अवगुणों का ही अवलोकन करते हैं। विचारों की आँख ही ऐसी है, उन्हें श्रेष्ठ पदार्थ दृष्टिगोचर ही नहीं होते। गुणवान् यथार्थ में वही है जो अन्य गुणीजनों के गुणों का सम्मान तो करता है, परन्तु उनके प्रति ईर्ष्याभाव नहीं लाता। ईर्ष्यालु के सभी गुण इसी प्रकार से नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि से ईंधन राख हो जाता है। प्रमोद-भाव जाति या पंथ का रागी नहीं होता, प्रमोद-भाव तो मात्र गुणों का ही अनुरागी होता है। प्रमोद-भाव विश्व में अखण्डता का पाठ सिखाता है, क्योंकि खण्ड वहाँ होते हैं जहाँ जाति या पंथ विशेष से राग हो। प्रमोद-भाव तो गुणीजनों को देखकर होता है, गुणवान् किसी भी जाति-पंथ में हो सकता है, उनके प्रति अनुराग अखण्डता का सूत्र है। चाण्डाल कुलोत्पन्न पुरुष भी सद्गुण सम्पन्न हो सकता है और उच्च कुल में उत्पन्न भी दुर्गुण युक्त हो सकता है। कुलीन पुरुषों को कुल की लाज बचानी है, जगति के सम्मान की इच्छा है तो उनका कर्तव्य है कि वे सद्गुणों को स्वीकार करें और अवगुणों का शीघ्र ही त्याग करें। सज्जनों के मध्य सम्मान धन-धरती से नहीं मिलता, अपितु सत्यार्थ सद्गुणों की निधि से मिलता है।

---

7. जे सग-सग्गुणाणं संरक्खणं संवड्ढणं च कुणंति, ते णाणीजणमज्झे पुण्णिमा-मयंकमिव दिप्पेंति। परमट्ठेण णियप्पगुणेसु आणंदिदभावो पमोदो, सग्गुणेसु पमुदिदत्तं सम्मादिट्ठि-जीवस्स लक्खणं। अवरजणाणं गुणं दट्ठूणं पमुदिद-भावो ववहार-पमोदो। णियगुणेसुं पमुदिद-भावो णिच्छय-पमोदभावो त्थि। जं सगगुणेसु पमोदो णत्थि, सो कहं धम्मप्पा? भूदत्थ-धम्मप्पा सगपरगुणेसु पमोदं पप्पेदि। हिंसग-कज्जेसु अणुरत्त-पुरिसो अण्ण-लोगिग-विसेसण-विसिट्ठो होदु, णं परमट्ठभूद-गुणसुण्णो हि णादव्वो, तं पडि पमोदो णेव फुड्डेदि। भोयणं भासणं च, पढमं वे गुणा जीवे णिअच्छेंति। भक्ख-णिरामिस-मज्जादिदं च होदु भोयणं एवं समिदिपुण्णं भासणं होदु। दोसु गुणेसु अहिंसा-

परिलक्खणं आवस्सगं। धम्म-धम्मप्पा पस्सिय चित्ते उप्पण्णो पसण्णभावो सच्चत्थ-पमोद-भावो त्ति॥

7. ज्ञानीजनों के मध्य वे पूर्णिमा के चंद्रमा जैसे उद्योतित होते हैं जो अपने सद्गुणों का संरक्षण, संवर्धन करते हैं। परमार्थ से निजात्मगुणों में आनन्दित होना प्रमोद-भाव है; स्वगुणों में प्रमुदित होना सम्यक्-दृष्टि जीव का लक्षण है। अन्य जनों के गुण देखकर प्रमुदित होना व्यवहार-प्रमोद है, निज गुणों में प्रमुदित होना निश्चय-प्रमोद भाव है। जिसको स्वगुणों में प्रमोद नहीं वह धर्मात्मा कैसा? सच्चा धर्मात्मा स्व-पर गुणों में प्रमोद को प्राप्त होता है। हिंसक कार्यों में संलग्न पुरुष लौकिक अन्य कितने ही विशेषणों से विशिष्ट हो, परन्तु परमार्थभूत गुण-शून्य ही समझो, उसके प्रति प्रमोद-भाव प्रकट नहीं हो सकता। व्यक्ति के अन्दर सर्वप्रथम दो गुण देखे जाते हैं—भोजन और भाषण। भोजन भक्ष्य, निरामिष, मर्यादापूर्ण हो। भाषण समितिपूर्ण हो। दोनों गुणों में अहिंसा परिलक्षित होना अनिवार्य है। धर्म-धर्मात्मा को देखकर जो अंतरंग में गद्गद् भाव है, वही सत्यार्थ प्रमोद-भाव है।

8

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

कारुण्णं

(कारुण्य)

1. जीवदयाभावो कारुण्णं। सगीय-सुहे सुहिदा परगीय-सुहे दुहिदा एरिसा जीवा वीसे अहिगा, णं परसुहे सुहिदा परदुहे दुहिदा किवावंतजीवसंखा विउल-णूणा॥

1. जीवों पर दयाभाव रखना कारुण्य-भाव है। अपने सुख में सुखी, पर के सुख में दुःखी होने वाले जीवों की संख्या विश्व में बहुत है, परन्तु पर के सुख में सुखी, पर के दुःख में दुःखी होने वाले कृपालु जीवों की संख्या बहुत कम है।

---

2. रुक्ख-अंध-कूवं समया कोवि कलसं णवि णेदि, तहेव करुणाहीणं समया कोवि सज्जणो सड्ढाकलसं णेव णेदि। साहुपुरिसाणं पढमं चिण्हं कारुण्णं। जम्हि णत्थि कारुण्णं सो कियत्तं पसिद्धिं लहेज्जा, णं सिद्धिं णेव पप्पेदि। सिद्धीए कारुण्णहिदयं आवस्सगं। अम्मफलमिव सरसजीवणं होदि कारुण्णहिदयं पाणीमेत्तस्स सुहप्पदं च। कोडि-कोडि-हिंसगजण्णेहिं जं धम्मस्स सच्चत्थफलं णेव दिस्सेदि, तं करुणासील-महप्प-पुरिसे होदि। जो करुणादो एगजीवरक्खणं करेदि, सो भवियवरो कोडि-कोडि-तित्थवंदणफलं पावेदि तहा जदि कोवि एगजीवहिंसाए वि णंदेदि तस्स सयलतित्थवंदणा-तवसाहणा-णाणाराहणा विहा एव होदि। हिंसगं समया णवि होंति णिस्सेयस-अब्भुदय-सुहाणि॥

2. सूखे, अंधे-कुएँ के पास कोई कलश लेकर नहीं जाता, उसी प्रकार करुणाहीन के पास कोई भी सज्जन श्रद्धा-कलश लेकर नहीं जाता है। करुणा साधु-पुरुषों की प्रथम पहचान है, जिसके भीतर करुणा नहीं वह कितनी ही प्रसिद्धि प्राप्त कर ले, परन्तु सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। सिद्धि के लिए कारुण्य-हृदय चाहिए। आम्रफलवत सरस जीवन कारुण्य-हृदय होता है, प्राणिमात्र के लिए सुखप्रद। कोटि-कोटि हिंसक-यज्ञ से जो धर्म का सत्यार्थ फल दृष्टिगोचर नहीं होता, वह करुणाशील महात्मा पुरुष के अन्दर होता है। जो करुणापूर्वक

एक जीव की रक्षा करता है, वह भव्यवर कोटि-कोटि तीर्थों की वन्दना के फल को प्राप्त होता है और यदि कोई एक भी जीव की हिंसा में आनन्द लेता है उसकी सम्पूर्ण तीर्थ-वंदना, तप साधना, ज्ञानाराधना व्यर्थ में ही जाती है। हिंसक के पास निःश्रेयस और अभ्युदय दोनों ही सुख नहीं होते हैं।

---

3. जत्थ करुणावासो तत्थेव माणवत्तं जीविदं। मिच्चुदंडं माणवत्तं णत्थि। दंडं पायच्छित्त-विज्जा, जेण जीवे सग-किच्चम्हि पच्छादावो होदु तहा सो उण्णयणं किच्चा उत्तमं माणवत्त-जीवणं जिवेदु। मिच्चु गहेदूणं सो किं करिहिदि उण्णयणं? कस्सचिद पाण-विघादादु तुज्झ पुण्णं णेव वड्ढेज्जा, अविदु पुव्वकिद-पुण्णक्खयं हि होदि। सगीय-दारिद्दे विवेगपुण्णं वियारं कुणेहि, धणिगा हणित्ता कदावि कोवि धणिगो णो होदि। पाणिमेत्तं रक्खेहि, दरिद्दा कुणेहि दयादाणं च। सप्पत्ताणं समीचीण-दाणादु धणलाहो, ण दु कस्सचिद पाणहरणादु। सम्मतच्चस्स णाणाभावेण सरलजीवा कुणाणीहिं वंचंते। 'बलिकम्मेहिं होदि कज्जसिद्धी'-एरिसाए कुमदीए करुणाधम्मादु अवगच्छिय जीवा दुग्गदिकज्जाइं कुणंते। जदि हिंसाए सग्ग-मोक्ख-सिद्धी दु णरय-तिरिय-दुग्गदीसुं को गमणोवायो होहिदि, सयं विचिंतेहि?

3. मानवता वहीं जीवित रहती है जहाँ करुणा का वास है। मृत्युदण्ड कोई मानवता नहीं। दण्ड वह प्रायश्चित्त विद्या है जिससे व्यक्ति में अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हो तथा वह सुधर कर श्रेष्ठ मानवता का जीवन जिये। मृत्यु प्राप्त कर वह क्या सुधार करेगा? किसी के प्राणों का घात करने से आपका पुण्य नहीं बढ़ता, अपितु पूर्वकृत पुण्य का क्षय ही होता है। अपनी गरीबी पर विवेकपूर्वक विचार करो, धनिकों को मारकर कभी धनिक नहीं बना जा सकता। प्राणिमात्र की रक्षा करो, गरीबों को दया-दान करो। सत्-पात्रों को समीचीन दान देने से धन की प्राप्ति होती है न कि किसी के प्राण लेने से। सम्यक्-तत्त्व के ज्ञान का अभाव होने के कारण भोले प्राणी कुज्ञानियों के द्वारा ठगे गए हैं। बलि-कर्म करने से कार्य-सिद्धि होती है, ऐसी कुमति के द्वारा करुणाधर्म से दूर होकर दुर्गति के कार्य करने लग गए। हिंसा से स्वर्ग-मोक्ष की सिद्धि होने लगे, तो स्वयं विचार करो नरक-पशु दुर्गतियों में जाने का उपाय क्या होगा?

---

4. करुणादाणं वीसस्स सव्वसेट्ठदाणं। अस्स दाणस्स पच्छा हि अण्णाइं सयलदाणाइं। सम्मदाण-लक्खं पि करुणापुण्णं होदि, कारुण्णं विणा कस्सचिद चित्ते सच्चत्थदाण-भावा णवि जायंते। परपाण-हरणं किंपि कढिण-वीरत्त-कज्जं णत्थि। रिवुं पि कारुण्ण-पुण्णो होदूणं अभयस्स दाणं वीरत्तकज्जं, तदेव तुज्झ कोहमाणं च णस्सिय करुणादाणं अत्थि। करुणाए किच्च-दया हु भूदत्थदया। जदा जीवो अंतरंगादु पुण्ण-अहिंसामयी होदि, तदा तस्स कारुण्णं फुड्डेदि। करुणाकज्जं किरियरूवेण बहिदिट्ठीए दीणेसु दयारूवे परिलक्खिदं होदि, एवमेव माणवत्त-चिण्हं। करुणापत्तं मेत्तं माणवो

णत्थि, अविदु पाणिमेत्तं अत्थि। मूग-तिरियपक्खीसु वि कुणहि कारुण्णं, ते तुज्झ दयापत्तं ण दु भोयणस्स। करुणं धारित्ता उत्तम-माणवत्तसंदेसं लोयं देहि॥

4. करुणादान विश्व का सर्वश्रेष्ठ दान है। इस दान के नीचे ही अन्य सर्वदान हैं। जो भी सम्यक्दान है उनका लक्ष्य भी करुणापूर्ण होता है, बिना कारुण्यता के किसी के अन्दर सत्यार्थ दान के भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। पर के प्राण-हरण करना कोई कठिन वीरता का कार्य नहीं है। शत्रु को भी कारुण्य-पूर्ण होकर जीने का दान (अभय-दान) देना वीरता का काम है, आपने अपने क्रोध-मान को गलित कर करुणादान दिया है। करुणापूर्वक की गई दया ही सच्ची दया है। जब जीव अंतरंग से पूर्ण अहिंसामय हो जाता है तब उसके कारुण्य स्फुटित होती है। करुणा का कार्य क्रियारूप से बाह्य में दीनों पर दया के रूप में परिलक्षित होने लगता है, जो मानवता की पहचान है। करुणा का पात्र मात्र मानव नहीं, अपितु प्राणिमात्र है। मूक पशु-पक्षियों पर भी करुणा करो; वे आपके भोजन नहीं, अपितु आपकी दया के पात्र हैं। करुणा धारण कर श्रेष्ठ मानवता का जगत् को संदेश दो।

---

5. विहा पुढवी-जल-वाउ-अग्गि-वणप्फदि-विघादं वि मा कुणहि, णवरि तेसुं पि चेयण्ण-गुणो त्थि। बंभसहावी-सिद्धप्पा तेसुं पि विज्जमाणा। पस्सेहि सारल्लेण पत्तेगजीवे भगवं अत्थि। भिच्चाणं भिच्चरूवे हि मा पस्स, तेसुं पि भगवं-अप्पा अत्थि तेसिं पावोदयो तुज्झ भिच्चो, सगीय-संताणमिव ववहारो ता पडि कुणेहि। पुत्ता तुज्झ किंचि कज्जं कुज्जा वा ण कुज्जा, णं वीसाससील-भिच्चो तुज्झ कज्जं अवस्समेव करिस्सदि; तम्हा सगीयकारुण्णस्स सीयल-वीयरणाइं अणुयराणं उवरिं पि होज्जा। एवमेव उत्तम-माणवस्स भूदत्थमाणवत्तं॥

5. व्यर्थ में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति का भी विघात मत करो, क्योंकि उनके अन्दर भी चैतन्य गुण है। ब्रह्म-स्वभावी भगवान्-आत्मा उन जीवों के भीतर भी विराजमान है। सरलता से देखो, प्रत्येक जीव में भगवान् हैं। भृत्यों को भृत्य रूप में ही मत देखो; उनके अन्दर भी भगवान्-आत्मा है। उनका पापोदय आपका भृत्य है, अपनी संतान जैसा व्यवहार उनके प्रति करना सीखो। बेटे कुछ करें, न करें, परन्तु विश्वासशील भृत्य आपका कार्य अवश्य करेगा, इसलिए अपनी करुणा की शीतल बौछारें अनुचरों के ऊपर भी होना चाहिए। यही श्रेष्ठ-मानव की सच्ची मानवता है।

---

6. गुरुजणा होंति करुणामुत्ती। साहुजण-अंतोकरणे होदि करुणावासो। ते सगीयकरुणा-वरिसं मेत्तं भत्त-धणिग-राया-मंतीसुं हि णेव कुणंतु, अविदु पत्तेगजीवे पत्तेगपंथे संतपरंपराए वि कुणंतु। विणेयं पायच्छित्तदाणं पि कारुण्णं लक्खं किच्चा दिज्जा। विणेयहिदए माणवत्तं वच्छल्लं च परिपूरेज्जा, अवर-परंपराओ पडि कारुण्णं सिक्खावेज्जा॥

6. गुरुजन करुणा की मूर्ति होते हैं। साधुजनों के अंतःकरण में करुणा का वास होता है। वे अपनी करुणा मात्र भक्तजनों, धनपतियों, राजा-मंत्री पर ही न वर्षाएँ, अपितु प्रत्येक जीव पर, प्रत्येक पंथ, सन्त-परम्परा पर वर्षाएँ। किसी शिष्य को प्रायश्चित्त भी दें तो करुणा को लक्ष्य में धारण करके दें। शिष्यों के अन्दर मानवता भरें, वात्सल्य भरें, अन्य-परम्पराओं के प्रति करुणा-भावसिखाएँ।

---

7. जेसिं जीवा पडि दयाभावो, ते खु भूदत्थ-करुणावंता। कारुण्णदिट्ठी सव्वेसिं कुणदि; इमा पवित्तदिट्ठीए पावण-महामहिमा, जा वीसं पावणं किदा। कारुण्णं अंतोकरण-उप्पण्णा अहिंसावीई, जा कट्ठेण सुक्ख-पाणीणं अद्दत्तं पयच्छेदि। ते सज्जणा हि कारुण्णधम्मी, जेसिं णयणत्तो णवि होदि णीरवरिसा, किण्णु पराणं दुही पस्संता हि जेसिं हिदए करुणाए अस्सुपायं हवेदि। करुणा दयारूवा सगस्स पीडा, तं अवराणं कट्ठं पुहं किच्चा सुट्ठु कीरदे, इदं अंतरंग-रहस्सं; इदं पि णेयं। जदि जीवा पडि पत्तेगपाणिं करुणा जायदे दु भूमंडले भयणामस्स किंपि वत्थुं णवि होस्सदि एवं आयंकवाद-हिंसा-असच्च-चोरिय-कुसील-परिग्गह-सरिसाणं पावाणं पि होहिदि अभावो त्ति। जत्थ संवेदणसीलत्तं तत्थ कारुण्णं सगट्ठाणं णिहडेदि, संवेदणसुण्णं समया कत्थ करुणा? करुणाभावी-जीवपउत्ती सहजविवेग-पुण्णा हवेदि। सो णवि सद्देण णेव देह-मणेहिं च हिंसं करेदि; अविदु सो पडिक्खणं मणेण सगालोयणं करेदि। सो णिच्चं एवमेव चिंतेदि–'मे णिमित्तेण बुद्धीदो अण्णं कट्ठं पीडा य णो होदु तहा सदेव होदु हिंसाकम्मरहिदा पउत्ती॥

7. वे ही सच्चे करुणावान हैं जो प्राणियों के प्रति दयाभाव रखते हैं। कारुण्य-दृष्टि सबको अपना बना लेती है, यह पवित्र-दृष्टि की पावन महा-महिमा है जिसने विश्व को पावन किया है। कारुण्य-भाव अंतःकरण से उत्पन्न अहिंसा की लहर है जो कि कष्ट से शुष्क प्राणियों को आर्द्रता प्रदान करती है। वे ही सज्जन कारुण्य धर्मी हैं जिनकी आँखों से पानी नहीं गिरता, लेकिन दूसरों को दुःखी देखते ही जिनके हृदय में करुणा का अश्रुपात होने लगता है। करुणा दयारूप स्वयं की पीड़ा है उसे दूसरों के कष्ट दूर करके ठीक किया जाता है, यह अंतरंग का रहस्य है इसे भी समझो। यदि प्राणियों के प्रति प्रत्येक प्राणी को करुणा उत्पन्न हो जाये तो भूमण्डल पर भय नाम की कोई वस्तु नहीं होगी और आतंकवाद, हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह जैसे पापों का भी अभाव हो जाएगा। जहाँ पर संवेदनशीलता होगी वहीं पर कारुण्य-भाव अपना स्थान स्थापित करता है, संवेदन-शून्य व्यक्ति के पास करुणा कहाँ? कारुण्य-भावयुक्त जीव की प्रवृत्ति सहज विवेकपूर्ण होती है; वह न शब्द से हिंसा करता है, न शरीर और मन से अपितु प्रतिक्षण वह मन से स्वयं की आलोचना करता है। वह निरंतर यही विचारता है कि मेरे निमित्त से बुद्धि-पूर्वक किसी को कष्ट न हो, पीड़ा न हो तथा हमेशा हिंसा-कर्म से रहित प्रवृत्ति बनी रहे।

---

8. सीयल-जलासयस्स तडवट्टि-रुक्खा अच्चंत-सीयलवाउं पयच्छंते तहेव कारुण्णभावजुत्त-साहुजणसंसग्गेण कूरपाणी वि अच्चंत-करुणासीला हवंति। दयाकरुणाभावरित्ताणं सहवासो तहेव कट्ठप्पदो, जहेव जलसुण्णसरोवरो जलयरजीवाणं कट्ठप्पदो त्ति। जस्स हिदय-सरोवरे करुणाणीरं परिपुण्णं होदु, तत्थेव णिवासो उचिदो। जत्थ पाणिमेत्तं पडि करुणाभावो तत्थेव समणत्तं, वेसमेत्ते समणत्तं णवि पस्सेज्जा। जे साहुवेसधारी पंथ-संपदायं बलं देंति, दोस-ईसा-जालं पज्जलंते, ते करुणाहीणा करुणापत्ता। तेसिं अंतसे करुणाजम्मणं होज्जा, जेण भाववेसदो एगरूव-सच्चत्थसाहू हुज्जा। मित्तीभाव-अभावे करुणाभावो णवि जायदे, जह बीयाभावे रुक्खो॥

8. शीतल जलाशय के तटवर्ती वृक्ष अत्यंत शीतल वायु प्रदान करते हैं। उसी प्रकार कारुण्य-भावों से युक्त साधु-जनों के संसर्ग से क्रूर-प्राणी भी अत्यंत करुणाशील हो जाते हैं। दया-करुणा भाव से रहित लोगों का सहवास उसी प्रकार कष्टप्रद होता है जैसे जल-शून्य सरोवर जलचर जीवों को कष्टप्रद होता है। जिसके हृदय सरोवर में करुणा जल लबालब भरा हो वहीं निवास करना उचित है। साधुता वहीं है जहाँ प्राणिमात्र के प्रति करुणा भाव है, भेष मात्र में साधुता नहीं देखना। जो साधु-भेषी पंथ-सम्प्रदाय को बल दें, द्वेष-ईर्ष्या की ज्वाला जलाएँ, वे करुणा-हीन करुणा के पात्र हैं। उनके अन्दर करुणा का जन्म हो जाए जिससे भेष और भाव से एक-रूप सत्यार्थ-साधु बन जाएँ। मैत्री-भाव के अभाव में करुणा-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसे बीज के अभाव में वृक्ष।

---

9. कारुण्ण-संपण्णो विसुद्ध-भावेहिं दुग्गदिणासं किच्चा सुगदिं लहेदि, तम्हा कारुण्णं खु सव्व-सुहयारी। बुभुक्खिदं भोयणदाणं, तिसाउरं णीरदाणं, णिद्धणं धणदाणं दिज्जा, णं कहिद-दुहिदा दुव्वसणरहिदा होदव्वा। तदेव तुज्झ दिंतमाणो सहजोगो करुणादाणसण्णं लहेस्सदि अण्णहा सो सहजोगो तुज्झ दुग्गदि-कारणं, जदि मज्जपायी-मंसाहारी-सहजोगं करीअ पुणो। जदि दुव्विसणीणं करुणादाणं अच्चंत-आवस्सगं तु विचिंतिज्जा-सो सयं अवरजीवेसुं करुणा-पदिण्णं गेण्हेदि वा ण गेण्हेदि? तुज्झ करुणा अवराणं अकरुणा ण होदु, अदो मंसाहारी-मज्जपायी जदि मंस-मज्जसेवणचागं करेदि दु तस्स वि अवयारं णूणं कुज्जा। मंसाहारी-मज्जपायी-पहुदीणं दुव्वसणीणं दुव्वसणचागं कारमाणो महा-करुणामुत्ती अत्थि। णवरि तेण पावीणं पावं णिच्छोडेदूणं तेसिं उहय-लोग-उण्णयणं किदं, तेसिं वट्टमाण-समओ दु सुहदो होस्सदि तहा कल्लाणमग्गो वि पसत्थो होस्सदि। ते वि सगीय-भविदव्वत्तं उच्चिणित्तु हुंति सिद्धा, एरिसो जिणोवएसो त्ति॥

9. कारुण्य-भाव सम्पन्न जीव विशुद्ध भावों से दुर्गति का नाश कर सुगति को प्राप्त होता है, इसलिए करुणा-भाव ही सर्व-सुखकारी है। भूखे को भोजन, प्यासे को पानी, निर्धन को धन देना, परन्तु उपरोक्त दुःखियों को दुर्व्यसनों से रहित होना चाहिए। आपका दिया हुआ सहयोग तभी करुणा-दान संज्ञा को प्राप्त होगा अन्यथा वह सहयोग आपकी दुर्गति का ही कारण बनेगा, अगर किसी मद्यपायी, मांसाहारी का सहयोग किया तो। यदि दुर्व्यसनी के लिए करुणादान की अत्यन्त आवश्यकता है, तो इस बात का ध्यान रखें कि वह स्वयं अन्य जीवों पर करुणा की प्रतिज्ञा ले रहा है कि नहीं? आपकी करुणा दूसरे के लिए अकरुणा न बने, अतः मांसाहारी

मद्यपायी यदि मांस-मद्य सेवन का त्याग कर देता है तो उसका भी उपकार अवश्य करें। मांसाहारी, मद्यपायी आदि दुर्व्यसनी जीवों के दुर्व्यसन का त्याग कराने वाला महान् करुणामूर्ति है, क्योंकि उसने पापियों के पाप छुड़ा कर उनके उभय-लोक सुधार दिए, उनका वर्तमान समय तो सुखद होगा ही, अपितु कल्याण-मार्ग प्रशस्त होगा। वे जीव भी अपनी भवितव्यता को सुधार कर भगवान् बन सकते हैं ऐसा जिनेन्द्र प्रभु का उपदेश है।

---

10. जे जीवा सच्चत्थं मोत्तूणं विवरीद-मग्गासयं गेण्हिय णियप्पवंचणं कुव्वंते, ता सुमग्गे ठावणं परमकारुण्णं। करुणासीलस्स देहं मुहमंडलं च सयमेव हवेदि सोहिदं। तेसिं देहे सेदकणिगावड्ढी, रत्तकणिगाणासो वा होदि। ते होंति महापुरिसा जे जम्मदो समाही- पज्जंतं करंते करुणारसपाणं तहा अवरभवियाणं करुणारसपाण-सदुवएसं देंति। इमा वसुहा तेसिं सुसोहिदा, जेसिं हिदए करुणारस-धारा पवहेदि। ते हिदया मरुत्थला, जेसुं हिदएसुं करुणाणीरं णत्थि॥

10. जो जीव सत्यार्थ को छोड़कर विपरीत मार्ग का आश्रय लेकर निजात्मा की वंचना कर रहे हैं, उन्हें सन्मार्ग पर स्थापित करना परम-करुणा है। करुणाशील का शरीर, मुख-मण्डल स्वयमेव शोभायमान होता है। उनके शरीर के अन्दर श्वेत-कणिकाओं की वृद्धि होती है, रक्त कणिकाएँ क्षीण होती हैं। वे महा-पुरुष ही होते हैं जो जन्म से समाधि तक करुणा रस का पान करते हैं तथा अन्य भव्य जीवों को करुणा रस-पान करने का सदुपदेश देते हैं। यह वसुन्धरा उन्हीं लोगों से सुशोभित होती है जिनके हृदय में करुणा रस की धारा बहती है। वे हृदय मरुस्थल हैं जिन हृदयों में करुणा का नीर नहीं।

---

11. अहो पण्णप्पा! सगहिदयं माणसरोवरो कुणहि, जम्हि साहुहंसा परिवसेज्जा। करुणापएण विणा पयोदहिसण्णं ण लहेदि, करुणा-दया-अहिंसाहिं विणा कोवि जीवो अवरसंपदाय-पंथ-परंपराणं पि सड्ढाणी किमु ण होदु, सो सज्जणेसु धम्मप्प-सण्णं णवि पप्पेदि॥

11. अहो प्रज्ञात्मन्! अपने हृदय को मानसरोवर बनाओ जिसमें साधु हंस विराजें। बिना करुणा-पय के पयोदधी संज्ञा को प्राप्त नहीं होता, बिना करुणा, दया, अहिंसा के कोई जीव किसी भी सम्प्रदाय, पंथ, परम्परा का क्यों न हो, वह सज्जनों में धर्मात्मा-संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है।

9

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

मज्झत्थभावो

(माध्यस्थ-भाव)

1. रागद्दोसादु ण करणं पक्खपादं मज्झत्थभावो। णियसमत्त-रक्खणत्थं गेण्हेहि मज्झत्थभावो। भावहिंसादो णियप्प-रक्खणत्थं मज्झत्थभाव-अवलंबणं आवस्सगं। सयललोगं तुमं सगीयसरिसं णेव कुणसि। गुरू कियत्तं उज्जमं करेदु, णं सगविणेयं सगसरिसं णवि करेदि। पिदू पुत्तं देदि जम्मणं, णं सगसरिसं णेव करेदि पुण अवरजणसंबंधे वियारणं अण्णाणत्तं। तुमं सग-वियारा बवेंति, णं तेसुं अणुगमणं अणणुगमणं जीवस्स सगीयवंछा॥

1. राग-द्वेष पूर्वक पक्षपात न करना ही माध्यस्थ-भाव है। निज-समत्व की रक्षा करना है तो माध्यस्थ-भाव को स्वीकार करो। भाव-हिंसा से अपनी आत्म-रक्षा करना है तो माध्यस्थ-भाव का आलम्बन लेना अनिवार्य है। सम्पूर्ण लोक को आप अपने जैसा नहीं बना सकते। एक गुरु कितना ही पुरुषार्थ कर ले, परन्तु अपने शिष्य को अपने जैसा नहीं बना सकता। पिता पुत्र को जन्म देता है, परन्तु स्वयं जैसा नहीं बना पाता है, फिर अन्य जनों के सम्बंध में विचार करना ही अज्ञानता है। आप अपने विचार रख सकते हैं, परन्तु उन पर चलना, न चलना व्यक्ति की स्वयं की इच्छा है।

---

2. परगीय-सुहासुह-पउत्तीए आकस्सणं दुब्बलत्तं, सगीय-णिण्णयो दिढो होदव्वो। सग-कत्तव्वबोहो सगे होदु। मज्झत्थ-भावो जीवं दव्व-भाव-हिंसादो रक्खेदि, कस्सचिदवि किच्चेहिं णवि रंगेज्जा। केणचिदवि सिग्घ-असिग्घ-रूवेण णवि रंगेज्जा, मज्झत्थभावो तडत्थभावदो अवगमणत्थं इरिदेदि॥

2. परकीय शुभाशुभ प्रवृत्ति से प्रभावित होना एक कमजोरी है; स्वयं का निर्णय दृढ़ होना चाहिए। स्व कर्तव्य-बोध स्व में हो। माध्यस्थ-भाव द्रव्य एवं भाव दोनों हिंसा से जीव की रक्षा करता है, किसी के कृत्य से प्रभावित नहीं होने देता। किसी से शीघ्र-अशीघ्र प्रभावित नहीं होना; तटस्थ-भाव से समझने के लिए प्रेरित करता है माध्यस्थ-भाव।

3. लोए किं पि घडणाचक्कं होदि, पुण इदं तुज्झ विवेक-कत्तव्वं तं झत्ति णेव गेण्हेहि। तडत्थ-भावेण तं जाणेहि पस्सेहि बुज्झेहि चिंतेहि। इदं सच्चं असच्चं मिस्सं वा? इमम्हि किं होहिदि, इदं जाणिदूणं कुणहि णिण्णयं, मे किं उचिदं कज्जं? अस्स किं परिणामो होहिदि?

3. लोक में कोई भी घटनाचक्र चलता है तो आपके विवेक का कर्तव्य है कि उसे तुरन्त स्वीकार नहीं करें। उसे जानें, देखें, समझें, विचार करें तटस्थ भाव से। यह सत्य है या असत्य या मिश्र? यह जानकर निर्णय लें—क्या हो सकता है इस पर, मुझे क्या करना चाहिए? इसका परिणाम क्या निकलेगा?

---

4. सग-पण्णं पि मज्झत्थभावेण अज्झेदव्वं। कुचिदजीवा सगं हि वीस-णादा मण्णंति एवं जाणिदूणं गुणी-गुरुजणाणं पि अवमाणं कुणंति। अहो अप्पा! भूदत्थ-णिण्णयं कुणहि वयं तव्विसय-णाणी संति वा ण संति? आदसंति-परम-मंतं मज्झत्थ-भावो। कस्सचिद कत्ता हवणं, कंचिद सग-कत्ताणिम्माणं; दोण्णि अण्णाण-भावा। णाणी उहय-भावत्तो भिण्णभावे जीवेदि, सो भावो हि मज्झत्थ-भावो। जदि तुमं चिंतेसि-सयलजीवा बोधेहि सुहावेमि वा, एवमेव तुमं अण्णाण-भावो। पत्तेग-जीवस्स सुहदुहाइं तस्स पावपुण्णोदए अवलंबिदाइं, ण दु तुज्झ कत्तत्ते। बहि-णिमित्तरूवे तुमं दिस्सेसि, णं अंतरंगो दु अदिट्ठे अवलंबिदो। किं कारणं विहा सगं कत्तत्त-किलेसं देसि?

4. स्व-प्रज्ञा को भी माध्यस्थ-भाव से पढ़ना चाहिए। कुछ लोग अपने आपको ही विश्व का ज्ञाता समझते हैं और ऐसा समझकर गुणी एवं गुरुजनों का भी अपमान कर बैठते हैं। अहो आत्मन्। यथार्थ निर्णय करो कि हम तद्-विषय के ज्ञानी हैं या नहीं? आत्म-शान्ति का परम-मंत्र माध्यस्थ-भाव है। किसी का कर्ता बनना, किसी को कर्ता स्वयं का बनाना, दोनों ही अज्ञान-भाव हैं। ज्ञानी जीव दोनों भावों से भिन्न-भाव में जीता है, वह भाव ही माध्यस्थ-भाव है। यदि आप ऐसा विचारते हैं कि मैं सभी जीवों को दुःखी कर सकता हूँ अथवा सुखी कर सकता हूँ, तो यही आपका अज्ञान-भाव है। प्रत्येक जीव का सुख-दुःख उसके पुण्य-पापोदय पर आलम्बित है, न कि आपके कर्तापन पर। बाह्य निमित्त के रूप में आप दृष्टिगोचर हो सकते हैं, परन्तु अंतरंग तो अदृष्ट के ऊपर ही है। क्यों व्यर्थ में स्वयं को कर्तापन का क्लेश दे रहे हो?

---

5. परमट्ठणाण-सुण्णो मज्झत्थ-मंतदो अपरिचिदो। परमट्ठबोह-जुदो जाणेदि मज्झत्थमंत-पहावं। अस्स मंतस्स आसएण अप्पा होदि परमप्पा, अण्णो कोवि उवाओ साहगअमो णत्थि। भावेसुं उप्पण्णा परस्स सुहदुह-कत्तत्त-कंटगा मज्झत्थ-भाव-वाऊदो समेंति। उहएसु कट्ठ-सुहदिणेसु जीवो होदि असामण्णो। कट्ठयाले हीणभावणादो सुहयाले दप्प-भावणादो य णिब्भरेदि उहय-अवत्था-फलं पुणो महा-कट्ठं। उहय-भावणादो आदरक्खाए अमोघ-सत्थं मज्झत्थभावो। जीवा गिह-परिवारे लहु-लहु-चरिचासु परोप्पर-संबंधविच्छेदं लहेंति एवं वरिसा जावं संभासणं पि ण कुणंति। गेहवासे सदि वि

गेहमिव ण अणुहवंति, किं कारणं? मज्झत्थ-भावस्स आसयाभावादो। जदि तुच्छ-चरिचाओ मज्झत्थ-भावदो पस्संति दु परिवारो समिद्धो वसेदि। जाणि देस-रज्ज-णयर-जूह-परिवार-संघ-संठाणाणि वररूवेण गदि माणा दिसंति होहिंति, ताणि सव्वाणि मज्झत्थ-सत्तीए गदिमाणाणि। काव्वि अवर-विउल-सत्ती विसालदेह-गदिमाणे सामत्थमाणा णत्थि॥

5. परमार्थ ज्ञान-शून्य प्राणी माध्यस्थ-मंत्र से अपरिचित है। जो परमार्थ-बोध युक्त है उसे माध्यस्थ मंत्र का प्रभाव ज्ञात है। इस मंत्र के आश्रय से ही आत्मा परमात्मा बनेगी, अन्य कोई उपाय साधकतम नहीं है। भावों में उठते पर के सुख-दुःख के कर्तापन के बबूले माध्यस्थ-भाव की वायु से शान्त हो जाते हैं। चाहे कष्ट के दिन आएँ, चाहे सुख के, दोनों में ही प्राणी असामान्य होने लगता है। कष्टकाल में हीन-भावना से भरने लगता है तथा सुख के काल में अहं-भावना से, दोनों ही अवस्थाओं का फल, पुनः महाकष्ट। दोनों भावनाओं से आत्म-रक्षा का अमोघ-शस्त्र है माध्यस्थ- भाव। गृह-परिवार में छोटी-छोटी बातों पर परस्पर के सम्बंध विच्छेद को प्राप्त हो रहे हैं, ज्ञात हुआ वर्षों तब बोलना बंद हो चुका है। घर में होने पर भी घर जैसे नहीं लगते, ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि माध्यस्थ-भाव का आश्रय नहीं लिया। अरे भाई! तुच्छ-तुच्छ बातों को माध्यस्थ-भाव से देखते तो परिवार हरा-भरा रहता। जो देश, राज्य, नगर, यूथ, परिवार, संघ, संस्था अच्छे से चल रहे हैं अथवा चलेंगे वे सब माध्यस्थता की शक्ति से चल पाते हैं। अन्य कोई भी बड़ी शक्ति विशाल देश को चलाने में सामर्थ्यवान नहीं है।

---

6. सामिं सव्वं पडि मज्झत्थ-ववहारो सेयो। जीवं संपदायं च पडि पक्ख-विसिट्ठेण सासणं णवि होदि गदिमाणं। जदि रायं केणचिद विसेसपीदी वि होदु, पुण तं सामूहिग-रूवेण णो पयडेदु, एवमेव वर-णीदी। सोच्चिय होदि अप्पत्थो जो सिद्धेदि मज्झत्थभावं। जावं जीवो ण होहिदि मज्झत्थो, तावं तस्स अप्पत्थावत्था असंभवा। बहिरब्भंतर-वियाराणं विणासत्थं मज्झत्थ-भावो परम-रसायणं। जहेव रसायण-सेवणेण देहं होदि आरोग्गं, तहेव मज्झत्थेण चित्तं होदि पुण्ण-आरोग्गं तम्हा कुणहि मज्झत्थ-भाव-सेवणं॥

6. स्वामी को सभी के प्रति माध्यस्थता का व्यवहार करना ही श्रेयस्कर है। किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय के प्रति पक्ष-विशिष्ट रखने से शासन नहीं चल सकता। राजा को किसी से विशेष प्रीति भी हो तो उसे सामूहिक प्रकट न करे, यही श्रेष्ठ नीति है। आत्मस्थ पुरुष वही हो सकता है जो माध्यस्थ-भाव को सिद्ध कर चुका है। जब-तक व्यक्ति माध्यस्थ नहीं होगा तब-तक उसके लिए आत्मस्थ होना असम्भव है। अंतरंग-बहिरंग विकारों को नष्ट करने के लिए माध्यस्थ-भाव परम रसायन है। जैसे रसायन सेवन से शरीर स्वस्थ रहता है; उसी प्रकार से माध्यस्थता से चित्त (अंतःकरण) पूर्ण स्वस्थ रहता है, इसलिए माध्यस्थ-भाव का सेवन करो।

---

7. जदा साहगो देहेण मज्झत्थभावं संवट्टेदि, तदा उग्ग-साहणामग्गे अवगच्छेदि। सो देहममत्तं मोत्तूणं साहणं करेदि, देह-अप्पम्हि भिण्णत्त-भावं जाणिदूणं जडत्थो होदि। मज्झत्थभाव-साहणा वड्ढंता साहगा अप्पम्हि मज्झत्थं णिहडंति, एवमेव साहगस्स अब्भंतर-साहणा॥

7. साधक जब शरीर से माध्यस्थ-भाव स्थापित करता है तब उग्र-साधना के मार्ग पर चल पाता है। देह के ममत्व को छोड़कर साधना करता है; शरीर-आत्मा में भिन्नत्व-भाव को जानकर तटस्थ हो जाता है। माध्यस्थभाव की साधना वर्द्धमान करते हुए साधक-पुरुष आत्मा के अन्दर ही माध्यस्थता स्थापित करते हैं, यही साधक की अंतरंग साधना है।

---

8. सिय रागद्दोसा कम्मजभावा। कम्मं विणा आदम्हि रागद्दोसभावा ण जायंति। जाइं भावकम्माइं जडकम्मत्तो पहाविय होंति, ता भावा सगीय-सहावभावा कहं पव्वज्जेमि? अंतरंगे पवाहमाणाए कामकोहादि-भावधाराए णादादिट्ठा हं। अयं चिद-बंभस्स सच्चत्थ-सहावो णत्थि। रागद्दोसादि-भावेहिं अप्पहाविदो हं, एरिसो पेक्खा-पण्णावंतो अंतरंगे मज्झत्थो। संसारस्स पत्तेगजीवं संतुट्ठिप्पद-सामत्थं परमप्पम्हि णत्थि, पुणो अण्ण-सामण्णजणा किं करिस्संति? किं कारणं? णाणाजीवाणं णाणा-आकंखाओ, ताओ णवि परिपूरदे तहा जो पुण्णगत्तणे संलग्गेदि सो सगीय-संति-सामण्णं चेव भंगिस्सदि तम्हा सगसंति-हेदू परेच्छाओ पडि वि मज्झत्थं धरेहि॥

8. राग-द्वेष कर्मजभाव हैं स्यात्, बिना कर्म के आत्मा में राग-द्वेष भाव उत्पन्न नहीं होते। जो भावकर्म जड़-कर्मों से प्रभावित होकर हो रहे हैं उन भावों को मैं अपना स्वभाव-भाव कैसे स्वीकार करूँ? काम, क्रोधादि भावों की जो धारा अंतःकरण में चल रही है, उनका मैं ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ। यह चिद्ब्रह्म का सत्यार्थ-स्वभाव नहीं है। राग-द्वेषादि भावों से मैं प्रभावित नहीं होता हूँ, ऐसा प्रेक्षा-प्रज्ञावान् अंतरंग में माध्यस्थ है। संसार के प्रत्येक जीव को संतुष्ट करने की क्षमता परमात्मा के पास नहीं; फिर अन्य सामान्य-प्राणी क्या कर पायेंगे? कारण? नाना-प्राणियों की विभिन्न-आकांक्षाएँ हैं, उन्हें पूर्ण नहीं किया जा सकता और जो पूर्ण करने में लगता है वह अपनी शान्ति-समता को ही भङ्ग कर लेगा, इसलिए पर की इच्छाओं के प्रति भी माध्यस्थता को रखना होगा, स्व-शान्ति हेतु।

---

9. अजोग्ग-पुरिसाणं पि होदि अहं-ममकार-भावो। पदाकंखाए अहियार-मदे वा अजोग्गो वि सगं जोग्गो घोसेदि। मज्झत्थेण विणा सेट्ठ-जोग्गपुरिसाणं जोग्गत्तमुल्लं ण हवेदि।

9. अयोग्य व्यक्ति को भी अहंकार-ममकार भाव होता है। पद की आकांक्षा, अधिकार के मद में अयोग्य व्यक्ति भी अपने को योग्य घोषित करता है। माध्यस्थता के बिना श्रेष्ठ योग्य-पुरुषों की योग्यता की कीमत नहीं हो सकती है।

10. मज्झत्थेण पस्सेहि दोसजुदाणं उत्तमतवसाहणं। तेसिं बहितवसाहणादो पहावित्ता उत्तममग्गं णवि दूसेज्जा। उववासादि-साहणाए सह दंसण-णाण-चरित्त-पहाणत्तं पस्सेज्जा। मज्झत्थभावे हि आदस्स परमसत्तं पयडीकरणजोग्गत्तं ति। जदा साहगो परणिरवेक्खो होदूणं सगमज्झे हि ठादि, तदा तत्थ रागद्दोस-पक्खवादं चावि ण होदि ठाणं। पक्खवाद-सुण्णभावो मज्झत्थभावो। मज्झत्थभावेण अज्झेहि समया गंथा, णं णिग्गंथो होदूणं वेदेहि। पत्तेग-असुह-भावगंथी अवदालेहि॥

10. खोटे लोगों की श्रेष्ठ तप-साधना को माध्यस्थ-भाव से देखो। उनकी बाह्य तप-साधना से प्रभावित होकर श्रेष्ठ-मार्ग को दूषित नहीं करना चाहिए। उपवास आदि साधना के साथ दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रधानता देखी जाए। आत्मा की परम-सत्ता को प्रकट कराने की योग्यता यदि किन्हीं भावों में है; तो वह भाव माध्यस्थ-भाव है। जब साधक पर से निरपेक्ष होकर स्व के मध्य ही स्थित होता है तब वहाँ राग-द्वेष, पक्षपात को स्थान ही नहीं होता है। पक्षपात शून्य भाव का नाम ही तो माध्यस्थ भाव है। माध्यस्थ-भाव से ग्रंथों को पढ़ो, पर वेदन निर्ग्रंथ बनकर करो। एक-एक अशुभ-भाव की गाँठ खोल दो।

---

11. पत्तेगजीव-परिणामा सगकसायजण्णा परकसायदो परपरिणामा णो होंति; बहि-णिमित्ताइं होंति, कसायो जीवस्स असुद्धणय-विसयो, परसंजोगी भावा हि कसायकारणाइं असुहभावकारणाइं। सुद्धणए दव्वं तु दव्वं। सो सगे पुण्णसुद्धो पुण परं किमु पस्सेमि? सगसुद्धावलंबणं लेदूणं मज्झत्थो होदूणं किमु ण जीवेमि?

11. प्रत्येक प्राणी के परिणाम स्व-कषाय जन्य हैं, पर-कषाय से पर के परिणाम नहीं होते, बाह्य निमित्त अवश्य हो सकते हैं, परन्तु कषाय तो व्यक्ति के अशुद्धनय का विषय है, पर संयोगीभाव ही कषाय के कारण हैं अशुभ-भावों के कारण हैं। शुद्धनय में तो द्रव्य द्रव्य है। वह स्व में पूर्ण शुद्ध है, फिर मैं पर को क्यों देखूँ? स्वशुद्ध का आलम्बन लेकर क्यों न माध्यस्थ होकर जियुँ?

---

12. सग-कासाइगभावा वि जीवस्स, ण दु अप्पस्स। तिक्काले चदुप्पाणादो जीवेदि जो सो जीवो। जीवो होदि परसंजोगजुदो तहा आदा सुद्धचेयण्ण-धादू, तम्हि णो कोवि परसंजोगो, तम्हा रागद्दोसकसायभावो णत्थि मे दव्वं, परमट्ठेण इमत्तो वि मज्झत्थं धारेमि। एरिसो परमतच्चणाणी वत्थु-सहावस्स सम्मचिंतणं किच्चा पसमेदि। खीर-णीरमिव अप्प-कम्माणं संसिलेस-संबंधे सदि वि दव्वत्त-भावदो कदावि कम्माइं ण होस्संति चेयण्णं तहा चेयण्णप्पा कदावि जडकम्मरूवेण ण परिणमिस्सदि। कम्मादाणं मिस्सधारं अणादिबंधदसाए एयत्तभूद-दंसणे वि तच्चणाणी णायगभावेण पस्सेदि। तदा कम्मादाणं सुतंत-सुतंत-परिणमणं दिस्सेदि, दोण्हं मिस्स-परिणामदो मुमुक्खू होदि मज्झत्थं॥

12. स्व-काषायिक भाव भी जीव के हैं, आत्मा के नहीं। जो चार प्राणों से तीनों कालों में जीता है वह

जीव है। जीव पर-संयोगों से युक्त होता है और आत्मा शुद्ध-चैतन्य धातु है; उसमें पर का कोई संयोग नहीं है, इसलिए राग-द्वेषादि कषाय-भाव मेरा द्रव्य नहीं है, परमार्थ से इनसे भी माध्यस्थता को धारण करता हूँ। ऐसा परम तत्त्वज्ञानी जीव वस्तु-स्वभाव का सम्यक्-चिंतन कर शान्त हो जाता है। क्षीर-नीरवत आत्मा और कर्म का संश्लेष संबंध होने पर भी द्रव्यत्व भाव से देखें तो कर्म कभी चैतन्य नहीं होंगे और चैतन्य-आत्मा कभी भी जड़ कर्म-रूप परिणत नहीं होगी। कर्म-आत्मा की मिश्रधारा को अनादि बंध दशा में एकत्वभूत दिखने पर भी तत्त्वज्ञानी ज्ञायक-भाव से देखता है। तब कर्म और आत्मा का स्वतंत्र-स्वतंत्र परिणमन दिखाई देता है, दोनों के मिश्र परिणाम से मुमुक्षु माध्यस्थ हो जाता है।

---

13. तदेव एयत्तभावलीणत्तणं जदा लोगं णियभावदो विभत्तरूवं पस्सिय सव्वेहिं मज्झत्थं होस्सदि। सग-सरूवे कस्सचिदवि परपदत्थ-पवेसो णत्थि, मेत्तं धुवणायगभावो हि णियभावो। मज्झत्थ-पुरिसो हि मेत्त-पुरिसवेदगो, अवरदवियाणं वेज्ज-वेज्जग-भावाभावो त्थि। जो पुरिसेण वेदगो पुरिसो सो चेयण्ण-अप्पा, फास-रस-गंध-वण्ण-रहिदो, उप्पादव्वयधुवसहावभूदो त्ति। परेण ण किदो णो कारिदो णेव समणुमोदिदो वा, सो दु मेत्तं स-सरूव-अहेदुगो एव।।

13. एकत्व-भाव की लीनता तभी प्राप्त होगी जब जगत् को निज-भाव से विभक्त देखकर सबसे मध्यस्थ हो जाएगा। स्व-स्वरूप में किसी भी पर-पदार्थ का प्रवेश नहीं है, एकमात्र ध्रुव ज्ञायक-भाव ही निज-भाव है। माध्यस्थता को प्राप्त पुरुष मात्र पुरुष का ही वेदक होता है; अन्य द्रव्यों के वेद्य-वेदक भाव का अभाव है। जो पुरुष के द्वारा वेदा जाने वाला पुरुष है वह चैतन्य आत्मा है; जो कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभावभूत है। पर के द्वारा न कृत, न कारित, न अनुमोदित, वह तो एकमात्र स्व-स्वरूप अहेतुक ही है।

---

14. भुवणमित्तं हवेदुं धारेहि मज्झत्थभावस्स अवलंबणं। केणचिदवि ण कुणहि मित्तत्तं रिवुत्तं च, अविदु सव्वे सामण्णं पस्सेहि। कस्सचिद णो होदु विसेसो, कंचिद ण कारेदु विसेसो, संतमज्झत्थो होदु, सव्वे होस्संति तुज्झ मित्तं। अणंतधम्मप्पगं वत्थुं। अणंतधम्मा जुगवं ण भासिज्जदे, कहणं होदि एगधम्म-पहाणत्तणेण, अणेगधम्मा गउणा होंति। पज्जायदिट्ठीए वत्थुम्हि अणंतत्तं धम्मदिट्ठीए वा? धम्मीदिट्ठीए एगरूवत्तं, दव्वदिट्ठीए एगं तम्हा तच्चणाणी मज्झत्थं होदूणं पस्सेदि। संपुण्ण-धम्मधम्मीसु णाणावियप्पस्स अणावस्सगत्तं, पस्स णायगभावेण। जो जाणेदि मज्झत्थस्स भूदत्थत्तणं, सो खलु वीसस्स उत्तमसुही-तच्चणाणी जीवो। अण्ण-सत्थपाढी दु सगबुद्धि-वायामं मेत्तं कुणंते तहा लहंते माणसिग-किलेसं।।

14. जगत् का मित्र बनकर जीना है तो एकमात्र माध्यस्थ-भाव ही आलम्बन है। न किसी से मित्रता करो,

न शत्रुता; अपितु सभी को सामान्य देखो। न विशेष बनो किसी के, न विशेष बनाओ किसी को, शान्त-माध्यस्थ हो जाओ, सभी आपके मित्र होंगे। वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। अनन्त-धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता; एक धर्म की प्रधानता से कथन होता है, अनेक धर्म गौण रहते हैं। पर्याय-दृष्टि से वस्तु में अनन्तता है अथवा धर्म-दृष्टि से अनन्तता है? धर्मी-दृष्टि से देखें तो एकरूपता है। अर्थात् द्रव्य-दृष्टि से एक है, इसलिए तत्त्वज्ञानी माध्यस्थ होकर देखता है। सम्पूर्ण धर्म-धर्मी में नाना विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है; ज्ञायक-भाव से देखो। माध्यस्थता की भूतार्थता को जो समझता है, वही विश्व का श्रेष्ठ-सुखी तत्त्वज्ञानी जीव है। अन्य शास्त्र-पाठी तो मात्र स्व-बुद्धि का व्यायाम कर रहे हैं तथा मानसिक क्लेश को प्राप्त हो रहे हैं।

---

15. जीवणे संपुण्ण-सत्थाणं अज्झयणसारं आदसंती। सा आदसंती तदेव संभवा जदा संपुण्णलोगदो मज्झत्थ-ववहारं करिस्ससि, तम्हा 'पस्स, जाण, विसर' इदं सुत्तं कंठहारो सिरेस्ससि। अण्णे णाणी मज्झत्थं धरेदि, अण्णाइं होंति अण्णाइं, तियाले वि अण्णाइं अणण्णाइं ण होंति। जडत्तसहावी-दव्वं कदावि अजडत्तभावं ण लहेदि, पुणो वि मूढा जडदव्वरागे जडबुद्धी होदि। भूदत्थ-सच्चत्थ-णादा मेत्तं णियप्पदव्वं मोत्तूणं सव्वदो मज्झत्थो होदूणं करेदि परमसुहभोगं, सो इंदियसुहसुण्णो अदिंदिय-सुहरूवो त्ति॥

15. सम्पूर्ण शास्त्रों के अध्ययन का सार यदि जीवन में कोई है, तो वह आत्मशान्ति है। वह आत्मशान्ति तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण-लोक से माध्यस्थता का व्यवहार करोगे, इसलिए 'देखो, जानो, जाने दो' सूत्र को कंठाहार बनाओ। अन्य में ज्ञानी माध्यस्थ-भाव रखता है; अन्य-अन्य रहते हैं, त्रिकाल में भी अन्य अनन्य नहीं होते। जड़त्व-स्वभावी द्रव्य कभी अजड़त्व-भाव को प्राप्त नहीं होता, फिर भी अज्ञ प्राणी जड़-द्रव्यों के राग में जड़-बुद्धि हो रहा है। भूतार्थ सत्यार्थ का जाननहारा एकमात्र निजात्म-द्रव्य को छोड़कर सबसे माध्यस्थ होकर परम सुख का भोग करता है, जो कि इन्द्रिय सुख शून्य अतीन्द्रिय-सुख है।

---

16. अहो अप्पा! वीसे तवदो वित्थिण्णं किंपि इट्ठसिद्धि-साहणं णत्थि, णं तवसिद्धी तदेव होहिदि जदा साहगो पावेदि मज्झत्थभावसिद्धिं। संपुण्ण-कासाइगवियारीभावदो पंचिंदिय-विसयत्तो मज्झत्थभावं णिहडिय परमवीदरागभावरत्तो साहगो अप्पस्स चरमुक्क्कस्से पहुप्पेदि, जत्तो पुणो आगमणं णो होदि। सा परमसिद्ध-दसा॥

16. अहो आत्मन्! विश्व में तप से बड़ा कोई इष्ट-सिद्धि का साधन नहीं है, परन्तु तप की सिद्धि तभी होगी जब साधक माध्यस्थ-भाव की सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण काषायिक विकारी-भाव, पंचेन्द्रियों के विषयों से माध्यस्थ-भाव स्थापित कर परम-वीतराग भाव में लीन साधक आत्मा के चरम-उत्कर्ष पर पहुँचता है, जहाँ से पुनः आना नहीं होता। वह परम-सिद्ध दशा है।

---

17. असुहकम्मफलेहिं जे णाणा-जोणीसु जम्मंते मरंते, ते सव्वे जीवा सत्ता। सत्तो जीवो। असादावेदणीय-उदयत्तो जे दुही ते किलिस्समाणा। जे सम्मणाणादि-गुणेसु वड्ढमाणा, ते गुणाहिगा। जेसु जीवादि-पदत्थाइं सवण-गहणस्स गुणो णत्थि ते अविणेया।

17. अशुभ कर्मों के फल से जो नाना योनियों में जन्मते और मरते हैं; वे सब प्राणी सत्त्व हैं। सत्त्व अर्थात् जीव। असाता वेदनीय के उदय से जो दुःखी हैं वे क्लिश्यमान कहलाते हैं। जो सम्यग्ज्ञानादि गुणों में बढ़े-चढ़े हैं वे गुणाधिक कहलाते हैं। जिनमें जीवादि पदार्थों को सुनने और ग्रहण करने का गुण नहीं है; वे अविनेय कहलाते हैं।

---

18. सज्जणाणं सत्ता पडि मित्तीभावं, गुणीजणा पडि पमोदभावं, किलंता पडि कारुण्णभावं, विवरीद-बुद्धिमंता पडि मज्झत्थभावं च संधारेज्जा॥

18. सज्जनों को सत्त्व अर्थात् सर्व प्राणियों में मैत्री-भाव, गुणीजनों के प्रति प्रमोद-भाव, क्लांत जीवों के प्रति करुणा-भाव तथा विपरीत बुद्धि वाले जीवों के प्रति माध्यस्थ-भाव स्थापित करना चाहिए।

10

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

विवेगो

(विवेक)

1. हेयोवादेए भेदबुद्धी, गेज्झ-अगेज्झस्स भेदणाणं, तच्च-अतच्चस्स परिक्खण-कोसल्लं च विवेगो। विवेगी समए सयलकज्जाणं पुव्वदो हि विमरिसेदि, कज्जस्स पच्छा वियारणं अविवेगो। संसारे विवेगदो विसालं किंपि अण्णं सुहं णत्थि तहा अविवेगदो विसालं किंपि दुहं णत्थि॥

1. हेय-उपादेय में भेद करने की बुद्धि, ग्राह्य-अग्राह्य का भेदज्ञान, तत्त्व-अतत्त्व की परीक्षा-कौशल्य का नाम 'विवेक' है। विवेकी जीव समय पर सम्पूर्ण कार्यों का पूर्व से विचार कर लेता है, जबकि कार्य के बाद विचार करना अविवेक है। संसार में विवेक से बड़ा अन्य कोई सुख नहीं और अविवेक से बड़ा कोई दुःख नहीं।

---

2. लोए पाणीणं किंचि मित्तामित्ताइं पायो होंति। तेसिं सामण्ण-मित्तामित्ताणं संबंधाणं किंपि विसेसमहत्तं णत्थि, णं महत्तपुण्ण-मित्तामित्तविसयो विवेग-अविवेगो त्ति। विवेगदो गुरुं णो किंपि मित्तं, अविवेगदो गुरुं णो किंपि अमित्तं, अयं सणादण-सिद्धंतो। अस्स परियट्टणसत्ती कस्सिंचिदवि णत्थि। पण्ण-पुरिसा पत्तेगकज्जस्स पुव्विं संवियारंति, सम्मविचारं विणा किंपि कज्जं णो कुणंति। मूढा कज्जस्स पच्छा वियारंति तहा वियारेण विणा कुणंति कज्जं, एरिसा जीवा दुक्ख-उवहासपत्ता॥

2. लोक में प्राणियों के कोई-न-कोई शत्रु एवं मित्र प्रायःकर होते ही हैं। उन सामान्य शत्रु-मित्र के सम्बंधों का कोई विशेष महत्त्व नहीं, परन्तु महत्त्वपूर्ण शत्रु-मित्र का विषय है विवेक-अविवेक। विवेक से बड़ा कोई मित्र नहीं है और अविवेक से बड़ा कोई शत्रु नहीं है; यह सनातन सिद्धान्त है। इसे परिवर्तित करने की किसी में शक्ति नहीं है। प्रज्ञ-पुरुष प्रत्येक कार्य को करने के पूर्व अच्छी तरह से विचार करते हैं, बिना सम्यक्-विचार किए कोई कार्य नहीं करते हैं। अज्ञ-प्राणी कार्य करने के पश्चात् विचार करते हैं और बिना विचार किए ही कार्य कर लेते हैं, ऐसे लोग दुःख और उपहास के पात्र होते हैं।

---

3. भावुगत्ते किद-णिण्णयो सव्वदा कट्ठप्पदं होदि। कसायवसेण कज्जकरणस्स पुव्विं किंचि विमरिसेहि, किं होहिदि अस्स भावी-परिणामो? धम्मजसणासो दु णो होहिदि? वयं कंचिद सगरूवं पस्समाणा होहिंति वा ण होहिंति? किं होहिदि वट्टमाणफलं? भविस्स-पज्जायो कहं होहिदि? अस्स विचारं किच्चा कुणहि कज्जं॥

3. भावुकता में लिया गया निर्णय हर समय कष्टप्रद होता है। किसी कषाय के वश होकर कुछ कार्य करने के पूर्व कम-से-कम एक बार यह तो विचार करो कि इसका भावी परिणाम क्या होगा? धर्म-यश का नाश तो नहीं होगा? हम किसी को अपना रूप दिखाने योग्य रहेंगे कि नहीं? वर्तमान फल क्या होगा? भविष्य की पर्याय कैसी होगी? इसका विचार कर कार्य करो।

---

4. जाइं कज्जाइं इह लोए णिंदा परलोए दुग्गदिं कुणंतु, एरिसाइं कज्जाइं विवेगीजणा सिविणे वि ण कादव्वा। जो अवियारपुव्वगं करेदि कज्जं, सो सगजीवणे माणसिग-देहिग-विचित्त-कट्ठाइं पडिक्खणे लहेदि। पेक्खायारी-पुरिसा सव्वत्थ जससुहं च लहेंति, तेसिं संसारे कट्ठणामवत्थु-दायगो कोवि णत्थि। विवेगसीला सगपर-कल्लाणयारी होंति, ता हेयोवादेय-बोहो समयाणुऊलो होदि, ते समयाणुसारेण परियट्टणं जाणंति॥

4. जो कार्य इह-लोक में निन्दा एवं पर-लोक में दुर्गति करें, ऐसे कार्य विवेकी-जनों को स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए। अविचार पूर्वक जो कार्य करता है वह अपने जीवन में मानसिक एवं शारीरिक अनेक कष्टों को क्षण-क्षण में प्राप्त होता है। प्रेक्षाकारी पुरुष सर्वत्र यश और सुख को प्राप्त होते हैं, उन्हें संसार में कष्ट नाम की वस्तु प्रदान करने वाला कोई भी नहीं है। विवेकशील स्व-पर के कल्याणकारी होते हैं; उन्हें हेय-उपादेय का समयानुकूल बोध होता है, वे समय के अनुसार परिवर्तन करना जानते हैं।

---

5. विवेगसीला णियप्पं पच्छादावजालाए णवि पज्जलंति, ते अंतोकरणस्स भावभासं च पढिदूणं जग्गंति तहा संतचित्तेण सग-भविस्सवाणीबोहं च कुव्वंति। केणचिदवि सगवयण-पओगस्स पुव्विं अस्स झाएज्जा- किं होस्सदि इमेसिं वयणाणं दूरगामी-पहावो? धम्मजस-सक्किदीए वड्ढिकारणं होस्सदि वा घादकारणं? एरिसं विवेगपुण्णवियारं किच्चा महाजणा सगीयवयण-उवओगं कुव्वंति॥

5. विवेकशील लोग निजात्मा को पश्चात्ताप की ज्वाला में जलने नहीं देते, वे अंतःकरण के भावों की भाषा को पढ़कर जाग्रत रहते हैं तथा शान्त-चित्त से स्व की भविष्यवाणी का बोध कर लेते हैं। किसी भी व्यक्ति से स्व-वचनों का प्रयोग करने के पूर्व इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन वचनों का दूरगामी प्रभाव क्या होगा? धर्म-यश-संस्कृति की वृद्धि में कारण होगा या घातक? ऐसा विवेकपूर्ण विचार करके ही महाजन अपने वचनों का उपयोग करते हैं।

6. चित्तं पसण्णत्थं हस्सविणोदं च कुणहि, णं मज्जादाकालं पुरिसविसेसं खेत्तं च पस्सिय एवं अप्पं कुणहि। जेण धम्म-समाय-परिवार-देस-रट्ठेसुं कट्ठं होदु; एरिसं हस्सविणोदं च णेव कुणहि। समयसूयगत्त-णाणं होदव्वं। विभत्त-पुहुत्तकरणं अकरणीय-करणीयकज्जम्हि भेदकरणं सहज-सिग्घ-अपहाविद-हवणं च विवेगो। विवेगवंतचरिया सव्वहा सव्वदा पसंसणिज्जा।।

6. हास्य-विनोद करो, चित्त को प्रसन्न रखने के लिए, परन्तु मर्यादा-काल देखकर, पुरुष विशेष को देखकर, क्षेत्र देखकर, अल्प करो। ऐसा हास्य-विनोद न करें जिससे धर्म, समाज, परिवार, देश, राष्ट्र पर कष्ट आ जाए। समय-सूचकता का ज्ञान होना चाहिए। विवेक का अर्थ है; विभक्त करना, पृथक् करना। करणीय-अकरणीय में भेद करके चलना, सहज-शीघ्र किसी से प्रभावित नहीं होना। विवेकवान की चर्या सर्वथा-सर्वदा प्रशंसनीय होती है।

---

7. जो उत्तम-वियारसीलो सोचेव चरियावंतो उत्तमो। सो गूढविज्जाए गूढरहस्साणं सक्खाकारं सगीय-चिंतणसत्तीए कुणदि। उत्तमकज्ज-आयोयणा सव्वेसुं पाणीसुं ण होदि। जेसिं चित्ते विसेस-विवेगपुण्णो वियार-सत्तिसंचारो होदि, ते हुंति विसिट्ठजणा हि। चिंतणसील-मज्झे उववेसणादो सग-चिंतणे वेसिट्ठं आगमेदि, तम्हा सग-चिंतणस्स विगासत्थं कुज्जा चिंतणसील-संगदिं। चिंतणचारित्त-सुण्णाणं समीवं कदावि ण चिट्ठेज्जा, तेण पण्णाए सुण्णत्तं जाएज्जा।।

7. चारित्रवान श्रेष्ठ वही होता है जो श्रेष्ठ विचारशील होता है। वह गूढ़-विद्या के गूढ़-रहस्यों का साक्षात्कार अपनी चिंतन-शक्ति से कर लेता है। श्रेष्ठ कार्यों की आयोजना सभी प्राणियों के अन्दर नहीं होती है। वे विशिष्ट जन ही होते हैं जिनके अन्दर विशेष विवेकपूर्ण विचार-शक्ति का संचार होता है। चिंतनशील लोगों के मध्य बैठने से स्व के चिंतन में विशेषता आती है, इसलिए चिंतनशील लोगों की संगति करनी चाहिए, स्व-चिंतन के विकास के लिए। चिंतन-शून्य, चारित्र-शून्य लोगों के समीप कभी न बैठें, अतः प्रज्ञा में शून्यता आ जाएगी।

---

8. विवेगहीणाणं दसा कंडुरोगगसिद-कुक्कुरो व्व होदि। जत्थ तत्थ सो कंडूदिं कंडुएदि। तस्स इमं वित्तिं कोवि ण रुच्चेदि, तं सग-समीवे कोवि ण बइसारेदि, सव्वे तं पलावंति। विवेगहीणो वि भमेण किंचिवि भासेदि, सो सज्जणा रुइयरं ण होदि, तम्हा तं विवेगहीणं पि जीवा पलावंति। विवेगीजणा सगम्हि कुणंति संतिवेदणं एवं विवेगहीणो जीवेदि असंति-पुण्णजीवणं।।

8. विवेकहीन लोगों की दशा खुजले श्वान जैसी होती है। जहाँ देखो वहाँ वह खाज-खुजाने बैठ जाता है। उसकी इस वृत्ति को कोई पसंद नहीं करता, उसे कोई पास में बैठने नहीं देता, सभी उसे भगाते हैं। विवेकहीन भी भूल से कुछ भी बोल देता है, वह सज्जनों को रुचिकर नहीं होता है, इसलिए उस विवेकहीन को लोग भगा देते हैं। विवेकीजन अपने-आप में शान्ति का वेदन करते हैं। वहीं विवेकहीन अशान्तिपूर्ण जीवन जीता है।

---

9. संसारे एरिसं जीवणं जीवहि जेण केणचिद रिवुत्तजम्मं मित्तत्त-मिच्चू वि ण होदु तहा धम्मजसवड्ढी होदु, इमा पक्किरिया विवेगेणेव संभवा। विवेगं विसरिय कज्ज-पवेसं मा कुण, जो विवेगरित्तो होदूणं करेदि कज्जं, सो लोए रिवुत्तवड्ढिं करेदि तहा मित्तमज्झे उवहासं लहेदि। विवेगो माणवं महामाणवो करेदि तहा अविवेगो णाणिं पि मुक्खो उग्घोसेदि। ते पत्तेगकज्जं विवेगदो कुज्जा, इदं पण्णपुरिस-कत्तव्वं॥

9. जीवन संसार में ऐसे जिओ जिससे किसी से शत्रुता का जन्म न हो तथा मित्रता की मृत्यु भी न हो। धर्म-यश की वृद्धि हो, यह प्रक्रिया विवेक से ही सम्भव है। विवेक खोकर किसी भी कार्य में प्रवेश मत करो, जो व्यक्ति विवेक से रिक्त होकर कार्य करता है वह लोक में शत्रुता की वृद्धि करता है तथा मित्रों के मध्य उपहास को प्राप्त होता है। विवेक मानव को महा-मानव बना देता है तथा अविवेक विद्वान् को भी मूर्ख घोषित कर देता है। प्रज्ञ-पुरुषों का कर्तव्य है कि वे प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करें।

---

10. लोए जस्स दिट्ठी णियप्पहिदे, जासे सयल-परभाव-पवंचत्तो णियं विरलेदि, तडत्थ-भावेण सव्वं पस्सेदि, सो खलु विवेग-संपण्णो पण्णपुरिसो। एरिसो जीवो सव्वत्थ सुही वसेदि। परमविवेग-भावेण पस्सेहि; लोए भूदत्थसंतीदो पुण्ण-पावाइं रक्खेंति। जत्थ कत्ताभाव-सब्भावो, तत्थ कहं संति-आणंदो? अण्णो किं कुज्जा? परमट्ठ-विज्जाणादा अच्चंत-थोवा। कत्तत्तं संतिदं णत्थि, अकत्तत्तं हि आदसंतिदं, इदं जीवा ण जाणंति। अयं अंतरबोहो विवेगेण हि होदि, तम्हा सुहुमविवेगं जग्गेहि। विवेगबोहो सव्वण्हु-भासिदेण सद्दबंभेण खु पयडेदि। सव्वण्हु-भासिदसुदेण विणा सच्चत्थविवेगणाणं असंभवं। विवेगणाणेण विणा सच्चत्थ-अणुहवणं असंभवं। महामारी-रोग-सरिसो भमो। अस्स रोगस्स अंतो सच्चत्थ-आगमब्भासेण होहिदि, ण दु अणागमब्भासेण; तम्हा कुणहि आगमब्भासं॥

10. लोक में जिसकी एकमात्र स्वात्म-हित पर दृष्टि है, जो सम्पूर्ण पर-भावों के प्रपंचों से निज को पृथक् रखता है, तटस्थ-भाव से सबको देखता है, वही सच्चा विवेक-सम्पन्न प्रज्ञवान पुरुष है। ऐसा जीव सर्वत्र सुखी रहता है। परम विवेक-भाव से देखो; जगत् में पुण्य-पाप दोनों भूतार्थ शान्ति से रक्षा कर रहे हैं। जहाँ कर्ता-भाव आता है, वहाँ शान्ति का आनन्द कहाँ? पर क्या करें? परमार्थ-विद्या को जानने वाले जीव अत्यंत अल्प हैं। लोगों को भान ही नहीं, कर्तापन शान्तिदायक नहीं है, अपितु अकर्ता-भाव ही आत्म-शान्ति का प्रदायक है। यह अन्तर-बोध विवेक से ही होगा, इसलिए सूक्ष्म-विवेक को जाग्रत करो। विवेक-बोध सर्वज्ञ-देव कथित शब्द-ब्रह्म से ही प्रकट होगा। बिना सर्वज्ञ भाषित श्रुत के सत्यार्थ विवेक ज्ञान सम्भव नहीं। बिना विवेक ज्ञान के सत्यार्थ का अनुभवन नहीं हो सकता। भ्रम एक महामारी रोग तुल्य है, ऐसे भ्रम-रोग का अंत सच्चे आगमों के अभ्यास से होगा, अनागमों के अभ्यास से नहीं होगा, इसलिए आगमाभ्यास करो।

11

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

धिज्जं

(धैर्य)

1. माणवजादि-आभरणं धेरियं। जे पत्तेगकज्जणिण्णयं धीरत्तेण गेण्हंति, अधीरत्तादो कुव्वंति आद-रक्खणं च; ते हि णिहिललोए होंति उत्तमा गुणिणो॥

1. धैर्य मानव-जाति का आभूषण है। वे लोग सम्पूर्ण लोक में श्रेष्ठ गुणी होते हैं जो प्रत्येक कार्य का निर्णय धैर्यता से लेते हैं और अधीरता से आत्मरक्षा करते हैं।

---

2. अधीरो सगपरविवेगं विसरेदि, सो सगपरं किलेसकारणं होदि। एरिसो माणवो सामण्ण-विसयं पि विसेसं किच्चा पस्सेदि। सो सगीय-अधीर-वित्तीए लोए होदि णिंदा-दया-पत्तो त्ति॥

2. अधीर पुरुष आपापर के विवेक को खो देता है, वह स्व-पर को क्लेश का कारण बनता है। ऐसा मनुष्य सामान्य विषय को भी विशेष बनाकर देखता है। वह अपनी अधीर-वृत्ति से लोक में निन्दा और दया का पात्र होता है।

---

3. धीरत्तेण णिहिल-उवसग्ग-परिसहा पसण्णचित्तेण णायगभावेण य सहिज्जदे, ण दु अधीरत्तेण॥

3. धीरता से सम्पूर्ण उपसर्ग-परिषहों को प्रसन्नचित्त, ज्ञायक-भाव से सहन किया जा सकता है, अधीरता से नहीं।

---

4. धीरस्स धेरियं दट्ठूणं कट्ठाइं पि कट्ठरूवे होंति, ताइं वियारंति—अयं कियत्तो महाणो मज्झ सब्भावे वि धिदिभावेण चिट्ठेदि। महामणस्स धण्णो॥

4. धीर पुरुष के धैर्य को देखकर कष्ट भी कष्ट में पड़ जाते हैं, उन्हें विचारना पड़ता है कि यह कितना महान् है जो मेरे होने पर भी धृति-भाव से बैठा है। धन्य है ऐसे महामना के लिए।

---

5. अधीरत्तं वत्तिस्स वत्तित्तं अहो णेदि। अधीरो सगीयं ण संभलेदि, सो पत्तेगकज्जं अधीरत्त-पुव्वगं किच्चा जगदीए उवहासपत्तं सिरेदि। सज्जणा अधीरदो आदरक्खणं कुव्वंति, णवरि अधीरो माणसिग-दुहं देदि॥

5. अधीरता व्यक्ति के व्यक्तित्व को नीचे ले जाती है। अधीर व्यक्ति अपने आपको ही नहीं सँभाल पाता, वह प्रत्येक कार्य अधीरता पूर्वक करके जगति में उपहास का पात्र बनता है। सज्जन लोग अधीर-व्यक्ति से आत्मरक्षा करते हैं, क्योंकि अधीर-व्यक्ति मानसिक दुःख देता है।

---

6. अधीरत्तं जीवस्स चित्ते णाणाविह-अवगुणा जादावेदि। खमादि-गुणाणं तु अधीरत्ते णो अवगासो॥

6. अधीरता व्यक्ति के अन्दर अनेक प्रकार के अवगुणों को उत्पन्न करा देती है। क्षमादि गुणों का तो अधीरता में अवकाश ही नहीं है।

---

7. धिज्जवंतो पत्तेगकज्जं पुव्वावर-अवत्थं दट्ठूणं करेदि। लाहालाहे अच्चंत-हरिसविसादं च णो पावेदि। सो वत्थु-विवत्थावियारं करेदि। लाहालाहा संसार-सब्भावो, इमम्हि हरिसविसादं किच्चा विहा संकिलेसत्तं किमु लहेमि; एरिसं सम्मचिंतणं करंतो धिज्जवंतो सगपरं धीरत्तं जच्छेदि॥

7. धैर्यवान प्रत्येक कार्य को पूर्वापर अवस्था देखकर करता है। लाभ-अलाभ में अत्यन्त हर्ष-विषाद को प्राप्त नहीं होता। वह वस्तु-व्यवस्था का ध्यान रखता है। लाभ-अलाभ संसार का स्वभाव है, इसमें हर्ष-विषाद करके व्यर्थ में संक्लेशता को क्यों प्राप्त करूँ, धैर्यवान-पुरुष ऐसा सम्यक्-चिन्तन करता हुआ स्व-पर को धीरता प्रदान करता है।

---

8. अधीराणं मित्तं धेरियं। अधीरत्तं माणसिग-पीडाए अदिरित्तं अण्णं किंचणं पि णो देदि एवं धेरियं देहिग-माणसिग-वायणिग-सयल-विवदादो रक्खेदि॥

8. अधीरों का मित्र धैर्य है। अधीरता मानसिक पीड़ा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देती, जबकि धैर्य शारीरिक, मानसिक, वाचनिक सम्पूर्ण विपदाओं से रक्षा करता है।

---

9. अधीरत्तं उप्पज्जेदि अथिरत्तं। अथिरचित्ते कदावि णो होदि आदसंतिवासो। आदसंति-लाहत्थं पढमं णियचित्तं अधीरत्त-सुण्णं कुणहि एवं धीरत्तेण पुट्ठेहि॥

9. अधीरता अस्थिरता को उत्पन्न करती है। अस्थिर-चित्त में कभी भी आत्मशान्ति का वास नहीं होता। आत्मशान्ति चाहिए; तो सर्वप्रथम निज अंतःकरण को अधीरता से शून्य करो और धीरज से पुष्ट करो।

---

10. धेरिय-अभावे ण दु ववहारे सुहं लहेदि णेव परमट्ठे। बहिरब्भंतर-लच्छी-लाहो धेरिएणेव होदि॥

10. धैर्य के अभाव में न व्यवहार में सुख मिलता है, न ही परमार्थ में। अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी की प्राप्ति धैर्य से ही होती है।

---

11. जीवण-उण्णदीए अधीरत्तं विउल-अवरोहो, अस्स अभावो आवस्सगो। जदि तुमं सगजीवणे अधीरत्तणं ण जिणेस्ससि दु सयलजीवणं कट्ठ-अवजसमयं होहिदि॥

11. अधीरता जीवन उन्नति में बहुत बड़ा अवरोध है, इसे हटाना अनिवार्य है। यदि आप अपने जीवन में अधीरता पर विजय प्राप्त नहीं कर पाए, तो सम्पूर्ण जीवन कष्ट और अपयश के साथ निकलेगा।

---

12. जं समया सूरत्तं धीरत्तं भग्ग-पबलत्तं च तेण सह सयलवीसो त्थि। अधीरेण सह सग-परिजणा वि णो वसंति, पुणो किं अण्णकहं कुणेज्जा॥

12. सारा विश्व उसके साथ है जिसके पास शूरता-धीरता, भाग्य की प्रबलता है। अधीर व्यक्ति के साथ स्व के परिजन भी नहीं रह पाते, अन्य की क्या बात करें।

---

13. ता वीर-धिज्जवंता णरुत्तमा पस्सेहि जेसिं जीवणे परिजण-सजण-अवरजणेहिं घोर-उवसग्गा किदं, विउल-कट्ठाइं दिंतीअ, पुणरवि सगीय-दिढ-वीसासेण सग कत्तव्वदो णेव परिपडीअ। अज्ज तेसिं आराहणा लोए हवेदि, जइवा सिरिरामो होदु तित्थयरो पासणाहो महावीरो वा होदु॥

13. उन वीर धैर्यवान नरोत्तमों को देखो जिनके जीवन में परिजन, स्वजन व अन्यजनों के द्वारा घोर उपसर्ग किए गए, विपुल कष्ट दिए गए फिर भी अपने दृढ़ विश्वास के साथ स्व-कर्तव्य से च्युत नहीं हुए। आज उनकी लोक में आराधना हो रही है, चाहे श्रीराम हों, तीर्थंकर पार्श्वनाथ हों या महावीर हों।

---

14. अखंड वीसवावी–हवणत्थं धीरत्त-कवय-धारणं आवस्सगंगं। धिज्जधारणं विणा कोवि णो होदि वीसवावी॥

14. अखण्ड विश्वव्यापी बनने के लिए धीरता का कवच धारण करना अनिवार्य अंग है। बिना धैर्य धारण किए कोई भी विश्वव्यापी नहीं बन सका।

---

15. अधीरस्स समओ वि णिज्जेदि, धीरस्स समओ वि णिज्जेदि। धीरस्स मरणं पि होदि अधीरस्स मरणं पि होदि। जदा दोण्हं मरणं पुण धीरत्तेण मरणं किमु ण कुणदु?

15. अधीर का भी समय निकलता है, धीर का भी समय निकलता है। धीर की भी मृत्यु होती है अधीर की भी मृत्यु होती है। जब दोनों की ही मृत्यु होती है तो धीरता के साथ मरण क्यों न करें?

---

16. अधीरत्तणे अण्णाणी मज्जेदि, णाणिं अधीरत्तं णेव फासेदि। तच्चणिण्णय-बलेण णाणी सगीय-सयल-विसमदाओ समदाए परियट्टेदि। दट्ठूणं तच्चणाणिं अधीरत्तं पि अधीरो होदि॥

16. अज्ञानी ही अधीरता में डूबता है, ज्ञानी को अधीरता स्पर्श भी नहीं कर पाती। तत्त्व-निर्णय के बल से ज्ञानी जीव अपनी सम्पूर्ण विषमताओं को समता में वर्तित कर लेता है। अधीरता भी अधीर हो जाती है, तत्त्वज्ञानी को देखकर।

---

17. धिज्जवंतस्स देवा वि सीसं णावंति। कहं धारेदि विसमदासु समदं, धिज्जवंतं समया हि इमा विज्जा। देहिग-वायणिग-माणसिग-पीडा होदु, पुणरवि सम्मभावेण धिज्जवंतो आणंदेण जीवेदि॥

17. धैर्यवान के सामने देव भी शीश झुकाते हैं। विषमताओं में समता कैसे रखी जाती है, यह विद्या धैर्यशाली के ही पास होती है। शारीरिक, वाचनिक, मानसिक कोई भी पीड़ा हो, परन्तु साम्यभाव से धैर्यशाली आनन्द के साथ जीता है।

---

18. परकट्ठं सुणिदूणं कट्ठणिवारणस्स विवेगपुण्णचिंतणं कुणहि। परकट्ठं सुणिदूणं सगीय-आदं कट्ठं मा देहि, इयत्तो अधीरो मा हवेहि। सग-सत्तीदो परदुह-णिवारणं कुणहि धेरिएण, णेव दुक्खेण॥

18. पर के कष्ट को सुनकर, कष्ट निवारण का विवेकपूर्ण विचार करो, परन्तु पर के कष्ट को सुनकर इतने अधीर मत हो जाना कि स्वयं की आत्मा को कष्ट आ जाए। स्व-शक्ति से पर के दुःख का निवारण करो धैर्य पूर्वक, पर दुःखी होकर नहीं।

---

19. जीवणक्खणाइं णाणारूवाइं होंति, सा विवत्था कम्मसावेक्खा। आददव्वसहावं पस्सेहि कम्म-णिरवेक्खो, जं किंचिवि होदि, तं सग-सग-उवादाणे होदि, णिमित्तं तु णिमित्तं मेत्तं अत्थि। केण कारणेण विहा अधीरत्तेण संकिलेसं भजेदि॥

19. जीवन के क्षण नानत्वरूप हो सकते हैं, वह व्यवस्था कर्म-सापेक्ष है। आत्मद्रव्य का स्वभाव कर्मनिरपेक्ष देखो, जो कुछ हो रहा है वह स्व-स्व उपादान में हो रहा है, निमित्त तो मात्र निमित्त ही है। क्यों व्यर्थ में अधीर होकर संक्लेशता को प्राप्त हो रहा है।

---

20. जीवस्स उवादाणं जीवो हि, पुग्गलस्स दु पुग्गलो चेव। णवि होदि भिण्णदव्व-उवादाणं भिण्णदव्वं। तदा एगदव्वं अवरदव्वकत्ता णत्थि, पुणो विहा कत्ताभावेण किमु किलेसं भजेसि?

20. जीव का उपादान जीव ही है, पुद्गल का उपादान पुद्गल है। भिन्न द्रव्य का उपादान भिन्न द्रव्य नहीं होता। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता है ही नहीं तो फिर कर्ताभाव लाकर व्यर्थ में क्यों क्लेश को प्राप्त हो रहा है?

---

21. अधीरत्तं संपुण्ण-आदगुणा मइलेदि लोए अवीसासो अमित्तीभावं विआएदि, तम्हा सज्जणाणं धिज्जधारण-अब्भासं कुव्वेज्जा॥

21. अधीरता सम्पूर्ण आत्मगुणों को मलिन कर देती है। लोक में अविश्वास अमैत्रीभाव को जन्म देता है, इसीलिए सज्जनों को धैर्य धारण का अभ्यास करना चाहिए।

---

22. जदा वि तुमं सगीयवयणं अण्णस्स समक्खे भासेसि, अण्ण-पुरिसो तुज्झ हिदचिंतगो वा अहिदचिंतगो, इदं विमरिसेज्जा। पढमं परवयणं गंभीरत्तेण सोच्छेज्जा, पुण पेक्खादो आदरेण उत्तरं दिज्जा॥

22. जब आप अपनी बात किसी पुरुष के समक्ष कहने को तत्पर हों, तो सर्वप्रथम इस बात का ध्यान रखें कि सामने वाला हमारा हित-चिन्तक है कि अहित-चिन्तक। सर्वप्रथम दूसरे की बात को गंभीरता के साथ सुनना चाहिए, फिर प्रेक्षा-पूर्वक सादर उत्तर देना चाहिए।

---

23. अधीरत्तं माणवजीवणे कडुविसं, तं जीवणे अमिदसरिसविवेगं घादेदि। जत्थ विवेग-विघादो तत्थ संपुण्णविसिट्ठ-आदगुण-पदणं आरंभेदि तम्हा सज्जणाणं अधीरत्तभूदा-कालकूड-विसदो पडिक्खणं रक्खेज्जा॥

23. अधीरता मानव जीवन में एक कड़वा विष है जो कि जीवन में अमृतभूत विवेक का घात कर देता है। जहाँ विवेक का विघात हुआ वहाँ सम्पूर्ण विशिष्ट आत्मगुणों का पतन प्रारंभ हो जाता है, इसीलिए सज्जनों को अधीरताभूत कालकूट विष से प्रतिक्षण सँभल कर रहना चाहिए।

---

24. ते जीवा लोए पहाणा जे अधीरत्त-विसदो दूरा एवं धेरिय-अमिदरसं पिबिदा। धीर-धारणेण णट्ठकज्जाइं पि संभलेंति॥

24. वे लोग लोक में महान् हो गए जो अधीरता रूपी विष से दूर हो गए, धैर्य रूपी अमृतरस का पान कर गए। धीरज धारण करने से बिगड़ते कार्य भी सँभल जाते हैं।

---

25. धेरियगुणो सव्वगुण-आधारो, धेरिय-वसुहाए विणा गुणस्स थिरत्तं किंपि ठाणं णत्थि। धेरियं समया संपुण्ण-गुणाणं मंडिदकरणस्स अहियारो त्थि॥

25. धैर्यगुण सर्वगुणों का आधार है, बिना धैर्य-भूमि के किसी भी गुण को स्थित होने को कोई स्थान नहीं है। सम्पूर्ण गुणों को मंडित करने का अधिकार धैर्य के पास है।

---

26. जीवो धणवंते पुण्णवंते बलवंते य सव्वगुणसंपण्णे सदि वि जदि धेरियगुण-संपण्णो णत्थि दु सो लोए परमट्ठे सव्वत्थ कज्जहाणिं हि भजेहिदि। जदा जीवचित्ते धेरियगुणा तदेव कज्जसिद्धी। धेरियं चिंतणत्थं देदि समयं, पेक्खादो किदं कज्जं संपुण्ण-साफल्लाइं जच्छेदि॥

26. प्राणी धनवान, बलवान, पुण्यवान या सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी यदि धैर्यवान नहीं है तो वह लोक में परमार्थ में सर्वत्र कार्य-हानि को ही प्राप्त होगा, कार्य सिद्धि तभी होगी जब व्यक्ति के अन्दर धैर्यगुण

होगा। धैर्य विचार करने के लिए समय देता है, प्रेक्षापूर्वक किया गया कार्य सम्पूर्ण सफलताओं को प्रदान करता है।

---

27. कित्ती पस्सेदि धिदिमुहं, धिदिं विणा कित्ति-लद्धी ण होदि। कित्ति-लाहट्ठं पत्तेगकज्जे वयणववहारे वि धिदि-धारणं आवस्सग-अंगं॥

27. कीर्ति धृति का मुख देखती है, बिना धृति के कीर्ति अपना कदम आगे नहीं रख पाती। यदि आपको कीर्ति पाने की इच्छा है तो प्रत्येक कार्य के करने में तथा बात करने में धृति को धारण करना अनिवार्य अंग है।

---

28. धीरत्तजुदं भूमिगदबीयं हि समए अंकुरिदं होदूणं विसाल-रुक्खो होदि, तहेव धेरियवंत-पुरिसस्स पत्तेगकज्जं सहजत्तेण विसालत्ते परियट्टेदि, इदं धीरत्त-सुफलं॥

28. धैर्यता युक्त भूमिगत बीज ही समय पाकर अंकुरित होकर विशाल वृक्ष बनता है; उसी प्रकार धैर्यवान पुरुष के प्रत्येक कार्य सहजता से विशालता में परिवर्तित हो जाते हैं, यह धीरजता का सुफल है।

---

29. तुमं तव्विसयस्स कियत्तो सेट्ठणादा हुज्जा, पुणो जदावि तुमत्तो जेट्ठ-सेट्ठ-गुरुजणा तव्विसए वत्तं कुणंति जावं ते तुमं भासणत्थं संकेदं ण कुणंति तावं सग-पण्णा-धेरियं धरेहि। एत्थ तुज्झ णाण-धेरिय-परिक्खा। सगाधीणं उत्तिण्ण-अणुत्तिण्णत्तं च॥

29. आप कितने ही श्रेष्ठ ज्ञाता तद्-विषय के क्यों न हों, परन्तु जब आपसे ज्येष्ठ, श्रेष्ठ गुरुजन तद्-विषय पर वार्ता कर रहे हों तब तक स्व प्रज्ञा का धैर्य रखना जब तक गुरुजन आपको बोलने का संकेत न करें। यहाँ पर आपके ज्ञान और धैर्य की परीक्षा है। उत्तीर्णता-अनुत्तीर्णता स्व के अधीन है।

---

30. जदि तुमं कुसलवत्ता एवं तुज्झ पुव्विं वत्तारेण तुज्झ विरुद्ध-भासणं किदं, पुणो वि धेरियं धारिदूणं सगीय-णियदविसए भासेसि दु तुज्झ उवएसे अमिदं॥

30. यदि आप कुशल वक्ता हैं और आपके पूर्व वक्ता ने आपके विरुद्ध भाषण किया, फिर भी आप धैर्य को न खोकर अपने नियत विषय पर ही बोलते हैं तो आपके उपदेश में अमृत है।

---

31. जदि जीवो कसायावेगयाले विवेगदो धेरियं धारित्तु मुहुत्तपमाणयाले कसायभावं उवसमेदि दु महापाव-संकिलेसत्ताहिंतो आदरक्खणं हवेदि॥

31. कषाय के उद्रेक काल में यदि व्यक्ति विवेकपूर्वक धैर्य धारण करके एक मुहूर्त प्रमाणकाल कषाय-भाव को टाल दे, तो महा-पाप संक्लेशता से आत्मरक्षा हो जाती है।

---

32. विसयाणं अधीरत्तेण जीवस्स जीवणं णासिदं। खणमेत्त-वासणाए कियत्ताणं जीवाणं धम्मजसपदणं किदं। जदि जीवं वासणाए पुव्विं वासणाफल-णाणं होदि दु संपडि लोए सिरं ण समोणमेदि, भविस्से दुग्गदि-पत्तं पि णो होदि विदुजणमज्झे लहेदि सम्माणं च॥

32. विषयों की अधीरता ने व्यक्ति के जीवन को नाश कर दिया। एक क्षण की वासना ने कितने जीवों के धर्म-यश का पतन करा दिया। वासना के पूर्व वासना का फल जान लेता तो सम्प्रति लोक में सिर नीचा न होता, भविष्य में दुर्गति का पात्र न बनता; विद्वान् के मध्य सम्मान को प्राप्त होता।

---

33. जह सीयलथिर-सलिले कहं जल-तले मुत्ताओ अवराइं बहुमुल्ल-पदत्थाइं च संति, तह धेरियं पुण्णसच्चबोहं कारेदि। एवं धिज्जगुणेण जीवणस्स भूदत्थ-रहस्साइं दिस्संति, तम्हा वत्थुतच्चस्स णिण्णयकाले धीरत्त-गंभीरत्त-आसायो आवस्सगो॥

33. धैर्य पूर्ण-सत्य का बोध करा देता है जैसे शीतल स्थिर पयस (पानी) में जल-तल में कहाँ मोती हैं, कहाँ अन्य कीमती पदार्थ हैं। इसी प्रकार धैर्य गुण से जीवन के भूतार्थ रहस्य दृष्टिगोचर होते हैं, इसीलिए वस्तु-तत्त्व के निर्णयकाल में धीरता-गंभीरता का आश्रय लेना अनिवार्य है।

---

34. विवत्तीए णवि मुंचेदव्वं धेरियं। जो मुंचेदि धेरियं विवत्तीए, तं विवत्तीओ देंति महाकट्ठं एवं जे धीरा विवत्तीए धेरियं ण मुंचंति ता विवत्तीओ सदो हि मुंचित्ता गच्छंति॥

34. विपत्ति काल में भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। जो विपत्ति के काल में धैर्य छोड़ देता है उसे विपत्तियाँ महाकष्ट देती हैं और जो धीर-पुरुष विपत्ति काल में धैर्य नहीं छोड़ते उन्हें विपत्तियाँ स्वतः छोड़कर चली जाती हैं।

---

35. धीरं णिगसा अणेगहुत्तं विसमदाणं किण्हमेहा आगच्छंति, णं ते महापुरिसा धेरिय-पवणादो ता ताडित्ता विद्दवेंति। कट्ठभूद-साममेहा वि धेरियवंतस्स किंचिवि असुहं ण कुणंति॥

35. धीर पुरुष के सामने अनेक बार विषमताओं के काले बादल आते हैं, परन्तु वे महापुरुष धैर्य की हवा से उन्हें हटाकर अलग कर देते हैं। कष्टों के श्याम बादल भी धैर्यशील का कुछ नहीं कर पाते।

---

36. असंत-परिणामी-जीवा वि सहज-सामण्णरूव-धेरियवंतस्स समीवे साहुसमीवं लहेंति॥

36. अशान्त-परिणामी जीव भी सहज, समता धैर्यवान के समीप आकर साधु-स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं।

---

37. सव्वगुण-संरक्खगं धेरियगुणं जीवणस्स पत्तेग-समएसु सगं समया धारेहि, तुज्झ सव्वगुणरक्खणं सदो हि होस्सदि॥

37. सर्वगुणों का संरक्षण-दायक धैर्यगुण को जीवन के प्रत्येक पलों में अपने साथ रखो, तो आपके सर्वगुणों की रक्षा स्वतः हो जाएगी।

12

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

दया

(दया)

1. पत्तेगजीवो जीवणवंछं धारेदि, भवे कोवि सगमरणं ण इच्छेदि। लोए पाण-विओगदो विसालं अण्णं किंपि कट्ठं णत्थि। पर-पाण-हरणं, सग-पाण-विओगकरणं च घोरपावं॥

1. प्रत्येक जीव जीने की इच्छा रखता है, संसार में कोई भी जीव अपना मरण नहीं चाहता। प्राण-वियोग से बड़ा अन्य कोई कष्ट लोक में नहीं है। पर के प्राणों का हरण, स्वयं के प्राणों का वियोग कर लेना घोर पाप है।

---

2. लोए सगपर-आणंददं वत्थुं दया। दया सगं सुहं देदि तहा जम्हि दया होदि तं पि सुहं होदि, तम्हा सव्वधम्मसारो त्थि दया। दयाधम्म-आसयदो आदसंतीए सह वीस-संतीए वि दिव्व-जयणादो होदि॥

2. स्व-पर आनन्दप्रद लोक में कोई वस्तु है तो वह दया है। दया स्व को भी सुख देती है और जिस पर दया की जाती है उसे भी सुख प्राप्त होता है, इसलिए सर्व-धर्म का सार दया है। दयाधर्म का आश्रय लेने से आत्मशान्ति के साथ विश्वशान्ति का भी दिव्य जयनाद होता है।

---

3. जदा तुमं कंचिदवि पाणं ण देसि, पुण तुज्झ अण्ण-पाणहरण-अहियारं को दिंतीअ? परपाण-संहारो माणवत्ते कलंकं। कट्ठदाणं णत्थि माणवधम्मं। किंचि संतचित्तेण चिंतेहि ण दु आवेगे, कुणहि विवेगपुव्वग-आयारवियारं च॥

3. जब आप किसी को प्राण नहीं दे सकते हो, तो फिर आपके लिए किसी अन्य के प्राण हरण करने का अधिकार किसने दिया? पर के प्राणों का संहार करना मानवता पर कलंक है। किसी को कष्ट देना यह मानव धर्म नहीं है। थोड़ा शान्तचित्त से चिंतन करो, आवेग में नहीं, विवेकपूर्वक आचार-विचार करो।

4. अहो माणव! रोच्छेदि माणवत्तं, णवरि पसूदो अहिग-पसुत्तं माणवे विज्जमाणं। ओहो! सिरि-इत्थीए सगदेहत्थं च माणवो माणवं हिंसेदि, सगसंताणघादं पि करेदि॥

4. अहो मानव! मानवता रो रही, क्योंकि पशु से अधिक पशुता मानव के पास आ गई। ओहो! मानव, मानव को मार रहा, स्वसंतान का भी घात कर रहा, स्व-शरीर, श्री-स्त्री के लिए।

---

5. जत्थ सिरि-इत्थी-रागो तत्तो दया गच्छेदि। धण-दारा-रागेण वीसस्स संपुण्ण-महुर-संबंधा वि खणमेत्ते कडुगा होंति एवं दया समत्तेदि रिवुत्तं च पयडेदि॥

5. जहाँ 'श्री', 'स्त्री' का राग प्रवेश कर जाता है, वहाँ से दया का पलायन हो जाता है। धन-दारा का राग विश्व का ऐसा राग है जिसके कारण सम्पूर्ण मधुर संबंध क्षणमात्र में कड़वे हो जाते हैं और फिर दया समाप्त हो जाती है, शत्रुता प्रकट हो जाती है।

---

6. जत्थ पाणीणं हिदय-पडले दयावासो तत्थ धम्मवासो। जत्थ दया-अभावो तत्थ सच्चत्थधम्म-अभावो वि। मंदिर-तित्थक्खेत्ताइं धम्मस्स पदीग-ठाणाइं धम्मो दु दया॥

6. धर्म वहीं होता है जहाँ प्राणियों के हृदय-पटल पर दया अंकित होती है। जहाँ दया का अभाव है वहाँ पर सत्यार्थ धर्म का भी अभाव है। मंदिर, तीर्थक्षेत्र, धर्म के प्रतीक-स्थान हैं, धर्म तो दया है।

---

7. कस्सचिद पुरादण-दोसं जाणित्ता वट्टमाणे तस्स पयडीकरणं पि अदयाभावो। दोसपयडे सदि जीवं होदि विउल-माणसिग-वेदणा, तस्स हिदयाघादो वि हविज्जदे। जदि तुमे किंचिवि दया-भावो दु अण्णं मा कुण संताविदं, तस्स कम्मं तं पस्सेहिदि, विहा कट्ठं किमु कुणसि?

7. किसी की भूतकाल की कमी को जानकर वर्तमान में प्रकट करना भी अदया भाव है। दोष प्रकट होने पर व्यक्ति को बहुत मानसिक पीड़ा होती है, उसका हृदयाघात भी हो सकता है। यदि आपके अन्दर किञ्चित् मात्र भी दयाभाव है तो किसी को भी संतापित मत करो, उसका कर्म उसे स्वयं देख लेगा, आप व्यर्थ क्यों कष्ट उठाते हो।

---

8. लोओ ईसागेहो, इमम्हि सव्वे तुज्झ हिद-चिंतगा ण होंति। जा तुमं सगीया भणंति ते हि कदाइं पबलरिवुणो होंति। पुरादण-दोसं वट्टमाणे पयडीकरण-सत्ती तेसुं होदि, जे तुज्झ बहुसमीवे होंति। ता

पडि वि असुहपरिणामं तहा सगं पडि वि हीणभावणं च णेव कुणहि। सगे माणसिगदयाभावो अच्चंत-दुल्लहभावो॥

8. लोक ईर्ष्या का घर है, इसमें सभी आपके हित-चिन्तक नहीं हो सकते। जिन्हें आप अपना मानते हैं वे ही कभी-कभी प्रबल शत्रु निकलते हैं। भूत भूल को वर्तमान में प्रकट करने की क्षमता उन्हीं लोगों में होती है जो आपके बहुत पास होते हैं। उनके प्रति भी अशुभ परिणाम नहीं लाना तथा स्व के प्रति भी हीन-भावना नहीं लाना। स्वयं पर मानसिक दया-भाव अत्यन्त दुर्लभ-भाव है।

---

9. अब्भंतर-उज्जलत्तं ववहारे दयारूवे पयडेदि तहा अंतरिग-णिट्ठुरत्तं हिंसप्पग-किरियारूवे पयडेदि। बहिरंग-पउत्ती जीवस्स अंतरंगस्स भूदत्थ-बोहं कारेदि॥

9. अंतरंग की उज्ज्वलता व्यवहार में दया के रूप में प्रकट होती है और आंतरिक क्रूरता हिंसात्मक क्रिया रूप में प्रकट होती है। बहिरंग की प्रवृत्ति व्यक्ति के अंतरंग का यथार्थ बोध कराती है।

---

10. दयालू मम्मभेदी-सद्द-पओगं पि ण करेदि, सो जाणेदि णिट्ठुरवाणी सरत्तो वि अहिगा कट्ठप्पदा। कक्कस-भासगो सग-परं च णवि परितोसेदि। जो मम्मभेदीसद्द-पओगं करेदि, सो सगपरं पीडादायगो णिट्ठुरहिदयी॥

10. दयावान मर्मभेदी शब्दों का भी प्रयोग नहीं करता, क्योंकि उसको बोध है कि कठोर वाणी बाण से भी अधिक कष्टप्रद होती है। कर्कश बोलने वाला न स्वयं को प्रसन्न रख पाता है, न अन्य को। स्व-पर को पीड़ा देने वाला क्रूर हृदयी वह है; जो मर्मभेदी शब्दों का प्रयोग करता है।

---

11. पत्तेगपाणी सग-सग-पुण्णेण जीवेदि सगाउक्खएण मरेदि, पुण अवर-अहिदस्स असुहचिंतणं किच्चा माणसिग-हिंसं किमु कुव्वेसि? तुज्झ चिंतणेण णो कोवि जीवेदि, तम्हा कुव्वेहि सगदयाभाव-रक्खणं॥

11. प्रत्येक प्राणी स्व-स्व भाग्य से जीता है, स्व-आयु के क्षय से मरता है, फिर आप पर के अहित का अशुभ-चिंतन करके मानसिक हिंसा क्यों कर रहे हो? आपके विचार करने से न कोई जीता है, न मरता है, इसलिए अपने दयाभाव की रक्षा करो।

---

12. दयाभाव-अभावे धम्मणामस्स किंपि वत्थुं णत्थि। जत्थ दयाकरुणा-अभावो तत्थ ववहार-धम्म-अभावो परमट्ठधम्मस्स गंधं चेव णत्थि। ववहार-धम्मेण अंतरेण परमट्ठधम्मजम्मणं णत्थि, ववहारधम्मो हि परमट्ठधम्मकारणं॥

12. दया के अभाव में धर्म नाम की कोई वस्तु नहीं। जहाँ पर दया-करुणा का अभाव है वहाँ व्यवहार धर्म का ही अभाव है, परमार्थ धर्म की तो गंध ही नहीं। बिना व्यवहार धर्म के परमार्थ धर्म का जन्म नहीं, परमार्थ धर्म का कारण व्यवहार धर्म ही है।

---

13. जहेव सरोवर-सुक्खे सदि मीणादि-जलचराणं मरणं तहेव करुणादया-सुण्ण-हिदयम्हि धम्ममरणं होदि। जह जलविहीणक्खेत्ते णवि होदि मीणजीवणं तहेव दयाविहीणहिदए सच्चत्थ-पयासगो धम्मो ण वसेदि॥

13. करुणा-दया से शून्य हृदय में धर्म की मृत्यु ऐसे ही हो जाती है जिस प्रकार सरोवर के सूखने पर मछली आदि जलचरों की मृत्यु हो जाती है। जल विहीन क्षेत्र में जैसे मछली का जीवन नहीं रहता, उसी प्रकार से दयाविहीन हृदय में सत्यार्थ प्रकाशक धर्म नहीं रहता।

---

14. कोडि-वरिस-पज्जंतं दयासुण्णं कुतवं तवेहि, तेण किंचिवि लाहो णत्थि, एवं एगदिणस्स दयापरिणामो जीवकल्लाणमग्गं पसत्थं करेदि तम्हा मिच्छातवं चइत्तु दयावदधारणं सेयमग्गस्स संसिद्धि-साहणं॥

14. करोड़ों वर्षों तक दयाशून्य कुतप तप लो उससे कुछ भी प्राप्त नहीं होता, वहीं एक दिन का दया परिणाम जीव का कल्याण मार्ग प्रशस्त करता है, इसलिए मिथ्यातप का त्याग कर दया व्रत धारण करना श्रेयोमार्ग की सिद्धि का साधन है।

---

15. सच्चत्थ-पयासगो धम्मो हवणकुंडे धण्णादि-दव्वाणं खेवणं णत्थि, सो दु विहा धुम्म-उप्पादगेण जीवघादकारणं। सच्चत्थ-पयासगो धम्मो दया-परिपूरिदे झाणग्गिम्हि कम्माइं भंजेदि, ण दु अकारणेण जीवा भंजेदि॥

15. सत्यार्थ प्रकाशक धर्म हवन-कुण्ड में धान्यादि द्रव्यों का क्षेपण नहीं है, वह तो व्यर्थ में धूम्र उड़ाकर जीवों का घात करना है। सत्यार्थ प्रकाशक धर्म दया से पूरित ध्यान अग्नि में कर्मों को भस्म करता है, न कि व्यर्थ में जीवों को स्वाहा करता है।

---

16. रसणा-लोलुवत्त-वसादो जीव-गीवाए छुरिगा-चालणं परमप्पलाह-उवाओ णत्थि। जदि जीववहो परमप्पलद्धि-उवाओ दु विचिंतेहि णरग-गमण-उवाओ किं होहिदि? संपदाय-धम्मणामे जे मूढा दयाधम्मणासं कुणंति। सो परमप्प-पदलाहोवाओ णत्थि, मेत्तं अण्णाणीणं अण्णाणत्त-परिचओ॥

16. रसना की लोलुपता के वश होकर जीवों की गर्दन पर छुरा चलाना कोई परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय नहीं है। यदि जीव-वध परमात्मा प्राप्ति का उपाय हो गया; तो स्वयं विचार करो नरक जाने का उपाय क्या होगा? सम्प्रदाय एवं धर्म के नाम पर जो अज्ञ प्राणी दया-धर्म का नाश कर रहे हैं वह परमात्म-पद प्राप्ति का उपाय नहीं है, मात्र अज्ञानियों की अज्ञानता का परिचय है।

---

17. जेहिं भावेहिं विसोहि-घादो, जे आद-दुग्गदि-कारणाइं च, ते सव्वे भावा अदयाभावा; तम्हा सगे वि दयाभावं धरेहि, इदं दयालु-कत्तव्वं। कामकोहादि-कुभावा णियप्पभावेसुं णवि उप्पज्जेहि, णवरि ते भावा आदस्स चिरकालं भवभमणकारणाइं॥

17. जिन भावों से विशुद्धि का विघात हो, जो आत्मा की दुर्गति के कारण बनें वे सब भाव अदया भाव हैं, इसलिए दयावान का कर्तव्य है वह स्व पर भी दया भाव रखे। काम, क्रोधादि कुभावों को स्वात्म-भावों में उत्पन्न ही नहीं होने दें, क्योंकि वे भाव आत्मा को चिरकाल तक भव-भ्रमण के कारण हैं।

---

18. जो सगम्हि धारेदि दयाभावं सो हि अण्णे दयाभावं धारेहिदि। जं विसयकसाया रुइयरा संलग्गेंति, सो णिद्दुरा। सो ण दु सगे दयं धारेदि, णेव अण्णजीवं पडि करुणाभावं करेदि। किं विसयी-जीवचित्ते करुणादंसणं हुज्जा? जो एगहुत्तस्स अबंभसेवणे णव- कोडिजीवाणं विराहणं करेदि, सो तत्तो वि अहिगो णियभावाणं णिम्मलत्त-तिव्व-घादगो॥

18. जो स्वयं पर दया भाव रखता है वही यथार्थ में अन्य पर दया रख पाएगा। जिस व्यक्ति को विषय-कषाय रुचिकर लग रहे हैं वह क्रूर प्राणी है। वह न स्वयं पर दया रख सकता है, न अन्य किसी भव्य जीव पर ही करुणा-भाव ला सकता है। विषयी जीव के अन्दर क्या करुणा के दर्शन होंगे? जो एक बार के अब्रह्म सेवन में नव कोटि जीवों की विराधना करता हो, उससे भी अधिक निज-भावों की निर्मलता का तीव्र घातक है।

---

19. जदा करुणासीलो दयावंतो अब्भंतर-विसोहीए णिमज्जेदि तदा सयल-वियारीभावा णियत्तो पुहं करेदि। एवमेव उज्जोगं पत्तेगधम्मप्पं कादव्वं। जो वियारी-इच्छाणं दमेहिदि, तस्स अवर-

अदयाकज्जाइं सयमेव समत्तेहिंति, इदं परमं सच्चं। जो दिणे उदासो दिस्सेदि सो सगदयापहावेण दिणे पसण्ण-चित्तो दिस्सेहिदि॥

19. करुणाशील दयावान जब अंतरंग विशुद्धि में निमग्न होता है तब सम्पूर्ण विकारी भावों को निज से पृथक् कर लेता है। यही प्रयास प्रत्येक धर्मात्मा को करना चाहिए। जो विकारी इच्छाओं का दमन कर लेगा तो उसके अन्य अदया के कार्य स्वयमेव समाप्त हो जायेंगे; यह बात परम सत्य है। जो व्यक्ति दिन भर उदास दिखता है वह स्वदया के प्रभाव से दिन भर प्रसन्नचित्त दिखेगा।

---

20. जत्थ कसायाभावो तत्थेव परमदया। कसायजुदम्हि सगपरदयाअभावो त्ति। मंदकसाए थोव-दया तहा पुण्ण-कसाय-समत्ते सदि पुण्णदयाधम्मो पयडेदि, तम्हा साहगं पडिक्खणं दयाधम्मवड्ढणट्ठं कसायभाव-अभावस्स समुज्जोगं कादव्वं॥

20. कषाय का अभाव जहाँ वहीं परम-दया है। कषायी के पास स्व-पर दया का अभाव देखा जाता है। मन्द-कषाय में अल्प दया तथा पूर्ण कषाय के समाप्त होने पर पूर्ण दया-धर्म प्रकट होता है, इसीलिए साधक-पुरुष को प्रतिक्षण दयाधर्म की वृद्धि हेतु कषाय भाव का अभाव करने का सम्यक्-पुरुषार्थ करना चाहिए।

---

21. विभिण्ण-अणेगाणेग-वियप्पाणं समूहो जीवस्स अब्भंतरविसुद्धभावाणं विघादगो, जीवस्स आद-दया-रहिदा परिणामा पडिक्खणे कट्ठप्पदं होंति॥

21. विभिन्न अनेकानेक विकल्पों का समूह जीव के अंतरंग विशुद्ध-भावों का विघातक है, आत्म-दया से रहित परिणाम जीव के लिए क्षण-क्षण में कष्टप्रद होते हैं।

---

22. जह परगेहे इत्थी, सरिदा तीरत्थो रुक्खो, मंतीरहिदं रज्जं विणस्सेदि; तहेव दयारहिद-धम्मप्पा विणस्सेदि॥

22. पर घर में स्त्री, नदी के किनारे का वृक्ष, मंत्री-शून्य राज्य जैसे विनाश को प्राप्त होते हैं वैसे ही दया-रहित धर्मात्मा नाश को प्राप्त होता है।

---

23. जत्थ दयाधम्मो तत्थ वच्छल्ल-मेत्तीभावस्स पावण-पीऊस-वरिसा होस्सदि, तत्थ रिवुत्त-दोसबुद्धि-विसवरिसा णवि होस्सदि। करुणाभावस्स सब्भावे सव्वसंबंधा महुरत्तं लहंति। जत्थ माहुरियं तत्थ मित्ती॥

23. दयाधर्म जहाँ होगा वहाँ वात्सल्य मैत्री-भाव की पावन-पीयूष वर्षा होगी, शत्रुता, द्वेषबुद्धि की विष-वर्षा वहाँ नहीं होगी। करुणाभाव के सद्भाव में ही सर्व-संबंध मधुरता को प्राप्त होते हैं। जहाँ माधुर्य भाव है, वहीं मैत्री-भाव है।

---

24. दयाधम्म पालणे सदि हि सयलधम्मं पलंति, सिसु व्व॥

24. दयाधर्म के पालने में ही सम्पूर्ण धर्म पलते हैं शिशुवत; जैसे बालक पालने में पलता है।

---

25. जत्थ पाणीमेत्तं पडि णो दयासब्भावो, तदणुसारेण आयरणं पि णत्थि, मूग-पसु-पक्खीणं पाणहरणं च जत्थ तत्थ धम्मो णत्थि धम्माभासो त्थि। जदि तं धम्मो भासेज्जा पुण सयं विचिंतेज्जा किं णाम अधम्मो?

25. वहाँ धर्म नहीं धर्माभास है जहाँ प्राणी मात्र के प्रति दया की बात न कही जाए, तदनुसार आचरण नहीं किया जाए, जहाँ मूक पशु-पक्षियों का प्राण हरण किया जाए और उसे धर्म कहा जाए तो आप स्वयं विचार करो कि अधर्म नाम की वस्तु क्या होगी?

---

26. सच्छ-सेदवत्थाणं अण्णविचित्तवत्थाणं वा धारणेण णवि होदि धम्मो, धम्मो दु सच्छणिम्मलभावेहिं होदि। सुद्धाहारचिंतण-वाणीपवित्तत्तणादो धम्मो अंतोकरणे पवेसेदि। विद्वेस-जादि-पंथ-संपदायग्गहे णिट्ठुरत्त-जम्मणं होदि, ण दु धम्मस्स॥

26. स्वच्छ-श्वेत या अन्य कोई अनेक प्रकार के वस्त्रों के धारण करने से धर्म नहीं आता, धर्म तो स्वच्छ निर्मल भावों से आता है। शुद्ध आहार, विचार, वाणी की पवित्रता से धर्म का अंतःकरण में प्रवेश होता है। विद्वेष, जाति, पंथ, सम्प्रदाय के आग्रह में क्रूरता का जन्म होता है, धर्म का नहीं।

---

27. सद्देहिं सह आयरणे वि दया होदव्वा। दयासद्दो दु वायगो, वच्चत्थे किरियाभूद-दया। दुहीणं दुहं पुहुत्त-उज्जोगं कादव्वं, णं णत्थि अण्णं दुही किच्चा॥

27. दया शब्दों के साथ आचरण में भी आना चाहिए। दया शब्द तो वाचक है, वाच्यार्थ में क्रियाभूत दया है। दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करने का पुरुषार्थ करना, परन्तु दूसरे को दुःखी करके नहीं।

---

28. दयावंतेण सह विवेगवंतो वि होदव्वो। एगम्हि दया अवरे अदया ण होज्जा, अयं विवेगो होदव्वो। दयालू पाणहारग-हिंसगाणं पि पाणरक्खणं करेदि। सढेण सह सयं सढो णवि घोसावेदि। वीस-बंधुत्तेण सह सग-पण्णाए सग-पर-रक्खणं करेदि॥

28. दयावान के साथ विवेकवान भी होना चाहिए। एक पर दया दूसरे पर अदया न हो जाए इस बात का ध्यान रखना। दयावान प्राण-हरण करने वाले हिंसकों के भी प्राणों की रक्षा करता है। शठ के साथ स्वयं को शठ घोषित नहीं कराता, स्वप्रज्ञा से स्व-पर की रक्षा करता है, विश्व बन्धु के साथ।

---

29. दयावंता हि सम्म-णीदिवंता होंति। जदि मग्गे कोवि भारवाहगो वाहिगत्थो गब्भवदी-इत्थी वा गमेदि दु दयावंतं सयं हि मग्गं मुंचेज्जा, णवरि अम्हेहि अण्णं कट्ठं ण होदु॥

29. जो दयावान होते हैं; वे सम्यक्-नीतिवान भी होते हैं। यदि मार्ग में कोई भार-वाहक, रुग्ण या गर्भवती स्त्री जा रही हो तो दयाशील के लिए स्वयं मार्ग छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हमारे द्वारा किसी को कष्ट न हो।

---

30. जदि तुमं दयालू दु सग-विसिट्ठपण्णा-पओगं पि कुज्जा। जह सगीयमग्गे गेहे भवण-मंदिरादिम्हि वा कत्थ वि कूरहिंसगो पस्सेदु दु सगीय-इट्ठेहिं सह तस्स रक्खणं पि हुज्जा॥

30. यदि आप दयाशील हैं; तो स्व विशिष्ट प्रज्ञा का प्रयोग करना भी आना चाहिए। जैसे आपने मार्ग में, घर, भवन, मंदिर आदि में कहीं भी क्रूर-हिंसक प्राणी देखा तो अपने इष्टों के साथ उस प्राणी की भी रक्षा होना चाहिए।

---

31. तेसु कूरेसु वि कूरभावा मा कुण, जे सम्मुहे वि जीवघादं कुणंति। तेसिं जदि संभवो दु सग-पण्णा-कोसलादो जाणावेहि, णो बुज्झेहि दु होज्जा मज्झत्थं, णं तेसिं मरणभावं पि मा कुणहि। दयापत्तेसुं हि दयं कुणहि॥

31. उन-क्रूर प्राणियों पर भी क्रूर-भाव मत लाओ जो सामने ही जीवों का घात कर रहे हैं। उन्हें संभव हो तो अपनी प्रज्ञा के कौशल से समझाओ, नहीं समझें तो माध्यस्थ हो जाओ, परन्तु उन्हें भी मारने के भाव मत लाओ। दया के पात्रों पर दया ही दिखाओ।

---

32. दयालू कस्सचिदवि दव्वपाणघादं ण करेदि, सो दु भाव-घादं पि ण करेदि। सो पडिक्खणं मज्जेदि-मे केणचिद किच्चेण अवरभिण्ण-पुरिसस्स परिणामेसु किलेसो णो होदु॥

32. दयालु प्राणी किसी के द्रव्य-प्राणों का घात तो करता ही नहीं, अपितु वह तो भावों का भी घात नहीं करता। वह प्रतिक्षण सावधानी रखता है कि मेरे किसी भी कृत्य से किसी अन्य भिन्न पुरुष या प्राणी के परिणाम क्लेश को प्राप्त न हो जायें।

---

33. मेत्तं अदुअ-अणुट्ठाणदो हि लोयालोयस्स वियप्पाणं अभावो संभवो एवं सोच्चिय परमट्ठेण परमदया॥

33. एकमात्र अद्वैत के ही अनुष्ठान से लोकालोक के विकल्पों का अभाव संभव है और वही परमार्थ से परम दया है।

---

34. करुणा-दयावंतेहिं धम्म-समाय-देस-रट्ठ-वीसा रक्खिदा। कूर-हिंसग-सगहिदु-अहंकारी-जीवाणं सगस्स रक्खा णत्थि पुणो तादो किं कुणदु अण्ण-धम्मरट्ठ-वीसरक्खणं कप्पणं॥

34. करुणा-दयाशील जीवों से ही धर्म, समाज, देश, राष्ट्र तथा विश्व रक्षित है। क्रूर-हिंसक, स्वार्थी, अहंकारी लोगों की स्वयं की ही रक्षा नहीं है, फिर अन्य धर्म, राष्ट्र, विश्व की रक्षा की उनसे क्या कल्पना की जाये?

---

35. जेसिं हिदयं करुणादयाए अद्दं ते हि वीसबंधुत्त-पाढं वीसं पढावेंति। संपदाय विसेस-उवासगो वीस-बंधुत्त-ठावणं ण कुव्वेदि, णवरि संपदायरागो हिंसं जम्मेदि, ण दु मित्तीभावं॥

35. जिसका हृदय करुणा, दया से आर्द्र है। वे ही विश्व-बन्धुता का पाठ विश्व को पढ़ा सकते हैं। सम्प्रदाय विशेष का उपासक विश्व-बन्धुत्व की स्थापना नहीं कर सकता, क्योंकि सम्प्रदाय का राग हिंसा को जन्म देता है, मैत्री-भाव को नहीं।

---

36. कुव्वहि दयाभावस्स उवासणा, जम्हि पाणीमेत्तं आणंदो त्थि, संपदायवादं मुंचेदु तम्हि संकिलेसत्तं अंधवीसासो वा अत्थि॥

36. दया-भाव की करो उपासना जिसमें प्राणिमात्र को आनन्द है, सम्प्रदायवाद को छोड़ो उसमें संक्लेशता है, अन्धविश्वास है।

---

37. संपुण्ण-संपदायाणं होदु एगं पवित्तठाणं, तं तु दयातित्थं। जस्स ण कोवि धाम-उवासयो केवलं आदविसोहि-भावो पाणीमेत्त-रक्खा-परिणामो तहा संपुण्ण-पंथादो अदीदो सत्तेसु मेत्तीए दिव्वणादो॥

37. सम्पूर्ण सम्प्रदायों का एक पवित्र स्थान हो और वह है दया तीर्थ। जिसका न कोई धाम-उपाश्रय, एकमात्र आत्मविशुद्ध-परिणाम, प्राणिमात्र की रक्षा के परिणाम तथा सम्पूर्ण पंथों से अतीत 'सत्त्वेषु-मैत्री' का दिव्य-नाद।

13

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

दमो

दम (संयम)

1. मणुण्ण-अमणुण्ण-इंदियविसएसु रागद्दोस-विरदी दम-संजमो॥

1. मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन्द्रिय के विषयों में राग-द्वेष की विरति दम-संयम है।

---

2. जा समया संजमो, ते खलु लोए वीसास-पत्ता। जीवो दम-अभावे कियत्तं उत्तमं कज्जं पि कुव्वदु, सो संसारे पुज्जत्तं ण लहिस्सदि॥

2. जिनके पास संयम है, लोक में वे ही लोग विश्वास के पात्र हैं। दम (संयम) के अभाव में कितना ही श्रेष्ठ कार्य कर ले व्यक्ति, परन्तु वह संसार में पूज्यता को प्राप्त नहीं कर पाएगा।

---

3. जे जिद-मणिंदिया, जेसिं रागद्दोसबुद्धी लोयस्स कस्सिंचिदवि वत्थुम्हि णत्थि, ते णरा धण्णा वीसास-पत्ता य। लोओ सिंहासणेण सह हिदयासणे बइसारिय सद्धा-सुमणेण ता पुज्जेदि॥

3. जिन्होंने मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली, जगत् की किसी भी वस्तु पर जिनकी राग-द्वेष बुद्धि नहीं है; वे नर धन्य हैं, विश्वास के पात्र हैं। लोक उन्हें सिंहासन ही नहीं, अपितु हृदयासन पर विराजमान कर श्रद्धा-सुमन से उनकी पूजा करता है।

---

4. संसारे चक्कीपदविभूदिचागं कुज्जा, णं सगीय-चारित्तणासं णवि कुज्जा। संपत्ती परवत्थुं अत्थि सा पुण्णोदएण दवेदि, चारित्तं तु आदगुणो। संपत्ती लाहो पुणो पुणो होदि, चारित्तलाहो इयत्तो सरलो णत्थि॥

4. संसार के चक्रीपद की विभूति त्याग कर देना, परन्तु अपने चारित्र का नाश नहीं करना। सम्पत्ति तो पर-वस्तु है वह पुण्योदय से प्राप्त होती है, पर चारित्र आत्म-गुण है। सम्पत्ति पुनः प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु चारित्र की प्राप्ति इतनी सरल नहीं है।

---

5. संसारस्स मोहपुण्णाइं संपुण्ण-कज्जाइं भववड्ढिकारणाइं, दुग्गदीए सहायगाइं महाकट्ठदाइं च। मेत्तं चारित्तगुणो हि संसारस्स सयलदुक्ख-मुत्तिकारणं, अप्पं करेदि परमप्पा, सामण्णजीवं पि सेट्ठं करेदि॥

5. संसार के मोहपूर्ण सम्पूर्ण कार्य मात्र भव-वृद्धि के ही कारण हैं, दुर्गति में सहायक हैं, महा कष्टप्रद हैं। एकमात्र चारित्र गुण ही ऐसा है जो संसार के समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाता है, आत्मा को परमात्मा बनाता है। सामान्य प्राणी को भी महान् बना देता है।

---

6. आदसाहणाए इंदियकसायदमणं आवस्सगं अंगं, अस्स दमणं विणा साहगस्स गदी ण होदि वड्ढमाणा; तम्हा आदहिदु-साहगस्स पहाणंगं खु इंदिय-दमणं। दमभावो धम्मजस-रक्खगो॥

6. आत्म-साधना में इन्द्रिय-कषाय का दमन आवश्यक अङ्ग है; इसके दमन के बिना किसी भी साधक की गति वर्धमान नहीं हो सकती, इसीलिए आत्म-हितैषी साधक के लिए प्रधान अङ्ग इन्द्रिय-दमन ही है। धर्म व यश का रक्षक दम (संयम) भाव ही है।

---

7. किं तुमं धारेसि वीसपुज्जत्त-भावणं? जदि वीसेण पुज्जत्तं इच्छेहि दु सगीय-चारित्तं पुण्ण-सुरक्खिदं कुणहि। जदि तुज्झ संजमो णिद्दोसो णिम्मलो य दु वीसस्स कावि सत्ती तुज्झ पुज्जत्ते पण्हचिण्हं णवि मिज्जेदि, तुज्झ पुज्जत्तं पि विणस्सेदि॥

7. क्या आप विश्व-पूज्यता की भावना रखते हैं? यदि विश्व से पूज्यता चाहते हो तो चारित्र को पूर्ण सुरक्षित रखो। यदि आपका संयम निर्दोष-निर्मल है, विश्व की कोई भी शक्ति आपकी पूज्यता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगा सकती है, आपकी पूज्यता नष्ट नहीं कर सकती है।

---

8. विसयविसं पच्चक्खेहि, इमेहिं विउल-दिग्गजाणं पि बंभचेर-हरणं किदं, णरयगत्ते पाडिदं। जदि सायरपज्जंतं णरय-वेदणा-जादणा पीडादो आदरक्खण-भावणा दु विसयकसायदो अवसरेहि॥

8. विषय-विष का प्रत्याख्यान करो, इन्होंने बड़े-बड़े दिग्गजों के भी ब्रह्मधर्म का हरण कर लिया और नरक गर्त्त में डाल दिया। सागरों पर्यन्त तक नरक-वेदनाओं, यातनाओं की पीड़ा से आत्मरक्षा की भावना है तो विषय-कषाय से दूर हो जाओ।

---

9. जत्थ इंदियकसायदमणं तत्थेव जीवणे आणंदो। जत्थ मणिंदियदमणं तत्थेव तियाल-तिलोय-पुज्जत्तं भजेदि॥

9. जहाँ इन्द्रिय और कषायों का दमन है, वहीं जीवन में चमन है। त्रिकाल त्रिलोक पूज्यता वहीं प्राप्त होती है जहाँ मन-इन्द्रियों का दम है।

---

10. हिमालयसिहिरे आरूढमाणा सिंहसमस्सु-णागमणिहारगा बहवो होंति, णं इंदियविसयाणं दम्ममाणा सच्चत्थवीरा बहुथोवा॥

10. हिमालय की चोटी पर चढ़ने वाले, सिंह की मूँछ, नाग की मणि हरने वाले बहुत मिल सकते हैं; परन्तु विषयों का दमन करने वाले सत्यार्थ वीर बहुत कम हैं।

---

11. सायर-बिंदु-आयास-तारगाणं गणणा पुणो वि सरलं, णं इंदियविसयलोलुवीणं कुडिलभाव-अहिणाणं विउलकढिणं कज्जं। बंसजडमिव वक्कभाव पूरिदो विसयजुदो तस्स बहिजीवणं भिण्णं दिस्सेदि अब्भंतरजीवणं भिण्णं च होदि॥

11. सागर की बूँदों व आकाश के तारों की गणना करना फिर भी सरल हो सकता है, परन्तु इन्द्रिय विषय लोलुपी के कुटिल भावों को समझना बहुत कठिन है। विषयी बाँस की जड़ जैसे वक्र-भावों से भरा होता है, उसका बाह्य-जीवन भिन्न दिखता है और आंतरिक जीवन भिन्न होता है।

---

12. जत्थ आसादमणं तत्थेव साहणाजम्मणं। जदि आदसाहणाए पवित्तमग्गं पसत्थीकरणं इच्छा दु पढमं कुणहि सगीय-इच्छा-दमणं। दंद-णिरोहेहिं विणा आदसाहणाए कोवि पुरिसो णो होदि उत्तिण्णो॥

12. जहाँ आशाओं का दमन है वहीं साधना का जन्म है। यदि आप आत्म-साधना के पवित्र मार्ग को

प्रशस्त करना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं का दमन करो। द्वन्द्व निरोध किए बिना आत्म-साधना में कोई भी पुरुष उत्तीर्ण नहीं हो सकता है।

---

13. णयण-दमणं आदरमणस्स परमसहयारी-कारणं एवं णयण-भमणं हि चित्तभमणस्स साहणं, तम्हा साहगस्स सगीय-णयणाइं णासग्गे धारेज्जा तहा कलत्त-अण्णभोगजण्ण-सामग्गी-अवलोयण-चागं करेज्जा। चित्त-विसोहीए पस्स विसुद्धचित्तं॥

13. नेत्रों का दमन आत्म-रमण का परम सहकारी कारण है और नेत्रों का भ्रमण ही चित्त भ्रमण का साधन है, इसीलिए साधक पुरुष के लिए अपने नेत्र नासाग्र रखना चाहिए और तिरिया अथवा अन्य भोग-जन्म सामग्रियों के अवलोकन का त्याग कर देना चाहिए। चित्त विशुद्धि चाहिए, तो विशुद्ध चित्र देखो।

---

14. भोगस्स भोगो हि कट्ठप्पदकम्मबंधण-कारणं णत्थि, भोगभावणा वि जीवं विचित्त-दुक्खप्पदं कम्मबंधण-कारणं। तुमं सयमेव णिच्छएज्जा, जदि संसारभमणादो तहा तस्स दुहादो इच्छेहि आदरक्खणं तु भोग-भोगभावणादो पुण्णरूवेण कुणेहि आदरक्खणं॥

14. भोग का भोग ही मात्र कष्टप्रद कर्मबन्ध का कारण नहीं है, अपितु भोग-भावना भी जीव को विभिन्न प्रकार के दुःखों को देने वाले कर्मबन्ध का कारण है। आपको स्वयं ही निर्णय लेना होगा कि मुझे संसार भ्रमण तथा उसके दुःखों से आत्मरक्षा करनी है, तो भोग और भोग-भावना दोनों से ही पूर्ण रूपेण आत्म-रक्षा करनी है।

---

15. इक्केक्क-इंदियविसय-लिच्छाए लोए विभुजीवा वि विउलकट्ठाइं भजेंति, हे माणव! विचिंतेहि–पंचिंदिय-सुहाणं तिव्वलिच्छा तुमम्हि पुणो तुज्झ किं होहिसि? दुक्खादो रक्खणट्ठं कुणहि इंदियसुहदमणं। आगरिसेण मा आगरिसेहि, पंचिंदियसुहाइं विउल-आगरिसणकेंदाइं॥

15. एक-एक इन्द्रिय विषयों की लिप्सा से बड़े-बड़े प्राणी लोक में बड़े-बड़े कष्टों को प्राप्त हुए हैं, तो फिर मानव तू विचार कर—पाँचों ही इन्द्रिय सुखों की तीव्र लिप्सा तेरे अन्दर है फिर तेरा क्या होगा? दुःख से बचना है तो इन्द्रिय सुखों का दमन करो। आकर्ष से आकर्षित मत होना, क्योंकि पाँचों ही इन्द्रियों के सुख (भोग) बहुत बड़े आकर्षण का केन्द्र हैं।

---

16. इंदियविसयवसादो वट्टमाणे जं अणत्थकज्जं मूढो कुव्वदि, तं कज्जं समए भविस्से विवागयाले जाणावेदि-किं किं असुहकम्मं लिच्छाए किदं तुम्हेहिं? कट्ठवेदणं तदा होहिसि जदा तुमं सयं छागी-मीण-खर-सूयर-करंजा-पहुदीओ होदूणं गोमर-छुरिगाए मरेहिसि॥

16. इन्द्रिय-विषयों के वश होकर वर्तमान में जो अनर्थ कार्य अज्ञ-प्राणी कर रहा है; वह समय पर भविष्य में जब कर्म का परिपाक काल आएगा तब बोध होगा कि हमने क्या-क्या अशुभ- कर्म लिप्सा में किए थे? जब तुम स्वयं बकरी, मछली, सुअर, मुर्गी आदि बनकर कसाई की छुरी से काटे जाओगे तब आपको कष्ट का वेदन होगा।

---

17. जो इंदियमणाणं दम्मेदि, सो चरिचाए सह सगचरियाए वि सिरिजिणसासण-पहावणं करेदि। सोच्चिय भूदत्थपहावगो, जो सगसाहणाए-अणुरत्तो॥

17. जो इन्द्रिय व मन का दमन करता है वह चर्चा से नहीं स्व-चर्या से श्रीजिन शासन की प्रभावना करता है। वही सच्चा प्रभावक है, जो कि स्व-साधना में लवलीन रहे।

---

18. जेण इंदियकसायदमणं किदं, ते हि लोए जस-उदयसिरि-सव्वलोयमण्णा सम्मदा। जेण विसयकसायकद्दमदो आदवत्थं पुण्णसुरक्खिदं किदं तहा सिरि-इत्थीदो सगं अप्पहाविदं किदं ते हि माणवा धण्णा॥

18. वे ही लोग लोक में यश, उदयश्री और सर्वलोक मान्य सम्मत हुए हैं जिन्होंने इन्द्रिय- कषायों का दमन किया है। वे ही मनुष्य धन्य हैं जिन्होंने विषय-कषायों की कर्दम से आत्म-वस्त्र को पूर्ण सुरक्षित रखा तथा श्री-स्त्री से स्व को अप्रभावित किया है।

---

19. जा महिमा जगविभूदीए णत्थि, सा सगचारित्तजस-महिमा। पाणवियोग-सरिच्छ-संकडे सदि वि सगीय चारित्त जसरक्खणं कुज्जा, तस्स अंतं णवि कुज्जा॥

19. जगत् की विभूति की जो महिमा नहीं है वह स्व-चारित्र एवं यश की महिमा है। प्राणों के वियोग जैसा संकट भी क्यों न आ जाए, परन्तु फिर भी अपने चारित्र और यश की रक्षा करना, उसका अन्त नहीं करना।

---

20. जो जीवणस्स चरिमसासपज्जंतं सगीयसंजमं पुण्णरूवेण सुरक्खेदि दमेण सह मरणं च पउणेदि, दव्वपाणरहिदे सदि देहावसाणे सदि वि सो सगीयचारित्त-पदिट्ठाए सव्वकाले जगदीए जयेदि॥

20. जो जीवन की अन्तिम श्वास तक अपने संयम को पूर्ण सुरक्षित रखता है तथा दम (संयम) के साथ जो मरण को प्राप्त करता है, वह द्रव्य-प्राणों से रहित होने पर, उसका शरीर न भी रहे फिर भी वह अपने चारित्र प्रतिष्ठा से सर्वकाल जगति पर जयवंत रहता है।

---

21. जत्थ इंदियकसायमणदमणं, तत्थेव जवतव-पहुदीइं सव्व-वदाइं सोहंति। जत्थ णो इंदिय-दमणं तत्थ कोवि वदतवसंजमा णत्थि॥

21. जप-तप आदि सभी व्रत वहीं शोभा पाते हैं जहाँ इन्द्रिय-कषाय-मन का दमन है। इन्द्रिय दमन जहाँ नहीं है वहाँ कोई भी व्रत, तप, संयम नहीं है।

---

22. दमीजणा जमीजणा। जेसिं जीवणे पाणी-इंदियाणं असुह-पउत्ति-दमणं, तेसिं णरसेट्ठाणं जीवणं आणंदमयं॥

22. दमीजन ही यमीजन होते हैं। जिनके जीवन में प्राणी एवं इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति का दमन है, उन नर श्रेष्ठों का जीवन ही चमन है।

---

23. जदि आदसुहसंतिभावणा दु कुणहि विसय-कसाय-दमणं, णवरि विसयसेवणं हि भवे भवे भमेदि॥

23. आत्म-सुख-शान्ति की भावना है तो विषय-कषायों का दमन करो, क्योंकि ये विषय सेवन ही भव-भव में भ्रमण करा रहे हैं।

---

24. दमी संजमी सग्गं मोक्खं च भजेदि तहा असंजमी णरय-तिरियगदिं भजेदि। उहय-अवत्थाओ जाणित्ता सगपण्णाए कुणहि णिण्णयं, तुमं किं कुज्जा?

24. दमवान संयमी पुरुष स्वर्ग, मोक्ष को प्राप्त करता है और असंयमी नरक-तिर्यञ्च गति को प्राप्त होते हैं। दोनों अवस्थाओं को जानकर स्वप्रज्ञा से निर्णय करें कि मुझे क्या करना चाहिए?

---

25. महाणिही संजमो, सो जस्स समीवे सो इहपरलोए सुह-सिरिसंपण्णो होदि, तम्हा पण्णजणा पाणचिंतं ण करंता सगसंजमरक्खणं कुज्जा॥

25. संयम महानिधि है; वह जिसके पास है वह इहलोक व परलोक में सुख, श्रीसम्पन्न होता है, इसलिए प्रज्ञजनों को प्राणों की चिन्ता न करते हुए स्व-संयम की रक्षा करना चाहिए।

---

26. लोयस्स सव्वसेट्ठभावो संजमभावो। जदा जदा सगम्हि इंदियदमण-परिणामा जग्गंति तदा सगपसंसा सयमेव कुज्जा॥

26. संयमभाव लोक का सर्वश्रेष्ठ भाव है। जब-जब इन्द्रिय दमन के परिणाम स्व के अन्दर जाग्रत हों तो स्व की प्रशंसा स्वयं ही कर लेना चाहिए।

---

27. दमलाहलक्खं तु वत्थुसहावचिंतणं आवस्सगं। अंतरेण वत्थुसहावचिंतणेण सहलदमीजीवणं असंभवं, णवरि मोहुप्पत्तिसाहणाइं रागिस्स अणेगाइं॥

27. दम को प्राप्त करने का लक्ष्य है, तो वस्तु-स्वभाव का चिंतन अनिवार्य है। वस्तु-स्वभाव के चिंतन बिना सफल दमीजीवन असंभव है, क्योंकि मोह-उत्पत्ति के साधन रागी के लिए अनेक हैं।

---

28. वत्थुं सगसहाव-आधीणं, परस्स तं मणुण्णं अमणुण्णं च णत्थि। मणुण्णत्तं अमणुण्णत्तं च जीवस्स रागद्दोस-अधीणं। जं जम्हि होदि रागो सो तं मणुण्णं पडिभासेदि तहा जं जम्हि दोसो होदि सो तं अमणुण्णं पडिभासेदि, परवत्थुं तु जं अत्थि तं अत्थि॥

28. वस्तु स्व-स्वभाव के अधीन है, पर के लिए वह न मनोज्ञ है न अमनोज्ञ। मनोज्ञता, अमनोज्ञता व्यक्ति के राग-द्वेष के अधीन है, जिसे जिसमें राग होता है उसे वह मनोज्ञ और जिसे जिसमें द्वेष होता है उसे वह वस्तु अमनोज्ञ प्रतीत होती है, पर वस्तु तो जो है सो है।

---

29. सगपर-विवेग-अवलोयणं तच्चणिण्णयत्थं आवस्सगं। तच्चणिण्णयत्तो विरत्तिभाव-जम्मणं, पुणो तेण इंदियदमणं सहजं॥

29. स्व-पर विवेक का अवलोकन तत्त्व-निर्णय के लिए आवश्यक है। तत्त्व-निर्णय से विरक्ति भाव का जन्म होता है, फिर उससे इन्द्रिय-दमन सहज होता है।

---

30. धण्णा ते णरा, जे बालवए हि जीवणसारं संजमं जाणीअ तहा विसयविरत्ता होदूणं रयणत्तयधम्मं गेण्हीअ। एरिसा भावलिंगी-भूदत्थ-वीदरागी-दमीणं चरणेसुं कोडिसो पणामं कुणहि, णवरि तेसिं वंदणाए चारित्त-मोहणीयकम्मक्खओ त्ति॥

30. धन्य हैं वे नर जिन्होंने बाल वय में ही जीवन के साथ संयम को समझ लिया और विषयों से विरक्त होकर रत्नत्रय धर्म को स्वीकार कर लिया। ऐसे भावलिङ्गी सच्चे-वीतरागी दमियों के श्रीचरणों में कोटिशः करो प्रणाम, क्योंकि उनकी वन्दना से चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

---

31. जत्थ इंदियसुह-विसयकसायदमणं तत्थेव साहगं लहेदि आदसुहसंतोसं च॥

31. साधक को आत्म-सुख एवं संतोष वहीं प्राप्त होता है जहाँ इन्द्रिय-सुख व विषय-कषाय का दमन है।

---

32. दमभावी-जीवो कुमग्गं णवि पस्सेदि, णवरि संपुण्ण-असुहकम्ममूलकारणं असंजमो भावो। जो संजममग्गे आरूढो पुण कत्थ पावमग्गे गमणं?

32. दमभाव को प्राप्त जीव कुमार्ग पर आँख उठाकर भी नहीं देखता, क्योंकि सम्पूर्ण अशुभ कर्मों का मूल कारण असंयम-भाव है। जो संयम-मार्ग पर आरूढ़ हो ही चुका है फिर पाप-मार्ग पर गमन कहाँ?

---

33. संबंधं विणा वि वीसे वीसासपत्तो संजदो। जीवसंजम-महिमा विसाला, सव्वलोओ संजदस्स भत्ति-पूयणं च कुव्वेदि वीसासेण॥

33. बिना संबन्ध के भी विश्व में विश्वास का पात्र यदि कोई है तो वह संयमी है। जीव-संयम की महिमा विशाल है, सर्व-जगत् संयमी जीव की भक्ति-पूजा विश्वास के साथ करता है।

---

34. अक्कोस-पुण्णा परकहिद-सद्दा वि सुणेहि संतभावेण, ता सुणिदूणं पडिउत्तर-भावणा-दमणं पि कुणहि। इदं तुज्झ सामण्ण-चिण्हं॥

34. आक्रोशपूर्ण दूसरों के द्वारा कथित शब्दों को भी शान्त भाव से सुनो, उन्हें सुनकर प्रति-उत्तर की भावना का भी दमन करो। यह आपकी समता की पहचान है।

---

35. सग-पसंसं इदरणिंदं च सुणित्तु हरिसविसाद-दमणं कुणहि, णवरि दोण्हं सच्चं णत्थि, सच्चं तु सरूवचरिचा॥

35. स्व की प्रशंसा, अन्य की निन्दा सुनकर हर्ष-विषाद का दमन करो, क्योंकि दोनों सत्य नहीं, सत्य तो स्वरूप की चर्चा है।

---

36. आद-पसंसं सवणाकंखं पि मा कुणहि, णवरि इदं पि णीचगोत्त-आसवकारणं॥

36. आत्मप्रशंसा सुनने की भी आकांक्षा मत करो, क्योंकि यह भी नीच गोत्र के आस्रव का कारण है।

---

37. परावगुणं केणचिदवि मा भासेहि, णवरि इमत्तो तुज्झ अवणदी णिच्छिदा। हुव गंभीरो संजमं च धारेहि॥

37. पर के अवगुण भी किसी से मत कहो, क्योंकि इससे आपकी अवनति निश्चित है। संयम को धारण करो, गंभीर बनो।

14

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

चागो

(त्याग)

1. अंतरंगे पबुद्धाणं विसयकसायतरंगाणं चत्तेहि, णवरि एदे उहयलोए कट्ठदा। जह भूचालदो भवणो होदि भूमिगदो तहेव विसय-कसाएहिं सिहरत्थो होदि भूमिगदो॥

1. अंतरंग में उठती विषय-कषायों की लहरों का त्याग करो, क्योंकि ये उभय-लोक में कष्ट देने वाली हैं। भूचाल से भवन भूमिगत हो जाता है; वैसे ही विषय-कषाय के द्वारा शिखर पर पहुँचा व्यक्ति भूमिगत हो जाता है।

---

2. जा तुमं माणसिग-सारीरिग-पीडाए पीडेदु लोए जसघादं कुणेदु, ताए पउत्तीए झत्ति चत्तेज्जा॥

2. उस प्रवृत्ति का शीघ्र त्याग कर देना चाहिए जो आपको मानसिक, शारीरिक पीड़ा से पीड़ित करे तथा लोक में यश का घात करे।

---

3. जस्स तुमं चागीअ अदु तस्स सुमरण-चागं पि कुण, णवरि पावमिदी वि पावबंधकारणं॥

3. जिसका आप त्याग कर चुके हो अब उसके स्मरण का भी त्याग कर दो, क्योंकि पापों की स्मृति भी पाप बंध का कारण है।

---

4. धण-धण्णादि-बहिरंग-कोहमाणादिकसायभूद-अब्भंतरपरिग्गह-मोयणं च चागो अहवा दियंबर-समणादि-मोक्खमग्गपत्ताणं दाणं पि चागो॥

4. धन-धान्यादि बाह्य और क्रोध-मानादि कषाय अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ना त्याग है अथवा दिगम्बर मुनि आदि मोक्षमार्गी पात्रों को दान देना भी त्याग है।

---

5. जस्स दमसंजमभावो, तस्सेव चागभावणाजम्मणं। जीवो परिग्गहसंचयो भोगत्थं करेदि, जत्थ संजमो तत्थ भोग-भोगभावणा कत्थ? तत्थ संपुण्ण-परदव्वचागो हि सेट्ठधम्मो पगिण्हदे॥

5. जिसके दम संयम-भाव होगा, उसके ही त्याग भावना का जन्म होगा। व्यक्ति परिग्रह का संचय भोग के लिए करता है, पर जहाँ संयम धारण कर लिया है फिर वहाँ भोग और भोग-भावना कहाँ? वहाँ तो सम्पूर्ण पर-द्रव्यों का त्याग ही श्रेष्ठ-धर्म स्वीकार किया जाता है।

---

6. णिव्वेगभावो चागं जम्मेदि। जोगी मेत्तं आदसंवित्ति-आणंदं गेण्हेदि, तं आददव्वदो भिण्ण-अवर-दव्वस्स आवस्सगत्तं खु णत्थि॥

6. निर्वेग-भाव त्याग को जन्म देता है। योगी एकमात्र आत्म-संवित्ति का आनन्द लेता है, उसे आत्म-द्रव्य से भिन्न अन्य किसी द्रव्य की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

---

7. साहणामग्गे सिरि-इत्थीणं किंपि आवस्सगत्तं णत्थि, तत्थ मेत्तं परम-अदुअभावस्स समरसपाणं कीरदे॥

7. साधना के मार्ग में श्री (धन), स्त्री (नारी) की कोई आवश्यकता नहीं होती, वहाँ एकमात्र परम अद्वैत भाव का समरस पान किया जाता है।

---

8. मढमंदिर-तित्थक्खेत्तरागो वि आदसाहगस्स अपओयणभूदो। णाणीजोगी णियजाणगं गेण्हेदि, सेसं बुद्धीदो चत्तेदि। संसारस्स सयलजीवेसुं जदि परमसुही कोवि जीवो दु सो आकिंचण्ण-सहावरत्तो साहुपुरिसो त्ति। अवर-सव्वे इंदियभोगलित्त-दुहीजणा॥

8. मठ-मंदिर, तीर्थक्षेत्र का राग भी आत्म-साधक के लिए अप्रयोजनभूत है। ज्ञानी-योगी एकमात्र निज ज्ञायक को स्वीकारता है शेष का बुद्धि-पूर्वक त्याग कर देता है। संसार के सम्पूर्ण जीवों में परम सुखी यदि कोई जीव है तो वह आकिञ्चन्य स्वभाव में लीन साधु पुरुष मात्र है। अन्य सब तो इन्द्रिय भोगों में लिप्त दुःखीजन हैं।

---

9. परमो धम्मो चागो। चागेण विणा ण होदि समाहिलीणत्तं। जावं तिलतुसमेत्तं पि परपदत्थे ममत्तं तावं ण होदि समाहि-संवित्ती। समाहिस्स परपदत्थत्तो पुण्ण-पुहुत्तं आवस्सगं।।

9. त्याग परम धर्म है। त्याग के बिना समाधि की लीनता नहीं हो सकती। तिल-तुष मात्र भी पर-पदार्थ में ममत्व रहेगा तब तक समाधि की संवित्ति नहीं हो सकती, समाधि के लिए पर-पदार्थों से पूर्ण दूर होना अनिवार्य है।

---

10. जे परवत्थुसंगहं जाणंते, णं दाणं ण जाणंते; ते महादुहिदा। किवणं ण जाणेदि दाणस्स आणंदं, तं तु पवित्तहिदयी दायारो हि जाणेदि। जो परं दाणं देदि तं ण करेदि जायणं।।

10. वे लोग महादुःखी हैं जो पर-वस्तु का संग्रह करना तो जानते हैं, परन्तु दान देना नहीं जानते। दान देने का जो आनन्द है उसे कृपण नहीं जानता, उसे तो पवित्र हृदयी दाता ही जानता है। जो पर को दान देता है; उसे कभी याचना नहीं करनी पड़ती।

---

11. संगहभावे सच्छत्तं ण आगमेदि। जह जलजुद-अंबुदा किण्हा होंति तहा वरिसाए पच्छा सच्छा होंति, एवमेव परपदत्थ-संगह चागदो भावेसुं आगमेदि सच्छत्तं।।

11. स्वच्छता संग्रह-भाव में नहीं आती। जैसे जल भरे बादल काले होते हैं और वर्षा होते ही स्वच्छ हो जाते हैं, इस प्रकार पर-पदार्थों के संग्रह का त्याग करने से भावों में स्वच्छता आ जाती है।

---

12. सगीयजीवणे तेसिं कारणाणं झत्ति चत्तेहि जाणि तुज्झ धम्म-धण-देह-घादगाणि। जो इमेसिं कारणाणं चागे पमादेदि तस्स झत्ति सव्वस्स णासो, जह कोवि रोगी पमादेदि दु झत्ति सो मिच्चुदारे गच्छेदि।।

12. अपने जीवन में उन कारणों का शीघ्र त्याग कर दो जो आपके धर्म, धन और देह के घातक हैं। जो व्यक्ति इनके कारणों के त्याग में प्रमाद करेगा उसका सर्वस्व नाश शीघ्र होगा, जैसे कोई रोगी प्रमाद करता है तो शीघ्र ही वह मृत्यु के द्वार पहुँचता है।

---

13. संसारवड्ढगो संसारणासगो वा किल भावो। अहो पण्ण! सग-भाव-परिक्खणं कुणहि पडिक्खणं ते कत्थ गमेंति सुहे वा असुहे? असुहभावा संसारे तिव्वदुक्खकारणाणि, आदसुहत्थं असुहभावा पुरिसत्थदो चत्तेहि।।

13. भाव ही संसार-वर्धक है और भाव ही संसार-नाशक है। अहो प्रज्ञ! स्व-भावों का करो परीक्षण प्रतिक्षण, वे किस ओर जा रहे हैं, शुभ या अशुभ? अशुभ-भाव संसार में तीव्र दुःख के कारण हैं, आत्मसुख चाहिए तो अशुभ-भावों का पुरुषार्थपूर्वक त्याग करो।

---

14. जं वत्थुं तुज्झ परिणामा विआरेज्जा, पुणो पुणो तत्थ दिट्ठि-गमणं, परिणामा तिव्वचलायमाणा, तस्समए सचेदो होदूणं तस्स वत्थुस्स चागं सहसा कुणहि अण्णहा धण-धरणी-जसक्खयो लोए हस्सपत्ता य हुज्जा॥

14. जो वस्तु आपके परिणामों को विकृत कर रही हो, पुनः-पुनः वहाँ दृष्टि जाए, परिणाम तीव्र चलायमान हो रहे हों उस समय सावधानी-पूर्वक उस वस्तु का शीघ्र त्याग कर दो, अन्यथा धन-धरती-यश का क्षय हो जाएगा तथा लोक में हास्य का पात्र हो जाएगा।

---

15. चाएण जीवो होदि महाणो। चाएण विणा लोयववहारो वि सुक्खो होदि, परमट्ठो दु णेव आरंभेदि तम्हा दिढत्तेण चागधम्मं पालेहि॥

15. त्याग से जीव महान् बनता है। बिना त्याग के लोक व्यवहार भी शुष्क हो जाता है, परमार्थ तो प्रारंभ ही नहीं होता है, इसलिए दृढ़ता से त्याग-धर्म का पालन करो।

---

16. संपुण्ण-दवियाणि णियचेयण्ण-दवियादो पुण्णभिण्णाणि, णियप्पदवियं हि सगदवियं। वट्टमाण-पज्जाए लद्धदेहं देहसंबंधिजणा य परदवियाणि। पररागं चत्तेहि, एयत्तविभत्तभावावलंबणं गेण्हेहि, भिण्णाणि दवियाणि भिण्णाणि एव संति। जदा एगीभूदस्स अभावो त्थि पुणो रागो किमत्थं? विहा बंध-भावा चत्तेहि॥

16. संपूर्ण द्रव्य निजचैतन्य-द्रव्य से पूर्ण भिन्न हैं, निज-आत्म-द्रव्य ही एकमात्र स्वद्रव्य है। वर्तमान पर्याय में जो शरीर तथा शरीर के संबन्धीजन हैं वे भी सब परद्रव्य ही हैं। पर के राग का त्याग करो, एकत्व-विभक्त भाव का आलम्बन लो, भिन्न-द्रव्य भिन्न ही रहेंगे। जब एकीभूत हो ही नहीं सकते, तो फिर राग क्यों? व्यर्थ के बंध भावों का त्याग करो।

---

17. जीवणं तेसिं जसवंतं, जे सगीयवंछाओ संकुएदूणं सगीयसंपत्तीओ परहिदे विच्चंति। दीणहीण-हिदम्हि जो सगीय-सव्वं समप्पेदि, तं जसोकित्ती सयं हि कंठहारं देदि॥

17. जीवन उन लोगों का ही यशवान होता है जो अपनी इच्छाओं को सीमित कर अपनी सम्पत्ति पर-हित में व्यय करते हैं। दीन-हीन जनों के हित में अपना सर्वस्व जो समर्पित कर देता है; उसे यशःकीर्ति स्वयं कण्ठहार डालने खड़ी हो जाती है।

---

18. इच्छाचागो हि सव्वसेट्ठचागो। परभावेसुं गमंताओ वंछाओ एव होंति। चागीदो उत्तमो कोवि अण्णो णो होदि सम्माणणीयो॥

18. इच्छाओं का त्याग ही सबसे बड़ा श्रेष्ठ त्याग है। परभावों में ले जाने वाली इच्छायें ही होती हैं। त्याग करने वाले से बड़ा कोई अन्य सम्माननीय नहीं होता है।

---

19. जदा दायारो देय-वत्थुम्हि ममत्तचागं कुव्वेदि तदा देयवत्थुं सगं हेयं पडिभासेदि। सगम्हि हेयं जं गेण्हेदि, तं पुणो गहणभावस्स अभावो तहा पुणो पुणो मिदिविसय-अभावो वि अत्थि; एरिसो दायारो हि उत्तम-दायारम्हि गणणिज्जो॥

19. दाता देय में ममत्व का त्याग कर देता है तब देय वस्तु स्वयं को हेय लगने लगती है। स्व में हेय जिसे स्वीकारा गया है उसे पुनः ग्रहण करने के भाव का भी अभाव करना और पुनः-पुनः स्मृति का भी विषय नहीं बनाना ऐसा दाता ही श्रेष्ठ दाताओं में गिना जाता है।

---

20. जहा पुरिसो सिरभार-अवतरणे सदि संतिं अणुहवेदि, तहेव सेट्ठदाणी पुरिसो परवत्थु-धण-धण्णादि-दव्वाणं चागे सयमेव लहुत्तं संतिं च वेदेदि॥

20. जैसे सिर से भार उतर जाने पर पुरुष शान्ति का अनुभव करता है वैसे ही श्रेष्ठ दानी पुरुष पर-वस्तु धन-धान्यादि द्रव्यों के त्याग करने पर स्वयं हल्कापन तथा शान्ति का वेदन करता है।

---

21. आदं पीडमाणो महारिवू संकप्पवियप्पभावो। जेहिं णिमित्तेहिं एदे भावा जायंते, तण्णिमित्तसहिद-संकप्पवियप्पभावं च चत्तेहि, इमम्हि आदसंती॥

21. आत्मा को पीड़ित करने वाला महाशत्रु संकल्प-विकल्प भाव है। जिन निमित्तों से ये भाव उत्पन्न होते हैं उन निमित्तों सहित संकल्प-विकल्प भाव का त्याग करो, इसी में आत्मशान्ति है।

---

22. जे भावा बोद्धिग-वेहवस्स विणासकारणाइं, तेसिं भावा सहसा चत्तेहि। संकिलेसो बुद्धिघादगो, बुद्धिविणासो संपुण्णजीवणस्स उण्णयण-विणासो णेयो॥

22. उन भावों का शीघ्र त्याग करो; जो भाव बौद्धिक वैभव के विनाश के कारण बन रहे हैं। तनाव बुद्धि का घातक है, बुद्धि का विनाश सम्पूर्ण जीवन की उन्नति का विनाश समझना।

---

23. जदि तुमं सच्चं तु अण्णस्स भासणे वियप्पो किमत्थं? जदि तुमं असच्चं तु अण्णस्स भासणे संकिलेसत्तं किमत्थं? जदि सच्छ-बुद्धिं इच्छेहि दु असच्चे सदि सग-उण्णयणं वियप्पचागं च कुणहि॥

23. यदि आप सही हो तो किसी अन्य की बात पर विकल्प क्यों? यदि आप गलत हैं तो किसी की बात पर तनाव क्यों? यदि गलती है तो स्व का सुधार करो तथा विकल्प का त्याग करें, यदि स्वच्छ बुद्धि चाहिए है तो।

---

24. जावं परणेय-णिट्ठदाए णियभेदविण्णाणदो पुहुत्त-भावो ण होस्सदि, तावं महामोह रिवुत्तो आददेव-रक्खा असंभवा, तम्हा आगमणाणेण तच्चत्थ-अब्भासं किच्चा परणेयणिट्ठत्तं चत्तेहि, मेत्तं णाणे णिट्ठत्तं लहेहि॥

24. पर ज्ञेयों की निष्ठता का निज भेदज्ञान से पृथकत्व का भाव नहीं आएगा तब-तक महामोह शत्रु से आत्मदेव की रक्षा सम्भव नहीं है, इसलिए आगमज्ञान से तत्त्वार्थ का अभ्यास कर ज्ञेयों की निष्ठता का त्याग करो, एकमात्र ज्ञान में निष्ठता प्राप्त करो।

---

25. जदा तच्चण्हू आदणाणदो भिण्णाणि परपदत्थाणि पडि तियालविसयग-रागबुद्धिं परिचत्तेहि तदा पयडेहिदि पण्णाए णिम्मलत्तं॥

25. प्रज्ञा की निर्मलता तभी प्रकट होगी जब तत्त्वज्ञ प्राणी आत्म-ज्ञान से भिन्न जो-जो पर-पदार्थ हैं उनके प्रति वर्तमान-भूत-भविष्य की राग बुद्धि का परिपूर्ण त्याग कर दे।

---

26. अप्पाणुट्ठाणे णिट्ठसाहगो मेत्तं परमबंभ-अवलंबणं गेण्हेदि तहा सो जगदीए सयल-परपदत्थ-रागचागं किच्चा णियप्पं कम्मकलंकदो सुरक्खेदि। जो मोहबुद्धिं विलीएदि सो हि साहगो भगवत्तं भजेदि॥

26. आत्मानुष्ठान में निष्ठ साधक एकमात्र परमब्रह्म का आलम्बन लेता है और वह जगति के सम्पूर्ण पर-पदार्थों के राग का त्याग कर निजात्मा को कर्म-कलंक से सुरक्षित कर लेता है। मोह बुद्धि विलीन कर लेता है वही साधक भगवत्ता को प्राप्त करता है।

---

27. णियप्पदो भिण्ण-परपदत्थचागो सामण्णविसयो, तस्स चागो झत्ति होदि, णं ताणि परपदत्थाणि जो सगीय-दव्वं मण्णीअ, एरिसं अब्भंतर-रागं जो चत्तेदि सो हि सेट्ठणरो॥

27. निजात्मा से भिन्न पर-पदार्थों को छोड़ देना सामान्य विषय है, उसे शीघ्र छोड़ा जा सकता है, परन्तु उन पर-पदार्थों को जो स्व का द्रव्य मान रहा था ऐसा जो भीतर का राग है उसका जो त्याग करता, वही श्रेष्ठ नर है।

---

28. जो चागभावो तुमं पुणो पुणो देदि कट्ठं तं पि चत्तेहि। जदा परपदत्थं चागभावो होसि दु तक्काले चत्तेहि, जदि चागे असमत्थो दु वियप्पाणं संकिलेसत्तं चत्तेहि। एगं णिण्णयं कुणहि दु णिरत्थग-संकप्प-वियप्पेण अप्पं जा पीडा हवेदि सा पीडा समत्तेहिदि॥

28. उसका भी त्याग करो जो त्याग करने का भाव आपको बार-बार कष्ट दे रहा है। पर-पदार्थ जब त्याग करने का भाव आए तो तत्काल त्याग कर दो, नहीं कर पा रहे तो विकल्पों की संक्लेशता का त्याग कर दो। एक निर्णय में आ जाओ तो व्यर्थ के संकल्प-विकल्प में जो आत्मा पीड़ित हो रही है वह पीड़ा समाप्त हो जाएगी।

---

29. जे संकप्पिय ण कुव्वंति कज्जं पुण्णं, ते वरागा माणसिग-पीडादो होंति दुही। तेसिं वेदणा तेसिं गम्मा, जदि ते वियप्पेसुं मज्जंते दु आदघादं कुणंति॥

29. जो व्यक्ति संकल्प लेकर कार्य पूर्ण नहीं कर पाते वे बेचारे मानसिक पीड़ा से बहुत दुःखी होते हैं। उनकी वेदना उन्हीं के गम्य है, यदि वे विकल्पों के बाहर नहीं आ पाते तो आत्मघात कर लेते हैं।

---

30. भिण्णस्स चागं करंतं बहुकालो गदो। भिण्णस्स चागं जीवो मिच्छत्तदसाए वि कुव्वेदि। बहिभूदाणि वत्थपत्त-धणधण्ण-इत्थी-पुत्तादीणि चेयणाचेयण-धम्मजुद-परपदत्थाणि भिण्णदव्वाणि, इमेसिं चागं सव्वे जीवा सारल्लेण कुव्वंति, अदु अभिण्णचागं पि कुज्जा। काम-

कोह-माण-माया-लोह-ईसा-दोस-संकप्प-वियप्पा जे तुमम्हि संति, ता वि बुद्धीदो चत्तेहि तहा जदि सगहिदभावो असुत्तो दु सहज-सरल-भद्दत्तणं च पाउणेहि॥

30. भिन्न का त्याग करते-करते बहुत काल व्यतीत हो गया। भिन्न का त्याग जीव मिथ्यात्व दशा में भी कर लेता है। बाह्य वस्त्र, पात्र, धान्य-धन, स्त्री-पुत्रादि चेतन-अचेतन धर्म-युक्त पर-पदार्थ भिन्न द्रव्य हैं, इनका त्याग सभी प्राणी सरलता से कर लेते हैं, परन्तु अब अभिन्न का त्याग करो। जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, डाह, संकल्प-विकल्प तेरे अंदर हैं उनका बुद्धि-पूर्वक त्याग करो और सहजता, सरलता, भद्रता को प्राप्त करो, यदि स्वहित-भाव जाग्रत है तो।

---

31. परमसमरसीभाव-साहणारदो साहगो गहणचागभावदो वि सुण्णसहावं लहेदि। चेयणसुद्धप्पा परभावा णियसहावरूवा कदावि ण पमाणेदि। जदा गहणं हि ण किदं पुण कस्स चागं पि, तम्हा सुद्धदिट्ठीए आदा गहणचागरहिदो, एरिसं सच्चत्थं वत्थुसहावणिण्णयं कुणहि॥

31. परम समरसी भाव की साधना में रत साधक ग्रहण-त्याग भाव से भी शून्य स्वभाव को प्राप्त होता है। चैतन्य भगवानात्मा ने परभावों को निज स्वभाव रूप कभी स्वीकारा ही नहीं, जब ग्रहण ही नहीं किया तो त्याग भी किसका करें, इसलिए आत्मा शुद्धदृष्टि से ग्रहण-त्याग से रहित है, ऐसा सत्यार्थ वस्तु-स्वभाव का निर्णय करो।

---

32. धण-धण्ण-धराणं चागोवरंतं पि जीवस्स अवर-बहुलचागो होदि अवसेसो, सो त्थि चागस्स रागस्स चागो॥

32. धन-धान्य-धरा का त्याग करने के उपरान्त भी जीव को बहुत कुछ और त्याग करना अवशेष होता है, वह है त्याग के राग का भी त्याग।

---

33. चागं विणा जीवणं णत्थि, चागबलेण पयडि-संतुलणो त्थि। वत्थुधम्मो चागो। रुक्खो फलचागं, जोगी णाणचागं च करेदि। पत्तेग-दव्वाइं सगीय-पुव्व-पुव्व-पज्जायचागं करंति, तदेव णवीणपज्जाया उप्पज्जंति। एवमेव विवत्थिदा वत्थुविवत्था॥

33. त्याग के बिना जीवन नहीं, त्याग के बल से प्रकृति का सन्तुलन है। वस्तु का धर्म त्याग है। वृक्ष फल का त्याग करता है, योगी ज्ञान का त्याग करता है। प्रत्येक द्रव्य अपनी पूर्व-पूर्व पर्यायों का त्याग करते हैं, तभी तो नवीन पर्यायों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वस्तु-व्यवस्था व्यवस्थित है।

---

34. चागबले वीसे जसो होदि। जो जियत्तो चागी होदि, सो तत्तिओ जसवंतो होदि। सगपरकल्लाणसाहगो चागी पुरिसो एव। गहणभावो हि जीवं दीणहीणत्तजणगो।।

34. त्याग के बल पर विश्व में यश टिका है। जो जितना त्यागी होता है वह उतना ही यशवान होता है। स्व-पर कल्याण का साधक त्यागी पुरुष ही है। ग्रहण का भाव ही व्यक्ति को दीन-हीनता का जनक है।

---

35. दाणं देहि सुपत्ताणं। दाणस्स पुव्विं अपत्त-कुपत्त-परिक्खणं कादव्वं। तए देय-दव्वेण धम्म-सक्किदि-सक्कार-रक्खणं होदव्वं। जदि दायारदव्वं लहित्ता किंपि असुहकज्जं कुणदि, पुण तस्स कुफलं दायारं पि भुंजेदि। दव्वं पि गदं दुग्गदी वि हवीअ य, एरिसं कज्जं कदावि ण कुज्जा।।

35. दान सुपात्र को देना। दान देने के पहले अपात्र, कुपात्र की परीक्षा कर लेना। आपके द्वारा देय द्रव्य से धर्म संस्कृति, संस्कार की रक्षा होनी चाहिए। यदि दाता का द्रव्य प्राप्त कर कोई अशुभ कार्य करता है, तो उसका कुफल दाता को भी भोगना पड़ेगा। द्रव्य भी गया और दुर्गति भी हुई, ऐसा कार्य कभी नहीं करना।

---

36. चागं किच्चा मणो पसाएदव्वो। पत्तेण तुज्झ उवयारं किदं, तुमं लोहकसायं किसकरण-अवसरं दिज्जा।।

36. त्याग करके हर्षित मन होना चाहिए। पात्र ने आपका उपकार किया है कि आपको लोभ कषाय कृश करने का अवसर दिया है।

---

37. ते णरा इमाए धराए धण्णा धण्णा धण्णा, जे सग-संपत्ति-उवओगं परविवत्तीए कुणंति।।

37. वे नर इस धरा पर धन्य-धन्य-धन्य हैं, जो स्व-सम्पत्ति का उपयोग पर की विपत्ति पर करते हैं।

15

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

समाही

(समाधि)

1. पसत्थ-सुक्कधम्मज्झाणं च समाही। समाहिणा विणा वीसस्स संपुण्ण-साहणाओ णिव्वाणलद्धीए अकिंचिदकराओ। जदा वि णिव्वाण-लाहो तदा सो समाहिसेट्ठ-झाणेण हि होस्सदि। झाणेण विणा णत्थि आदसिद्धी।।

1. प्रशस्त शुक्ल व धर्म्यध्यान समाधि है। समाधि के बिना विश्व की सम्पूर्ण साधनायें निर्वाण प्राप्ति में अकिंचित्कर हैं। निर्वाण की प्राप्ति जब भी होगी तब वह समाधि अर्थात् श्रेष्ठ ध्यान से ही होगी। ध्यान के बिना आत्मसिद्धि नहीं हो सकती है।

---

2. आदसिद्धिसाहणं समाही। समाहिणा विणा आदसिद्धी असंभवा। समा धी जस्स सा समाही। जस्स पाणी-मेत्तं पडि सम्मबुद्धी तस्सेव समाही होहिदि समं एगीभूद-णियजोगं एगीभूदं किच्चा अप्पाणुमुहीकरणं समाही, परभावादो ऊसरिय आणंदजीवणं समाही।।

2. आत्मसिद्धि का साधन समाधि है। समाधि के बिना आत्मसिद्धि सम्भव नहीं। सम+धी=समाधि, अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति जिसकी साम्य-बुद्धि होगी उसी की समाधि होगी। सम अर्थात् एकीभूत निजयोग को एक कर आत्मानुमुख होना समाधि है, परभावों से विमुख होकर आनन्द का जीवन समाधि है।

---

3. मिच्चुमेत्तं समाही णत्थि। मूढा जलसमाहि-अगणिसमाहि-पहुदि-पयारेण समाहि-अत्थो मण्णंति, जइ वि जल-अणलम्हि उप्पडित्ता, पव्वदत्तो पडित्ता मरणं समाही णत्थि कुमरणं अण्णाणदो मरणं अत्थि। धम्मसुक्कज्झाणदो मरणं हि समाही अहवा तच्चणिण्णएण सह संतभावेण आऊगालणं समाही।।

3. समाधि का अर्थ मात्र मृत्यु नहीं समझना। अज्ञ प्राणी समाधि का अर्थ जल समाधि, अग्नि समाधि इत्यादि प्रकार से समझते हैं, जबकि जल-अग्नि में कूदकर, पर्वत से गिरकर, मरण करना समाधि नहीं कुमरण है, अज्ञानपूर्वक मरण है। धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान पूर्वक जो मरण करता है वह समाधि है अथवा तत्त्व निर्णय के साथ शान्त-भाव से जो आयु पूर्ण करता है वह समाधि है।

---

4. जिदिंदिया झाणसमाहि-साहणाए अहियारी, इंदियविसयलंपडा समाहिं ण लहंति॥

4. जितेन्द्रिय जीव ही ध्यान-समाधि की साधना करने के अधिकारी हैं, इन्द्रिय-विषय-लोलुपी समाधि को प्राप्त नहीं होते।

---

5. अट्टरुद्दज्झाणरहिदो पाणीमेत्तं पडि सामण्णभावो, जीवे मरणे लाहे अलाहे सुहे दुहे कंचणे काचे माणे अवमाणे य सम्मभावो समाही॥

5. आर्त-रौद्रध्यान से रहित, प्राणिमात्र के प्रति समत्व का भाव, जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख में, कंचन-काँच में, मान-अपमान में जो साम्यभाव है, उसका नाम समाधि है।

---

6. मेत्तं जोगी-अणुहवगम्मो समाही-आणंदो। जदा जगदीए संपुण्ण-विसयाणंदा धंसंति, तदा जोगिस्स समाहिस्स अदिंदिय-अप्पाणंदो आरंभेदि। सो आणंदो इदं-णरिंद-अहमिंदाणं समीवे वि णत्थि॥

6. समाधि का आनन्द एकमात्र योगी के अनुभवगम्य है। जहाँ जगति के सम्पूर्ण विषयानन्द समाप्त हो जाते हैं तब योगी की समाधि का अतीन्द्रिय आत्मानन्द प्रारंभ होता है। वह एक ऐसा आनन्द है जो इन्द्र-नरेन्द्र-अहमिन्द्र के पास भी नहीं है।

---

7. इंदियभोगसुण्णो कसायरहिदो य हवदि समाही॥

7. समाधि इन्द्रिय-भोगों से शून्य तथा कषाय से रहित होती है।

---

8. सगेण सगमिलणकारगा साहणा झाणं। विणा झाण-सिद्धीए आदसिद्धी असंभवा, तम्हा पत्तेग-साहगं अवर-साहणादो अहिगा झाण-साहणावड्ढी अणिवज्जरूवेण कादव्वं॥

8. स्व-से-स्व का मिलन कराने वाली साधना ध्यान है। बिना ध्यान सिद्धि के आत्मसिद्धि सम्भव नहीं है, इसलिए प्रत्येक साधक को अन्य साधनाओं से अधिक ध्यान-साधना की वृद्धि अनिवार्य रूप से करनी चाहिए।

---

9. संपुण्ण-लोगिग-पारमट्ठिग-सिद्धीओ झाणसमाहिणा भजंति। जदा साहगचित्तं पुण्ण-वंछासुण्णं होदि तदा समाही आरंभेदि एवं तस्स अणुभूदीओ अवच्चाओ त्ति॥

9. सम्पूर्ण लौकिक एवं पारमार्थिक सिद्धियाँ ध्यान-समाधि से प्राप्त होती हैं। जब साधक के चित्त में पूर्ण आकांक्षाओं से शून्यता प्रविष्ट होती है तब समाधि प्रारम्भ होती है और उस समाधि की अनुभूतियाँ अवाच्य होती हैं।

---

10. संपुण्णतच्चसारे पुण्णसारभूदसारो झाणसमाही। समाहि-साहणाए विणा आदसिद्धी धेणुसिंगादो दुद्धपाणमिव। जह धेणुसिंगादो दुद्धं णवि णिज्जेदि तहेव समाहि-साहणाए विणा मुत्तिलद्धी णत्थि॥

10. सम्पूर्ण तत्त्वों के सार में कोई पूर्ण सारभूत सार है; तो वह है ध्यान-समाधि। समाधि के बिना आत्मसिद्धि गाय-सींग से दुग्धपान वत ही है। गाय-सींग से दुग्ध नहीं निकलता उसी प्रकार समाधि साधना के बिना मुक्ति नहीं मिलती।

---

11. कायकसायचागी हि समाहि-साहणाए साहगो होदि। जस्स चित्ते देहरागो कसायतिव्वत्तं च, तस्स चित्तं अथिरं होदि। अथिरचित्त-सहिदस्स तिलोए तियाले णो होदि समाही॥

11. काय एवं कषाय का त्यागी ही समाधि-साधना का साधक हो सकता है। जिसके अन्दर देह का राग तथा कषाय की तीव्रता है उसका चित्त स्थिर नहीं हो सकता। अस्थिर चित्त सहित तीन-लोक, तीन-काल में समाधि नहीं हो सकती।

---

12. सुसक्कार-सुसंगदि-सुसाहणाओ समाहि-सिद्धीए अवस्संगाइं। इमेसिं तिण्हं संजोगो जस्स साहगस्स समीवं, सो हि सेट्ठसमाहि-सिद्धिं पाउणेदि तम्हा पत्तेग-मुमुक्खुं इमेसिं तिण्हं लद्धि-उज्जोगं सददं कादव्वं। अब्भंतर-विसोहीए बहिरंगणिमित्तस्स पवित्तत्तं पि अदि-आवस्सगं। जत्थ संगदि-

सक्कार-साहणाओ हीणाओ होंति, तत्थ णियमेण समाहि-अभावो त्ति। असुहभाव-संजोगे णेव होदि पवित्तझाणसिद्धी॥

12. समाधि की सिद्धि के लिए अनिवार्य अंग सुसंस्कार, सुसंगति, सुसाधना, इन तीनों का संयोग जिस साधक के पास है, वही श्रेष्ठ समाधि की सिद्धि को प्राप्त करता है, इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु जीव को इन तीन की प्राप्ति का पुरुषार्थ सतत करते रहना चाहिए। अंतरंग विशुद्धि के लिए बहिरंग निमित्त भी पवित्र होना अत्यावश्यक है। जहाँ संगति-संस्कार-साधना तीनों हीन होते हैं वहाँ पर नियम से समाधि का अभाव होता है। अशुभ-भावों के संयोग में पवित्र-ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

---

13. ममत्तं समाहिस्स पबलरिवू। जत्थ जत्थ ममत्तं तत्थ तत्थ समाहि-अभावो। जत्थ ममत्त-अभावो तत्थ समाहिस्स पादुब्भावो। णिव्वाणदिक्खा-धारणं विणा समाही णत्थि एवं समाहिं विणा णिव्वाणं णत्थि॥

13. ममत्व-भाव समाधि का प्रबल-शत्रु है। जहाँ-जहाँ ममत्व खड़ा है, वहाँ-वहाँ समाधि का अभाव है। ममत्व का जहाँ अभाव है, वहाँ समाधि का प्रादुर्भाव होता है। निर्वाण-दीक्षा धारण किए बिना समाधि नहीं और समाधि के बिना निर्वाण नहीं।

---

14. समाहि-सिद्धीए पसिद्धीदो पुहुत्तं आवस्सगं तहा समत्त-सामिप्पं अच्चंत-आवस्सगं। समत्तभाव-साहणाए कुसल-साहगस्स समाहि-साहणा सरला होदि॥

14. समाधि की सिद्धि में प्रसिद्धि से तो पृथकत्व की आवश्यकता है और समत्व के समीप रहने की अत्यन्त आवश्यकता है। जो साधक समत्वभाव की साधना में कुशल हो जाता है, उसे समाधि साधना सरल हो जाती है।

---

15. समाहि-गंभीरत्तस्स सज्झाय-गंभीरत्तं आवस्सगं। साहगस्स कत्तव्व-णिट्ठत्तं णाणगूढत्तं हि झाणं गहणं गहेदि॥

15. समाधि की गहराई के लिए स्वाध्याय की गंभीरता अनिवार्य है। साधक की कर्तव्य-निष्ठता व ज्ञान-गूढ़ता ही ध्यान को गूढ़ बनाती है।

---

16. धिज्जसीलत्तं समाहिपबलकारणं। अधीरस्स चित्तं अथिरं, तत्तो इत्थी-पज्जाए परमसमाहिसिद्धी णत्थि। णिव्वाणस्स सक्खं कारणं समाही। इत्थीसुं भीरुत्त-अधीरत्त-दोससब्भावो जेण इत्थिचित्ते थिरत्तलद्धी-अभावो एवं अथिरे चित्ते समाही असंभवो॥

16. धैर्यशीलता समाधि का प्रबल कारण है। अधीर पुरुष का चित्त स्थिर नहीं होता, यही कारण है कि नारी पर्याय में परम समाधि की सिद्धि नहीं होती है। समाधि निर्वाण का साक्षात् कारण है। स्त्रियों के अन्दर भीरुता और अधीरता दो ऐसे दोष हैं जिनके कारण स्त्रियों को चित्त स्थिरता की प्राप्ति नहीं होती और अस्थिर चित्त में समाधि संभव नहीं है।

---

17. माणसिग-देहिग-वायणिग-कम्मजादि-सयल-दुक्खादो जीवं मुत्तकरमाणा धुव-अचल-अणुवम-सुहे थिरकरमाणा परमोवयारीविज्जा समाही। पुणो तत्थ कदावि दुक्ख-वेदणस्स उदयो णत्थि, सयलबाहासुण्णं कम्मादीद-आदं होदि णाणाणंदो त्ति॥

17. समाधि वह परम उपकारी विद्या है जो मानसिक, शारीरिक, वाचनिक,कर्मज आदि सम्पूर्ण दुःखों से जीव को मुक्त करा देती है और ध्रुव, अचल, अनुपम, सुख में स्थिर करा देती है। फिर वहाँ कभी दुःख के वेदन का उदय ही नहीं होता, सम्पूर्ण बाधाओं से शून्य कर्मातीत आत्मा को ज्ञानानन्द होता है।

---

18. वीसे अणेग-साहगा समाहि-अब्भासं कुणंति, णं जावं बहिरब्भंतर-परिग्गहाणं परिपुण्णचागं ण करिस्संति, तावं ण होस्सादि समाहिस्स सच्चत्थसिद्धी। सगपरभेदविण्णाणी हि समाहिं भजेदि। सगपरभेदविण्णाणं विणा जीवो णो होदि समाहित्थो। तच्चणिण्णय-पुव्वगं सगपरभेदविण्णाणं समाहिस्स अच्चंत-अणिवारियंगं गेण्हेज्जा॥

18. विश्व में अनेक साधक समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, परन्तु जब-तक अंतरंग-बहिरंग परिग्रह का परिपूर्ण त्याग नहीं करेंगे तब-तक समाधि की सत्यार्थ सिद्धि नहीं हो पाएगी। स्व-पर भेद-विज्ञानी जीव ही समाधि को प्राप्त होता है। स्व-पर भेद-विज्ञान किए बिना जीव समाधिस्थ नहीं हो सकता। तत्त्व-निर्णय पूर्वक स्व-पर भेद-विज्ञान समाधि के लिए अत्यंत अनिवार्य अंग स्वीकारना चाहिए।

---

19. जत्थ छक्कायजीव-छद्दव्व-सत्ततच्च-णवपदत्थाइं पडि सम्मरुई तत्थेव समाही, एरिसं तच्चणाणिणा उत्तं। सम्मपरिणदी तदेव पयडेहिदि जदा जीवचित्ते वत्थुसहावे लक्खं होहिदि। विणा लक्खं ण होदि कज्जं॥

19. षट्काय के जीव, षड्द्रव्य, सात-तत्त्व, नौ पदार्थों के प्रति साम्य-रुचि जहाँ है वहीं समाधि है, ऐसा तत्त्व-ज्ञानियों ने कहा है। साम्य-परिणति तभी प्रकट होगी, जब जीव के अन्दर वस्तु स्वभाव पर लक्ष्य जाएगा। बिना लक्ष्य के कार्य नहीं होता है।

---

20. जदि सज्झं तु साहणं अवस्सं। सज्झसिद्धी साहणाभावे कदावि ण होदि, अयं धुवसिद्धंतो। मोक्खतच्चं सज्झं समाहि-झाणं च साहणं। सेट्ठसज्झ-सिद्धी सेट्ठसाहणाहिं हि होदि। मोक्खो सेट्ठसज्झं, सम्मज्झाणं सेट्ठसाहणं॥

20. साध्य है तो साधन अवश्य होता है। साध्य-सिद्धि साधन के अभाव में कभी नहीं होती; यह ध्रुव सिद्धांत है। मोक्ष तत्त्व साध्य है, समाधि (ध्यान) साधन है। श्रेष्ठ साध्य की सिद्धि, श्रेष्ठ साधनों से ही होती है। मोक्ष श्रेष्ठ साध्य है, सम्यक्-ध्यान श्रेष्ठ साधन है।

---

21. परमसमाहिट्ठिदो साहगो अप्पत्थो होदूणं परम-अदुअ-अणुहवणं करेदि, तत्थ तं अण्ण-अप्पभावो तहा परमप्पभावो वि ण हवदि, तं तु मेत्तमेयत्त-विहत्त-णियसिद्धप्पं हि अणुहवेदि। एवमेव परमसमाही॥

21. परम समाधि में स्थित साधक आत्मस्थ होकर परम-अद्वैत का अनुभवन करता है, वहाँ उसे अन्य आत्मा तो क्या परमात्मा का भी भाव नहीं होता। उसे तो मात्र एकत्व-विभक्त्व निज भगवानात्मा का ही अनुभवन होता है। यही परम समाधि है।

---

22. जत्थ झादज्झाणज्झेय-वियप्पो णत्थि, सज्झ-साहगभाव-वियप्पो वि णत्थि; केवलं सहज-णायग-अवलंबणं हि सेसं। एरिसम्हि परमसमाहिम्हि अणुरत्तसाहगो णियसिद्ध-सुद्धप्पा-आणंदं हि गेण्हेदि॥

22. जहाँ ध्याता-ध्यान-ध्येय का विकल्प समाप्त हो जाता है, साध्य-साधक भाव का विकल्प भी नहीं होता, एकमात्र सहज ज्ञायक का ही आलम्बन शेष रहता है। ऐसी परम समाधि में लीन साधक निज-भगवानात्मा का ही आनन्द लेता है।

---

23. जेसिं अप्पा लोगिग-पसिद्धिभावणा-भावत्तो विघादं भजेदि, तेसिं समाहि-उवलद्धी

तिक्काले असंभवा। समाहिसाहगस्स पढमं काइग-कासाइग-अत्थितच्चं विद्धंसेज्जा, तदा समाहि-साहणाए भावुप्पत्ती होस्सदि। संपुण्ण-वियप्पादो पुण्ण-पुहुत्ते सदि समाही होस्सदि, अण्णो कोवि समाहि-साहणा-उवाओ णत्थि॥

23. लौकिक प्रसिद्धि की भावना के भाव से जिनकी आत्मा विघात को प्राप्त हो रही है, उन्हें समाधि की उपलब्धि तीन काल में सम्भव नहीं है। समाधि साधक के लिए सर्वप्रथम कायिक व काषायिक अस्ति तत्त्व का समापन करना होगा तब कहीं समाधि-साधना के भाव की उत्पत्ति होगी। सम्पूर्ण विकल्पों से पूर्ण परे होने पर ही समाधि होगी, अन्य कोई उपाय समाधि-साधना का नहीं है।

---

24. समाहि-साहगस्स असण-आसण-णिद्दासु णिरोहो आवस्सगो। जे साहगा भोयणं णियमेंति, संपुण्ण-आसणा सहजेण कुणंति तहा णिद्दा-पिसाचिणी-वसे णवि होंति, ते हि सेट्ठ-साहगा समाहि-साहणा-पाणा सुरक्खेंति॥

24. समाधि साधक के लिए अशन-आसन और निद्रा पर नियंत्रण करना बहुत ही आवश्यक है। जो साधक भोजन पर नियंत्रण रखते हैं, सम्पूर्ण आसनों को सहज लगा लेते हैं और निद्रा पिशाचनी के वश नहीं होते, वे ही श्रेष्ठ साधक समाधि-साधना के प्राणों की रक्षा करते हैं।

---

25. जदि विसयलंपडो आसाजुदो कसाय-णिमण्णो पुरिसो य समाहिमोक्खसुहं च इच्छेदि, दु सो आयासपुप्फ-उप्पत्तिं इच्छेदि। जह आयासपुप्फं णत्थि, तहेव विसय-कसायजुदस्स जीवस्स समाही णत्थि॥

25. विषय लम्पट, आशाओं से युक्त, कषायों में निमग्न पुरुष यदि समाधि या मोक्ष-सुख चाहता है, तो वह आकाश-पुष्प की उत्पत्ति करना चाहता है। जैसे आकाश का पुष्प नहीं होता, उसी प्रकार से विषय-कषाय से युक्त जीव को समाधि नहीं होती।

---

26. कामकोह-मिट्ठभोयण-परपसंसा-सगपूया-परिणामा य समाहि-साहगस्स विस-सरिसा। समाहि-इच्छुगं इमेहिं कारणेहिं ऊसरेज्जा॥

26. काम, क्रोध, मिष्ट-भोजन, पर की प्रशंसा, स्व-पूजा के परिणाम समाधि-साधक के लिए विष-तुल्य हैं। समाधि के इच्छुक को इन कारणों से दूर ही रहना चाहिए।

---

27. भवदीद-हवणस्स विज्जा सम्म-समाही। जे साहगा आहार-णिद्दा-आसण-विसयकसाया जिणंति, ते खलु सम्मसमाहिं पसज्जेंति। जत्थ पंचाओ एगाभावो वि अत्थि, तत्थ झाणसमाही संभवो णत्थि; तम्हा सगीय-आहार-णियंतणं साहगस्स पढमं कत्तव्वं। सुद्ध-फासुग-थोव-सागाहारं कुणहि, मंसादि-अभक्खसेवणस्स पुण्णदो चत्तेहि। तामसिग-गरिट्ठ-मादग-दव्वसेवणं णेव कुणहि।

आहारसुद्धी चित्तसुद्धिं पहावेदि। सुद्धाहारी हि समाहि-साहणाए अहियारी, अभक्ख-भोजी कदावि सुद्ध-समाहिं णवि संपावेदि।

णिद्दा-पिसाचिणी-वसादो जीवो जगकिलेसं लहेदि। जह पेद-पीडिदो विवेगबोह-सुण्णो होदि तहेव णिद्दा पीडिदो विवेगबोह-सुण्णो होदि। णिद्दाकाले अचेयणमिव होदि दसा। णिद्दा-तंदाकाले ण होदि समाहि-साहणा, तम्हा मुमुक्खुणो णिद्दाए कमसो णियंतणं आवस्सगं।

आलस्स-पमाद-तंदासु विजयलाहट्ठं आसणजयो अणिवारिय-अंगं। आसण-जयओ उवसग्ग-परीसह-आगमणे अविचला होंति। समाहि-साहगस्स आसणं पढमं साहणा-अंगं। आदसाहगस्स आसण-दिढत्तं अणिवारियं। आसण-चंचलत्तेण चित्तं पि चंचलं होदि, थिरासणेण चित्ते थिरत्तं सहजं। समाहि-साहगं जहासत्ति विभिण्ण-आसणेसुं चिट्ठिय, उत्थिय, पउमासणे, अद्ध-पउमासणे, सुहासणे, जिणमुद्दादीए झाएज्जा॥

27. भवातीत होने की विद्या सम्यक्-समाधि है। जो साधक आहार, निद्रा, आसन, विषय-कषाय पर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे ही सम्यक्-समाधि साध पाते हैं। पाँचों में एक का भी जहाँ पर अभाव है; वहाँ पर ध्यान-समाधि सम्भव नहीं है, इसलिए साधक का कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम अपने आहार पर नियंत्रण करे। शुद्ध-प्रासुक अल्प-शाकाहार करे, मांस आदि अभक्ष्य सेवन का पूर्णतः त्याग करे। तामसिक, गरिष्ठ, मादक-द्रव्य का सेवन न करे।

आहार की शुद्धि चित्त-शुद्धि को प्रभावित करती है। शुद्धाहारी ही समाधि-साधना का अधिकारी है, अभक्ष्य भोजी कभी भी शुद्ध-समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता है।

निद्रा-पिशाचनी के वश हुआ जीव जगत् क्लेश को प्राप्त हो रहा है। जैसे प्रेत से पीड़ित व्यक्ति विवेक-बोध शून्य हो जाता है उसी प्रकार निद्रा से पीड़ित व्यक्ति विवेक-बोध शून्य हो जाता है। निद्राकाल में अचेतनवत दशा हो जाती है। निद्रा-तन्द्रा काल में समाधि-साधना नहीं होती है, इसलिए मुमुक्षुओं को निद्रा पर क्रमशः नियंत्रण रखना आवश्यक है।

आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा पर विजय प्राप्त करने हेतु आसनजय अनिवार्य अंग है। उपसर्ग-परीषह के आने पर अविचलपने को वही लोग प्राप्त कर पाते हैं जो आसनजयी होते हैं। समाधि साधक के लिए आसन प्रथम साधना का अंग है। आत्म-साधक के लिए आसनों की दृढ़ता अनिवार्य है। आसन की चंचलता से चित्त भी चंचल होने लगता है, स्थिर-आसन से चित्त में स्थिरता सहज आती है। समाधि-साधक को शक्ति के अनुसार

विभिन्न आसनों में बैठकर, खड़े होकर, पद्मासन, अर्द्ध-पद्मासन, सुखासन, जिनमुद्रा आदि में ध्यान करना चाहिए।

---

28. जे आहार-णिद्दा-आसण-विसयकसाएसु विजयीअ ते हि भवभमणत्तो रक्खीअ। जे आहार-णिद्दा-आसण-विसयकसाएसु ण विजयीअ ते अज्जपज्जंतं संसारभमणं कुणंति॥

28. आहार, निद्रा, आसन, विषय-कषाय पर जो विजय प्राप्त कर गए; वे जीव भव-भ्रमण से बच गए। जिन्होंने आहार, निद्रा, आसन, विषय-कषाय पर विजय प्राप्त नहीं की वे आज तक संसार में भ्रमण कर रहे हैं।

---

29. अप्पत्थ-हवणस्स कला झाणं। जो मायापवंच-सुण्णो मेत्तं आदकल्लाण-भावणा-सहिदो, सो हि एयत्त-विभत्त-भावपुण्णो होदि॥

29. आत्मस्थ होने की कला ध्यान है। जो माया-प्रपञ्च से शून्य हो, एकमात्र आत्म-कल्याण की भावना से सहित है वही एकत्व-विभक्त्व भाव से पूर्ण होता है।

---

30. आदणाणं हि समाहिम्हि पुण्ण-सहयारी तहा तं सत्थणाण-भिण्णं॥

30. आत्मज्ञान ही समाधि में पूर्ण सहकारी है और वह शास्त्र-ज्ञान से भिन्न है।

---

31. समाहिणो पुव्विं संजमो आवस्सग-अंगं, जमणियमेहिं विणा असंभवो समाही; तम्हा साहगाणं मणिंदिय-णिरोह-अब्भासं सददं कुज्जा॥

31. समाधि के पूर्व संयम होना अनिवार्य अंग है, बिना यम-नियम के समाधि सम्भव नहीं है, इसलिए साधक के लिए मन और इन्द्रियों को संयमित करने का सतत अभ्यास करते रहना चाहिए।

---

32. जो सगविवेग-बलेण कसायं आधारिसेदि, सो साहगो चित्त-विसोहिं पसज्जेदि। साहगं चित्तविसोहि-वड्ढी सच्चत्थ-समाहिम्हि ठवेदि, तम्हा पुरिसत्थदो सगीयकसाएसु णियंतणं पत्तेग-मुमुक्खु-साहगस्स कत्तव्वं॥

32. जो स्व विवेक बल से कषाय को परास्त कर देता है वह साधक चित्त-विशुद्धि को प्राप्त होता है। चित्त-विशुद्धि की वृद्धि साधक को सत्यार्थ-समाधि में स्थापित कर देती है, इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु साधक का कर्तव्य है कि वह अपनी कषायों पर नियंत्रण पुरुषार्थपूर्वक करे।

---

33. वीसमेत्तिं ठाविदकरणकला समाही। समाहि-रत्तजोगिस्स वीसे कोवि पाणी रिवूरूवे ण दिस्सेदि, तत्थ मित्तामित्तवियप्प-अभावो होदि। सयल-वसुंधरा सामण्णा दिस्सेदि, अयं जोगविज्जाए अपुव्व-अचंत-पहावो त्ति॥

33. विश्व मैत्री को स्थापित करने की कला समाधि है। समाधि में लीन योगी के लिए ब्रह्माण्ड में कोई भी प्राणी शत्रु के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता, वहाँ शत्रु-मित्र के विकल्प का ही अभाव हो जाता है। सम्पूर्ण वसुन्धरा सामान्य प्रतिभासित होती है, यह योग विद्या का अपूर्व-अचिन्त्य प्रभाव है।

---

34. समाहि-सुण्णा पहावेंति संजोगविओगा, णं समाहि-लीणपुरिसा संजोग-विओगा किंचिवि ण पहावेंति॥

34. समाधिशून्य पुरुष को संयोग-वियोग प्रभावित करते हैं, परन्तु जो समाधि में लीन है उसे संयोग-वियोग किञ्चित् मात्र भी प्रभावित नहीं करते।

---

35. जोगविज्जाए लीणत्तणं समाही। णिए णियं विउंजित्ता जीवणं जोगो। मणवयकाय-एयग्गत्तं जोगो। जोगं णिट्ठुवेदूणं सगमुही-पउत्ती समाही। जोगपुव्वग-समाहिस्स साहगो झत्ति सिद्धत्तं पाउणेदि॥

35. योगविद्या की लीनता ही समाधि है। निज-में-निज को जोड़कर जीना ही योग है। मन-वचन को एकाग्र कर लेना योग है। योग को स्थिर कर स्वमुखी हो जाना समाधि है। योगपूर्वक समाधि का साधक शीघ्र सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

---

36. समाहिसाहगं समाहिणो पुव्विं सज्झायं अभिण्ण-अंगं कादव्वं। सज्झायदो अंतरंग-असुद्धिक्खओ विसोहि-उप्पादो य होदि॥

36. समाधि साधक के लिए समाधि के पूर्व स्वाध्याय को अभिन्न अंग बनाना चाहिए। स्वाध्याय से अंतरंग अशुद्धि का क्षय हो जाता है तथा विशुद्धि का उत्पाद होता है।

---

37. सुदसंवेगभावो समाहिसाहगस्स सिसुं माउ-अंक-सरिसो। जह माउ-अंको सिसुं तहेव सुदं साहगं पसीदेदि त्ति॥

37. श्रुतसंवेग-भाव समाधि साधक के लिए, शिशु को माँ के अंक के समान है। माँ की गोद शिशु को आनन्द देती है उसी प्रकार श्रुत साधक-को आनन्द देता है।

16

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

गुरू

(गुरु)

1. जे गुण-गुरुत्तणदो पुण्णा, दुग्गुणादो पुण्ण-दूरा, पंथ-सुण्णा, सच्चत्थ-पह-णायगा, पाणिमेत्तं पडि कल्लाण-चिंतगा, भव-सायर-उत्तिण्णे समत्थवंता; ते खलु सच्चप्प-गुरू॥

1. गुण-गुरुता से जो पूर्ण हैं, दुर्गुणों से पूर्ण दूर हैं, पन्थों से शून्य, सत्यार्थ-पथ के नेता हैं, प्राणिमात्र के कल्याण के चिंतक हैं, भव-सागर उत्तीर्ण करने में समर्थवान हैं, वही सच्चे गुरु हैं।

---

2. सग्गुणेहिं गुरुत्तलद्धी तहा गुणवंतो हि गुरू होदि। गुणहीणो णवि भजेदि गुरुभावं, गुरु-पदवंछा दु सगगुणा वड्ढेहि॥

2. गुरुता की प्राप्ति सद्गुणों से होती है और गुणवान् ही गुरु होता है गुणहीन गुरु-भाव को प्राप्त नहीं होता, गुरु बनना है तो स्वगुणों की वृद्धि करो।

---

3. पहुपदस्स भावो दु पढमं इदं णिण्णयं कुणहि-सेट्ठगुरुं विणा पहुत्तलद्धी णत्थि॥

3. प्रभु बनने का भाव है; तो सर्वप्रथम यह निर्णय करो कि श्रेष्ठ-गुरु के बिना प्रभुत्व की प्राप्ति नहीं होती।

---

4. पुण्णहीणं ण होदि सेट्ठगुरुसमागमो। जे पसज्जंति सच्चप्पगुरू, ते धण्णा। जे परमप्पपदस्स सच्चत्थमग्ग-दरिसगगुरुं पाउणंति, ते पुव्वभवस्स पुण्णप्पा॥

4. पुण्यहीन को श्रेष्ठ-गुरु का समागम नहीं होता। जिन्हें सच्चे-गुरु प्राप्त हो गए वे जीव धन्य हैं। वे पूर्वभव के पुण्यात्मा हैं जिन्हें परमात्म-पद के सत्यार्थ मार्ग-दर्शक गुरु मिले।

---

5. जीवणस्स उक्करिसे गुरुणो महत्तपुण्णठाणं। इदिहासो सक्खी पत्तेग-सहल-पुरिसस्स कोवि एगो सेट्ठु-पण्णवंत-सम्मबोहदायगो गुरू हि होदि त्ति॥

5. जीवन के उत्कर्ष में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इतिहास साक्षी है, प्रत्येक सफल पुरुष के पीछे कोई एक श्रेष्ठ प्रज्ञाशील सम्यक्-बोध देने वाले गुरु अवश्य होते हैं।

---

6. गुरु-सामिप्पं बुद्धि-उज्जलदाए अणिवारिय-अंगं। गुरू हि होदि समए बोहदायगो हेयोवादेयस्स। गुरुं विणा सग-जीवण-वक्कदाए बोहो णत्थि॥

6. गुरु का सान्निध्य बुद्धि की उज्ज्वलता के लिए अनिवार्य अङ्ग है। हेय-उपादेय का समय पर बोध-दाता गुरु ही होता है। बिना गुरु के स्व-जीवन की वक्रता का बोध नहीं होता।

---

7. जीवणे सच्चत्त-सहजत्त-सारल्ल-उवलद्धीए सच्चप्पगुरु-आसयो आवस्सगो। गुरु-अभावे संपुण्णलोओ सुण्णो दिस्सदे। गुरू हि णाण-अंजण-सलागा, सो करेदि मिच्छा-तिमिरत्तो अप्परक्खणं च॥

7. जीवन में सत्यता, सरलता, सहजता की उपलब्धि हेतु सच्चे-गुरु का आश्रय आवश्यक है। गुरु के अभाव में सम्पूर्ण-लोक शून्य दृष्टिगोचर होता है। गुरु ही ज्ञान-अंजन शलाका हैं; जो मिथ्यातिमिर से आत्मरक्षा करते हैं।

---

8. बहिरब्भंतर-सुद्धि-संपण्णो महापुरिसो हि गुरुसण्णं भजेदि, णेव अण्णो इदरो॥

8. अंतरंग-बहिरंग शुद्धि सम्पन्न महापुरुष ही गुरु संज्ञा को प्राप्त होता है, अन्य नहीं।

---

9. गुणत्तादो गुरुत्तं वड्ढमाणं, गुणमंडिद-आदा हि गुरु-गुण-सहावी होदि। जदि गुणणिलय-सिजणं विणा कोवि सगं गुरू भासेदि, दु सो कागं हंसपक्खी-सरिसं भासेदि॥

9. गुरुता गुणता से वर्धमान होती है, गुणों से मण्डित आत्मा ही गुरु गुण-स्वभावी है। बिना गुणों का निलय बने कोई स्वयं को गुरु कहलाए, तो वह काक को हंसपक्षी कहलाने के तुल्य जानो।

---

10. जत्थ विसयभोएण सह विसयाहिलासा वि, तत्थ साहुत्त-गुरुत्ताणं पुण्ण-अभावो त्ति जाणेहि। गुरुणो गुरुत्ते विसयाहिलासाए किंपि ठाणं णत्थि। जे विसएहिं सह विसयाहिलासादो पुहं संति, ते गुरु-भयवंता धण्णा धण्णा धण्णा।।

10. विषय भोग ही नहीं, अपितु विषयाभिलाषा भी जहाँ है वहाँ साधुत्व व गुरुत्व का पूर्ण अभाव जानो। गुरु की गुरुता में विषयाभिलाषा को कोई स्थान नहीं। धन्य-धन्य-धन्य वे गुरु भगवन्त जिन्होंने विषयों से ही नहीं विषयाभिलाषा से भी अपनी दृष्टि मोड़ ली है।

---

11. जे अवगुणाणं पुण्णरूवेण मुंचंति ते हि भजेंति गुरुत्त-भावा। सिस्सादो पत्तेग-गुणेसुं जेट्ठत्त-गुरुम्हि हुज्जा। जेट्ठत्तगुणं विणा गुरुणो गुरुत्तं ण होदि थिरं। गुरुचरिया होदव्वा वड्ढमाणा।।

11. गुरुत्व भाव उन्हें ही प्राप्त होता है जो अवगुणों का पूर्ण त्याग कर चुके हैं। शिष्यों से अधिक प्रत्येक गुणों में ज्येष्ठत्व गुरु में होना अनिवार्य है। ज्येष्ठत्व गुण के बिना गुरु की गुरुता स्थिर नहीं रह सकती। गुरु की चर्या वर्धमान होना चाहिए।

---

12. गुरुणो जीवणं सव्वकल्लाणत्थं होदि ण दु देहत्थं। सगपरकल्लाणी-दिट्ठी गुरुणो गुरुत्तं उण्णीदि। जत्थ लोयचिंतणं णवि गच्छेदि, तत्थ गुरु-चिंतणं आरोहेदि।।

12. गुरु का जीवन शरीर के लिए नहीं सर्व-कल्याण के लिए होता है। स्वपर-कल्याणी दृष्टि गुरु की गुरुता को उच्चता का स्पर्श कराती है। जहाँ जगत् का सोच नहीं जाता; वहाँ गुरु का सोच स्थापित होता है।

---

13. दिव्व-पयासगो गुरू, गुरुपयासं विणा तच्चबोहो णत्थि तहा तच्चबोह-अभावे आदसोहो वि असंभवो। आदबोह-आदसोहेण भवियो रूवादीद-अवत्थं भजेदि।।

13. गुरु दिव्य प्रकाशक है, बिना गुरु प्रकाश के तत्त्व-बोध नहीं होता और तत्त्व-बोध के अभाव में आत्मशोध सम्भव नहीं है। आत्मबोध व आत्मशोध से भव्यजीव रूपातीत अवस्था को प्राप्त होता है।

---

14. जीवण-विगासे गुरुणो महत्तपुण्णठाणं। सच्चप्प-गुरुं विणा आदविगासो असंभवो॥

14. जीवन विकास में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। सच्चे-गुरु के बिना आत्म-विकास संभव नहीं।

---

15. सग्गुरु-लद्धी अच्चंत-दुल्लहा। जं सच्चत्थ-गुरु-लद्धी होदि तमेव सच्चत्थ-मग्गदरिसग-पहुलद्धी। पहुत्तसत्ति-अहिवत्ति-मग्गो गुरुणा हि भजेदि॥

15. सद्गुरु की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जिसे सच्चा गुरु प्राप्त हो गया उसे सत्यार्थ मार्गदर्शक प्रभु ही मिल गया। प्रभुत्व-शक्ति की अभिव्यक्ति का मार्ग गुरु के माध्यम से ही प्राप्त होता है।

---

16. ववहारदो रयणत्तयविसुद्धो, पत्त-णेही, परमट्ठ-तच्चणादा, समीचीण-धम्म-पालगो, मिच्छोवएस-रहिदो, विसयकसाय-विरत्तो, आडंबर-विहीणो गुरू हि भवसागरदो उत्तिण्णे समत्थ-णिमित्तं तदा परमट्ठदो णियप्पा हि भूदत्थ-गुरू। णियोवादाण-णिम्मलत्तं, भाव-विसोही, रयणत्तय-सुद्धी खलु आदगुरुत्तं, सोच्चिय सिद्धि-पदायगो आदगुरू अत्थि॥

16. रत्नत्रय से विशुद्ध, पात्र-स्नेही, परमार्थ तत्त्वज्ञाता, समीचीन धर्म का पालक, मिथ्योपदेश से रहित, विषय कषायों से पूर्ण विरक्त, आडम्बर-विहीन गुरु ही व्यवहार से भवसागर से उत्तीर्ण करने में समर्थ निमित्त हैं और परमार्थ से निजात्मा ही भूतार्थ गुरु है। निज-उपादान की निर्मलता, भावों की विशुद्धि, रत्नत्रय की शुद्धि ही आत्म-गुरुता है, वही सिद्धि-प्रदायक आत्म-गुरु है।

---

17. णेत्तं सेट्ठं, किण्णु णत्थि पयासग-साहणं तु अज्झयणत्थं तिमिरे उवादाणभूद-णेत्त-मेत्तं अकज्जयारिं जाणेहि। तदेव णेत्त-जोदी कज्जयारी जदा दीवग-जोदी होस्सदि। जदि तच्चपयासगो गुरू णत्थि दु गंथो दीवगो वा होदु पुणो वि विज्जत्थी-जीवणे अंधयारो त्थि। गुरुं णेत्तस्स पयासो व्व जाणेहि। जदि तुमं आदहिदू सम्मतच्चबोहं च इच्छेहि पुण सेट्ठुणाणी-गुरुणो सिस्सत्तं विणयपुव्वगं सहजत्ते गेण्हेहि॥

17. नेत्र श्रेष्ठ है, परन्तु प्रकाशक साधन नहीं है तो अध्ययन के लिए अन्धकार में उपादानभूत नेत्र मात्र अकार्यकारी जानो। नेत्र ज्योति तभी काम में आएगी जब दीपक ज्योति होगी। इसी प्रकार ग्रंथ हो, दीपक हो, फिर भी है विद्यार्थी जीवन में अन्धकार यदि तत्त्व-प्रकाशक गुरु नहीं हैं तो। नेत्र के लिए प्रकाशवत गुरु को

जानो। यदि आत्महित आकांक्षी हो, सम्यक् तत्त्वबोध चाहिए तो किसी श्रेष्ठ ज्ञानी गुरु की शिष्यता को विनयपूर्वक सहज स्वीकार करो।

---

18. जत्थ सयं विगास-सीलत्तं तत्थेव आदविगासो संभवो त्थि। विगसिद-पुरिसो सव्वस्स चित्तं आणंदेदि, तहेव सगे दंसण-णाण-चरित्त-पुण्ण-विगसिदो सच्चत्थ-गुरू विणेयहिदयं सुदणिहिणा पुण्णविगासमयं करेदि॥

18. आत्मविकास वहीं संभव है जहाँ स्वयं विकासशीलता हो। विकसित पुरुष सभी के अन्तःकरण को आनन्द से भर देता है, उसी प्रकार से स्वयं में दर्शन-ज्ञान-चारित्र से पूर्ण विकसित सच्चे-गुरु शिष्य-हृदय को श्रुत-निधि से पूर्ण विकासमय कर देते हैं।

---

19. आदणाणं, कत्तव्व-णिट्ठत्तं, चारित्त-दिढत्तं, बुद्धिमाण-जीवण-जीवणस्स विज्जा य आदधम्म-रदेण परभाव-पुण्ण-उदासीण-णिग्गंथगुरुणा हि उवेज्जेहिदि, तम्हा णिग्गंथ-गुरूणं सुसंगदिं पुरिसत्थदो पडिलंभेहि॥

19. आत्मज्ञान, कर्तव्य-निष्ठता, चारित्र की दृढ़ता, बुद्धिमान जीवन जीने की विद्या, आत्मधर्मलीन परभावों से पूर्ण-उदासीन निर्ग्रन्थ-गुरु से ही मिलेगी, इसलिए निर्ग्रन्थ गुरुओं की सत्-संगति को पुरुषार्थ पूर्वक प्राप्त करो।

---

20. तित्थवंदणा कालंतरे तित्थभूद-गुरुणो सच्चाराहणा तक्खणे य फलेदि। गुरु-पसाएण संति-सुद-चारित्तादि-गुणणिहिणो तक्खणे पसज्जेंति॥

20. तीर्थों की वंदना कालान्तर में फलित होती है, पर तीर्थभूत गुरु की सच्ची आराधना तत्क्षण फलित होती है। गुरु प्रसाद से शान्ति, श्रुत, चारित्रादि गुणनिधि तत्क्षण प्राप्त होते हैं।

---

21. सच्चत्थगुरू गुणाणुरागं दोसादो हेयबुद्धिं च जादावेदि तहा मिच्छागुरू गुणेसु दोसुप्पत्ति-सिक्खणं दोसेसु अणुरागुप्पत्ति-सिक्खणं च देदि। उहय-गुरुणो सरूवं जाणित्ता सयं कुण णिण्णयं तुमं कस्स गुरुस्स सरणे गमेज्जा, जेण तुज्झम्हि भद्दत्त-जम्मं हवेहि॥

21. सच्चा-गुरु गुणों से अनुराग तथा दोषों से हेय-बुद्धि उत्पन्न कराता है और मिथ्या-गुरु गुणों में द्वेष व दोषों में अनुराग उत्पत्ति की शिक्षा देता है। उभय-गुरु के स्वरूप को जानकर स्वयं निर्णय करो कि मुझे कौन से गुरु की शरण में जाना चाहिए? जिससे मेरे अन्दर भद्रता का जन्म हो।

---

22. तच्चत्थ-उवएसगो, मिच्छामग्ग-उच्छेदगो, सम्मग्ग-दरिसगो, आडंबर-विहीणो, चारित्तरदो, सगपरकल्लाण-परो गुरू कत्थ वि भजेज्जा दु सग्गचागं कुणहि, णं एरिसाणं सग्गुरूणं चरणेसुं रमेज्जा, ते तुमं सिद्धत्तमग्गं उवदिसेस्संति॥

22. तत्त्वार्थ उपदेशक, मिथ्यामार्ग-उच्छेदक, सन्मार्ग-दर्शक, आडम्बर-विहीन, चारित्र में लीन, स्वपर कल्याणकारी गुरु कहीं भी मिल जायें, तो स्वर्ग का त्याग कर देना, परन्तु ऐसे सद्गुरु के चरणों में लग जाना तो वह आपको सिद्धत्व का मार्ग बता देंगे।

---

23. कलिकाले सग्गुरुलद्धी सेट्ठुअम-चमक्कारो। आडंबर-संपदाय-रागीसु कत्थ सग्गुरु-दंसणं? पंथसंपदायदो पुहं, मढ-पीढ-गिरि-उदयभिण्णा, एयत्त-विभत्त-णिय सिद्धप्प-दरिसगा गुरुओ पंचमयालं जावं अच्चंत-थोवा हि होस्संति॥

23. कलिकाल में सद्गुरु की प्राप्ति ही सबसे बड़ा चमत्कार है। आडम्बर, सम्प्रदायों के रागियों में सद्गुरु के दर्शन कहाँ? पंथ-सम्प्रदायों से पृथक्, मठ-पीठों, गिरि-उदयों से भिन्न, एकत्व-विभक्त निज-भगवानात्मा के दर्शक गुरु पंचमकाल के अन्त तक अत्यन्त अल्प संख्या में होंगे।

---

24. सग्गुरू वीदराय-णिग्गंथ-दियंबरो अप्पाणुसासगो हि गुरुसद्दलज्जं रक्खेदि। अण्णहा गुरुसद्दो हि रोच्छेहिदि, अहो! मज्झ सण्णा-लद्ध-जीवा किं कुणंति? जह दस्सु-सद्दं सुणिदूणं जीवाणं हिदयाइं कंपंति; तम्हा गुरुत्त-रक्खणं काम-कामिणी-कामणादो सगीय-चित्त-रक्खणं च गुरूणं कत्तव्वं॥

24. सद्गुरु वीतराग निर्ग्रन्थ दिगम्बर आत्मानुशासन ही गुरु शब्द की लाज रख पायेंगे; अन्यथा गुरु शब्द ही रो पड़ेगा कि अहो! मेरी संज्ञा को प्राप्त लोग क्या कर रहे हैं? डाकू शब्द सुनकर जैसे लोगों के हृदय कंपित होते हैं, ऐसे गुरु शब्द सुनकर हृदय कंपित न होने लगे, इसलिए गुरुओं का कर्तव्य है कि वे गुरुता को सुरक्षित रखें, काम-कामिनी-कामना से अपने अन्तःकरण को सुरक्षित रखें।

---

25. सच्चप्प-गुरओ होंति अणवेक्ख-उवयारगा। सच्चत्थ-गुरओ परोवयारं तु कुव्वंति, णं पडि-उवयारे किंचिवि वंछं णो कुव्वंति। मेत्तं सगप्पहिदस्स सुवियारं अवरभावत्तो अप्परक्खणं च कुव्वंति॥

25. सच्चे-गुरु अनपेक्ष उपकारक होते हैं। सच्चे-गुरु पर का उपकार तो करते हैं, परन्तु बदले में कुछ भी आकांक्षा नहीं रखते हैं। एकमात्र स्वात्महित का ही सुविचार करते हैं तथा अन्य भावों से आत्मरक्षा करते हैं।

---

26. जीवणे गुणगुरुदाए उत्तमो सग्गुणी-गुरू अच्चंत-आवस्सगो। जीवण-जीवणस्स महत्तपुण्ण-रहस्साणि गुरूहिंतो हि पसज्जेंति। कसायपुण्ण-अब्भंतर-पीडा गुरुचरणेसुं हि अवसरेदि। वसुहाए माणवं पडि माणवस्स अट्ठा-वीसास-सड्ढाए कोवि संबंधो दु सो गुरुसिस्स-संबंधो एव। एरिसो पवित्त-संबंधो माणवस्स माणवं पडि कोवि अण्णो णत्थि॥

26. जीवन में गुण-गुरुता के लिए एक श्रेष्ठ सद्गुणी गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है। जीवन जीने के महत्त्वपूर्ण रहस्य गुरु से ही उपलब्ध होते हैं। कषायपूर्ण अंतरंग पीड़ा को गुरु चरणों में ही दूर किया जा सकता है। पृथ्वी पर मनुष्य के प्रति मनुष्य का आस्था-विश्वास-श्रद्धा का कोई सम्बन्ध है, तो वह एकमात्र गुरु-शिष्य का ही सम्बन्ध है। ऐसा पवित्र सम्बन्ध मानव-का-मानव के प्रति अन्य कोई नहीं है।

---

27. पबल-पुरिसत्थ-देवाणं च जुगवदत्ते सदि सग्गुरुलद्धी होदि, जे जीवणस्स दिसा-दसाओ परियट्टणे समत्था होंति॥

27. प्रबल-पुरुषार्थ दैव की युगपतता के होने पर सद्गुरु की प्राप्ति होती है, जो जीवन की दिशा और दशा दोनों को बदलने में समर्थ होते हैं।

---

28. गुरू वीसासस्स होदि तहा सीसो वीसास-उवासगो, अयं उवस्स-उवासग-भावो हि पहुत्तं पत्तावेदि। जदि गुरओ जीवण-विगासस्स सुत्ताइं देंति, दु गुरु-वीसासस्स विघादं णवि कुज्जा, इदं सीस-कत्तव्वं॥

28. गुरु विश्वास का होता है और शिष्य विश्वास का उपासक, यह उपास्य-उपासक भाव ही प्रभुता को प्राप्त कराता है। यदि गुरु ने जीवन विकास के सूत्र दिए हैं, तो शिष्य का कर्तव्य है कि गुरु के विश्वास का विघात न करे।

---

29. जे गुरुत्तभारं सक्किदिं च सुरक्खेंति, ते सग्गुरुओ णुदिपत्ता वसुहाए धण्णा॥

29. जो गुरुत्वभार, संस्कृति को सुरक्षित सँभालकर रखते हैं, वे सद्गुरु नुति के पात्र धरातल पर धन्य हैं।

---

30. पहुत्तलद्धीए समुवाओ सच्चगुरुओ बवेंति, सग्गुरूवएसेण विणा सगपहुलद्धी णत्थि। णियप्पतच्च-उवलद्धीए आगमब्भासो साणुहवेण सह गुरूवएसो परमावस्सगो॥

30. प्रभुत्व प्राप्ति का सम्यक्-उपाय सच्चे-गुरु बतलाते हैं, बिना सद्गुरु उपदेश के स्वप्रभु की प्राप्ति नहीं होती। स्वात्मतत्त्व की उपलब्धि हेतु, आगम-अभ्यास, स्वानुभव के साथ गुरु-उपदेश परम आवश्यक है।

---

31. रोगिणो देह-आरोग्गत्थं वेज्जं बालगो व्व रोगकहणं कादव्वं एवं विणेयं आद-आरोग्गत्थं गुरुं बालगो व्व सगीयमाणसिग-वियप्पकहणं कादव्वं। जे सिरिगुरु-चरणेसुं सग-किदपावाणं णिच्छयभावेण आलोयंति ते हि सेट्ठसुमरणं समाहिमरणं च पसज्जेंति॥

31. शरीर स्वस्थ रखना है तो रोगी को वैद्य के लिए बालकवत रोग का कथन कर देना चाहिए और आत्मा को स्वस्थ रखना है तो शिष्य को बालकवत अपने मानसिक-विकल्पों को गुरु के समक्ष प्रस्तुत कर देना चाहिए। वे साधक श्रेष्ठ-सुमरण, समाधिमरण को प्राप्त होते हैं जो श्रीगुरु के चरणों में अपने कृत पापों की निश्छल भाव से आलोचना कर लेते हैं।

---

32. ते कण्णा कण्णा णत्थि, ते कीड-जंतूणं णिवासभूदछिद्दाणि; जे अण्णाणीहिं सच्चत्थ-गुरु-णिंदं सुणेंति। जे सद्धम्म-जिणवाणी-जिणदेव-सग्गुरूणं थुदीओ गुणकित्तणाइं सुणेंति, कण्णा दु ते हि सुकण्णा होंति॥

32. वे कर्ण-कर्ण नहीं, वे कीड़े-मकोड़ों के रहने के छिद्र हैं जो अज्ञानियों से सच्चे-गुरु की निंदा सुन लेते हैं। कर्ण तो सुकर्ण वे ही होते हैं; जो सद्धर्म, जिनवाणी, जिनदेव, सद्गुरु की स्तुतियाँ गुणकीर्तन सुनते हैं।

---

33. आदजोदिं पयासिदत्थं गुरओ पबलणिमित्तं। सीसं जोदिमय-जीवणत्थं गुरुणो अणुसासणं अच्चंत-आवस्सगं॥

33. आत्मज्योति को प्रकाशमान करने के लिए गुरु प्रबल निमित्त हैं। शिष्य को ज्योतिर्मय जीवन के लिए गुरु का अनुशासन अत्यंत आवश्यक है।

---

34. सग-आगमुत्त-कत्तव्व-पालणं एवं सीसेहिं पि आयरणस्स णिम्मल-पालणं कारिदं गुरु-कत्तव्वं। सिद्धंतबोह-आयारंग-पउत्ती य गुरुम्हि अवलंबिदा। लोए विणेय-पउत्ती गुरूणं अणुऊला दीसेदि। जह गुरू करिहिदि तहेव विणेओ करेदि। सच्चत्थ-विणेओ गुरु-अणुसारणी-पण्णावंतो होदि, तम्हा गुरुं संपुण्ण-मज्जादाणं णिज्झेज्जा॥

34. स्व-आगमोक्त कर्तव्यों का पालन करना एवं शिष्यों से भी आचरण का निर्मल पालन कराना गुरुओं का कर्तव्य है। सिद्धांतों का बोध, आचाराङ्ग की प्रवृत्ति गुरु पर आलम्बित है। लोक में शिष्यों की प्रवृत्ति गुरुओं के अनुकूल देखी जाती है। जैसा गुरु करेगा वैसा ही शिष्य करता है। सच्चा शिष्य, गुरु-अनुसारणीप्रज्ञा वाला होता है, इसलिए सम्पूर्ण मर्यादाओं का गुरु को ध्यान रखना चाहिए।

---

35. जदि गुरुजणा सग-कत्तव्वदो चयंतु दु ता सगीय-आगम-पायच्छित्तसत्थे भासिदं पायच्छित्तं कुज्जा, पायच्छित्तं अंतरेण एयक्खणं पि ण गमेदि। पायच्छित्तं विणा जीवमाणा गुरु-सीसा दोण्णि हि कुमरणं लहंति। चित्त-सुद्धि-साहणं तु पायच्छित्तं हि एवं तं गुरु-सामिप्पे खु होदि। जदि गुरू समाहित्थो त्ति, पुण सो सिस्सो अण्ण-उत्तमगुरु-पसाएण पायच्छित्तं गहित्तु अप्पसुद्धिं कुज्जा तहा विसुद्धमग्गस्स उज्जोयणं कुज्जा॥

35. गुरुजन यदि स्व-कर्तव्य से च्युत हों तो उन्हें अपने आगम-प्रायश्चित्तशास्त्र में कहा हुआ प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए, बिना प्रायश्चित्त के एक पल भी व्यतीत नहीं करना चाहिए। बिना प्रायश्चित्त के जीने वाले चाहे गुरु हों या शिष्य दोनों ही कुमरण को प्राप्त होते हैं। चित्त की शुद्धि का साधन यदि कोई है तो वह है प्रायश्चित्त और वह गुरु के सान्निध्य में ही होता है। यदि किसी के गुरु की समाधि भी हो गई है, तो वह अन्य किसी श्रेष्ठ गुरु से प्रायश्चित्त लेकर आत्मशुद्धि करे तथा विशुद्धमार्ग का उद्योतन करे।

---

36. जो गुरू जाणित्ता सिस्साणं अवराह-उवेक्खं कुणदि, सो सव्व-संघ-णासं कुणिज्जदि। सिरि-संघ-णासेण धम्ममग्ग-णासो होदि। धम्ममग्गं णिम्मल-करणत्थं सग-परस्स थोव-दोसाणं पि पायच्छित्तं गेण्हिज्जा॥

36. जो गुरु जानकर ही शिष्यों के अपराधों की उपेक्षा करता है वह सर्व-संघ का नाश कर लेता है। श्रीसंघ के नाश से धर्ममार्ग ही नाश को प्राप्त हो जाता है। धर्ममार्ग को निर्मल देखना है, तो स्व-पर के अल्प दोषों का भी प्रायश्चित्त स्वीकार करना चाहिए।

---

37. जो विणयदो गुरुस्स सदुवएसा सुणिय ता अमियमिव गेण्हदि, गुरु-गुणाणं कदावि ण विसुमरेदि, सदद गुरुकिदोवयारा सुमरेदि, तदणुऊल-पउत्तिं पि कुणेदि, सोच्चिय सच्चत्थ-सीसो त्ति॥

37. सच्चा शिष्य वही होता है जो विनय पूर्वक गुरु के सद्-उपदेशों को सुनकर उन्हें अमृत-तुल्य स्वीकारता है, गुरु के गुणों का कभी विस्मरण नहीं करता है, सतत गुरु के कृत उपकारों को याद करता है, तदनुकूल प्रवृत्ति भी करता है।

17

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

सिस्सो

(शिष्य)

1. जो होदि सिट्ठो, सदायारी, कत्तव्व-णिट्ठो, गुरुभत्तो, भव-भयभीदो, तच्च-पिवासू, सरल-सहाववंतो, पमाद-सुण्णो, विज्जाणुरागी य; सोच्चिय उत्तमो सिस्सो॥

1. शिष्य वही श्रेष्ठ होता है जो शिष्ट, सदाचारी, कर्तव्यनिष्ठ, गुरुभक्त, भव से भयभीत, तत्त्व-पिपासु, सरल स्वभावी, प्रमाद-शून्य एवं विद्यानुरागी हो।

---

2. गुरुदा-लाह-भावणा दु पढमं सिट्ठ-सेट्ठ-सिस्स-हवणस्स सम्मं उज्जमं पारंभेहि॥

2. गुरुता प्राप्ति की भावना है तो सर्वप्रथम शिष्ट-श्रेष्ठ शिष्य बनने का सम्यक्-पुरुषार्थ प्रारम्भ करो।

---

3. णाणा-विचित्त-मूढाणं गुरु-हवणस्स अवेक्खा एक्कस्स सेट्ठ-चरियाणाणवंत-तवोणिट्ठ-सड्ढाणिट्ठ-सग्गुरुस्स सिस्सो हवणं वरो॥

3. अनेक मूढ़ों के गुरु बनने की अपेक्षा एक श्रेष्ठ, चर्यावान, ज्ञानवान्, तपोनिष्ठ, श्रद्धानिष्ठ सद्गुरु का शिष्य बनना श्रेष्ठ है।

---

4. विज्जा-लाहत्थं सिस्सो हविज्जिस्सदि, सिस्सत्तं विणा णो विज्जा-सिद्धी; पसिद्ध-मिदं॥

4. विद्या प्राप्ति के लिए शिष्य बनना ही पड़ेगा, शिष्य बने बिना विद्यासिद्धि नहीं होती है, यह प्रसिद्ध है।

---

5. सिस्सस्स पढमो गुणो गुरुभत्ती। जत्तो गुरुत्तो तुमं विज्जब्भासं इच्छेसि दु तं पडि तुज्झ समप्पणभाव-भत्ती य होदव्वा। अट्ठा-वीसास-भत्तिं विणा विज्जालाहो णत्थि। जो तुज्झ सम्मं बोहं देदि, तं पडि तुज्झ समप्पणं होदव्वं॥

5. शिष्य का प्रथम गुण गुरु-भक्ति है जिस गुरु से आप विद्याभ्यास करना चाहते हैं उनके प्रति आपका समर्पण भाव एवं भक्ति होना चाहिए। बिना आस्था, विश्वास एवं भक्ति के विद्या की प्राप्ति नहीं की जा सकती। जो आपको सच्चा बोध दे रहा है उसके प्रति आपका समर्पण होना चाहिए।

---

6. सिस्सस्स विणयं दट्ठूणं गुरू होदि पसण्णो, तदा सो पसण्ण-चित्तेण सिस्सं विज्जब्भासं कारेदि; तत्तो सा विज्जा सिस्सस्स अंतोकरणे पवेसदि॥

6. शिष्य की विनय देखकर गुरु प्रसन्न हो जाते हैं; तब वह प्रसन्न-चित्त से शिष्य को विद्याध्ययन कराते हैं, तो वह विद्या शिष्य के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाती है।

---

7. सिस्सो कदावि सग-गुरुं कुविदं ण कुणेदु, तं पडि वीसासघादं ण कुणेदु तहा सदा तस्स आणं पालेदु; एवमेव सिस्स-कत्तव्वं॥

7. शिष्य का कर्तव्य है कि वह अपने गुरु को कभी कुपित न करे, उनके प्रति विश्वासघात न करे तथा हमेशा उनकी आज्ञा का पालन करे।

---

8. विज्जाणुरागी-सिस्सं सयल-काम-कोहादि-वियप्पत्तो विरमिदूणं सदद-विज्जब्भासं कुज्जा; इदं सेयोकरं॥

8. विद्यानुरागी शिष्य को सम्पूर्ण काम-क्रोधादि विकल्पों से परे होकर सतत विद्याभ्यास करना ही श्रेयस्कर है।

---

9. जो सगगुरु-आगम-आणाए णिम्मलरूवेण आयरेदि, सो किल उत्तमो सिस्सो। सो सिविणे वि गुरु-आणाए भंगवियारं ण करेदि तहा आगमस्स पत्तेग-सद्दस्स वीसासं धारेदि। एरिसो गुणवंत-सिस्सो हि सग-पर-कल्लाणे समत्थो त्ति॥

9. श्रेष्ठ शिष्य वही है जो स्व-गुरु व आगम-आज्ञा का निर्मल पालन करे। वह स्वप्न में भी गुरु-आज्ञा भङ्ग करने का विचार नहीं लाता तथा आगम के शब्द-शब्द का विश्वास रखता है। ऐसा गुणवान शिष्य ही स्व-पर कल्याण में समर्थवान होता है।

---

10. उग्ग-सहावी सिस्सत्तस्स अजोग्गो, णवरि सो विज्जालाहं णवि करेदि, जदि कदाचि विज्जा-लाहं करेदि दु तव्विज्जाए सम्मं उवओगं ण करिज्जदि। उग्गत्ते सो विज्जागुरूणं चावि अवगणेदि। अविणेओ विज्जा-मदम्हि अविवेगी होदूणं उत्तम-णाणीणं पि अविणयं किच्चा कम्मबंधं लहेदि पुणो पुणो संसार-भमणं च करेदि॥

10. उग्र-स्वभावी शिष्यता के अयोग्य है, क्योंकि वह प्रथम तो विद्या को प्राप्त ही नहीं कर पाता और कदाचित् वह विद्या प्राप्त भी कर ले तो उस विद्या का सम्यक्-उपयोग नहीं कर पाता। वह उग्रता में गुरु एवं विद्या का अनादर भी कर देता है। अविनेय विद्या के मद में विवेकहीन होकर श्रेष्ठ ज्ञानवानों की भी अविनय करके कर्मबन्ध को प्राप्त होता है और फिर संसार-भ्रमण करता है।

---

11. गुरु-सिस्सस्स पवित्त-संबंधदो हि सुद-परंपरा अच्छुण्णा गदिमाणा। जत्थ सिस्स-वड्ढी तत्थ धम्म-सक्किदि-वड्ढी वि होदि। सगीय-णाण-वेरग्ग-वड्ढिं करंतं चरित्तगुणादो णियप्पं विहूसिदं करणं, सिस्स-कत्तव्वं, णवरि रयणत्तय-धम्मो हि मुत्ति-दायगो त्ति॥

11. गुरु-शिष्य के पवित्र सम्बंध से ही श्रुत परम्परा अक्षुण्ण चलती है। जहाँ शिष्य की वृद्धि होती है वहाँ धर्म एवं संस्कृति वर्धमान होती है। शिष्यों का कर्तव्य है वे अपने ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि करते हुए; चारित्र गुण से निजात्मा को विभूषित करें, क्योंकि यह रत्नत्रय धर्म ही मुक्ति प्रदायक है।

---

12. सिस्साणं सुपहे गमणादो गुरु-सणादण-सक्किदीए सिरि-जसोकित्ती य वड्ढेदि॥

12. शिष्यों के सम्यक्-पथ पर गमन करने से गुरु एवं सनातन संस्कृति की श्रीवृद्धि यशःकीर्ति वर्धमान होती है।

---

13. जम्हि देसे गोवंस-सिस्ससंपदा य णत्थि, सो देसो चागणिज्जो, णं तत्थ जीवण-धम्मक्खयं होदि॥

13. जिस देश में गौवंश एवं शिष्यसम्पदा न हो वह देश त्यागने योग्य है, क्योंकि जीवन एवं धर्म का वहाँ क्षय होता है।

---

14. धम्मिग-सुहि-धिज्जवंत-संतोसी-खमादिगुण-विहूसिदा सिस्स-समुदाया हि भविस्सस्स धम्म-सक्किदि-देस-कुल-जादीए य तिलगा होंति। एरिसेहिं सिस्सेहिं सयल-रट्ठो आणंदिदो होदि तहा पत्तेग-विवेगी-पण्णावंतो ताणं सिस्साणं सम्माणं आदरं च करेदि॥

14. धार्मिक, सुधी, धैर्यवान, सन्तोषी, क्षमादि गुणों से विभूषित शिष्य ही भविष्य के धर्म-संस्कृति, देश-कुल-जाति के तिलक बनते हैं। ऐसे शिष्यों से सम्पूर्ण राष्ट्र आनंदित होता है और प्रत्येक विवेकी प्रज्ञावान उन शिष्यों का सम्मान करता है।

---

15. पण्णवंतो सिस्सो सिरिगुरु-आसणेसु णवि आसएदि, गुरुदेव-समक्खे तत्तो समुण्णदासणे णवि आसएदि। गुरुसमीवे वि उच्चासणं ण संधारेदि, जाणूए पादं ठविदूणं णवि चिट्ठेदि, अहंकारी-मुद्दं पि विणयवंत-सिस्सो गुरु-समक्खे णवि धारेदि, अविदु णम्मवित्तिं हि धारेदि॥

15. प्रज्ञावान शिष्य श्रीगुरु के आसनों पर आसीन नहीं होता, गुरु के समक्ष उनसे ऊँचे आसन पर भी नहीं बैठता। गुरु के समीप ऊँचा आसन भी नहीं लगाता, जंघा पर पैर रखकर नहीं बैठता, अहंकारी मुद्रा भी विनयशील शिष्य गुरु के सामने धारण नहीं करता, अपितु नम्र-वृत्ति का पालन करता है।

---

16. जदा गुरू णाणं देदि, तदा सिस्सं जिण्णासापुण्ण-मुद्दाए गुरु-मुह-मंडलं पडि दिट्ठिं कुणेदु तहा जदा गुरू अहितज्जेदि तदा विणयदो गुरुचरणेसु दिट्ठिं कुणेदु; एवमेव सुजोग्ग-सिस्स-धम्मो। किंतु गुरुणा वागजुद्धं ण कुज्जा॥

16. योग्य शिष्य का धर्म है कि जब गुरु समझायें तब वह जिज्ञासापूर्ण मुद्रा में गुरु के मुख-मण्डल की ओर दृष्टिपात करे तथा जब गुरु डाँटें तब विनयपूर्वक उनके चरणों में दृष्टि रखे। गुरु से वाक्-युद्ध न करे।

---

17. सग-पर-गुरूदो इत्तियं पुहुत्तं किच्चा गमिज्जा, जेण सगदेह-उण्हत्तं तस्स देह-फासं ण कुणेदि तहा देहादो देह-संघडणं पि ण होदु॥

17. स्वगुरु व परगुरु से इतनी दूरी बनाकर चलें जिससे स्वयं के शरीर की उष्णता उनकी देह का स्पर्श न कर सके तथा देह-से-देह का संघटन भी न हो।

---

18. अग्गि-रोडिगा इव गुरु-सिस्स-ववहारो होदव्वो। गुरुणा अदिदूर-अदि णिगडत्त-संबंधो वि ण होदव्वो। पत्तेग-सिस्सं सगीय-मज्जादा-बोहो होदव्वो॥

18. अग्नि रोटीवत ही गुरु-शिष्य का व्यवहार होना चाहिए। गुरु से अति दूर व अति निकट का सम्बंध नहीं होना चाहिए। प्रत्येक शिष्य को अपनी मर्यादा का बोध होना चाहिए।

---

19. धम्म-सवणं धम्मगंथ-अज्झयणं च जो सिस्सो गुरुमुहादो पप्पेदि, तस्स सिस्सस्स णाणं पमाणपत्तं भजेदि। गुरुणा विणा णाणम्हि दिढ-वीसासस्स णूणत्तं होदि। पढमं गुरुमुहादो हि अज्झेज्जा॥

19. धर्म-श्रवण तथा धर्मग्रंथों का अध्ययन जो शिष्य गुरु-मुख से प्राप्त कर लेता है, उस शिष्य का ज्ञान प्रमाणपत्र को प्राप्त होता है। गुरु के बिना ज्ञान में दृढ़-विश्वास की न्यूनता रहती है। सर्वप्रथम गुरु-मुख से ही अध्ययन करना चाहिए।

---

20. सिस्सो होदि मट्टिगा-समूहो व्व, जं गुरू णाण-णीरं सिंचिय, थिमित्ता, घडं घडित्ता लोयसीसम्हि विरायमाणं करेदि॥

20. शिष्य मिट्टी के ढेले के समान है जिसे गुरु ज्ञान-नीर डालकर गीला करके, घट बनाकर, लोकशीश पर विराजमान कर देते हैं।

---

21. गुरुणो पुच्छणाए सिस्सं झत्ति पडिभणेज्जा। गुरुणो किंचण पुच्छणाए सिस्सस्स मउण-धारणं अहिदयारी। मिट्ठ-अप्प-पच्छयारी-वयणाणं उवओगेण-गुरुणो कण्ण-पउलं संतोस-दाणं, सिस्स-कत्तव्वं॥

21. गुरु के पृच्छना करने पर शिष्य को शीघ्र उत्तर देना चाहिए। गुरु के कुछ पूछने पर शिष्य को मौन

रखना हितकारी नहीं है। अल्प, मिष्ट, पथ्यकारी वचनों का प्रयोग करते हुए गुरु के कर्ण-पटल को संतोष प्रदान करना शिष्य का कर्तव्य है।

---

22. सगासण-सज्जाए चिट्ठेदूणं हि गुरुत्तो सुत्तपाढकरणं कज्ज-आणं च णवि गहेज्जा। गुरुत्तो सुत्तबोहं कत्तव्व-कज्ज-आणं च सगट्ठाणं मुंचिय हि गहेज्जा, इदं सिट्ठ-सिस्स-चिण्हं॥

22. स्व-आसन अथवा शय्या पर बैठे ही बैठे गुरु से सूत्रपाठ तथा किसी कार्य की आज्ञा नहीं लेना चाहिए। गुरु से सूत्र-बोध, कर्तव्य-कार्य की आज्ञा स्वस्थान छोड़कर ही लेना चाहिए, यह शिष्ट शिष्य की पहचान है।

---

23. सुजोग्ग-सिस्सा पच्चक्ख-परोक्ख-रूवेहिं जोगत्तएहिं आइरियादि-पुज्ज-पुरिसा पडि विणय-भावं धरंति तहा किंचिवि तेसिं णिंदं ण करेंति॥

23. योग्य-शिष्य प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप, मन-वचन-काय से आचार्यों आदि पूज्य-पुरुषों के प्रति विनय-भाव रखते हैं तथा उनकी निन्दा भूलकर भी नहीं करते।

---

24. विवेगी-णाणी-सिस्सा गुरुणो अणुऊलायरणं हि करेंति, ते कदावि गुरु-भयवंतस्स पडिऊलायरणं ण करेंति॥

24. विवेकी और ज्ञानी शिष्य गुरु के अनुकूल ही आचरण करते हैं, वे कभी भी गुरु-भगवन्त के प्रतिकूल आचरण नहीं करते हैं।

---

25. सिस्सं गुरु-समक्खे णिरत्थग-वक्क-पओगं, अहंकार-ममकारपुण्ण-चरिचं च णो कुज्जा। सो गुरुमुहादो आगमसुत्ताणि विणयदो सुणिय धरिज्जा; इदं सुसिस्स-कत्तव्वं॥

25. शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु के समक्ष व्यर्थ के वाक्यों का प्रयोग न करे। गुरु के समक्ष अहंकार, ममकारपूर्ण चर्चा न करे। शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु-मुख से आगम सूत्रों को विनय पूर्वक श्रवण कर धारण करे।

---

26. सिस्सं गुरुपादमूलम्हि वसिय सुदब्भासं पुण्ण-मणोजोएण कादव्वं। जहा कोइ राओ सगीय-रायकुमारं रज्जपदम्हि णिवेसेदि जम्हा दु रज्ज-रक्खणं समिद्धी य होदु, तहेव सिस्सं सुद-संपदा-सक्किदि-रक्खणं कादव्वं॥

26. शिष्य को गुरु पादमूल में रहकर श्रुताभ्यास पूर्ण-मनोयोग से करना चाहिए। जैसे कोई सम्राट् अपने राजकुमार को राज्यपद पर आसीन इसलिए करता है कि राज्य की रक्षा हो, समृद्धि हो, उसी प्रकार शिष्य को श्रुत-सम्पदा एवं संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए।

---

27. जो सिस्सो गुरु-पडिऊल-पउत्तिं करेदि तहा सबलकिरिया-कुस्सियचरिया-जुत्तो त्ति, सो खलु असमाहिं लहेदि॥

27. जो शिष्य गुरु के प्रतिकूल प्रवृत्ति करता है, सबल क्रिया युक्त कुत्सित चर्या युक्त है, वह निश्चित ही असमाधि को प्राप्त होता है।

---

28. जो सिस्सो सीलवद-संपण्ण-पंचपरमेट्ठी-गुणाणुरत्तस्स गुरुणो अणुऊल-पउत्तिं कुणदि, सया सेट्ठ-जेट्ठ-विणयं कुणदि, गुरुणो पिट्ठदो गच्छदि, गुरुजणाणं अणादरं ण कुणदि तहा सुदविणय-भावणा-संपण्णो होदि, सो णियमेण सेट्ठ-समाहिं लहेदि॥

28. जो शिष्य शीलव्रत सम्पन्न पंच-परमेष्ठी के गुणों में अनुरक्त गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति करता है, सदा श्रेष्ठ ज्येष्ठों की विनय करता है, गुरु के पीछे-पीछे गमन करता है, गुरुजनों का अनादर नहीं करता है तथा श्रुत-विनय भावना सम्पन्न रहता है, वह नियम से श्रेष्ठ-समाधि को प्राप्त होता है।

---

29. जीवणे एग-सेट्ठ-गुरुणो सिस्सो खु होदव्वो। जदा जीवणे अंधयारो होदि, तदा सम्मगुरू सच्चत्थ-पयासो होदूणं करेंति मग्गदंसणं॥

29. जीवन में एक श्रेष्ठ-गुरु का शिष्य अवश्य बनना चाहिए। जब जीवन में अंधकार होता है, तब सच्चे-गुरु सत्यार्थ-प्रकाश बनकर मार्ग-दर्शन करते हैं।

---

30. सिस्सस्स पत्तेग-णिंद-अणिंद-पसंगं गुरू जाणेदि, पुणो वि सिस्से गुरु-विस्सासो होदि, णवरि

तं होदि अट्ठा-एवंचिय सिस्सो भविस्से गुरुत्तं लहिय लोए सगपर-कल्लाणमग्गं पसत्थं करिस्सदि। गुरू सिस्सं मादू होदूणं सिसु व्व पालेदि तहा गुरुत्त-ठाणम्हि ठवेदि॥

30. शिष्य की हर अच्छी-बुरी बात गुरु को ज्ञात होती है, फिर भी शिष्य पर गुरु का विश्वास होता है, क्योंकि उन्हें आस्था होती है कि यही शिष्य भविष्य में गुरुता को प्राप्त कर लोक में स्व-पर कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करेगा। गुरु-शिष्य को माँ बनकर शिशुवत पालन करते हैं और गुरुता के स्थान पर स्थापित कर देते हैं।

---

31. गुरुणो कढोर-अणुसासणं लहिय मा कुण गुरु-णिंदं, अविदु चिंतेज्जा गुरू मज्झ उवयारी, गुरू मज्झ अब्भंतर-दोसा णिज्जरित्ता णिद्दोसत्तं पडि गमणस्स उज्जमं करेदि॥

31. गुरु के कठोर अनुशासन को प्राप्त करके गुरु की निन्दा नहीं करना, अपितु यह विचार करना कि गुरु हमारे उपकारी हैं, जो हमारे अंतरंग दोषों को निकालकर निर्दोषता की ओर ले जाने का पुरुषार्थ कर रहे हैं।

---

32. सद्ढावंतो सिस्सो गुरुणो पत्तेगकज्जं विसिट्ठं सग-हिदुं मण्णेदि। गुरू मे उवयारी, एवमेव दिट्ठिं धारेदि। सच्चत्थ-सिस्सो-णिच्चं गुरुं पडि अत्थिक्करूवो ववहारो हि करेदि॥

32. श्रद्धावान् शिष्य गुरु के प्रत्येक कार्य को विशिष्ट और स्व-हितकारी समझता है। वह यही दृष्टि रखता है कि गुरु मेरे उपकारी हैं। सच्चा शिष्य गुरु के प्रति हमेशा आस्तिक्य रूप ही व्यवहार करता है।

---

33. णिक्कसाय-णिव्वियार-परमत्थतच्चभावणापुण्ण-पत्तवच्छल्ल जुत्तस्स गुरुणो हि सिस्सत्तं सेयोकरं। पुव्वुत्त-गुणसुण्णस्स गुरुणो सिस्सत्तं जो भजेदि; सो उहयलोये दुक्ख-असंति-किलेसं च भजेदि॥

33. निष्कषाय, निर्विकार, परमार्थ-तत्त्व की भावना से पूर्ण, पात्र-वात्सल्य युक्त गुरु के ही शिष्य बनना श्रेयस्कर है। जो उक्त गुणों से शून्य गुरु की शिष्यता को प्राप्त करता है; वह उभयलोक में दुःख, अशान्ति, क्लेश को प्राप्त करता है।

---

34. गुरुणो णिस्सीम-वीसासो उत्तम-सच्चत्थ-सिस्से होदि। गुरू सगीय-सिस्सम्हि सग-दंसणं

इच्छेदि। जहा बोह-बोहि-भावो मे अंतसे त्थि, तहेव मे सिस्समि्ह पि होदु। गुरू जिणसासण-सिरिसंघ-दायिच्चं जोग्ग-सिस्सस्स पयच्छेदि। जहा सगीय-गुरु-आसीसाणाए य समण-सक्किदि-संरक्खणं किदो हं, तहेव गुरू सग-सिस्सादो अवेक्खेदि-सो समण-सक्किदि-संरक्खण-संवड्ढणं च अच्चंत-विसुद्धमणोजोएण कुणेदु तहा धम्म-धम्मप्पा पडि णिप्पुहत्तेण णिक्काम-वित्तीए कुणेदु॥

34. गुरु का असीम-विश्वास श्रेष्ठ-सच्चे शिष्य पर होता है। गुरु अपने शिष्य के अन्दर स्व को देखना चाहते हैं। जैसा बोध-बोधि का भाव मेरे अन्दर है वैसा ही मेरे शिष्य के अन्दर रहे। गुरु जिन-शासन एवं श्रीसंघ का भार योग्य शिष्य को प्रदान करते हैं। जैसा मैंने अपने गुरु के आशीष एवं आज्ञा से श्रमण-संस्कृति का संरक्षण किया है उसी प्रकार से वह शिष्य से अपेक्षा करते हैं कि वह श्रमण-संस्कृति का संरक्षण एवं संवर्धन अत्यन्त विशुद्ध मनोयोग से करे तथा धर्म-धर्मात्मा के प्रति निस्पृहता पूर्वक निष्काम-वृत्ति से करे।

---

35. गुरुणो छवी सिस्समि्ह झलेदि। पाओ सिस्स-जीवणं गुरुजीवणस्स अणुयरणं करेदि, अदो सेट्ठ-गुरुणो सिस्साणं गुरु-तुल्य सेट्ठत्तं लहेदव्वं॥

35. गुरु की आभा शिष्य में झलकती है। प्रायः शिष्य का जीवन गुरु के जीवन का अनुकरण करता है, अतः श्रेष्ठ-गुरु के शिष्यों को गुरु-तुल्य श्रेष्ठता प्राप्त करनी चाहिए।

---

36. जिणसासण-पहावणाए सयलकज्जाणि विरमेदूणं सिरिगुरु-मुहादो सद्दागम-तक्कागम-परमागमाणं गंभीर-सज्झायं सिस्सं कुज्जा, तदुवरंतं पहावणा-मग्ग-वियारं कुज्जा; इदं सिस्स-कत्तव्वं गंभीर-गहणज्झयणं विणा णो कोवि वत्ता हुज्जा, ण लोहगो णेव य पहावगो॥

36. शिष्य का कर्तव्य है कि वह जिन-शासन की प्रभावना हेतु सर्वप्रथम सम्पूर्ण-कार्यों को विराम देकर श्रीगुरु मुख से शब्दागम, तर्कागम, परमागम का तलस्पर्शी स्वाध्याय करे, उसके उपरान्त प्रभावना के मार्ग का विचार करे। गंभीर-गहन अध्ययन के बिना न कोई वक्ता बने, न लेखक और न ही प्रभावक।

---

37. गुरु-सिस्स-परंपरा तेयालिगा। इमाए परंपराए खलु सुद-परंपरा जीविदा। सुद-रक्खाए हि सासणं सुरक्खिदं, तम्हा सेट्ठ-सिक्खासील-सिस्साणं सिजणं गुरुजण-कत्तव्वं॥

37. गुरु-शिष्य परम्परा त्रैकालिक है। इस परम्परा से ही श्रुत-परम्परा जीवित रही है। श्रुत की रक्षा से ही शासन सुरक्षित रहता है, इसलिए गुरुजनों का कर्तव्य है कि श्रेष्ठ शिक्षाशील शिष्यों का सृजन करें।

18

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

अज्झप्प-जोगो

(अध्यात्म-योग)

1. मण-वयण-काय-किरियाए णिरोहित्ता एगसरूवे णिच्छल-थिरत्तेण अप्पस्स उवओगस्स अप्पम्हि लीणत्तं; अज्झप्प-जोगो॥

1. मन-वचन-काय की क्रिया का निरोध कर एक स्वरूप में निश्चल स्थिरतापूर्वक आत्मा के उपयोग को आत्मा में ही लीन करना 'अध्यात्म-योग' है।

---

2. सगोवओगं सगम्हि थिरित्ता, परभावत्तो णियभावं विरमित्तु एयत्त-विहत्त-भावलीणत्तं किल अज्झप्प-जोगो। अज्झप्प-जोगी पंथ-संपदाय-परंपरादो पुहं जीवणं जीवेदि। मेत्तं धुव-णायगाणुभूदी तं समया होदि। सो सग-संवेज्जं हि सगीय-सगलक्खं किच्चा सज्झसिद्धीए रदो होदि॥

2. स्व उपयोग को स्व में स्थिर कर; पर-भावों से निज-भाव को भिन्न कर जो एकत्व-विभक्त भाव की लीनता है, वही अध्यात्म-योग है। अध्यात्म-योग का साधक पंथ-सम्प्रदाय परम्पराओं से भिन्न जीवन जीता है। एकमात्र ध्रुवज्ञायक की अनुभूति उसके पास होती है। वह स्व-संवेद्य ही अपना स्वलक्ष्य बनाकर साध्य-सिद्धि में लवलीन रहता है।

---

3. वीसस्स परा-विज्जा अज्झप्प-विज्जा। वीसस्स विविह-विज्जाओ भोगम्हि णेदि तहा अज्झप्प-विज्जाजोगम्हि रमेदि। परमप्प-पद-पदायगा तहा णिय-णायग-संजोगकारगा परमविज्जा अज्झप्प-विज्जा॥

3. विश्व की परा विद्या 'अध्यात्म-विद्या' है। विश्व की विविध विद्यायें भोग की ओर ले जाती हैं और अध्यात्म-विद्या योग में लीन करती है। परमात्म-पद को प्रदान करने वाली तथा निज-ज्ञायक से मिलन कराने वाली परम विद्या 'अध्यात्म-विद्या' है।

---

4. सरीर-इंदियादो पुहं अदिंदिय-आणंद-वेदणं कारमाणा अज्झप्प-विज्जा॥

4. शरीर इन्द्रियों से परे अतीन्द्रिय-आनन्द का वेदन कराने वाली 'अध्यात्म-विद्या' है।

---

5. लोगिगत्तं विरेयित्ता लोगुत्तरायारं पडि गममाणा अज्झप्प-विज्जा। इमा विज्जा जं भवियप्पं भजेदि, सो आही-वाही-सुण्ण-परमाणंदभोत्ता होदि॥

5. लौकिकता दूर कर लोकोत्तराचार की ओर ले जाने वाली 'अध्यात्म-विद्या' है। यह विद्या जिस भव्यात्मा को प्राप्त हो जाती है, वह आधि-व्याधि से शून्य परमानंद का भोक्ता होता है।

---

6. आही-वाही-सुण्णं जदि किंपि सुहं तु अज्झप्प-सुहं। साहगो अज्झप्पासयं गहेदूणं महापीडं पि पसण्णचित्तेण सहेदि, साहगो दुक्ख-पीडा-कट्ठाणि उवहारं मण्णेदि॥

6. आधि-व्याधि से शून्य यदि कोई सुख है तो 'अध्यात्म-सुख' है। अध्यात्म का आश्रय लेकर साधक महा-पीड़ा को भी प्रसन्नचित्त से सहन कर लेता है, साधक दुःख-पीड़ा-कष्टों को उपहार मानता है।

---

7. असंतचित्तं संतकारी-विज्जा अज्झप्प-विज्जा। अज्झप्पिगत्तं विणा संति-आणंदवेदणं असंभवं। अज्झप्पभावो सयल-परभावादो णियभावं भिण्णं भावेदि। जदा परभावो मे धुवसहावो णत्थि, दु पुणो विहा ता पडि ममत्तं ठावित्ता णियस्स भवसायरं किं वड्ढेज्जा?

7. अशान्त-चित्त को शान्त करने की विद्या 'अध्यात्म-विद्या' है। आध्यात्मिकता के बिना शान्ति, आनन्द का वेदन सम्भव नहीं है। अध्यात्म सम्पूर्ण परभावों से निजभाव को भिन्न दिखाता है। जब परभाव मेरा ध्रुव-स्वभाव नहीं है, तो फिर व्यर्थ में उनके प्रति ममत्व स्थापित कर निज का भव-सागर क्यों वृद्धिंगत करें?

---

8. अज्झप्पे जीवंता साहगा लोए सव्वेण सह वसंति, किंतु कस्सिंचिदवि णो मेलंति। ते सगीय-तच्चणाण-बलेण लोयस्स सयल-परदव्वादो उवेक्खाभावं ठाविय सगाणंदे आणंदंति॥

8. अध्यात्म में जीने वाले साधक लोक में सभी से मिलकर तो रहते हैं, परन्तु मिलते किसी में नहीं। वे अपने तत्त्वज्ञान के बल से जगत् के सम्पूर्ण पर-द्रव्यों से उपेक्षा-भाव को स्थापित करके स्वानन्द में आनन्दित रहते हैं।

---

9. अज्झप्पभावो अब्भंतरस्स विसिट्ठ-साहणा, जम्हि सच्चत्थ-तच्चदंसणं होदि, आदसंति-लाहं किलेस-मुत्ति-लाहं च होदि। जो साहगो पडिक्खणं अहिणव-अहिणव-आदसुहवेदणं करेदि, तं माणावमाणं च किंचिवि पहाविदं ण करेदि। अज्झप्प-साहगो सगसुहाणुभूदीणं रसपाणे णिमण्णो वसेदि तहा सो परभाव-पवंचादो पुण्णरूवेण उवेक्खाभावं धारेदि॥

9. अध्यात्म अंतरंग की विशिष्ट साधना है, जिसमें सत्यार्थ तत्त्व का दर्शन होता है, आत्मशान्ति प्राप्त होती है तथा क्लेश से मुक्ति प्राप्त होती है। जो साधक प्रतिक्षण अभिनव-अभिनव आत्म-सुख का वेदन करता है उसे मान-अपमान किञ्चित् भी प्रभावित नहीं कर पाते। अध्यात्म का साधक स्वसुख की अनुभूतियों के रसपान में निमग्न रहता है तथा वह परभावों, प्रपंचों से पूर्ण उपेक्षा रखता है।

---

10. जो साहगो अज्झप्प-सुण्णो होदूणं साहणं करेदि, सो सारीरिग-माणसिग-पीडादो पीडिदो होदि। सो अवमाणे पीडिदो खिण्णो होदि तहा सम्माणे पसण्णो होदि, एवं अट्ट-रुद्द-दुज्झाणेसुं हि तस्स चित्तं ठाविदं होदि। परमत्थ-तच्चादो तं किंपि पओयणं णत्थि। एवं परमत्थभूदं सच्चत्थतच्च-सवणं पि ण पडिग्गहेदि। साहणेसुं जीवणं णस्सेदि, सज्झम्हि तस्स लक्खो हि ण होदि॥

10. जो साधक अध्यात्म-शून्य होकर साधना करता है; वह शारीरिक, मानसिक पीड़ा से पीड़ित रहता है। वह अपमान पर पीड़ित होता है, खिन्न होता है और सम्मान पर प्रसन्न होता है, इस प्रकार आर्त-रौद्र दुर्ध्यानों में ही उसका चित्त स्थापित रहता है। परमार्थ-तत्त्व से उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। यहाँ तक कि परमार्थभूत सत्यार्थ-तत्त्व को सुनना भी नहीं स्वीकारता। साधनों में जीवन स्वाहा कर लेता है, साध्य पर उसका लक्ष्य ही नहीं जाता है।

---

11. आदसंति-संतोसीजीवणस्स महाकला अज्झप्पं। अज्झप्पिग-पुरिसो पडिक्खणं संतोसमयं जीवणं जीवेदि। तं ण कोवि रिवू, णेव मित्तं पडिभासेदि, सो समत्तभावेण सव्वे समदिट्ठी होदि। संसारीणं संतोस-संतुट्ठीदो गुरुं अण्णं किंपि वत्थुं णत्थि॥

11. आत्मशान्ति, सन्तोषी जीवन जीने की महान् कला 'अध्यात्म' है। आध्यात्मिक-पुरुष हर-पल संतोष का जीवन जीता है। उसे न कोई शत्रु और न ही मित्र प्रतीत होते हैं, वह समत्वभाव से सब पर सम-दृष्टि रखता है। संसारी प्राणियों को संतोष, सन्तुष्टि से बड़ी अन्य कोई वस्तु नहीं है।

---

12. वत्थुणो जधत्थ-बोहे सदि अज्झप्प-दिट्ठी सिज्झेदि। जधत्थ-बोहत्थं सददं अज्झप्प-सत्थाणं सज्झाय-चिंतण-मणणाणं आवस्सगत्तं। अज्झप्प-चिंतणं विणा समदा-रक्खा दुग्गमा॥

12. वस्तु का यथार्थ-बोध होते ही अध्यात्म-दृष्टि बनने लगती है। यथार्थ-बोध के लिए सतत अध्यात्म-शास्त्रों का स्वाध्याय, चिंतन-मनन की आवश्यकता है। अध्यात्म-चिंतन के बिना समता जीवित रख पाना कठिन है।

---

13. सुदामिद-पाणं सददं आवस्सगं जाणेज्जा, जहेव सिसु-दुद्धपाणं आवस्सगं, तं विणा सिसु-जीवणं दुग्गमं। तहेव सुदामिद-पाणं साहगस्स आवस्सगं। अज्झप्पं सज्झायं च विणा वेरग्ग-रक्खणं दुल्लहं॥

13. श्रुतामृत पान सतत अनिवार्य समझना चाहिए, जैसे शिशु को दुग्धपान अनिवार्य है, उसके बिना शिशु का जीवन जीना कठिन है। इसी प्रकार से श्रुतामृत पान साधक के लिए अनिवार्य है। अध्यात्म के बिना, स्वाध्याय के बिना वैराग्य जीवित रख पाना दुर्लभ है।

---

14. सम्मतच्च-पबोहगाणं पमाणिद-आइरिय-गंथाणं सव्वपढमं सज्झायं कादव्वं, पच्छा अण्णस्स; णवरि वत्ता-पमाणिगत्तेण वयणं पमाणिदं होदि॥

14. सम्यक् तत्त्व-प्रबोधक प्रमाणित-आचार्यों के ग्रंथों का स्वाध्याय सर्वप्रथम करना चाहिए, अन्य का बाद में, क्योंकि वक्ता की प्रमाणिकता ही वचनों को प्रमाणित बनाती है।

---

15. समदाभावो, परभाव-उवेक्खा, णियसहाव-अवेक्खा, रयणत्तयधम्मे तप्परदा, विसयविरत्ती, जिणभत्ति-दिट्ठी, अप्प-आहारी, सदाणंदी हि परम-अज्झप्पसारं लहेदि॥

15. समता भाव, परभावों में उपेक्षा, निज स्वभाव की अपेक्षा, रत्नत्रय धर्म में तत्परता, विषयों से विरक्ति, जिन-भक्ति में दृष्टि, अल्प-आहारी, सदानन्दी ही परम-अध्यात्म के सार को प्राप्त होता है।

---

16. वयण-पसार-णिरोहो अज्झप्प-साहगस्स आवस्सगंगं। वयण-वित्तीए चित्तं भंतं होदि, चित्त-भंती अज्झप्प-जोगं भंजेदि; तम्हा साहगस्स सयलविहीए मउणवदं धारेज्जा॥

16. वचन-प्रसार का निरोध अध्यात्म साधक के लिए अनिवार्य अंग है। वचन-वृत्ति से चित्त भ्रान्त होता है और चित्त की भ्रान्ति अध्यात्म-योग को भङ्ग कर देती है, इसलिए साधक को सर्व-प्रकार से मौनव्रत धारण करना चाहिए।

---

17. अज्झप्पिग-जीवणं पवित्तजीवणं। कदग-संजोगेण जह णीरं होदि सच्छं, तहेव अज्झप्पिग-जीवणं सच्छ-सीयल-समरस-जुत्तो होदि; जं परभावादो पुण्णरूवेण पुहं॥

17. आध्यात्मिक जीवन पवित्र-जीवन है। कतक (फिटकरी) के संयोग से जैसे पानी स्वच्छ होता है वैसे ही आध्यात्मिक जीवन स्वच्छ-शीतल समरस युक्त होता है; जो परभावों से पूर्ण परे है।

---

18. जे साहगा विसयकसाय-सुण्णो होदूणं, भेद-विण्णाणासयं गहेदूणं परमबंभ-अज्झप्पविज्जाए पडिक्खणं अहिरमेंति; ते हि सगीय-आद-पण्णारक्खणं करेंति॥

18. जो साधक विषय-कषाय से शून्य रहकर, भेद-विज्ञान का आश्रय लेकर, परमब्रह्म अध्यात्मविद्या में प्रतिक्षण लीन रहते हैं; वही अपनी आत्म-प्रज्ञा की रक्षा करते हैं।

---

19. जत्थ पावपउत्तीए णवकोडीओ पुण्णच्चागो त्ति, तच्चब्भासे चित्तं लीणं, वीसमेत्ती-भावो त्ति, हस्स-कक्कस-मम्मभेदी-सद्दाणं जत्थ पओगो णत्थि; तत्थेव जिणसासणस्स अज्झप्पं॥

19. पाप-प्रवृत्ति का जहाँ नव-कोटि से पूर्ण त्याग है, तत्त्वाभ्यास में चित्त लीन है, विश्वमैत्री का भाव है, हास्य-कर्कश-मर्मभेदी शब्दों का जहाँ प्रयोग नहीं, वहीं जिन-शासन का अध्यात्म है।

---

20. विभिण्णकट्ठाणं मज्झे वि आणंदपुण्ण-जीवण-कला अज्झप्पं। जत्थ वत्थु-सुतंतदाए पाढं पाढिज्जदि, तत्थेव अज्झप्पं॥

20. विभिन्न कष्टों के मध्य भी जो आनन्दपूर्ण जीवन जीने की कला है; वही अध्यात्म है। वस्तु स्वतंत्रता का जहाँ पाठ पढ़ाया जाता है; वहीं अध्यात्म होता है।

---

21. णाणस्स विसालदाए सयल-णेयाणि बुड्ढंति, णाणं णो होदि समत्तं, णेयाणि अप्पाणि होंति॥

21. ज्ञान की विशालता में सम्पूर्ण-ज्ञेय प्रविष्ट हो जाते हैं, ज्ञान समाप्त नहीं होता, ज्ञेय अल्प अवश्य होते हैं।

---

22. अज्झप्पिग-णाणी-पुरिसो णिंदाकसायजयी मिदभासीभोजी य होदि॥

22. आध्यात्मिक ज्ञानी पुरुष निन्दा-कषाय जयी, मितभाषी, मितभोजी होता है।

---

23. बहुप्पलावी कत्तो णाणी? णाणिस्स कत्तो बहुप्पलावो?

23. बहुप्रलापी ज्ञानी कहाँ? ज्ञानी के बहुप्रलाप कहाँ?

---

24. विण्णा वियारादो वि णिप्पुह-जीवणं जीवंति, णवरि बहुवियारा आदकिलेस-कारणाणि॥

24. विज्ञजन विचारों से भी निस्पृह जीवन जीते हैं, क्योंकि बहु-विचार आत्म-क्लेश के कारण हैं।

---

25. जादि-कुल-वंस-परिवार-संपदाय-पंथा, एदे सव्वे सच्चत्थ-वत्थुसहावो णत्थि, अविदु कम्म-कसाय-पुंजतंताणि। चेयण्ण-पुंजं जीवत्तभावो मेत्तं अज्झप्पं॥

25. जाति, कुल, वंश, परिवार, सम्प्रदाय, पंथ ये सत्यार्थ वस्तु-स्वभाव नहीं, अपितु कर्म कषाय-पुंजतंत्र हैं। चैतन्य-पुंज, जीवत्व-भाव एकमात्र अध्यात्म है।

---

26. चेयण्णधादू णायगस्स सुद्धधम्मो त्थि, अण्णं मिस्सस्स परिणमणं असमाणजादीय-कम्मं च॥

26. चैतन्यधातु ज्ञायक का शुद्ध धर्म है, अन्य मिश्र का परिणमन है, असमानजातीय का कर्म है।

---

27. ववहारे कुल-जादि-वंस-परिवार-संपदाय-पंथा संति, परमट्ठे सव्वादो सुण्णो सदो सदो सदो खलु सुद्ध-वत्थुत्त-भावो त्थि॥

27. व्यवहार में कुल-जाति-वंश-परिवार-सम्प्रदाय-पंथ हैं, परमार्थ में सबसे शून्य सत्-सत्-सत् ही है, शुद्ध वस्तुत्व-भाव।

---

28. णाणी उप्पादव्वय-धोव्वस्स अहिगवियारं ण करेदि णवरि तस्स दिट्ठी सदम्हि होदि। उप्पादव्वयादी पज्जाया, तु सदस्स भावो तेगालिगो॥

28. ज्ञानी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अधिक विचार नहीं करता, क्योंकि उसकी सत् पर दृष्टि होती है। उत्पाद-व्ययादि पर्याय हैं, पर सत्पना त्रैकालिक है।

---

29. पवाहीमाण-लोयस्स पवाहादो जो करेदि आदरक्खणं, सो आदलोये विसिट्ठ-ठाणं भजेदि तहा सोच्चिय वीसम्हि अज्झप्प-गुरु-सण्णं सहजेण पसज्जंति॥

29. प्रवाहीमान लोक के प्रवाह से जो आत्म-रक्षा कर लेता है, वह आत्मलोक में विशिष्ट स्थान को प्राप्त होता है और फिर वही विश्व में 'अध्यात्म-गुरु' संज्ञा को सहज ही प्राप्त कर लेता है।

---

30. णो कंचिद पहावेहि, णेव केणचिद रंगेहि; उहय-अवत्थाओ आदसंति-भंजगाओ। केवलं णियप्प-बंभेण खु विअंभेहि, एवंचिय अज्झप्प-दसा॥

30. न किसी को प्रभावित करो, न किसी से प्रभावित होना, उभय अवस्थाएँ आत्मशान्ति को भंग करने वाली हैं। एकमात्र निजात्म-ब्रह्म से ही प्रभावित रहो, यही 'अध्यात्म-दशा' है।

---

31. पेममग्गादो उवेक्खा, सेयमग्गे लीणत्तं तदेव संभवदि; जदा जीव-चित्तं अज्झप्प-विज्जं पडि विमोहेज्जा। सरीर-साहगा मेत्तं कत्तत्तभारजुत्ता होंति तहा जे अज्झप्प-साहणाए अहिरमंति ते कत्तत्तभारसुण्णा णियाणंदपुण्णा होंति॥

31. प्रेममार्ग से उपेक्षा, श्रेयमार्ग में लीनता तभी सम्भव है जब व्यक्ति का चित्त अध्यात्म-विद्या की ओर आकर्षित हो। मात्र शरीर की साधना करने वाले कर्तापन के बोझ से युक्त रहते हैं और जो अध्यात्म-साधना में लीन होते हैं वे कर्तापन के भार से शून्य निजानन्द से पूर्ण रहते हैं।

---

32. जस्स अछेज्ज-अभेज्ज-चिदबंभ-आदपहुम्हि अणिमेस-अपलयदिट्ठी, सो अज्झप्पसारं लहेदि। एसो जोगी सयल-विसय-कसाय-सण्णादो विरमित्ता एगत्त-विहत्त-अदिंदिय-आणंदं अणुहवंतो परमसुहं लहेदि॥

32. जिसकी अछेद्य-अभेद्य चिद्ब्रह्म आत्मप्रभु पर अनिमेष, अपलक दृष्टि है वह अध्यात्मसार को प्राप्त होता है। ऐसा योगी सम्पूर्ण विषय-कषाय-संज्ञाओं से भिन्न होकर एकत्व-विभक्त अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता हुआ परम-सुख को प्राप्त होता है।

---

33. कम्मविवागकाले सरलजीवस्स अवरो कोवि णाहो ण होदि मेत्तं आदधम्मो हि अत्थि जो तस्स कम्मविवागं परियट्टेदु॥

33. कर्म-विपाक काल में भोले प्राणी के लिए अन्य कोई नाथ नहीं होता, जो उसके कर्म-विपाक को परिवर्तित कर दे, एकमात्र आत्म-धर्म ही है।

---

34. अज्झप्प-झाण-साहणाए साहगो संसारे वसंतो संसारादीद-अणुभूदिं पसज्जेदि, पुणो बहि-पाव-पउत्तीदो पुण्ण-उवेक्खा-भावं लहेदि। लोयस्स कामणा-कामणीओ य तं साहगं किंचि मेत्तं पि माणसिग-किलेसं ण देंति॥

34. अध्यात्म ध्यान-साधना से साधक संसार में रहते हुए संसारातीत की अनुभूति को प्राप्त कर लेता है, फिर बाह्य पाप-प्रवृत्तियों से पूर्ण उपेक्षा भाव को प्राप्त होता है। जगत् की कामनाएँ और कामनियाँ उस साधक को लेश मात्र भी मानसिक क्लेश नहीं दे सकती हैं।

---

35. अणुप्पण्ण-अहेदुग-वत्थुणो पारिणामिग-भावो सदा उप्पाद-वय-धुवभूदे सगासिय-भावो त्थि। वत्थुणो वत्थुत्ते लक्खो, अज्झप्पिग-पुरिसस्स सत्थग-दिट्ठी॥

35. अनुत्पन्न, अहेतुक वस्तु का पारिणामिक-भाव सदा उत्पाद-व्यय-ध्रुवभूत है, स्वाश्रयी भाव है। वस्तु के वस्तुत्व पर लक्ष्य रखना आध्यात्मिक-पुरुष की सार्थक-दृष्टि है।

---

36. जो साहगो पूयाए उण्णदभावं ण करेदि, णिंदाए अवणदभावं पि ण करेदि, सहज-सरल-परिणामं मेत्तं धारेदि, सो हि अज्झप्प-विज्जाए पुक्खल-फलं अविरामरूवेण लहेदि॥

36. जो साधक पूजा में उन्नत भाव नहीं रखता, निंदा में अवनत भाव नहीं लाता, एकमात्र सहज-सरल परिणाम रखता है; वही अध्यात्म-विद्या के पुष्कल फल को अविराम प्राप्त होता है।

---

37. धण-धरणी-पूया-पदिट्ठा-रागो जीव-चित्तं करेदि चलायमाणं। चित्तस्स-अथिरदाए अज्झप्पं णो फलेदि, तम्हा आद-साहगो इमेसिं सामित्तदो विहडित्ता करेदि साहणं॥

37. धन-धरती, पूजा-प्रतिष्ठा का राग व्यक्ति के चित्त को चलायमान कर देता है। चित्त की अस्थिरता में अध्यात्म फलित नहीं होता, इसलिए आत्म-साधक इनके स्वामित्व से भिन्न रहकर साधना करता है।

19

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

सक्कारो

(संस्कार)

1. माणवजीवणे महाणत्तं दीणत्तं च सक्कारेहिं हि आगमेदि। सुसक्कारेहिं माणवजीवणं महाणत्तं भजेदि तहा कुसक्कारेहिं हीणत्तं च भजेदि। तुमं सयमेव णिच्छएज्जा तुमं महाणो य दीणो हविस्सदि?

1. मानव जीवन में महानता व दीनता संस्कारों से ही आती है। सुसंस्कारों से मानव जीवन महानता को प्राप्त होता है और कुसंस्कारों से हीनता को प्राप्त होता है। निर्णय आपको स्वयं करना है कि आपको महान् बनना है या दीन?

---

2. कुसक्कारा अग्गि-वाहस-सिंह-विसादो वि अहिगा अप्पस्स अहिदयारी। सिंहादि-क्रूर-पाणिणो मेत्तं वट्टमाण-तणं हि णस्संति, परंतु कुसक्कारो आदाणंदं भवे भवे वियारेदि॥

2. कुसंस्कार, अग्नि-अजगर-सिंह-विष से भी अधिक आत्मा के लिए अहितकारी हैं। सिंहादि क्रूर प्राणी मात्र वर्तमान तन का ही नाश करते हैं, परन्तु कुसंस्कार आत्मानन्द को भव-भव में विकृत करता है।

---

3. कुसक्कारो जसोकित्ति-णाणविण्णाण-कुलीणत्त-साहुत्ताणं जुगवं णासेदि॥

3. कुसंस्कार यशःकीर्ति, ज्ञान-विज्ञान, कुलीनता, साधुता सबका युगपत् नाश कर देता है।

---

4. जहा सक्कारो जीवणे एज्जदि, तहा हि भविस्सो सिज्झदि। जदि असुहकम्मस्स कुसक्कारा जीवणे एगहुत्तं पि पवेसंति दु पाणी कुसक्काराणं कुफलं जाणंतं पि तमेव कज्जं करेदि, जेण कुगदीए गमिज्जा।।

4. जैसा संस्कार जीवन में आता है वैसा ही भविष्य बनता है। यदि अशुभ-कर्म के कुसंस्कार जीवन में एक बार भी प्रवेश कर गए, तो व्यक्ति कुसंस्कारों के कुफल को जानता हुआ भी वही कार्य करता है, जिससे कुगति में जाना पड़े।

---

5. सक्कारमय-जीवणं सदा होदि आणंदमयं। बाल-गोवाला वि तस्स पसंसगा होंति जस्स जीवणं सुसक्कारेहिं पुण्णो होदि। सेट्ठ-सक्कारा सेट्ठ-जणेसुं हि दीसंति, हीणजणेसुं सुसक्कारगंधो वि ण होदि।।

5. संस्कारमय जीवन हमेशा आनन्दमय होता है। बाल-गोपाल उस व्यक्ति के प्रशंसक होते हैं जिसका जीवन सुसंस्कारों से पूर्ण होता है। श्रेष्ठ संस्कार श्रेष्ठ-जनों में ही दृष्टिगोचर होते हैं, हीन-जनों में सुसंस्कारों की गन्ध भी नहीं होती है।

---

6. सेट्ठत्त-लाहत्थं सेट्ठ-सुसक्कार-जुत्त-जीवणस्स आवस्सगत्तं। जे सुसक्कार-भरिदं जीवणं जीवंति, ता खलु लोयप्पियत्तं जगपुज्जत्तं च लहेंति।।

6. श्रेष्ठता की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ सुसंस्कारों से युक्त जीवन जीने की आवश्यकता है। लोकप्रियता, जगत् पूज्यता उन्हें ही प्राप्त होती है जो सुसंस्कारों से भरित जीवन जीते हैं।

---

7. सक्कार-हीणं मग्गस्स रेणु व्व जाणेहि। मग्गत्थ-रेणू लोए पादेहिं खुप्पेदि, सा चेव रेणू मिट्टिगा कुंभयारेण संभारित्ता पत्तरूवे गुंफेदि तहा आवणम्हि मुल्लवंता सिज्झेदि। तहेव सक्कारवंत-पुरिसो मुल्लं भजेदि, तम्हा सज्जणाणं सगजीवणं सेट्ठ-सुसक्कारेहिं भाविदं कादव्वं।।

7. संस्कार-हीन व्यक्ति को मार्ग की धूल-तुल्य जानो। मार्ग में पड़ी धूल लोक में पैरों से रौंधी जाती है, वही धूल-मिट्टी कुम्भकार के द्वारा संस्कारित कर पात्र बना दी जाती है और बाजार में मूल्यवान बन जाती है। उसी प्रकार संस्कारवान पुरुष मूल्य को प्राप्त होता है, इसलिए सज्जनों को स्व-जीवन को श्रेष्ठ-सुसंस्कारों से भावित करना चाहिए।

---

8. पडिक्खणं णियप्प-हिदयारि-सुत्तेहिं णियप्पणो सक्कारदाणं, साहगधम्मो॥

8. साधक का धर्म है कि वह प्रतिक्षण स्वात्महितकारी सूत्रों से निजात्मा को संस्कारित करता रहे।

---

9. तुच्छहीण-जण-सहवासदो कुसक्कारा आगमेंति तदा महाजण-सहवासदो सेट्ठ-सक्कारलाहा होंति, तम्हा महाजणेहिं सह संवासेज्जा; जेण सुसक्कार-वड्ढणं होदु॥

9. तुच्छ जनों के सहवास से कुसंस्कार आ ही जाते हैं और महाजनों के साथ रहने से श्रेष्ठ संस्कार प्राप्त होते हैं, इसलिए महाजनों के साथ ही सहवास करना चाहिए, जिससे सुसंस्कारों की वृद्धि हो।

---

10. ठावणा-णिक्खेवस्स पुज्जत्तं मेत्तं मंत-सक्कारेसुं आलंबिदं। मंत-सक्कारेहिं पासाण-धादु-पडिमाओ वि पुज्जत्तं भजेदि, पुणो संजम-तव-चागस्स सक्कारेहिं अयं अप्पा पुज्जत्तं किमु णं भजेदि? णूणं भजेदि॥

10. स्थापना निक्षेप की पूज्यता मात्र मंत्र-संस्कारों पर आलम्बित है। मंत्र-संस्कारों के माध्यम से पाषाण धातु की प्रतिमा भी पूज्यता को प्राप्त हो जाती है, तो फिर संयम-तप-त्याग के संस्कारों से यह आत्मा पूज्यता को प्राप्त क्यों नहीं होगी? अवश्य ही होगी।

---

11. सक्कारवंतो सव्वत्थ सम्माणं भजेदि तहा सक्कारहीणो सव्वत्थ अवमाणं भजेदि॥

11. संस्कारवान सर्वत्र सम्मान को प्राप्त होता है और संस्कारहीन सर्वत्र अपमान को प्राप्त होता है।

---

12. धण-धरणीदो वि अग्घवंतो सुसक्कारो। धण-धरणी-सगगाम-मेत्ते खु दीसेंति, किण्णु सक्कारा सव्वत्थ दीसेंति॥

12. धन-धरती से भी अर्घवान यदि कुछ है; तो वह सु-संस्कार है। धन-धरती स्वग्राम मात्र में ही दृष्टिगोचर होती है, परन्तु संस्कार सर्वत्र दिखाई देते हैं।

---

13. धणवंतो सदेसे पसज्जेदि सम्माणं, सुसक्कारवंतो मणीसी सव्वदेसेसु विणय-पुज्जत्तं च पसज्जेदि॥

13. धनवान स्वदेश में ही सम्मान को प्राप्त करता है,पर सुसंस्कारवान मनीषी सर्वदेशों में विनय एवं पूज्यता को प्राप्त करता है।

---

14. सेट्ठ-सक्कारा सत्तुं समया होंतु पुणो वि ता आदरेण गहेदव्वा तहा कुसक्कारा मित्तं समया होंतु पुणो वि ता अणादरेण मुंचेदव्वा॥

14. श्रेष्ठ संस्कार शत्रु के पास ही क्यों न हों उन्हें भी आदर के साथ स्वीकार करना चाहिए और कुसंस्कार मित्र के पास ही क्यों न हों उन्हें तिरस्कार के साथ छोड़ देना चाहिए।

---

15. जत्थ सुसक्कारा होंति, तत्थेव धम्मसेट्ठविज्जा-वासो त्ति। जदा सुसक्कारवंतं समया धम्म-विज्जा थिरा होदि, तदा सयमेव आगमेदि सम्माण-लच्छी य॥

15. धर्म एवं श्रेष्ठ-विद्या का वास वहीं रहता है जहाँ सुसंस्कार होते हैं। सुसंस्कारवान के पास जब धर्म और विद्या स्थिर हो जाती है तब सम्मान व श्री स्वयमेव आ जाती है।

---

16. कुसक्कारादो पहाविदं जीवणं लज्जा-कुलीणत्त-सम्मवियार-सुण्णं होदि। तत्थ सयल-सेट्ठ-गुणा णस्संति॥

16. कुसंस्कारों से प्रभावित जीवन लज्जा, कुलीनता, सद्विचार शून्य हो जाता है। वहाँ सम्पूर्ण श्रेष्ठ-गुण नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

---

17. साहुजण-संगदीए, सुसक्काराणं जम्मेदि। सक्कारसीलो सव्वत्थ सम्माणं भजेदि, किण्णु सक्कारहीणस्स सव्वत्थ अवमाण-अवजसो होदि॥

17. साधुजनों की संगति से सुसंस्कारों का जन्म होता है। संस्कारशील सर्वत्र सम्मान को प्राप्त होता है, जबकि संस्कारहीन का सर्वत्र अपमान और अपयश होता है।

---

18. कुसक्कार-विसादो साहगं पडिक्खणं संभलेज्जा। विस-कणिगा वि मिच्चुकारणं सिज्झदि, एवं खणमेत्त-असुहसक्कारा वि पाणिस्स संजम-पाणं हरेंति॥

18. कुसंस्कारों के विष से साधक को प्रतिक्षण सावधान रहने की आवश्यकता है। विष की कणिका भी मृत्यु का कारण बन जाती है, इसी प्रकार क्षण-भर के अशुभ-संस्कार भी प्राणी के संयम के प्राण ले लेते हैं।

---

19. साहणा-समाहि-सिद्धिं इच्छेसि, दु सुसक्कारेहिं सगप्पं सक्किदं कुणेहि; कुसक्कारादो सगप्पं सुरक्खेहि॥

19. साधना और समाधि की सिद्धि चाहिए; तो सुसंस्कारों से स्वात्मा को संस्कृत करो, कुसंस्कारों से स्वात्मा को सुरक्षित करो।

---

20. जदा देस-रट्ठ-समायम्हि सुसक्कार-रक्खणं होहिदि, तदेव धम्म-जस-संपत्ति-सक्किदि-रक्खणं संभवं॥

20. धर्म, यश, सम्पत्ति और संस्कृति की रक्षा तभी संभव है; जब देश, राष्ट्र, समाज में सुसंस्कारों की रक्षा होगी।

---

21. गुण-गहणत्त-सक्कारो जीवं महाणं करेदि, तम्हा पडिक्खणं गुण-गेज्झ-दिट्ठिं धरेहि। अवगुणीसुं पि गुणदंसणं आरंभेहि, सयमेव होहिदि आदविगासो॥

21. गुण ग्रहणता का संस्कार व्यक्ति को महान् बना देता है, इसलिए प्रतिक्षण गुण ग्राह्य दृष्टि बनाकर चलो। अवगुणियों में भी गुण देखना प्रारंभ करो, स्वयमेव ही आत्मविकास होगा।

---

22. सक्कारवंतो हि सक्किदि-रक्खणं करिज्जदि। सक्कारहीणो सगरक्खणं ण करिज्जदि, पुणो सो किं सक्किदि-रक्खणं करिहिदि?

22. संस्कारवान ही संस्कृति की रक्षा कर सकता है। संस्कारहीन स्वयं की रक्षा नहीं कर पाता, फिर वह संस्कृति की क्या रक्षा करेगा?

---

23. सक्कारहीण-संगदी सेट्ठु-जणाणं पि अवजस-कारणं होदि। सेट्ठु-जणाणं कावि ठिदीए पुण्णक्खीण-सक्कारहीण-संगदिं ण कुज्जा॥

23. संस्कारहीनों की संगति श्रेष्ठ जनों को भी अपयश का कारण बन जाती है। श्रेष्ठ-जनों को किसी भी स्थिति में पुण्यक्षीण एवं संस्कारहीन की संगति नहीं करना चाहिए।

---

24. आगमणाणं णिद्दोसचरिया य सक्कारसीलं समया हि होदि। जे आद-सक्कारजुत्ता, ते खलु कुसल-णादा॥

24. आगमज्ञान, निर्दोष-चर्या संस्कारशील के पास ही रहती है। कुशल-ज्ञाता वे ही हैं, जो आत्म संस्कार युक्त हैं।

---

25. सक्कारहीणस्स जणणी वि तस्स सहजोगं ण करेदि, पुण अण्णादो किं सहजोग-कप्पणा?

25. संस्कारहीन की जननी-माता ही साथ नहीं देती, फिर अन्य किसी से सहयोग की क्या कल्पना करें?

---

26. जदि आद-विगास-भावणा, जणप्पियत्तं पि इच्छेसि दु सक्कारपियत्तं पसज्जेहि। सक्कार-हीणो सगजण-पियो ण होदि, पुणो जणप्पियो कहं होहिदि?

26. यदि आत्म-विकास की भावना है और यदि जनप्रियता भी चाहते हो तो संस्कार प्रियता प्राप्त करो। संस्कारहीन स्वजनों का ही प्रिय नहीं होता; फिर जनप्रिय कहाँ बनेगा?

---

27. जदि तुमं धम्म-धम्मप्पा मज्झे सुठाणं इच्छेसि, दु हुव सक्कारवंतो॥

27. यदि आप धर्म-धर्मात्मा के मध्य स्थान बनाना चाहते हो, तो संस्कारवान बनो।

---

28. सुसक्कार-हाणीए माणवस्स माणवत्त-हाणी। पसु-माणवेसुं सक्कारस्सेव भिण्णत्तं अत्थि। माणवो विवेगसीलो पाणी, सो पत्तेगकज्जं सुवियार-सुविवेगाणं आसएदूणं करेदि, पसू विवेगहीणो होदूणं लोयम्हि सगीय-सण्णा-पुत्तिं करेदि; तम्हा एरिसं कज्जं कुणहि जेण माणवत्तं जिवेज्जा॥

28. सुसंस्कारों की हानि से मानव की मानवता की ही हानि है। पशु और मानव में संस्कार का ही अन्तर है। मानव विवेकशील प्राणी है, वह प्रत्येक कार्य सुविचार, सुविवेक का आश्रय लेकर करता है, जबकि पशु विवेकहीन होकर लोक में अपनी संज्ञाओं की पूर्ति करता है, इसलिए मानवता जीवित रहे ऐसा कार्य करो।

---

29. सक्कारवंतो लज्जावंतो वि होदि। लज्जागुणेण अंतरेण सक्कार-रक्खणं अच्चंत-दुल्लहं कज्जं। लज्जासील-कुलवंतो जीवो सगकुल-जादीए अवजसहेदुभूदं किंपि असुहकज्जं ण करेदि॥

29. संस्कारवान लज्जावान भी होता है। बिना लज्जा-गुण के संस्कारों की रक्षा होना अत्यंत दुर्लभ कार्य है। लज्जाशील, कुलवन्त जीव, स्वकुल जाति के अपयश हेतु कोई भी अशुभ कार्य नहीं करता है।

---

30. कुलीण-णरा ण करेंति सगीय-पाण-चिंतं, अविदु सदा सगीय-सुसक्कार-सुरक्खणं करेंति॥

30. कुलीन-नर अपने प्राणों की चिन्ता नहीं करते, अपितु अपने सुसंस्कारों की हमेशा सुरक्षा करते हैं।

---

31. जावं कसायभावस्स पुट्ठीकरण-णिमित्तेहिं जीवो अप्पहाविदो, तावं सुसक्कारा सुरक्खिदा होंति। कसायपोसण-णिमित्तेहिं पहाविदे सदि जीवणे सुसक्कार-अभावो हविज्जदि। णिल्लज्जो कुसक्कारेहिं पहाविय कुकिच्चेसु उम्मत्तो होदि॥

31. सुसंस्कार तभी तक सुरक्षित रहते हैं; जब तक कषाय-भाव की पुष्टीकरण के निमित्तों से जीव अप्रभावित है। कषायपोषण के निमित्तों से प्रभावित होते ही जीवन में सुसंस्कारों का अभाव होने लगता है। निर्लज्ज खुलकर कुसंस्कारों से प्रभावित होकर कुकृत्यों में उन्मत्त हो जाता है।

---

32. सुसक्कार-सुण्णो कदाचि पुव्वपुण्ण-णिओगेण उच्चपदं लहेज्जा, पुणो वि सो उच्चत्तं णवि भजेदि, अविदु लोए उवहासं लहित्ता अब्भंतर-दुक्ख-वेदणं भजेदि॥

32. सुसंस्कार-शून्य जीव कदाचित् पूर्व-पुण्य के नियोग से उच्च पद पर पहुँच जाए, पर फिर भी वह उच्चता को प्राप्त नहीं कर पाता, अपितु लोक में उपहास को प्राप्त कर अंतरंग दुःख की वेदना को प्राप्त होता है।

---

33. जे पडिक्खणं चित्तं संतावेंति य, तदो कुसक्कारादो पडिक्खणं आदरक्खणं कादव्वं, णवरि संताव-पीडं पीडिदं हि जाणेदि, सो जीवंतो मरणादो अहिग-पीडं सहेदि॥

33. उन कुसंस्कारों से आत्मरक्षा प्रतिक्षण करनी चाहिए जो क्षण-क्षण में चित्त को संतापित करते हैं, क्योंकि संताप की पीड़ा को पीड़ित ही समझता है, वह जीते-जी मृत्यु से अधिक पीड़ा को सहन करता है।

---

34. कुसक्कारा अहोरत्ती माणसिग-सारीरिग-वायणिग-कट्ठाणि देंति। कुस्सिद-चित्तेण सगप्प-विसुद्धी परमणिम्मलसुहं च कदावि ण भजिज्जदि॥

34. कुसंस्कार अहोरात्र, मानसिक, शारीरिक, वाचनिक कष्ट देते हैं। कुत्सित-चित्त से स्वात्म-विशुद्धि, परम निर्मल-सुख कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

---

35. सक्कारहीणो परमणाण-धणादो होदि दरिद्दी, सो णाणीणं सहाए भिक्खु व्व वसेदि॥

35. संस्कारहीन परम ज्ञान-धन से दरिद्री होता है, वह ज्ञानियों की सभा में भिखारी बनकर रहता है।

---

36. जदि तुमं धम्म-धम्मप्पाणं मज्झे सम्माणणीयत्तं इच्छेसि, दु कुणेहि सुसक्कार-धण-संगहं॥

36. यदि आप धर्म-धर्मात्माओं के मध्य सम्माननीय बने रहना चाहते हो, तो सुसंस्कारों का धन संग्रह करो।

---

37. जे सदा कुसक्कारत्तो विरमित्ता सुसक्कारा सम्माणं देंति, ते खलु संसारम्हि धण्णवाद-

पुज्जत्त-पत्ताणि होंति। जत्थ-जत्थ सुसक्कारिद-सज्जणा गच्छंति, तत्थ-तत्थ वच्छल्लस्स अस्सुजलेहिं तेसिं चरण-पक्खालणं होंति॥

37. संसार में वे ही जीव धन्यवाद एवं पूज्यता के पात्र होते हैं, जो सदा कुसंस्कारों से पृथक् रहकर सुसंस्कारों को सम्मान देते हैं। सुसंस्कारित सज्जन पुरुष जहाँ-जहाँ पहुँचे हैं वहाँ-वहाँ वात्सल्य के अश्रुजल से उनके चरण पखारे जाते हैं।

20

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

आद-तच्चं

(आत्मतत्त्व)

1. जं सद-चिद-आणंदमयं, परभावादो भिण्ण-सहाववंतं, णाण-दंसण-सहाववंतं, जडत्तसुण्णं, चेयण्णभूदं च; तं खलु आददव्वं॥

1. जो सत्-चित्-आनन्दमय है, परभावों से भिन्न स्वभाववान, ज्ञान-दर्शनस्वभावी है, जड़त्वशून्य, चैतन्यभूत है, वह आत्म-द्रव्य है।

---

2. फास-रस-गंध-वण्णादि-रित्तं णाण-दंसण-धम्मजुत्तं जं दव्वं, तमेव आद-दव्वं॥

2. स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि से रिक्त ज्ञान-दर्शन धर्म से युक्त जो द्रव्य है, वही आत्म-द्रव्य है।

---

3. जो परमबंभ-उवासगो उवस्सभावं लहेदि, सोचेव आद-तच्चं॥

3. परमब्रह्म का उपासक, उपास्य-भाव को जो प्राप्त होता है, वही आत्म-तत्त्व है।

---

4. जो जीवो वसुंधराए थावर-जंगम-पदत्थाणं णादा-दिट्ठा होदि तमेव आद-तच्चं॥

4. जगति पर स्थावर जंगम पदार्थों का जो ज्ञाता-दृष्टा है, वही आत्म-तत्त्व है।

---

5. चेयण्णस्स सहावो चेयण्णत्तं आदतच्चं॥

5. चैतन्य का जो स्वभाव है वही चेतनत्व आत्म-तत्त्व है।

---

6. वीसम्हि दोण्णि हि मुक्खतच्चाणि, पढमं चेदण-तच्चं विदीयं अचेदण-तच्चं॥

6. विश्व में दो ही मुख्य तत्त्व हैं, एक चेतन-तत्त्व दूसरा अचेतन-तत्त्व।

---

7. चेदण-तच्चं जीव-तच्चं, जेण अप्पा, अंतरप्पा, णो, णाणी, खेत्तण्णू, पाणी, भूदो, सत्तो, जीवो पहुदि-णामेहिं जाणदे॥

7. चेतन-तत्त्व अर्थात् जीव-तत्त्व जिसे आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ, ज्ञानी, क्षेत्रज्ञ, प्राणी, भूत, सत्व, जीवादि नामों से जाना जाता है।

---

8. संसारे जावदिया वि दंसण-संपदाया, ते सव्वे दोण्हं तच्चाणं हि सग-सग-बुद्धीए मीमंसं करेंति; किण्णु सच्चं सच्चं खु होहिदि॥

8. संसार में जितने भी दर्शन एवं सम्प्रदाय हैं, वे सभी दो तत्त्वों की ही स्व-स्व बुद्धि से मीमांसा करते हैं, परन्तु सत्य सत्य ही होगा।

---

9. तच्चाणं सच्चत्थ-बोहत्थं पुण्ण-णादा होज्जा, थोविंदियणाणेणं पुण्ण-सच्च बोहो असंभवो। केवल्ल-णाणेणं वत्थुणो पुण्ण-सच्चत्तं सयल-पच्चक्खत्तं जाणिज्जंति॥

9. तत्त्वों के सत्यार्थ-बोध के लिए पूर्ण-ज्ञाता बनना पड़ेगा, अल्प इन्द्रिय-ज्ञान से पूर्ण-सत्य का बोध सम्भव नहीं है। कैवल्यज्ञान से वस्तु की पूर्ण-सत्यता सकल-प्रत्यक्षता जान सकते हैं।

---

10. सयल-विस्सं तच्चमयं जाणेदव्वं। एगं पि एरिसं वत्थुं णत्थि, जं ण होदु तच्चभूदं। वत्थुसहावो हि तच्चं। आदा तच्चं, पदत्थं, दव्वं पि अत्थि॥

10. सम्पूर्ण-विश्व को तत्त्वमय समझना चाहिए। एक भी ऐसी वस्तु नहीं है जो तत्त्वभूत न हो, जो वस्तु का स्वभाव है वही तत्त्व है। आत्मा तत्त्व भी है, पदार्थ भी है, द्रव्य भी है।

---

11. वीसे सव्वदो महत्तसीलं सुदणाणं, जं केवल्लणाण-पज्जायस्स पयडीकरणस्स कारणं च॥

11. विश्व में सबसे महत्त्वशील श्रुतज्ञान है; जो कि कैवल्यज्ञान पर्याय के प्रकटीकरण का कारण है।

---

12. आणंदमय-संतिपुण्ण-जीवणं तच्चणाणिणो हि होदि। तच्चणाणी परभावादो सदेव णियं पुहं पस्सेदि तहा आदगुण-वेहवस्स अणुहवणं पडिक्खणं पावेदि॥

12. आनन्दमयी और शान्तिपूर्ण जीवन तत्त्वज्ञानी का ही निकलता है। तत्त्वज्ञानी पर-भावों से सदा ही निज को भिन्न देखता है और आत्मगुण-वैभव का अनुभवन प्रतिक्षण लेता है।

---

13. तच्चणाणी संकड-समए वि हस्सिदभाव-अभावं ण करेदि। मज्झत्थदा तच्चण्हुस्स मूलमंतं॥

13. तत्त्वज्ञानी संकटों की बेला में भी हर्षित-भाव का अभाव नहीं होने देता। माध्यस्थ-भाव तत्त्वज्ञ का मूलमंत्र है।

---

14. तच्चणाणेण सह किरियाधम्मो होदि अमिदभूदो। तच्चणाण-सुण्णो किरियाधम्मो कसाय-साहणं पि सिज्झेदि॥

14. तत्त्वज्ञान के साथ क्रियाधर्म अमृतभूत हो जाता है। तत्त्वज्ञान से शून्य क्रियाधर्म कषाय का भी साधन बन जाता है।

---

15. तच्चणाणी सुह-दुक्खे सम्मभावासयं गहेदि। तच्चणाण-सुण्णो हरिस-विसादं किच्चा संकिलेसत्त-पुण्णं जीवणं जीवेदि, जं अकाल-मरण-दुग्गदि-कारणं ति॥

15. तत्त्वज्ञानी सुख-दुःख में साम्यभाव का आश्रय लेता है। तत्त्वज्ञान शून्य हर्ष-विषाद कर संक्लेशता पूर्ण जीवन जीता है, जो अकाल-मरण एवं दुर्गति का कारण है।

---

16. वीसस्स सयलतच्चेसुं हेयोवादेय-उवेक्खादिट्ठी-जोग्गत्तं केवलं आदतच्चे हि होदि, लोए अण्णं किंपि एरिसं तच्चं णत्थि जं हेयोवादेय-उवेक्खाभावं जाणेज्जा॥

16. जगत् के सम्पूर्ण तत्त्वों में हेय-उपादेय, उपेक्षा-दृष्टि की योग्यता एकमात्र आत्म-तत्त्व में ही होती है, लोक में अन्य कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो हेय-उपादेय, उपेक्षा-भाव को जानता हो।

---

17. आदतच्चं आदतच्चं हि जाणेदि, अण्ण-तच्चेसुं अणुहवण-जोग्गदा-अभावो त्ति। जदा आदतच्चं णियप्पतच्चे रमेदि, तदा लोयस्स जडतच्चादो विहडेदि। साहगो पडिजग्गित्तु अंतोकरणस्स पबल-णिण्णयं करेदि, तदा सो जाणेदि णियप्पदव्वस्स साहीणत्तं; पच्छा सो वीस-विवत्थं पस्सित्तु होदि मज्झत्थं॥

17. आत्म-तत्त्व को आत्म-तत्त्व ही जानता है, अन्य तत्त्वों में जानने की योग्यता का अभाव है। जब आत्म-तत्त्व स्वात्म-तत्त्व में लीन होता है तब जगत् के जड़तत्त्वों से दूर रहता है। साधक जाग्रत रहकर अन्तःकरण का प्रबल निर्णय करता है तब वह स्वात्मद्रव्य की स्वाधीनता को समझ पाता है, पश्चात् वह विश्व-व्यवस्था को देखकर माध्यस्थ हो जाता है।

---

18. आदबंभ-णादा सव्वतच्च-णादा। जगदीए णियसरूवो मेत्तं आदबंभो त्ति। जो तं जाणेदि, पुणो अण्णस्स णाणस्स आवस्सगत्तं णत्थि। जो आदतच्चं ण जाणेदि सो सगीय-जीवणे किंपि ण जाणेदि॥

18. आत्मब्रह्म वेत्ता सर्वतत्त्व वेत्ता है। जगति पर निजस्वरूप मात्र आत्मब्रह्म है। जो उसे जान लेता है, फिर अन्य को जानने की आवश्यकता नहीं होती। जिसने आत्मतत्त्व को नहीं जाना उसने अपने जीवन में कुछ भी नहीं जाना।

---

19. जम्हि सगप्पमेयो णत्थि, तेसु पमेएसु णाणीजणा सगपण्णं विहा ण णस्संति। णाणी-पुरिसो संतचित्तेण जडत्थो होदूणं सगतच्चं सगप्पमेयं च जाणिय भिण्ण-लोए चित्तं ण जुंजेदि॥

19. जिसमें स्वप्रमेय नहीं; उन प्रमेयों में ज्ञानीजन स्वप्रज्ञा को व्यर्थ नष्ट नहीं करते। ज्ञानी-पुरुष शान्तचित्त से तटस्थ रहकर स्वतत्त्व, स्वप्रमेय को जानकर भिन्न लोक में चित्त नहीं लगता।

---

20. जं सगम्हि णाण-णादा-णेयं, पमाण-पमादा-पमेयं, अणंतगुण-जुत्तं च तं हि आदतच्चं। परमट्ठेण णियप्पतच्चं जाणेदुं अण्ण-णादा-णाणस्स णो आवस्सगत्तं। जहा दीवम्हि सग-पर-पगासत्त-धम्मो, तहेव आदतच्चे वि अत्थि॥

20. अनन्त गुणों से युक्त आत्म-तत्त्व है जो कि स्वयं में ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय है, प्रमाण-प्रमाता-प्रमेय है। परमार्थ दृष्टि से स्वात्मतत्त्व को जानने के लिए अन्य ज्ञाता व ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। स्व-पर प्रकाशत्व धर्म जैसे दीपक में है वैसे ही आत्म-तत्त्व के अन्दर भी है।

---

21. बहि-वियप्प-सुण्णे सदि खलु आदतच्च-णाणं होदि। सगप्प-तच्चं सग-संवेदणेण हि जाणिज्जदि, परसंवेदणेण आदतच्च-णाणं णो होदि। पत्तेगजीवो सग-णादा अत्थि॥

21. बहिर-विकल्पों से शून्य होने पर ही आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है। स्वात्म-तत्त्व स्वसंवेदन से ही जाना जाता है, पर-संवेदन से आत्म-तत्त्व नहीं जाना जाता है। प्रत्येक जीव स्व का ज्ञाता है।

---

22. अब्भंतर-विसुद्धी णिम्मल-भावाणं पगिट्ठदा य आदतच्चस्स सहजेण अणहुवं कारेदि। सहजाणंदाणुभूदीए दिढ-संवेदणं वासणा-कामणादो पुहं करेदि। सहज-सहावे लक्खं साहग-कत्तव्वं॥

22. अंतरंग की विशुद्धि, निर्मल परिणामों की प्रकृष्टता आत्मतत्त्व को सहज अनुभव करा देती है। सहजानन्दानुभूति का दृढ़ संवेदन वासनाओं-कामनाओं से भिन्न कर देता है। साधक का कर्तव्य है कि वह सहज-स्वभाव पर लक्ष्य रखे।

---

23. जदा आदा परम-समरसी-भावं लहेदि, तदा रागद्दोस-किलेस-वियारीभावा अप्पं ण पहावेंति। संसारम्हि वसंतो वि जीवो संसारत्तो भिण्णत्त-संवेदणं करेदि; अयं समरसी-भावस्स पहावो त्ति॥

23. जब आत्मा परम समरसी भाव को प्राप्त होता है; तब राग-द्वेष, क्लेश, विकारी भाव आत्मा को

प्रभावित नहीं कर पाते। संसार में रहते हुए भी जीव संसार से भिन्नत्व का संवेदन करता है; यह समरसी-भाव का प्रभाव है।

---

24. जे कामादि-वियारी-भावत्तो आद-रक्खणं करेंति, जे परभाव-पज्जायेसुं सिविणे वि कुदिट्ठिं ण करेंति, जे अहोणिसं संवेग-णिव्वेद भावणाए सम्मं चिंतणं एवं णियसुद्धप्प-झाणं च करेंति, रागद्दोस-कुकहादो सदा सयमेव विहडेंति, ते खु विवेगी-जणा आदतच्चस्स भूदत्थदा-वेदणं करेंति॥

24. आत्मतत्त्व की भूतार्थता का वेदन वही विवेकीजन कर पाते हैं जो कामादि विकारी-भावों से आत्मरक्षा कर लेते हैं, परभावों की पर्यायों पर जो स्वप्न में भी कुदृष्टि नहीं करते, अहर्निश संवेग, निर्वेद भावना का सम्यक् चिंतन एवं निजशुद्धात्मा का ध्यान करते हैं, राग-द्वेष कुकथाओं से सदा स्वयं दूर रहते हैं।

---

25. आदा संसारी-मुत्त-भेदेण जाणिज्जदि। संसारीसुं सण्णी-असण्णी वे-भेदा। समणो सण्णी, अमणो असण्णी। सयल-मुत्ता एगत्तभूदा, तेसुं कोवि भेदो णत्थि। सव्वे सिद्धा सग-सग-दव्वत्तादो भिण्णा भिण्णा, किण्णु सव्वेसिं सिद्धजीवाणं लक्खाणि एगत्तभूदाणि॥

25. आत्मा संसारी-मुक्त के भेद से जाना जाता है। संसारियों में संज्ञी असंज्ञी दो भेद हैं। मन सहित संज्ञी, मन रहित असंज्ञी। सम्पूर्ण मुक्त जीव एकत्वभूत हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। सभी सिद्ध स्व-स्व द्रव्यत्व की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु सभी सिद्ध जीवों के लक्षण एकत्वभूत ही हैं।

---

26. आददव्वं पुरिसत्थसील-दव्वं। सुह-पुरिसत्थेण सुह-गदी असुह-पुरिसत्थेण असुहगदी होदि तदा सुद्धप्प-पुरिसत्थेण सुद्धोवओगी-आदा खु सिद्ध-परमप्प-पदं भजेदि॥

26. आत्मद्रव्य पुरुषार्थशील द्रव्य है। शुभ-पुरुषार्थ से शुभ-गति व अशुभ-पुरुषार्थ से अशुभ-गति प्राप्त होती है तथा शुद्धात्म-पुरुषार्थ से शुद्धोपयोगी आत्मा ही सिद्ध परमात्म-पद को प्राप्त करता है।

---

27. आदसिद्धीए पुण्णप्पा हि भाव-विसुद्धीदो णिद्दोस-संजमायरणं पालेदि। खीण-पुण्णप्पस्स पउत्ती सुद्धप्प-तच्चं पडि अच्चंत-दुग्गमा, तहा सुहायरणे वि ण वसेदि। तस्स बुद्धी असुह-असुह-

कम्मं पडि हि गच्छेदि। जदा णियभावेसु धम्म-वच्छल्लभाव-जम्मं होदु तदा चिंतेज्जा मे पुण्णोदयो पबलो त्ति॥

27. आत्मसिद्धि हेतु पुण्यात्मा जीव ही भाव विशुद्धिपूर्वक निर्दोष संयमाचरण का पालन कर पाता है। क्षीण-पुण्य पुरुष की प्रवृत्ति शुद्धात्म-तत्त्व पर जाना तो अत्यन्त कठिन है ही, अपितु शुभाचरण में भी नहीं ठहरती। उसकी अशुभ-अशुभ कर्म के प्रति ही बुद्धि चलती है। जब निजभावों में धर्म वात्सल्य भाव का जन्म हो तब समझ लेना मेरा पुण्योदय प्रबल चल रहा है।

---

28. सव्व-विण्णत्त-लद्धं जं दव्वं, तं आद-दव्वं सव्वण्हु-सण्णं भजेदि तहा जं सव्व-विण्णत्तं ण लहेदि, सीमिद-दविय-अवत्थाओ जं आद-दव्वं जाणेदि, तं छदुमत्थ-सण्णं भजेदि। सयल-दव्वाणं सयल-गुण-पज्जाया जो जुगवं णादा सव्वण्हू, सो हि केवलणाणी-परमप्पा॥

28. सर्व-विज्ञता प्राप्त जो द्रव्य है; वह आत्म-द्रव्य सर्वज्ञ-संज्ञा को प्राप्त होता है और जो सर्व-विज्ञता को प्राप्त नहीं है, सीमित द्रव्यों की अवस्थाओं को जो आत्मद्रव्य जानता है, वह छद्मस्थ-संज्ञा को प्राप्त होता है। सकल द्रव्यों की सम्पूर्ण गुण-पर्यायों को जो युगपत् जानने वाला सर्वज्ञ है, वही केवलज्ञानी परमात्मा है।

---

29. मूढमदी आदतच्च-सच्चत्थत्त-णाणं विणा देहम्हि हि आदबुद्धिं धारेदि तहा सा कट्ठ-मूल-कारणं। परम सुहेच्छा दु पढमं देहादो आदबुद्धि-चागं कुणेहि॥

29. मूढ़मति आत्मतत्त्व की सत्यार्थता को जाने बिना देह में ही आत्मबुद्धि रखता है और वह कष्ट का मूल कारण है। परम सुख की इच्छा है, तो सर्वप्रथम देह से आत्मबुद्धि का त्याग करो।

---

30. देह-आदं च एगत्त-भावेण अण्णाणी हि पस्सेदि। णाणी देह-आदं च विहत्तं हि पस्सेदि। दोण्णि दव्वाणि कदावि एगत्तं ण भजेंति॥

30. देह आत्मा को एकत्व-भाव से अज्ञानी ही देखता है। ज्ञानी तो देह-आत्मा को विभक्त ही देखता है। दो द्रव्य कभी एकत्व को प्राप्त नहीं होते हैं।

---

31. अप्पस्स सव्व-जहण्णावत्था णिगोदावत्था। जत्थ एग-उस्सास-पमाण-काल-मेत्ते जीवो अट्ठारह-हुत्तं जम्मण-मरणं च करेदि। जम्मण-मरण-वेदणं कम्मप्फल-चेयणाए सह भुंजेदि॥

31. आत्मा की सर्व जघन्य अवस्था निगोद है। जहाँ पर एक श्वास प्रमाण काल में जीव अठारह बार जन्म-मरण कर लेता है। जन्म और मरण की वेदना को कर्मफल-चेतना के साथ भोगता है।

---

32. आद-तच्चस्स सव्वुक्किट्ठ-दसा कम्म-सुण्ण-सिद्ध-दसा अत्थि। जत्थ घादिया-अघादिया-कम्माणं पुण्णाभावो त्ति। अणंत-गुणाणं पगड-दसा किदकिच्च-दसा संसारादीद-अपुणब्भवं लद्ध-दसा य। अमुत्तिग-सुद्धप्पोवलद्धी सिद्ध-पज्जाए पयडेदि, पुणो सो जीवो कदावि असुद्धिं ण लहिस्सदि; सुद्ध-णाणचेदणा-जुत्तो त्थि॥

32. आत्म-तत्त्व की सर्वोत्कृष्ट अवस्था कर्म-शून्य सिद्ध दशा है। जहाँ घातिया-अघातिया दोनों ही प्रकार के कर्मों का पूर्ण अभाव है। कृतकृत्य अवस्था है, अनन्त-गुणों की प्रकट दशा है संसारातीत, अपुनर्भव को प्राप्त अवस्था। अमूर्तिक शुद्धात्मा की उपलब्धि सिद्ध पर्याय में प्रकट हो जाती है, अब वह जीव कभी भी अशुद्धि को प्राप्त नहीं होगा, शुद्ध ज्ञान-चेतना युक्त है।

---

33. तच्चबोहस्स अणुवम-विज्जा सयल-लोगं आणंद-दायगा, संसारे पदिदाणं परमामिद-रसायणं च। लोगम्हि भम-किलेस-असंति-अपीदि-मूलकारणं आदतच्चस्स सब्बोहस्स अभावो त्ति। जं होदि सम्म-तच्चबोहो, सो संसारस्स णिहिल-ठिदीए आणंद-जीवणं जीवेदि॥

33. तत्त्वबोध की अनुपम विद्या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आनन्द-दायक है, संसार में पतित प्राणियों के लिए परम अमृत रसायन है। लोक में भ्रम, क्लेश, अशान्ति, अप्रीति का मूल कारण आत्मतत्त्व का सम्यक्-बोध न होना है। जिसको सम्यक्-तत्त्व का बोध हो जाता है, वह संसार की सम्पूर्ण स्थितियों में आनन्द का जीवन जीता है।

---

34. पुव्वकिद-कम्मोदयादो तच्चणाणीणं उवरिं पि विसमदाओ आगच्छंति, तीणं महापुण्णसाली वि ण थप्पीअ, किण्णु ते तच्चणाण-बलेण विसमदादु पहाविदा ण होंति। फलदो विसमदाओ हि विसमत्तं लहेंति॥

34. पूर्वकृत कर्मोदय से तत्त्व-ज्ञानी के समक्ष भी विषमताएँ आती हैं, उन्हें महापुण्यशाली भी नहीं टाल

पाये, परन्तु वे तत्त्वज्ञान के बल पर विषमताओं से प्रभावित नहीं होते। फलतः विषमताएँ ही विषमता को प्राप्त हो जाती हैं।

---

35. आद-तच्च-णादा तडत्थभावाणंदं पडिक्खणं गेण्हेदि, सो सव्व-लोग-विवत्थं सक्खी-भावदो पस्सेदि। जीवो परत्तो पहावित्तु हि हरिस-विसाद-अवत्थं भजेदि॥

35. आत्मतत्त्व ज्ञाता तटस्थता का आनन्द प्रतिक्षण लेता है, वह सर्व लोक व्यवस्था को साक्षी भाव से देखता है। पर से प्रभावित होकर ही जीव हर्ष-विषाद अवस्था को प्राप्त करता है।

---

36. परत्तो पहाविदत्तं सगीय-सामण्ण-परमाणंदत्तो पुहुत्तं अत्थि। सहज-जीवणस्स सुहं अलोगिगं, तत्तो भिण्णो लोगम्हि अवरो कोवि आणंदो णत्थि। माणसिग-दुक्खादो मुत्तीए मुमुक्खु-जीवं एगंते सहजदा-पवेसब्भासं सददं कादव्वं॥

36. पर से प्रभावित होना, अपने सामान्य परमानन्द से पृथक् होना है। सहज जीवन का जो सुख है वह अलौकिक है, उससे भिन्न जगत् में अन्य कोई आनन्द ही नहीं है। मानसिक दुःख से मुक्ति का भाव है, तो मुमुक्षु को एकान्त में सहजता में प्रवेश का अभ्यास सतत करना चाहिए।

---

37. अणेगाणेग-गुण-पज्जाय-समूहं आददव्वं। पज्जायो दव्वादो सव्वहा सव्वदा भिण्णो वि णत्थि अभिण्णो वि णत्थि, अवित्त भिण्णाभिण्णो त्थि। सयल-दव्वाणं गुण-पज्जाय-अहिणाण-जोग्गत्तं पि आद-दव्वम्हि खु अत्थि, कस्सिंचिदवि अण्ण-दवियम्हि णादाभावो णत्थि। णादा-भावो दु मेत्तं आद-दव्वम्हि अत्थि तहा सो तस्स तेयालिग-सहावो त्ति॥

37. आत्मद्रव्य अनेकानेक गुण-पर्यायों का समूह है। पर्याय द्रव्य से सर्वथा सर्वदा भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं, अपितु भिन्नाभिन्न है। सम्पूर्ण द्रव्यों की गुण-पर्यायों को जानने की योग्यता भी आत्म द्रव्य में ही है, अन्य किसी भी द्रव्य में ज्ञातापन नहीं है। ज्ञातापन तो मात्र आत्मद्रव्य में है और वह उसका त्रैकालिक स्वभाव है।

21

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

सहज-जीवणं

(सहज-जीवन)

1. सहजत्तं माणव-जीवणस्स अहिणाणं। माया-पवंचणाए माणवत्त-अंसो वि णत्थि। जदि सम्मं माणवत्तं इच्छेसि दु सहजजीवणं जीवेहि॥

1. सहजता मानव जीवन की पहचान है। माया, छल-कपट में मानवता का अंश भी नहीं होता। सच्ची मानवता को प्राप्त करना है तो सहज जीवन जीना सीखो।

---

2. सहजदा-जीवणं जीवस्स विउल-तव-साहणा अत्थि। हीण-भावणादो सुण्णत्तं विणा इच्छा-णिरोहं विणा य जीवेण सहज-जीवणं ण जीवदे। सहज-जीवणत्थं जीवम्हि अज्जव-मद्दव-धम्मस्स आवस्सगत्तं। माणी मायावी य सरलत्तेण सहजत्तेण य जीवणं ण जीविस्संति, सहज-जीवणत्थं माण-माया-चागो आवस्सगो॥

2. सहजता का जीवन जीना व्यक्ति के लिए एक बड़ी तप-साधना है। हीन-भावना शून्य हुए बिना, इच्छा-निरोध के बिना सहज-जीवन नहीं जिया जा सकता है। सहज-जीवन जीने के लिए व्यक्ति के अन्दर आर्जव, मार्दव धर्म की आवश्यकता है। मानी-मायावी दोनों ही सरलता व सहजता से जीवन नहीं जी पायेंगे, सहज-जीवन जीने के लिए मान-माया का त्याग करना होगा।

---

3. भविय-जीवस्स भावेसुं जदा सहजाणंद-पुण्णं चेयण्णरसाणंद-णाणं होदि, तदा राग-द्दोस-कोह-माण-माया-लोह-कम्म-णोकम्म-मण-वयण-काय-फासण-रसण-घाण-चक्खु-सोदभूद-सोलह-भंगादो भिण्णं णियप्पदेवं वेदेदि अणुहवेदि। एदे सोलह-भंगा अप्पस्स सहजभावा णत्थि, एदे

दु कम्मज-भावा संति। सुद्ध-णएण तेयाली-सुद्धप्पा कम्मजभाव-कारणं संसार-गत्ते पडिक्खणं माण-अवमाण-पीडादो पीडेदि॥

3. भव्य जीव को भावों में सहजानन्द से पूर्ण, चैतन्यरस के आनन्द का भान जब होता है तब राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन सोलह भंगों से स्वात्मदेव को भिन्न वेदता है। ये सोलह भंग आत्मा के सहजभाव नहीं, ये तो कर्मज-भाव हैं। शुद्धनय से त्रैकाली शुद्धात्मा कर्मज-भाव के कारण संसार गर्त में प्रतिक्षण मान-अपमान की पीड़ा से पीड़ित हो रही है।

---

4. अज्झप्पिग-सहज-जीवणे संसारिग-सहज-जीवणे पउर-भिण्णत्तं। परभाव-पुण्ण-णिरवेक्खत्तं, एगत्त-विहत्त-णियधुव-णायग-भावलीणत्तं, उदासीणत्त-पुण्ण-जीवणं चेव अज्झप्पिग-सहज-जीवणं। आडंबराभावो, सामण्ण-भोयणं, सामण्ण-वत्थाभरणं, मिदुभासणं तहा पाणिमेत्तं पडि सवच्छल्ल-जीवण-ववहारो त्ति, इदं संसारिग-सहज-जीवणं। अज्झप्पिग-सहज-जीवणं हि मोक्खमग्गे पओयणभूदं, जेण राग-द्वेसादीदो पुण्ण-सुण्णत्त-लाहो त्ति॥

4. आध्यात्मिक सहज-जीवन और सांसारिक सहज-जीवन इन दोनों में बहुत अंतर है। पर-भावों से पूर्ण निरपेक्ष, एकत्व-विभक्त निज-ध्रुव ज्ञायक-भाव की लीनता, उदासीनता पूर्ण जो है; वह आध्यात्मिक सहज जीवन है। दिखावे का अभाव, सामान्य भोजन, सामान्य वस्त्राभरण, मृदुभाषण तथा प्राणिमात्र के साथ वात्सल्य के साथ जीवन जीना यह सांसारिक सहज-जीवन है। आध्यात्मिक सहज-जीवन ही मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है, जहाँ राग-द्वेषादि से पूर्ण शून्यता प्राप्त हो सके।

---

5. सहजदा एग-अमुल्ल-साहणा। साहगो सणियं सणियं ताए साहणाए उत्तिण्णत्तं भजेदि। सहजत्त-साहणाए जीवो सगे मज्जित्तु सग-णिण्णयं करेदि॥

5. सहजता एक अमूल्य साधना है। साधक धीरे-धीरे उस साधना में उत्तीर्णता को प्राप्त करता है। सहजता की साधना से व्यक्ति स्वयं में उतरकर स्वयं का निर्णय करता है।

---

6. जेत्तियं सरलत्तं णवजाद-सिसुम्हि होदि, तेत्तियं सरलत्तं साहगं विवेगादो पबोहेज्जा। जहाजाद-बालगो व्व जो सगीय-जीवणं करेदि, सो भूदत्थ-सहज-साहणं भजेदि। जदि मुत्ति-सिरि-वरमालं इच्छेसि, दु वियारी-भावत्तो सगं विहडित्ता, सील-मालं धरित्ता, पडिक्खणं सजगदा-पुव्वगं अणग्घवंत-सीलमाला-रक्खणं कादव्वं॥

6. साधक को विवेकपूर्वक इतनी सरलता लाना चाहिए जितनी सरलता नवजात शिशु में होती है। यथाजात बालकवत जो अपना जीवन बना लेता है वह भूतार्थ सहज-साधना को प्राप्त कर लेता है। यदि मुक्ति की वरमाला चाहिए, तो विकारी भावों से अपने को पृथक् कर, शील-माला को धारण कर, प्रतिक्षण जागृति पूर्वक अनर्घवान शील-माला की रक्षा करनी चाहिए।

---

7. सहज-जीवणस्स आणंदं जो भवियो गहेदि, तं सयल-माया जिण्णतिणमिव दीसेदि। सहज-जीवणेण सच्च-बोहो सहजो होदि॥

7. सहज-जीवन का आनन्द जो भव्य जीव ले लेता है; उसके सामने सम्पूर्ण माया जीर्णतृणवत दृष्टिगोचर होती है। सहज-जीवन जीने से सत्य-बोध सहज ही हो जाता है।

---

8. अण्ण-पाणी अण्णत्तो पहावित्ता असहजो होदूणं किलेस-असंतिं च लहेदि तहा आद-संतीदो सो अपरिचिदो त्ति। सव्वदो विहडिय हि सहजत्त-उवलद्धी होदि, इत्थि-पुत्त-वत्थाभरणाणं रागम्हि दोसत्त-लाहो होदि। परदो ममत्तं सहजत्तं णस्सेदि॥

8. अज्ञ प्राणी पर से प्रभावित होकर असहज होकर क्लेश, अशान्ति को प्राप्त होता है तथा आत्म-शान्ति से तो वह अपरिचित ही रहता है सबसे भिन्न होकर ही सहजता की उपलब्धि होती है, स्त्री-पुत्र वस्त्राभूषणों के राग में द्वेषता की प्राप्ति होती है। पर से ममत्व सहजता को भङ्ग कर देता है।

---

9. सहज-जीवणं अब्भंतर-आद-विगासत्थं अमिद-सिंचणमिव अत्थि। जहा जहासमयं भूमीए जदि सुद्ध-णीर-सिंचणं सम्मरूवेण होदि दु धण्ण-वड्ढिं होदि, तहेव माणवम्हि जित्तियं विसिट्ठ-सहजत्तं होहिदि तत्तियो विसिट्ठदाजुत्त-आदविगासो होहिदि॥

9. सहज जीवन अंतरंग आत्म-विकास के लिए अमृत-सिंचनवत है। जैसे समय-समय पर भूमि में यदि शुद्ध पानी की सिंचाई अच्छे से होती रहे तो धान्य-वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार मानव के अन्दर जितनी विशिष्ट-सहजता होगी उतनी ही विशिष्टता युक्त आत्म-विकास होगा।

---

10. सहज-जीवणत्थं णिल्लोहत्तं णिरहंकारत्तं च होदव्वं। लोही अहंकारी कदावि सरलत्तं सहजत्तं च णेव लहेदि। जो लोयम्हि मेत्तं णियप्पं मुंचिय अवसेस-पर-पदत्थाणि पुहं मण्णेदि, सो चेव

सहजो सरलो होदि। तिणमेत्तं पि परदव्वं णियभूदं णत्थि, एवं परममत्त-सुण्णो जीवो हि सहज-जीवणं जीवेदि॥

10. सहज-जीवन जीने के लिए निर्लोभता, निरहंकारता होना चाहिए, लोभी-अहंकारी कभी भी सरलता, सहजता को प्राप्त नहीं कर पाता। सहज-सरल वही हो सकता है जिसने लोक में एकमात्र निजात्मा को छोड़ अविशेष सम्पूर्ण पर-पदार्थों को पर मान लिया, तृणमात्र भी पर-द्रव्य निजात्मभूत नहीं है, इस प्रकार पर-ममत्व शून्य जीव ही सहज-जीवन जी पाता है।

---

11. जीवस्स आकंखाओ जेत्तियाओ हीयंति, तेत्तियं सरलत्तं सहजत्तं च जीवे वड्ढेदि। जीवो वड्ढंतादो इच्छादो सहजो ण होदि, णवरि इच्छा-पुत्तीय अणेग-मायाभावस्स उवक्कमा जीवं गेण्हिज्जंति॥

11. व्यक्ति की आकांक्षाएँ जितनी न्यून होती जाती हैं उतनी ही व्यक्ति के अन्दर सरलता, सहजता वर्धमान होती जाती है। व्यक्ति बढ़ती इच्छाओं से सहज नहीं रह पाता, क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक मायाभाव के उपक्रम व्यक्ति को अपनाना पड़ते हैं।

---

12. जीवणे महाणत्तं विस्स-पियत्तं च लद्धीए सव्वेहिं पियभासणं तहा पसण्णचित्तेण सहज-जीवणं सिक्खेहि। तदेव तुज्झ मरणोवरंतं पि जीवा तुज्झ पसंसगा होहिंति॥

12. जीवन में महानता और विश्व-प्रियता प्राप्त करना है, तो सबसे प्रियभाषण, प्रसन्नचित्तता से सहज-जीवन जीना सीखो। आपकी मृत्यु के उपरान्त भी लोग आपके प्रशंसक रहेंगे।

---

13. कोही-लोही-मायावी-माणी-कामी-कूरववहारी-णिट्ठुर-असहज-जीवणं च जीवमाणं सगीय-जणा वि ण मल्लंति॥

13. क्रोधी, लोभी, मायी, मानी, कामी, क्रूर-व्यवहारी, निष्ठुर, असहज-जीवन जीने वाले को अपने भी नहीं अपनाते हैं।

---

14. सगीय-जीवणकाले घोरोवसग्ग-कट्ठ-अवमाणपीडं चावि सहेज्जा, किण्णु सरलत्तं सहजत्तं च कदावि ण मुंचेज्जा। सहजत्तं जीवणस्स महत्तपुण्ण-संपत्ती॥

14. अपने जीवनकाल में घोर-उपसर्ग, कष्ट, अपमान की पीड़ा को सहन कर लेना, परन्तु सरलता, सहजता कभी नहीं छोड़ना। जीवन की महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति सहजता है।

---

15. सहज-जीवणं फास-रस-गंध-वण्ण-सुण्णं आदाणंद-रसपुण्णं च होदि॥

15. सहज-जीवन स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से शून्य तथा आत्मानन्द रस से पूर्ण होता है।

---

16. ते खु जीवा जीवेहिंति सहज-जीवणं, जे सगप्पम्हि णिप्पुहत्त-देवं ठावेंति। वसुंधराए कं पि वत्थुं पडि जेसिं पुहा ण होदु, मेत्तं णियचिद-बंभभावे हि एगत्तभूद-दिट्ठी होदु, सदा अवर-भावादो इदर-दिट्ठी होदु; एरिसो एगत्त-विहत्त-जीवमाणो भवियो मुमुक्खू हि सग-जीवणं सहज-जीवणं किच्चा गदगद-भावेण जीवेदि, णेव अण्णो॥

16. सहज-जीवन वही जीव जी पायेंगे जिन्होंने अपने अन्दर निस्पृहता के देवता को स्थापित कर लिया हो, वसुन्धरा की किसी भी वस्तु के प्रति जिनकी स्पृहा न हो, एकमात्र निज चिद्ब्रह्म-भाव पर ही एकत्वभूत दृष्टि हो, अन्य भावों से सदा भिन्न दृष्टि हो, ऐसा एकत्व-विभक्त से जीने वाला भव्य मुमुक्षु जीव ही स्व-जीवन को सहज-जीवन बनाकर गद्गद् भाव से जी सकता है, अन्य नहीं।

---

17. लोयम्हि जे सहजत्तादो पुहं, ते खु दुहिदा। सहजदाए अण्णस्स अवस्सगत्तं णत्थि। सगाणंदो हि तस्स सहजाणंदो त्थि। सहज-जीवणे हरिस-विसाद-कारणाणं पि अभावो, माणावमाणस्स णो कोवि हेदू य। असहजत्त-जीवणे पगे पगे अण्णस्स आवस्सगत्तं होदि, तं हरिस-विसाद-भावो माणावमाण-भावो य पगे पगे दिस्सेदि। असहजत्त-जीवणं दुक्ख-किलेस-परिपुण्णं ति॥

17. लोक में वे ही दुःखी हैं जो सहजता से दूर हैं। सहजता के लिए अन्य की कोई आवश्यकता नहीं होती है। स्वयं का आनन्द ही उसका सहजानन्द है। सहज-जीवन में हर्ष-विषाद के कारणों का भी अभाव है, मान-अपमान का कोई हेतु नहीं। असहजता के जीवन में पग-पग पर अन्य की आवश्यकता रहती है, उसे हर्ष-विषाद, मान-अपमान पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। असहजता का जीवन दुःख, क्लेशपूर्ण होता है।

---

18. पत्तेग-भवियजीवं जीवणे पाणंत-पुव्विं एगहुत्तं सहजत्त-आणंद-उज्जमं णियमेण कादव्वं॥

18. प्रत्येक भव्य-जीव को जीवन में प्राणान्त के पूर्व एक बार सहजता का आनन्द लेने का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए।

---

19. जो सगं सहजो पस्सेदि, सो खलु पडिक्खणं सगम्हि आणंद-जत्ताए जीवेदि। जदा जीवो चित्तम्हि किंचि मेत्तं पि असुद्ध-भावा ण दिंतेहिदि ठाणं, तदा सहजत्त-वेदणं संभवं॥

19. स्वयं में प्रतिपल आनन्द-यात्रा में वही जीता है; जो अपने आपको सहज देखता है। सहजता का वेदन तभी सम्भव है; जब व्यक्ति किञ्चित् मात्र भी चित्त में अशुद्ध-भावों को स्थान नहीं देगा।

---

20. जीवणे अदि-थोव-तुडी वि किलेस-उप्पत्तीए समत्था। किलेसेण सह कत्तो विसुद्धी? विसुद्धि-अभावे कत्तो सहजत्तं? सहजत्तेण विणा सच्चत्थ-सहजप्पाणंदो कत्तो? जदि इच्छेसि अप्पाणंदो दु जीवणे संजमेण सह आद-विसुद्धिं पाणेहि॥

20. जीवन में अल्प-से-अल्प भूल भी क्लेश उत्पन्न करने में समर्थवान है। क्लेश के साथ विशुद्धि कहाँ? विशुद्धि के अभाव में सहजता कहाँ? सहजता के बिना सत्यार्थ सहज आत्मानन्द कहाँ? आत्मानन्द चाहिए; जो जीवन में संयम के साथ आत्मविशुद्धि को जीवन्त रखो।

---

21. परवत्थु-रागो जीवं सहज-जीवणत्तो विहडेदि। सहजदाए ममत्तं णत्थि ममत्ते सहजत्त-पवेसो वि य णत्थि, तम्हा सगीय-सहजत्त-रक्खणं विण्ण-जीव-कत्तव्वं॥

21. पर वस्तु का राग व्यक्ति को सहज-जीवन से दूर रखता है। सहजता में ममत्व नहीं और ममत्व-भाव में सहजता का प्रवेश ही नहीं, इसलिए विज्ञ-प्राणी का कर्तव्य है कि वह अपनी सहजता की रक्षा करे।

---

22. पर-वियप्पेसुं सगीय-सहजत्त-विसज्जणं ण कादव्वं। पत्तेग-कज्जयाले सग-सुतंतदा-णाणं होदव्वं। सव्वलोयायारं पस्संतं पि अवरस्स रागद्दोसादो सग-णिद्दोस-परमप्पेण सह ण होदव्वो दुव्ववहारो॥

22. पर-विकल्पों में स्वयं की सहजता का विसर्जन नहीं करना चाहिए। प्रत्येक कार्य के काल में स्व-

स्वतंत्रता का ध्यान रखना चाहिए। सर्वलोकाचार देखते हुए भी, पर के राग व द्वेष के कारण, स्वनिर्दोष परमात्मा के साथ दुर्व्यवहार नहीं होना चाहिए।

---

23. जदा णादा सयल-जडचेयण्ण-परणेयत्तो णियं भिण्णं पस्सेहिदि, तदेव आद-सहजत्त-रक्खणं संभवं। परणेया पडि राग-वित्ती चित्तं विकंपेदि तहा चंचल-चित्ते सहजत्त-थिरत्तं असंभवं कज्जमत्थि॥

23. आत्म-सहजता की रक्षा तभी संभव है जब ज्ञाता सम्पूर्ण जड़ व चैतन्य पर-ज्ञेयों से निज को भिन्न देखेगा। पर-ज्ञेयों के प्रति राग-वृत्ति चित्त को चलायमान कर देती है और चंचल-चित्त में सहजता की स्थिरता का होना असंभव कार्य है।

---

24. जे साहगा सगपण्णा-सगाणुहवेहिं एगत्त-विहत्त-भावाणुहवणं पडिक्खणं गहेंति, ते रागद्दोस-मोहादो विरज्जित्तु, सहजसरूवे रमित्तु, परम-समरसी भावाणंदं गहित्तु, जम्म-जरा-मिच्चुरूव-रोगत्तयाणं णस्सित्तु सिद्धत्तं भजेंति॥

24. जो साधक स्वप्रज्ञा व स्वानुभव से एकत्व-विभक्त भाव का अनुभव क्षण-क्षण में लेते हैं; वे राग-द्वेष-मोह से रिक्त होकर सहजस्वरूप में मग्न होकर परम-समरसी-भाव का आनन्द ले, जन्म-जरा-मृत्यु रोग-त्रय का नाश कर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

---

25. सहज-णादा णेय णादा-भावाभावं तु ण करिज्जदि, किण्णु धम्माधम्मायास-काल-पुग्गलादो सगादो य भिण्णावर-जीवा आदभूदा वि ण करिज्जदि तहा ते णेव आदभूदा हविज्जंति। एरिसं तच्चणिण्णयं जो भव्वो करेदि, सो परणेय-ममत्तादो णिम्ममत्तो होदूणं तस्संबंधी-आसव-बंधादो आदरक्खणं करेदि॥

25. सहज-ज्ञाता ज्ञेय-ज्ञाता का अभाव तो नहीं कर सकता, परन्तु धर्म-अधर्म-आकाश, काल-पुद्गल और स्व से भिन्न अन्य जीवों को आत्मभूत भी नहीं कर सकता और न ही वे आत्मभूत हो सकते हैं। ऐसा तत्त्वनिर्णय, जो भव्य कर लेता है वह पर-ज्ञेयों के ममत्व से निर्ममत्व होकर तद्-संबंधी आस्रव-बंध से आत्मरक्षा कर लेता है।

---

26. सहज-णादो आद-सुतंतदं वेदंतो पुण्ण-संतो होदि। सो एगत्ताणंदे णिमज्जित्तु संसारे वसंतो वि संसारादीद-अणुहवं पसज्जेदि॥

26. सहज-ज्ञाता आत्म-स्वतंत्रता को वेदता हुआ पूर्ण शांत हो जाता है। वह एकत्व के आनन्द में निमग्न होता हुआ, संसार में रहते हुए भी संसारातीत का अनुभव प्राप्त कर लेता है।

---

27. सहजदा-जीवणे साहगं कोवि विसयो अच्छेरं ण उप्पज्जेदि। णवरि सो सहावभावा विहावभावा खवोवसमिग-ओदइगादि-भावा सुजाणेदि तहा देवपुरिसत्थेसुं विस्सद्धेदि॥

27. सहजता के जीवन में साधक को कोई भी विषय आश्चर्य में नहीं डालता है। उसका कारण यह है कि वह स्वभाव-भाव, विभाव-भाव, क्षयोपशमिक, औदयिकादि भावों को अच्छी तरह से जानता है और दैव एवं पुरुषार्थ पर विश्वास करता है।

---

28. सहज-साहणा-साहगस्स कम्मज-भावेसुं हरिस-विसाद-करणं किंचि मेत्तं पि गेज्झं णत्थि, णवरि कंचिदवि विसयं दिग्घसमयं चित्ते धारणं विसुद्धिघाद-संकिलेसत्त-आदकिलेस-दुक्खसंतावादि-लद्धिकरणं चेव णेयं॥

28. सहज साधना के साधक को कर्मजभावों पर हर्ष-विषाद करना किञ्चित् मात्र भी स्वीकार नहीं होता, क्योंकि किसी भी विषय को दीर्घ समय तक चित्त में रखना अर्थात् विशुद्धि का घात, संक्लेशता, आत्मक्लेश दुःख संतापादि प्राप्त करना ही है।

---

29. ववहारादो परमट्ठपज्जंत-जत्ताए सहयारी सहजत्तं। परमट्ठे सहजो हवंतो साहगो एरिसाए भूमिगाए पवेसेदि, जत्थ केवलं णियचेयण्ण-वत्थूदो भिण्णो किंचिवि अणुहवे ण आगच्छेदि। मेत्तं होदि चिद-चिद-सेसो, णो अण्णो, णेव अण्णहा॥

29. सहजता व्यवहार से परमार्थ तक की यात्रा में सहकारी है। परमार्थ में सहज होते-होते साधक एक ऐसी भूमिका में प्रविष्ट हो जाता है; जहाँ एकमात्र निज-चैतन्य वस्तु से भिन्न कुछ भी अनुभव में नहीं आता है। मात्र चिद्-चिद् शेष रहता है, अन्य नहीं, अन्यथा नहीं।

---

30. आद-उण्णदीए परमबीयं सहजत्तं, इमेण अंतरेण असंभवं मोक्खफलं। ववहारे इत्तियो सरलो होदु दु जीवा णीर-सीयलत्तं विसरित्तु सहजपुरिसस्स उदाहरणं दिंतेज्जा॥

30. सहजता आत्मोन्नति का परम बीज है, इसके बिना मोक्षफल असम्भव है। व्यवहार में इतने सरल हो जाओ कि लोग पानी की शीतलता को भूलकर सहज पुरुष का ही उदाहरण देने लगें।

---

31. सहजत्तं सीयलत्तं धिज्जं गंभीरत्तं च जीवं उत्तिण्णत्तं देदि, एवं भाव-वक्कदा सत्थपरायण-भावो पवंचणा-परिणदी य जीवं पडि अविस्सासं उप्पज्जेदि॥

31. सहजता, शीतलता, धैर्य और गंभीरता व्यक्ति को उत्तीर्णता के पास पहुँचा देती है; वहीं भावों की वक्रता, स्वार्थी-भाव, छल-परिणति जीव के प्रति अविश्वास खड़ा कर देती है।

---

32. जदि विस्से विस्सास-पत्तत्तं इच्छेसि दु सहजत्तं उप्पज्जेहि। सहजत्तं सरलत्तं मायारहिदत्तं विणा तुमं सगीयसंबंधीणं विस्सासपत्तं पि ण सिज्झेसि, पुणो कहं सिज्झेहिसि विस्सस्स विस्सासपत्तं?

32. विश्व में विश्वासपात्र बनना चाहते हो तो सहजता लाओ। सहजता, सरलता, माया रहितता के बिना आप अपने सम्बंधियों के विश्वासपात्र भी नहीं बन सकते हो, फिर विश्व के विश्वासपात्र कैसे बनोगे?

---

33. जीवस्स इच्छाओ सहजत्त-घादं करेंति। सगीय-इच्छापुत्तीए अवरं मा पीलेहि, सगेच्छा-दमणं कुणेहि, सहजत्त-सुगंधं पारंभेज्जा॥

33. व्यक्ति की इच्छायें सहजता का घात करती हैं। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अन्य को मत दबाओ, यदि दबाना ही है तो स्वयं की इच्छाओं का दमन करो, सहजता की सुगंध प्रारंभ होने लगेगी।

---

34. सहज-जीवो सव्वस्स पियो आदरिसो य होदि तहा तस्स सव्वे सहजरूवेण हि णिउड्ढंति॥

34. सहज व्यक्ति सभी का प्रिय और आदर्श होता है और उसके लिए सभी सहज ही तत्पर रहते हैं।

---

35. सहजत्त-जीवणं हि समरसीभाव-जीवणं लोयत्तो णाणादो अपरिचिदत्त-जीवणं च। णियादो पुण्णपरिचओ अहो! अलोगिग-जीवणं सहज-जीवणं॥

35. सहजता का जीवन समरसी भाव का जीवन, जगत् से समझपूर्वक अपरिचितता का जीवन। निज से पूर्ण परिचय, अहो अलौकिक जीवन! सहज जीवन।

---

36. आणंदकंद-णाणघण-चिदपिंड-णियदेवप्पस्स पच्चक्खपमाणेण अणुहवेदुं सहज-समाहि-उज्जमं आवस्सग-रूवेण कादव्वं। साहणाए सामण्णजीवणं भिण्ण-विसयो। सहजजोगाणुभूदी समाहिमरणं चेव सेयोमग्गो त्थि। कोडि-कोडि-साहगेसुं विरला साहगा हि सहज-समाहिं लहेंति, जस्स पहावेण सग्ग-मोक्खपदलद्धी होदि॥

36. आनन्द कन्द ज्ञानघन चिद्पिण्ड निज-भगवानात्मा का अनुभवन प्रत्यक्ष प्रमाण से करने के लिए सहज समाधि का पुरुषार्थ करना ही होगा। साधना का सामान्य जीवन जीना भिन्न विषय है। सहज-योग की अनुभूति, समाधिमरण करना ही श्रेष्ठ-मार्ग है। कोटि-कोटि साधकों में विरले ही साधक सहज-समाधि को प्राप्त होते हैं जिसके प्रभाव से स्वर्ग एवं मोक्षपद प्राप्त होता है।

---

37. तच्चणाण-उत्तिण्णत्तं, कम्मणिरवेक्ख-तेयालिग-सुद्ध परम-पारिणामिग-भावे लक्खो, तस्स अणुहवणं, लोयस्स सयल-वियप्पाणं उवेक्खित्ता चिदबंभमेत्तस्स आसयो, णादा-दिट्ठाभावेण मज्झत्थभावस्स पुण्णावलंबणं च सहज-जीवणं अत्थि॥

37. सहज जीवन तत्त्वज्ञान की उत्तीर्णता, कर्म निरपेक्ष, एकमात्र त्रैकालिक शुद्ध-परम-पारिणामिक भाव पर लक्ष्य रखना, उसी का अनुभवन लेना, जगत् के सम्पूर्ण विकल्पों से उपेक्षा कर चिद्ब्रह्म मात्र का ही आश्रय लेना, ज्ञाता-दृष्टा भाव से माध्यस्थ भाव का पूर्ण आलम्बन लेना है।

22

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

पुण्णं पावं

(पुण्य-पाप)

1. पण्णावंतो परस्स सुहदुक्खेहिं सह सगस्स सुह-दुक्खे वि हरिस-विसाद-भावं ण लहेदि। सो जाणेदि संसारस्स इंदियजण्ण-सुह-दुक्खं च अप्पस्स सहजावत्था णत्थि, इयं तु कम्मजभावो, कम्मसावेक्खावत्था अत्थि। इमासुं किं हरिस-विसादो? जो त्थि सो त्थि॥

1. प्रज्ञ-पुरुष पर के सुख-दुःख में ही नहीं, अपितु स्वयं के सुख-दुःख में भी हर्ष-विषाद भाव को प्राप्त नहीं होता। वह इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि संसार का इन्द्रिय जन्य सुख व दुःख आत्मा की सहज दशा नहीं है, यह तो कर्मजभाव है, कर्म-सापेक्ष अवस्था है। इसमें क्या हर्ष? क्या विषाद? जो है सो है।

---

2. मण-वयण-काय-णिओगेण आद-पएसेसुं जं परिप्फंदणं होदि सो जोगो त्ति। इमेण जोगेण कम्मासवो त्ति, सुहजोगेण सुहासवो असुहजोगेण असुहासवो चेदि॥

2. मन-वचन-काय के नियोग से आत्मप्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है, वह योग है। इस योग से कर्मों का आस्रव होता है, शुभयोग से शुभास्रव व अशुभयोग से अशुभ-आस्रव होता है।

---

3. सुहासवो पुण्णोदयभूदो फलेदि तहा असुहासवो पावोदयभूदो फलेदि। पुण्णोदएण संसारे इंदियसुहसामग्गि-सुहाणुभूदिलद्धी होदि तहा पावोदएण इंदियसुहसामग्गि-अणुवलद्धी होदि; फलदो जीवो दुक्खाणुभूदिं लहेदि॥

3. शुभास्रव पुण्योदयभूत फलित होता है तथा अशुभास्रव पापोदयभूत फलित होता है। पुण्योदय से संसार में इन्द्रिय-सुख की सामग्री तथा सुखानुभूति की प्राप्ति तथा पापोदय से इन्द्रिय-सुख सामग्री की अनुपलब्धि रहती है, फलतः जीव दुःखानुभूति को प्राप्त होता है।

---

4. अण्णाणी उहयासव-काले पहाविदो होदि, सो णेव करेदि अप्पस्स सुतंत-अवत्था-चिंतणं। सो हरिस-विसाद-वियप्पेसुं णियप्प-वंचणं करेदि। सो सुह-दुहाणि आदभूदाणि मुणिय बहिरप्पभावं पाविय संसारे भमेदि॥

4. अज्ञानी प्राणी दोनों ही आस्रवों के काल में प्रभावित रहता है, वह आत्मा की स्वतंत्र अवस्था का चिंतन ही नहीं करता। वह हर्ष-विषाद के विकल्पों में निजात्मा की वंचना करता है। सुख व दुःख को आत्मभूत मानकर बहिरात्मभाव को प्राप्त कर संसार में भ्रमण करता है।

---

5. संसारे अवर-सुहाणि सग-दुक्खाणि य पस्सित्ता मा पहावेहि, णवरि सुह-दुक्खाणि पुव्वकिद-कम्मबंध-विवागो। वट्टमाणं सहज-धम्ममय-परिवेसेण सह जीवेहि, विसुद्धभावं कुणेहि; वट्टमाण-पुरिसत्थं पवित्तेहि, पुण तुज्झ भविस्सो सयमेव उज्जलो होहिदि॥

5. संसार में पर के सुखों तथा अपने दुःखों को देखकर प्रभावित मत होना, क्योंकि सुख-दुःख पूर्वकृत कर्मबंध का विपाक है। वर्तमान को सहज धर्ममयी वातावरण के साथ जियो, विशुद्ध-भाव करो; वर्तमान का पुरुषार्थ पवित्र करो तो आपका भविष्य स्वयमेव ही उज्ज्वल हो जाएगा।

---

6. संसारीहिं सह लोए सव्वत्थ पुण्णापुण्णोदयो कज्जं करेदि, जो विवेगी इदं सच्चत्थं जाणेदि; सो सगीय-जीवणं संकप्प-वियप्प-सुण्णं जीवेदि॥

6. संसारी प्राणियों के साथ लोक में सर्वत्र पुण्य-पाप का उदय कार्य कर रहा है, जो विवेकी इस सत्यार्थ को जानता है वह अपना जीवन संकल्प-विकल्प शून्य जीता है।

---

7. पुण्णस्स पबलदाए असच्चं पि सच्चं होदि। रिवू वि मित्तमिव ववहारं करेदि, सूली वि सिंहासणं होदि, मसाणं पि पासादो व्व सुहं देदि, कंटगा वि पुप्फाणि होंति, सप्पो वि हारो होदि, अगणि-जाला वि सलिलम्हि परियट्टेदि; इमा लीला पुण्णस्स॥

7. पुण्य की प्रबलता में असत्य भी सत्य हो जाता है। शत्रु भी मित्रवत व्यवहार करता है, सूली भी सिंहासन बन जाती है, मरघट भी महलवत सुख देता है, काँटे भी फूल बन जाते हैं, नाग भी हार बन जाता है, अग्नि की ज्वाला भी जल में परिवर्तित हो जाती है, यह सब कुछ पुण्य की लीला है।

---

8. पावोदय-पबलत्ते सच्चं पि असच्चं होदि। रिवुणो दु रिवुणो हि होंति, अविदु मित्ताणि वि रिवुणो सिज्झंति, संबंधिणो वि अवरा होंति, ओसही वि विसं सिज्झदि, पासादा वि मसाणो सिज्झंति, मादू वि हिंसेदि, पुप्फ-हारो वि किण्ह-सप्पो सिज्झेदि, सीयल-णीरं पि जालारूवे परियट्टेदि, चंदणं पि दाहं उप्पज्जेदि, पुण्णिमा-हिमयरो वि उण्हं अणुहवेदि, विसहर-मंताणि वि विसदायगाणि होंति, सयल-अणुऊलदाओ पडिऊलदासुं संकमंति, इमा पाव-कम्म-महिमा; तम्हा सज्जण-पुरिसाणं पुण्ण-पावे हरिस-विसादं च ण किच्चा, मज्झत्थ-भावासयं गहित्ता सगीय-आदविसुद्धि-रक्खं कुज्जा। पुण्णपावाणि पुग्गल-कम्मावत्थाओ, अयं आद-धम्मो णत्थि॥

8. पापोदय की प्रबलता में सत्य भी असत्य हो जाता है। शत्रु तो शत्रु रहते ही हैं, अपितु मित्र भी शत्रु बन जाते हैं, सगे भी पर हो जाते हैं, औषधि भी विष बन जाती है, महल भी मरघट बन जाते हैं, जन्मदात्री भी प्राण लेती है, पुष्पहार भी कालानाग बन जाता है, शीतल-जल भी ज्वाला में बदल जाता है, चंदन भी दाह उत्पन्न करता है, पूर्णिमा की चाँदनी भी उष्ण प्रतीत होती है, विषहर मंत्र भी विषदायक हो जाते हैं, सम्पूर्ण अनुकूलताएँ प्रतिकूलताओं में संक्रमित हो जाती हैं, यह सब पापकर्म की महिमा है, इसीलिए सज्जन-पुरुषों को पुण्य-पाप में हर्ष-विषाद न करते हुए, माध्यस्थ-भाव का आश्रय लेकर अपनी आत्मविशुद्धि की रक्षा करनी चाहिए। पुण्य व पाप दोनों पुद्गल कर्मों की अवस्था हैं, यह आत्म-धर्म नहीं है।

---

9. अहो माणव! पुण्ण-विवागे उम्मादं मा कुणेहि, णवरि समयो परियट्टण-सहावी। को जाणेदि कदा समयो परियट्टेज्जा? कुओ पुण्ण-विवागो संकमित्तु पाव-विवागे ण परियट्टेदु, तम्हा पुण्ण-पावोदए होदु मज्झत्थो। सव्वस्स दिणं तहा सव्व-दिणाइं सरिच्छाइं ण होंति॥

9. अहो मानव! पुण्य विपाक पर मत करो उन्माद, क्योंकि समय परिवर्तन-स्वभावी है। मालूम नहीं समय कब परिवर्तित हो जाये? कहीं पुण्य-विपाक संक्रमित होकर पाप-विपाक में न बदल जाये, इसलिए पुण्य-पापोदय पर मध्यस्थ हो जाओ। सबके दिन एवं सब दिन एक से नहीं होते।

---

10. पावोदए विसादो अणावस्सगो। वट्टमाण-पज्जाय-परिणामेसुं च चिंतेहि, दोसो संपडि-

अवत्थाए णत्थि। पसण्ण-चित्त-जीवणं जीवेहि। पुराकिद-कम्मं अज्जं कट्ठं देहि, किण्णु वट्टमाण-सुकिच्चाणि भविस्से पुण्णोदयरूवे णियमेण फलिस्संति॥

10. पापोदय पर विषाद की आवश्यकता नहीं। वर्तमान की पर्याय एवं परिणाम पर विचार करो, दोष सम्प्रति अवस्था का नहीं। प्रसन्नचित्त जीवन जिओ। भूत का किया कर्म आज भले ही कष्ट दे रहा हो, परन्तु वर्तमान के सुकृत्य भविष्य में पुण्योदय रूप नियत से फलित होंगे।

---

11. अप्प-समए हि हीण-पुण्णं झुणेदि, तम्हा पडिक्खणं सजगदा आवस्सगा। कदा संपत्तीओ विवत्तीसुं संकमेज्जा? तम्हा सगीय-जीवणस्स समीयरणं सज्जणाणं कत्तव्वं॥

11. हीन-पुण्य के क्षीण होने में अधिक समय नहीं लगता, इसलिए प्रतिक्षण जाग्रत रहने की आवश्यकता है। सम्पत्तियाँ कब विपत्तियों में संक्रमित हो जाएँ? इसलिए सज्जनों का कर्तव्य है कि वे अपने जीवन का समीकरण बना कर जियें।

---

12. वसुंधराए पबल-पुण्णप्पाणं पि पुण्णक्खीणं होज्जा, पुप्फेसुं विस्समंता वि सूलेसुं चलिज्जा, दंडदायगा वि दंडिदा होंति। विचित्ता कम्मविवागा॥

12. वसुन्धरा पर प्रबल पुण्यात्मा भी पुण्यक्षीण होते देखे गए, पुष्पों पर विश्राम करने वाले सूलों पर चलते देखे गए, दण्ड देने वाले भी दंडित होते देखे गए। कर्म-विपाक विचित्र है।

---

13. पुण्णोदय-तिव्वदाए अपुण्ण-परिणाम-कज्जाभावो, इमा जीवस्स विसिट्ठतव-साहणा। जदा जीवो पडिक्खणं पावोदय-पीडा-अणुहवं धरिस्सदि, तदेव इमाए साहणाए उत्तिण्णत्तं संभवं। पुण्णोदयस्स थोवकाले अहिगंसदो जीवा पावोदय-पीडं विसरेंति, थोविंदिय-सुहादो तिव्वदुक्खाणि पसज्जंति॥

13. पुण्योदय की तीव्रता में अपुण्य-परिणाम एवं अपुण्य-कार्य न हो, यह जीव की विशिष्ट तप साधना है। इस साधना में उत्तीर्णता तभी सम्भव है; जब जीव प्रतिक्षण पापोदय की पीड़ा का ध्यान रखेगा। पुण्योदय के अल्प-काल में अधिकांशतः जीव पापोदय की पीड़ा को भूल जाते हैं, अल्प इन्द्रिय सुख के कारण तीव्र दुःख को प्राप्त करते हैं।

---

14. पुण्णपावाणि कम्मज-भावा, णासवंता य। पुण्णपावसुण्ण-चेदण्णं हि धुवं, तस्सेव आसयो सेयोकरो। णासवंते आदविसुद्धिक्खयं अणुचिदं॥

14. पुण्य-पाप दोनों ही कर्मज भाव हैं, नाशवंत हैं। उभयशून्य चैतन्य ही ध्रुव है, उसी का आश्रय लेना श्रेयस्कर है। नाशवंत पर आत्मविशुद्धि का क्षय करना उचित नहीं है।

---

15. पुण्णोदए इत्तियो हस्सिदो मा हुव जत्तो आद-विसुद्धि-घादो होहिदि। पुण्णं पि परदव्वं, अभिण्ण-दव्वं तु मेत्तं णियप्पा हि। जो तियाल-अविणासी, सोच्चिय सच्चत्थे उवादेयभूदो, सेसाणि हेय-णेयाणि उवेक्खणीयाणि च॥

15. पुण्योदय पर इतने हर्षित मत हो जाना कि जिससे आत्म-विशुद्धि का ही लोप हो जाए। पुण्य भी पर द्रव्य ही है, अभिन्न द्रव्य तो एकमात्र निज-भगवान्-आत्मा ही है, जो त्रिकाल अविनाशी है, वही सत्यार्थ में उपादेयभूत है, शेष तो हेय, ज्ञेय, उपेक्ष्य हैं।

---

16. जं पुण्णं इंदियसुहं पयच्छेदि, तेण सुहभोएण पुणो णवीण-कम्मासवो होदि, तेण आसवेण पुणो इंदियसुहाणि वि पसज्जेंति, पुणो दु भोगा। एवंचेव संसार-भमणंतो ण होदि, संसारंतं इच्छेसि दु पुण्णोदए वि मज्झत्थ-ववहारं कादव्वं॥

16. जो पुण्य इन्द्रिय-सुख प्रदान करता है; उस सुख-भोग से पुनः नवीन-कर्मों का आस्रव होता है, उस आस्रव से पुनः इन्द्रिय-सुख भी प्राप्त होते हैं, फिर पुनः भोग। इस प्रकार संसार भ्रमण का अन्त नहीं होता, संसार का अन्त चाहिए तो पुण्योदय पर भी माध्यस्थता का व्यवहार करना चाहिए।

---

17. परमट्ठेण पुण्ण-पावकम्मोदयो संसार-कारणं तहा संसारो बंध-पुव्वगो हि गदिमाणो। पुण्ण-पाव-फले हरिस-विसाद-भावेण बंधो होदि। जो भवियो भवादीदावत्थं इच्छेसि तं पुण्णपावविवागत्तो आद-रक्खा-उवायं गवेसेज्जा। जेण उवाएण विसुद्धिवड्ढणं संकिलेसत्त-हाणी य होदु, सो खलु सेट्ठो उवायो त्ति॥

17. परमार्थ-दृष्टि से पुण्य-पाप दोनों ही कर्मों का उदय संसार का कारण है और संसार बंध पूर्वक ही चलता है। पुण्य-पाप के फल में हर्ष-विषाद भाव से बंध होता है। जो भव्य जीव भवातीत होना चाहता है, उसे

पुण्य-पाप के विपाक से आत्मरक्षा का उपाय खोजना चाहिए। विशुद्धि की वृद्धि, संक्लेशता की हानि जिस उपाय से हो वही श्रेष्ठ उपाय है।

---

18. हरिस-विसादभावरित्ता मोण-साहणा साहगस्स अमिदमिव। अमिदभोजी-देवाणं अवमिच्चु-अभावो त्ति, किण्णु मोण-साहगस्स साहणा-अमिदं जम्म-जरा-मरणक्खयं कारेदि। जो कत्तत्त-रहिदो एगत्तभाव-भाविदो होदूणं जीवणं जीवेदि, सो संसार-लदं जडमूलादो उम्मूलित्ता परम-समरसी-भावाणंद-पाणं करेदि॥

18. हर्ष-विषाद भाव से रिक्त मौन-साधना साधक के लिए अमृत-तुल्य है। अमृतपान करने वाले देवों के अकाल-मरण का अभाव है, परन्तु जो मौन-साधक की साधना का अमृत है वह जन्म-जरा-मृत्यु का क्षय करा देता है। कर्तापन से रहित एकत्वभाव से भावित होकर जो जीवन जीता है, वह संसार की लता को जड़मूल से उखाड़कर परम-समरसी-भाव के आनन्द का पान करता है।

---

19. तच्चण्हू पुण्णापुण्णोदएसुं सामण्ण-भावं धरेदि, सो जाणेदि दोण्णि हि पुग्गल-वियारा। धुव-णायगो आद-सहावो णाण-दंसणं चेदि॥

19. तत्त्वज्ञ जीव पुण्योदय व पापोदय दोनों में ही सामान्य भाव रखता है, वह जानता है कि दोनों ही पुद्गल का विकार हैं। ध्रुवज्ञायक आत्मा का स्वभाव, आत्म-स्वभाव तो ज्ञान-दर्शन है।

---

20. पुण्णोदए सदि असुहकारगा वि सुहरूवा परियट्टेंति, एरिसा पबल-पुण्ण-महिमा तहा पावोदए उच्चकज्जं पि कुज्जा; पुणो वि फलं असुहं हि होदि। समयो कम्मं तक्काले दव्व-जोग्गत्तं चावि तं रूवं हि परियट्टेदि॥

20. पुण्योदय पर अशुभ कराने वाले भी शुभरूप परिणत होते हैं, प्रबल पुण्य की महिमा ही ऐसी है और पापोदय पर अच्छा भी करे फिर भी फल अशुभ ही घटित होता है। समय, कर्म तथा तदा काल में द्रव्य की योग्यता भी तद् रूप परिणत होती है।

---

21. पुण्णोदय-काले जीवं पच्चय-समुप्पत्ति-कसायभावा ण होंति। जदि होंति वि दु थोवकालत्थं, णवरि पुण्णवंत-पुरिसा होंति मंद-कसायी भद्द-परिणामी य॥

21. पुण्योदय के काल में जीव को प्रत्यय व समुत्पत्ति दोनों ही कषाय के भाव नहीं होते। यदि हुए भी तो अल्पकाल, क्योंकि पुण्यवन्त पुरुष मन्द-कषायी तथा भद्र-परिणामी होते हैं।

---

22. परभाव-णियोगेण जो कसायो जादेदि, सो समुप्पत्ति-कसायो त्ति। संजदो विवेगी य परहेदवो अण्णं गेण्हित्ता णियप्पदेवस्स सग-परिणामाणं कसायजालादो रक्खणं करेदि॥

22. पर-भावों के नियोग से जो कषाय उत्पन्न होती है; वह समुत्पत्ति-कषाय कहलाती है। संयमी विवेकवान पर-हेतुओं को पर स्वीकार कर, निजात्मदेव के स्वपरिणामों की कषाय-ज्वाला से रक्षा करता है।

---

23. जत्थ एग-दव्वम्हि कज्ज-कारण-भावो संघडेदि, तत्थ पच्चयत्तं। अप्पम्हि कासायिग-भावागमणं सग-कम्मोदएण, किण्णु पबल-पुण्णप्पस्स पच्चय-कसायो वि मंदो होदि, जो अभावो व्व हि होदि; तम्हा जदि पुण्ण-पओगो पाव-बंधे ण कुणीअ दु वरो पुण्ण-बंधो पुण्णोदयो य॥

23. एक द्रव्य में कार्य-कारण भाव जहाँ घटित होता है; वहाँ प्रत्ययपना है। आत्मा में काषायिक-भावों का आना स्व-कर्मोदय से है, परन्तु प्रबल पुण्यात्मा के प्रत्यय कषाय भी मन्द होती है, जो न के समान है, इसलिए पुण्योदय पुण्य-बंध श्रेष्ठ है, यदि पुण्य का प्रयोग पाप-बंध में नहीं किया तो।

---

24. परमाणु-पमाण-पावपयडी वि जीवस्स दुक्खकारणं होदि, तम्हा पावकम्म-पयडिबंधभूद-णिमित्तादो पडिक्खणं आद-रक्खणं पत्तेग-भव्वजीवकत्तव्वं। अवरा अवरस्स किंचिवि ण कुणंति, पुण्ण-पावोदए णियप्प-उज्जमो हि कज्जयारी, अण्णं तु णिमित्तमेत्तं हि जाणेहि मण्णेहि॥

24. परमाणु-प्रमाण पाप-प्रकृति भी जीव के दुःख में कारण बन जाती है, इसलिए प्रत्येक भव्य-जीव का कर्तव्य है कि वह पापकर्म प्रकृति के बंध-भूत निमित्तों से क्षण-क्षण में आत्मरक्षा करे। अन्य-अन्य का कुछ भी नहीं कर पाते, पुण्य-पाप के उदय काल में, स्व का आत्म-पुरुषार्थ ही कार्यकारी है अन्य तो निमित्त मात्र ही जानो और मानो।

---

25. परकिदोवयारावयारेसुं च मा कुण हरिसविसादं च। पच्चक्खे परकिदं दिस्सेदि, किण्णु परोक्खे सगकिदं हि दीसेदि। णिमित्तं तु पररूवं दिस्सेदि, किण्णु उवादाणं सगस्सेव होदि। वट्टमाणं

भूदपण्णावण-णएण पस्सेहि, जे वि वट्टमाणे परकिदोवयारावयारा तुज्झ हि सुहासुह-किद-पुव्वकम्म-विवागा ते॥

25. पर-कृत उपकार व अपकार में हर्ष-विषाद मत करो। प्रत्यक्ष में परकृत अवश्य दिखता है, परन्तु परोक्ष में देखने पर स्वकृत दर्शन होने लगेंगे। निमित्त पर-रूप दिखता है, पर उपादान स्व का ही होता है। भूतप्रज्ञापन नय से भी देखो वर्तमान, जो भी वर्तमान में पर-कृत उपकार-अपकार है वह तेरे ही शुभाशुभ कृत पूर्व-कर्मों का ही विपाक है।

---

26. सगीय-कम्मोदए चिंतणेण होहिदि समत्त-जम्मणं, परकीय-कत्तत्तादो दिट्ठिं विहडेहिदि तहा हरिस-विसाद-विरामो होहिदि॥

26. स्व कर्मोदय पर चिंतन करने से समत्व का जन्म होगा, परकीय-कर्तापन से दृष्टि पृथक् होगी और हर्ष-विषाद का विराम होगा।

---

27. पुण्णोदए पुण्णभावरक्खणं पत्तेग-पुरिस-कत्तव्वं। पुण्णोदय-काले विवेगविसज्जणं किच्चा, उम्मत्तो होदूणं, पावायारे पयट्टेदूणं, असुहकम्मबंधं किच्चा, भावी-दुक्ख-णिमंतणं च सव्वाहिगजीवा देंति॥

27. पुण्योदय पर पुण्यभावों को सुरक्षित रखना प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है। पुण्योदय के काल में विवेक का विसर्जन कर, उन्मत्त होकर सर्वाधिक जीव पापाचार में प्रवृत्त होकर अशुभ-कर्म का बंध कर भावी-दुःख को निमंत्रण देते हैं।

---

28. जे पुण्णोदए वि विवेगेण सह सगीय-जीवणं जीवंति तहा पुण्णफलं जुत्तीए भोगित्तु, भविस्स-सम्मविवत्थं किच्चा, समाहिमरणं किच्चा दुग्गदित्तो णियप्प-रक्खणं कुणंति; ते जीवा धण्णा धण्णा धण्णा॥

28. धन्य-धन्य-धन्य वे जीव जो पुण्योदय पर भी विवेक के साथ अपना जीवन जीते हैं और पुण्यफल को युक्ति से भोगकर भविष्य की भी सम्यक्-व्यवस्था कर, समाधि से युक्त मरण कर, दुर्गति से स्वात्मा की रक्षा करते हैं।

---

29. जे पुण्णोदय-काले विवेगेण सह जीवंति, तेहिं भव्वेहिं सह सगीय-जीवणं जीवेहि। पुण्णस्स जुवावत्थाए जे समया पण्णा वुड्ढा, ते माणवा हि लोयपुज्जा।।

29. पुण्योदय के काल में विवेक के साथ जो जीते हैं; उन भव्यों के साथ अपना जीवन जियो। पुण्य की युवावस्था में जिनके पास प्रज्ञा-वृद्ध है; वे मानव ही लोक-पूज्य हैं।

---

30. परिणाम-विगिदे सदि जीवस्स पुण्णे वियारो उप्पज्जेदि। जह दुद्धे अम्म-मिस्सणदो वियारो जायदे, तहेव विसुद्धि-अवकरिसे पुण्णधारा णस्सेदि। भाव-विसुद्धि-रक्खादो खु पुण्ण-रक्खणं संभवं। पडिक्खणं असुह-भावत्तो विहडित्तु जीवं सगीय-भावा विसुज्झेज्जा।।

30. परिणामों के विकृत होते ही जीव के पुण्य में विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे दुग्ध में अम्ल के मिश्रण से विकार उत्पन्न होता है; वैसे ही विशुद्धि घटने पर पुण्य की धारा भंग हो जाती है। भावों की विशुद्धि की सुरक्षा से ही पुण्य का रक्षण सम्भव है। हर समय अशुभ-भावों से भिन्न होकर व्यक्ति को अपने परिणाम निर्मल रखना चाहिए।

---

31. विसिट्ठजोग-जोग्गदा-सिद्धी वि विसिट्ठ-पुण्णोदए हि होदि। पुण्ण-खए सिद्धंताणि कज्जाणि वि अंते णस्संति।।

31. विशिष्ट योग एवं योग्यता की सिद्धि भी विशिष्ट पुण्योदय पर ही होती है। पुण्य की क्षीणता पर बनते कार्य भी अन्त में बिगड़ते देखे जाते हैं।

---

32. णाणीजणा कज्जपुण्णत्तकालपज्जंतं सगीय-कज्ज-रहस्सं गूहेंति। अण्णजणा कज्जाणि थोवाणि करेंति, पयारा अहिगा य। परिणामदो कज्जस्स असाफल्ले लोए हस्सं लहेंति। जग-उवहासादो आदरक्खा-भावा दु पढमं सग-जोग्गत्त-पुण्णपावोदएसुं संवियारेज्जा। कज्जसिद्धी होहिदि वा ण होहिदि, अस्स अवलोयणपुव्वगं हि कज्जारंभं कुज्जा।।

32. ज्ञानीजन कार्य की पूर्णता न होने तक अपने कार्य के रहस्य को गूढ़ रखते हैं। अज्ञ-जन कार्य कम करते हैं, प्रचार अधिक, परिणामतः कार्य की असफलता पर जगत् में हास्य को प्राप्त होते हैं। जग-हसी से आत्मरक्षा के भाव हैं तो सर्वप्रथम स्व-योग्यता, पुण्य-पापोदय पर विचार अच्छे से करना चाहिए। कार्यसिद्धि होगी या नहीं इसका अवलोकन पूर्वक ही कार्य प्रारंभ करें।

---

33. मूढो जीवणस्स अमुल्ल-खणाणि परस्स पुण्णपावम्हि वियारित्ता विच्चेदि। सो परणिंदाभूदं पावं संगहित्ता, णीचगोत्त-बंधं किच्चा दिग्घसंसारे भमित्ता किलेसं लद्धेदि॥

33. अज्ञ प्राणी जीवन के अमूल्य क्षणों को पर के पुण्य-पाप पर विचार कर व्यय करता है। वह पर-निन्दा के पाप का संचय कर नीच-गोत्र का बंध कर दीर्घ-संसार में भ्रमण कर क्लेश को प्राप्त करता है।

---

34. पण्ण-पुरिसो णियप्पहिदस्स एगक्खणं पि परभावेसुं ण विच्चेदि, सो पडिक्खणं णियप्पहिदम्हि हि चिंतेदि। संसार-सागरत्तो आददेवो कहं उच्चारेदु? कहं पावपंकादो कहं रक्खेदु? सासे सासे पावकम्मादो आदरक्खा होदु? सुदीए रमणं कुसुदीदो रक्खा होदु? एरिसा भावा भव्व-जीवाणं हि होंति॥

34. प्रज्ञ-पुरुष स्वात्महित के एक क्षण काल को भी परभावों में व्यय नहीं करता है; वह क्षण-क्षण में स्वात्महित पर ही विचार करता है। संसार-सागर से आत्मदेव उत्तीर्ण कैसे हो, पाप-पंक से कैसे बचे, श्वास-श्वास में पाप कर्म से आत्मरक्षा हो, श्रुति में रमण तथा कुश्रुति से रक्षा हो, ऐसे पवित्र-भाव भव्य-जीव के ही होते हैं।

---

35. पुण्णप्प-जीवस्स णिंदादो सगपुण्ण-खयो होदि। सदा पुज्ज-पुरिसाणं विणयं कित्तणं च कुणेहि, अपुज्जेसुं मज्झत्थ-भावं सब्भावणं धारेहि। सददं सहावे मिदुया-अब्भासं कुणेहि, इमेण णियप्पा पुण्ण-गुण-पुण्णो कम्म-सुण्णो च होदि॥

35. पुण्यात्मा जीव की निन्दा करने से स्वपुण्य का क्षय होता है। पूज्य पुरुषों का सदा विनय करो। पूज्यों के गुणगान करो, अपूज्यों पर माध्यस्थ-भाव व सद्भावना रखो। स्वभाव में मृदुता का अभ्यास सतत करो, इससे स्वात्मा पुण्य-गुणों से पूर्ण होता है तथा कर्म से शून्य होता है।

---

36. पुण्ण-पुरिस-कित्तणं भवियाणं भाव-विसुद्धि-साहणं। सा विसुद्धी असुहभावादो आदरक्खणं कारेदि, असुहकम्म-णिज्जरं करेदि, सुहकम्मासवं कारेदि तहा परंपराए मोक्खसाहणं च होदि॥

36. पुण्य-पुरुषों का गुणगान भव्यों की भाव-विशुद्धि में साधन है। वह विशुद्धि अशुभ-भावों से

आत्मरक्षा करती है तथा अशुभ-कर्मों की निर्जरा कराती है, शुभ-कर्मों का आस्त्रव कराती है तथा परम्परा से मोक्ष का साधन है।

---

37. सुहासुह-सद्द-सवणं पि पुण्णपावोदएण होदि। पुण्णोदए पडिक्खणं सुंदर-वक्काइं गुणकित्तण-सवणं लाहो होदि, सत्तु-गेहे वि पसंसा-वायग-सद्दाणं पओगो होदि। पावोदए सगगेहे वि असुह-सद्द-सवणं करिज्जदे, सगीय-जणणी-जणगा वि दुव्वयणं भासिय रवेंति। पावोदए मम्मभेदी-सद्दा सुणिय जीवणं जीविज्जदे॥

37. शुभाशुभ शब्दों का श्रवण भी पुण्य-पाप के उदय से होता है। पुण्योदय पर प्रतिक्षण सुन्दर-सुवाक्, गुण-कीर्तन सुनने को मिलते हैं, शत्रु-गृह में भी प्रशंसा-वाचक शब्दों का प्रयोग होता है। पापोदय में स्वगृह में भी अशुभ-शब्दों का श्रवण करना पड़ता है, स्व-जननी एवं जनक भी दुर्वचन बोलकर बुलाते हैं। पापोदय पर मर्मभेदी शब्दों को सुनकर जीवन जीना पड़ता है।

23

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

अट्ठा

(आस्था)

1. अट्ठा-रज्जू णवि दिस्सदि, किण्णु अंतरंगस्स दिढ-बंधणं अत्थि; जं गजेहिं पि ण भिंददे। सच्चत्थ-मग्गं पडि अट्ठा जीवं लोयम्हि महाणो भगवंतो य सिरेदि॥

1. आस्था की डोर दिखती नहीं, परन्तु अंतरंग का दृढ़-बंधन है; जो कि हाथियों से भी नहीं तोड़ा जा सकता है। सत्यार्थ मार्ग पर की गई आस्था व्यक्ति को लोक में महान् ही नहीं, अपितु भगवान् बना देती है।

---

2. वीसासेण सह किदं कज्जं सयमेव समावेदि, किण्णु कज्ज-खमदं पडि पुण्ण-अट्ठा आवस्सगा। जह जह वीसास-वड्ढणं होदि, तह तह कज्ज-खमदा-अहिरुई वि वड्ढदे। फलदो कज्ज-पुण्णदाए जीवो उच्चारेदि तहा सो पसण्णत्तं च लहेदि॥

2. विश्वास के साथ किया गया कार्य स्वयमेव ही पूर्ण होता है, पर कार्य क्षमता के प्रति पूर्ण आस्था होना अनिवार्य है। जैसे-जैसे विश्वास वृद्धि को प्राप्त होता है वैसे-वैसे कार्य क्षमता एवं लग्न बढ़ती चली जाती है। फलतः कार्य पूर्णता में व्यक्ति उत्तीर्णता को प्राप्त कर लेता है और वह प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

---

3. जं समया सम्म-अट्ठा होदु तमेव मोक्खमग्ग-पहो सच्चत्थ-मग्गो दिस्सेदि। अट्ठा-विहीणो जीवेदि सुह-विहीण-जीवणं। अट्ठा सगपर-कल्लाणी उहय-लोए सुहपदा होदि॥

3. मोक्षमार्ग का रास्ता, सत्यार्थ-मार्ग उसी को दिखता है; जिसके पास सम्यक्-आस्था हो। आस्था-विहीन सुख से विहीन जीवन जीता है। आस्था स्व-पर कल्याणी एवं उभय लोक में सुखप्रद होती है।

---

4. जिणिंद-देसणा ता एव फलेदि, जे जिणदेसणं पडि होंति अट्ठावंता। जेसिं जीवाणं हिदए भूदत्थमग्ग-तच्च-सच्चत्थदेवसत्थगुरूसुं चेव णिम्मला अट्ठा णत्थि, ता किं जिणवर-वाणीए सुफलं लाहिस्सदि?

4. जिनेन्द्र प्रभु की देशना उन्हें ही फलित होती है, जो जिन-देशना पर आस्थावान होते हैं। जिन जीवों के हृदय में भूतार्थ-मार्ग, तत्त्व एवं सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर निर्मल आस्था ही नहीं है उन्हें जिनवर-वाणी का क्या सुफल मिल पाएगा?

---

5. जत्थ जीवस्स अट्ठा विज्जमाणा, तत्थ विउल-गुणा दिस्संति तहा जत्थ अट्ठा णत्थि तत्थ गुण-समुदाए सदि दोसा दीसंति, तम्हा सव्वगुणेसुं पहाणो गुणो अट्ठा। अट्ठा-अभावे कस्सचिदवि गुणिस्स गुणकित्तणं णवि कीरदे॥

5. जहाँ व्यक्ति की आस्था विद्यमान रहती है वहाँ गुण ही गुण दृष्टिगोचर होते हैं और जहाँ पर आस्था नहीं है वहाँ गुणों का समुदाय होने पर भी दोष ही दिखाई देते हैं, इसलिए सर्वगुणों में प्रधान गुण आस्था है। आस्था के अभाव में किसी भी गुणी के गुणों का कीर्तन नहीं किया जा सकता है।

---

6. संबंधं विणा वि हविज्जदे सड्ढा-सड्ढेय-संबंधो। संबंधिस्स संबंधो विच्छेदं जादिज्जदे, किण्णु जावज्जीवणं सड्ढा-सड्ढेय-संबंध-विच्छेदो ण होदि। सड्ढा अमिदं, सा अवीसास-विसादो रक्खेदि॥

6. सम्बंध के बिना भी श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बंध हो सकता है। सम्बंधी का सम्बंध विच्छेद को प्राप्त हो सकता है, परन्तु जीवन पर्यन्त श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बंध का विच्छेद नहीं होता है। श्रद्धा वह अमृत है; जो अविश्वास के विष से रक्षा कर लेता है।

---

7. कसाय-तिव्वदाए जीवस्स अट्ठाओ विणस्संति, कसाय-मंदोदए हि अट्ठा, अट्ठावंतो, अट्ठेयो य दिस्सदे। अंतरेण अट्ठाए मोक्खमग्ग-पारंभो णेव होदि। कसायो जीवस्स जीवणं जज्जरेदि। अट्ठा-रक्खणं इच्छेसि दु कसायं परियट्टेहि॥

7. कषाय की तीव्रता में व्यक्ति की आस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं, कषाय के मंदोदय में ही आस्था, आस्थावान और आस्थेय दिखाई देता है। आस्था के बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होता। कषाय व्यक्ति के जीवन को खोखला कर देती है। आस्था को सुरक्षित रखना चाहते हो, तो कषाय को परिवर्तित करो।

---

8. जे सगं कसाय-कालकूडादो पोसंति, तेसिमेव धम्म-धम्मप्पेसुं अट्ठा होदि। जत्थ कसाय-विसं, तत्थ अट्ठा-पाणा विसमदाए होंति॥

8. धर्म-धर्मात्मा पर आस्था उन्हीं की होती है जो कषाय रूपी कालकूट से सुरक्षित रहते हैं, जहाँ कषाय-विष है वहाँ पर आस्था के प्राण संकट में पड़ जाते हैं।

---

9. सच्चत्थमग्गे ठिदाओ अट्ठाओ भंजणं तोडणं च महाहिंसा। अणादि-अविज्जा-वसादो जीवो सम्मं सड्ढाणं विउल-कट्ठेण लहेदि। जदा जीवस्स पबल-पुण्ण-उज्जमो य होदि तदा सुमग्गे अट्ठा पयडेदि॥

9. सत्यार्थ-मार्ग पर जुड़ी आस्थाओं को तोड़ना, तुड़वाना महाहिंसा है। अनादि-अविद्या के वश हुआ प्राणी सम्यक्-श्रद्धान को बहुत ही कठिनाई से प्राप्त कर पाता है। जब जीव का प्रबल-पुण्य व पुरुषार्थ साथ देता है तभी सम्यक्-मार्ग पर आस्था प्रकट होती है।

---

10. सुधम्म-धम्मप्पाणो पडि अट्ठा-भावो पबल-पुण्णोदए हि संभवो। पुण्ण-खीणदाए मिच्छाधम्म-अधम्मप्पाणो पडि अट्ठा जायदे। विवेग-णाण-सत्ताए जीवो सच्चमग्गासयं गेण्हेदि॥

10. सम्यक्-धर्म एवं धर्मात्माओं के प्रति आस्था-भाव प्रबल पुण्योदय पर ही संभव है। पुण्य की क्षीणता में मिथ्या धर्म एवं अधर्मात्माओं के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। विवेक-ज्ञान की सत्ता में व्यक्ति सत्य-मार्ग का आश्रय लेता है।

---

11. अट्ठा-वीसास-सड्ढा-पदीदीहिं जीवो आणंदं भजेदि। लोए जे वि पदत्थाणि सुह-साहणाणि, ताणि सव्वाणि तावं सुह-साहणाणि जावं ताणि पडि अट्ठा होदि। अट्ठा-अभावे किंपि लोयवट्टी-वत्थुं सुह-आणंद-कारणं ण हवदे, तम्हा दिढ-अट्ठाए आवस्सगत्तं॥

11. आस्था, विश्वास, श्रद्धा, प्रतीति के माध्यम से व्यक्ति आनन्द को प्राप्त होता है। लोक में जो भी पदार्थ सुख के साधन हैं; वे सब तभी तक सुख के साधन हैं जब तक उनके प्रति आस्था है। आस्था के अभाव में लोकवर्ती कोई भी वस्तु सुख व आनन्द का कारण नहीं हो सकती है, इसलिए आस्था को दृढ़ रखने की आवश्यकता है।

---

12. जेत्तिया गहण-अट्ठा होहिदि तेत्तिया गहण-आणंदो होहिदि। वीसासेण भावेसुं परियट्टणं, भाव-परियट्टणेण सव्वंगे परियट्टणं च होदि तहा अट्ठाए चित्तं पि होदि पसण्णं॥

12. जितनी गहरी आस्था होगी उतना ही गहरा आनन्द होगा। विश्वास से भावों में परिवर्तन होता है, भावों के परिवर्तन से सर्वाङ्ग में परिवर्तन होता है और आस्था से चित्त भी प्रसन्न होता है।

---

13. जेण अट्ठा-विहीणो वि सुपहे अट्ठादो जुंजेज्जा, तच्चत्थविहीण-चित्तं पि तच्चत्थ-सद्धाण-जुत्तं हुज्जा; एरिसं आयरणं कुज्जा। तुज्झ समीचीण-आयरणं पस्सित्ता एगो जीवो वि सच्चत्थ-मग्गे संलग्गेदि दु तुमं कोडि-कोडि-जण्ण-फलं लहेसि॥

13. ऐसा आचरण करो जिससे आस्था-विहीन भी सत्-पथ पर आस्था पूर्वक लग जाए, तत्त्वार्थ से टूटे हृदय भी तत्त्वार्थ-श्रद्धान से युक्त हो जाएँ। आपके समीचीन-आचरण का अवलोकन कर एक जीव भी सत्यार्थ-मार्ग पर लग गया तो समझ लेना आपने कोटि-कोटि यज्ञों का फल प्राप्त कर लिया है।

---

14. जत्थ अट्ठा तत्थ जायदे पीदी तहा जत्थ पीदी तत्थ सुहं सयमेव जायदे। जत्थ अपीदी तत्थ दुहं। दुही-जीवस्स अट्ठा रोगसहिदा होदि॥

14. जहाँ आस्था है वहाँ प्रीति उत्पन्न होती है और जहाँ प्रीति रहती है वहाँ सुख स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है। जहाँ अप्रीति है वहाँ दुःख है। दुःखी प्राणी आस्था को स्वस्थ नहीं रख पाता है।

---

15. जदि सगं पडि वीसस्स अट्ठं जीविदस्स भावा, दु वीसे वीसासेण जीवेहि, सगायरणं पवंचणा-रहिदं आयरेहि। साहणा-खेत्ते वड्ढमाणत्तं होज्जा। हीयमाण-साहणा साहगस्स उण्णदि-णासं किच्चा अवणदिं कारेदि॥

15. स्वयं के प्रति विश्व की आस्था जीवित रखने के परिणाम हैं, तो विश्व में विश्वास के साथ जिओ, स्व के आचरण को छल-कपट रहित आचरित करो। साधना के क्षेत्र में वर्धमानता रहनी चाहिए। हीयमान साधना साधक की उन्नति का नाश कर अवनति करा देती है।

---

16. जीवणे उक्करिसं दट्ठूणं मा कुण अहिमाणं। सच्चत्थ-मग्ग-अट्ठाए होदि उक्करिसो ण दु

माणेण। जेण उक्करिस-चरण-लाहो, तेसिं चरण-हेदूणं चरणं ण मुंचेहि। जो सदा सरिच्छं जीवणं जीवेदि, सो हि लोए सग-पुज्जत्तं जिविज्जदे॥

16. जीवन में उत्कर्ष देखकर अभिमान नहीं करना। उत्कर्ष मान से नहीं, अपितु सत्यार्थ-मार्ग की आस्था से हुआ है। जिसके माध्यम से उत्कर्ष के चरण मिले उन चरणों के हेतुओं के चरण नहीं छोड़ना। जो हमेशा एक सा जीवन जीता है वही लोक में अपनी पूज्यता को जीवित रख पाता है।

---

17. जम्हि सच्चत्थ-तच्चं पडि अट्ठा, सोच्चिय वीसे मरणोवरंतं पि जिवेदि॥

17. जिसके अन्दर सत्यार्थ-तत्त्व के प्रति आस्था है; वही विश्व में मृत्यु के उपरान्त भी जीवित रहता है।

---

18. जं पडि लोगो अट्ठावंतो, तं लोगस्स अट्ठाए करुणं कादव्वं; अट्ठाघादं ण कादव्वं। जीए वित्तीए वीस-अट्ठाए पहुप्पेसि, तीए वित्तीए रक्खणं जावज्जीवं कुणेहि। उण्णदि-रक्खणं तुज्झ कत्तव्वं, ते जीवा मूढा जे सग-उण्णदि-रक्खणं ण कुणंति॥

18. जिसके प्रति लोक आस्थावान है उसे लोक की आस्था पर करुणा करनी चाहिए, आस्थाओं का घात नहीं करना चाहिए। जिस वृत्ति से विश्व आस्था पर पहुँचे हो उस वृत्ति की रक्षा जीवन पर्यन्त करना। उन्नति की रक्षा करना आपका कर्तव्य है, वे जीव अज्ञ हैं जो अपनी उन्नति की रक्षा नहीं कर पाते हैं।

---

19. अट्ठा-अमिदस्स माहुरियं अट्ठावंतो हि जाणेदि। अणट्ठा विसं, सा आणंदं भंजेदि॥

19. आस्था वह अमृत है जिसकी मिठास आस्थावान ही जानता है। अनास्था विष है; जो आनन्द को भंग कर देता है।

---

20. जे सग-जीवणदो वि सेट्ठं सग-उण्णदिं मण्णंति, ते पुरिसा पण्णावंता। सगं पडि लोगस्स अट्ठा ण णस्सेदु, तम्हा पण्णजणा सददं सुजग्गेज्जा। जीवणे सड्ढेय-हवणत्थं कढोर-साहणं कुज्जा। सड्ढा-विणासे समयो ण लग्गेदि॥

20. वे पुरुष प्रज्ञावन्त हैं जो अपने जीवन से भी श्रेष्ठ अपनी उन्नति को समझते हैं। स्व के प्रति जो लोक की आस्था है वह नष्ट न हो, इसलिए प्रज्ञजन हमेशा सावधान रहते हैं। जीवन में श्रद्धेय होने के लिए कठोर साधना करना पड़ती है। श्रद्धा के नाश में समय नहीं लगता।

---

21. एरिसं जीवणं जीवेहि देह-विमोयणे वि अट्ठाए हिदएसुं तुज्झ जीवणं अंकिदेज्जा। तुज्झ णामो पाणीमेत्त-हिदए वसेहि, ण दु पत्त-पासाण-धादुमयपत्तेसुं। जदि आयरणं पवित्तं तु णामो अमिडो त्ति॥

21. ऐसा जीवन जिओ कि शरीर छूटने पर भी आस्था के हृदयों में आपका जीवन अंकित रहे। आपका नाम कागजों, पत्थरों, धातुमय पत्रों पर नहीं, अपितु प्राणिमात्र के हृदय में रहे। आचरण पावन रहे, तो नाम अमिट रहेगा।

---

22. महापुरिसा गेहे गेहे ण गच्छंति, तेसिं महाणत्तं सयमेव घडे घडे पभवेदि। वित्ति-चारित्तं च जीवं करेदि पहाणो। सेट्ठचारित्त-वित्तिवंतेसु जग-अट्ठा होदि, धण-धरणीवंतेसुं कस्सचिदवि अट्ठा ण होदि॥

22. महापुरुष घर-घर नहीं जाते, उनकी महानता स्वयमेव ही घट-घट में पहुँच जाती है। चारित्र एवं वृत्ति व्यक्ति को महान् बना देती है। श्रेष्ठ-चारित्र एवं श्रेष्ठ-वृत्तिवान पर दुनिया की आस्था होती है, धन-धरतीवान पर किसी की आस्था नहीं होती है।

---

23. लोगो मए वीसासं कुणेदु, एरिसं भावणं मा भावेज्जा, अविदु लोए कुणहि विस्ससणीय-कज्जं तु लोग-वीसासो तुमं पडि सयमेव होहिदि। पुणो तुमं तुज्झ चित्तं कत्थ वि ण आगलेज्जा। पुणो तुमं हिदय-भित्तीसुं हुज्जा, ण दु भवण-भित्तीसुं॥

23. जगत् करे मेरे ऊपर विश्वास ऐसी भावना मत भाओ, अपितु जगत् में विश्वसनीय कार्य करो तो जगत् का विश्वास आपके प्रति स्वयमेव हो जाएगा। आपको अपना चित्र कहीं भी नहीं लगाना पड़ेगा, आप तो लोक के चित्तों में ही लग जाओगे। भवनों की दीवार पर नहीं, हृदय की दीवार पर होंगे आप।

---

24. लोग-पसिद्धीए ण ओगेण्हिय आद-सिद्धीए जो ओगेण्हेदि, तं लोग-पसिद्धी सयमेव पसज्जेदि। इह सिद्धंते जो वीसासं धारेदि, सो हि साहगो णिप्पुह-भावेण साहणं करिज्जदि। साहणाए पुहत्तं धण्णम्हि घुण-कीड-सरिच्छं॥

24. लोक-प्रसिद्धि पर लक्ष्य न कर आत्म-सिद्धि पर जो लक्ष्य रखता है; उसे लोक-प्रसिद्धि स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। इस सिद्धान्त पर जो विश्वास रखता है; वही साधक निस्पृह-भाव से साधना कर पाता है। स्पृहता साधना में धान्य में घुन के कीड़े के तुल्य है।

---

25. जेसिं मोक्ख-लद्धि-भावणाए सह णिप्पुहत्ते अट्ठा दिढा, ते साहगा धण्णा धण्णा धण्णा। णिप्पुहत्तं विणा साहु-मग्गो पाखंडो एव, परभावेहिं पुहत्तं साहणा-रिवू॥

25. धन्य-धन्य-धन्य वे साधक जिनकी मोक्ष प्राप्ति की भावना के साथ निस्पृहता पर दृढ़ आस्था है। बिना निस्पृहता के साधु-मार्ग एक ढोंग के अलावा कुछ नहीं, पर-भावों से स्पृहता साधना की शत्रु है।

---

26. जो सत्थाए अट्ठं धरेदि, सो परमसंतिं भजेदि। पुण्णपुरिसाणं गुणसुमरण-कित्तणेहिं च पावकम्मविणासो पुण्णकम्मवड्ढणं च होदि। दिग्घसंसारिणोपुण्ण-पुरिसाणं कहा-सवणं अरुइयरं होंति। जेसिं संसारभमणं थोवं ते खलु सज्जणा सत्थाए सगीय-अट्ठं दिढं धरंति॥

26. जो शास्ता पर आस्था रखता है वह परमशान्ति को प्राप्त होता है। पुण्य-पुरुषों के गुण स्मरण, गुणकीर्तन करने से पाप कर्म का नाश होता है, पुण्यकर्म की वृद्धि होती है। दीर्घ संसारी पुण्य-पुरुषों की कथा श्रवण में रुचि नहीं रखते, जिनका संसार भ्रमण अल्प है वे ही सज्जन शास्ता पर अपनी दृढ़ आस्था रखते हैं।

---

27. पहु-अट्ठा सग-पहुत्तं पयडावेदि, तम्हा पत्तेग-जीवं आद-वेहवस्स भावणं धरंतं परमप्प-भत्तीए चित्तं संवट्टेज्जा॥

27. भगवद् आस्था स्व-भगवत्ता को प्रकट करा देती है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-वैभव की भावना रखते हुए परमात्म-भक्ति में चित्त स्थापित करना चाहिए।

---

28. सयल-वीसे जीवदव्वं हि एरिसं दव्वं जं णादा-दिट्ठा-सत्ति-जुत्तं, सेसाणि दव्वाणि णाण-

दंसण-सुण्णाणि। हेय-अहेय-विवेगो वि जीव-दव्वम्हि, कम्हि अट्ठा होदव्वा कम्हि अणट्ठा, अयं विवेगो वि होदव्वो। अपुज्जा पडि पुज्जत्त-ववहारो वि अण्णाणत्तं तहा पुज्जा अपुज्ज-कहणं महामूढत्तं।।

28. सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जीवद्रव्य ही ऐसा द्रव्य है जो जानने-देखने की शक्ति युक्त है, शेष द्रव्य ज्ञान-दर्शन शून्य हैं। हेय-अहेय का विवेक भी जीव के पास है, किस पर आस्था की जाये और किस पर नहीं यह विवेक होना चाहिए। अपूज्यों के प्रति पूज्यता का व्यवहार करना भी अज्ञानता है तथा पूज्यों को अपूज्य कहना महामूढ़ता है।

---

29. जं वत्थुं जहा होदि, विवेगी तम्हि तहेव अट्ठं धरेदि। विवरीद-अट्ठा हि मिच्छत्तं, जं लोए विउल-कट्ठप्पदं च; तम्हा मिच्छत्त-भावत्तो णियप्प-रक्खणं कुणेहि।।

29. जो वस्तु जैसी होती है विवेकशील उस पर वैसी ही आस्था रखता है। विपरीत आस्था ही मिथ्यात्व है, जो लोक में बहुत कष्टकारी है, इसीलिए मिथ्यात्व-भाव से स्वात्मा की रक्षा करो।

---

30. जह अट्ठं परमप्पं पडि धरेसि, जहेव अट्ठं णियप्पं पडि वि धरेहि। सद्ढा-सद्धेयादो परमप्पा उत्तमो पहाणो महाणो य, किण्णु परमट्ठेण सगस्स कल्लाण-कारगा दु सगीय-चेयण्ण-सत्ती। चेयण्ण-तच्चस्स णियप्पाणुभूदी हि सेट्ठा, सा सगहिदयारी परमोवयारी च। अण्णं तु अण्णं एव, एवमेव सच्चत्थं जाणेहि।।

30. जैसी परमात्मा के प्रति आस्था रखते हो वैसी ही स्वात्मा के प्रति भी आस्था रखो। परमात्मा उत्तम है, महान् है श्रद्धा-श्रद्धेय की दृष्टि, परन्तु परमार्थ से स्वयं के लिए कल्याणकारी यदि कोई है तो वह स्वयं की चैतन्य शक्ति। चैतन्य तत्त्व की स्वात्मानुभूति ही श्रेष्ठ है, वह स्वहितकारी, परमोपकारी है। अन्य-तो-अन्य ही है, यही सत्यार्थ जानो।

---

31. पत्तेग-पदत्थं अट्ठाए पस्सेहि, किंपि पदत्थं अवत्थुं णत्थि। पत्तेग-पदत्थं वत्थुं, सगम्हि कत्ता-भोत्ता-भावजुत्तं पारिणामिग-भावजुत्तं चेदि।।

31. प्रत्येक पदार्थ को आस्था से देखो, कोई भी पदार्थ अवस्तु नहीं है। प्रत्येक पदार्थ वस्तु है, स्वयं में कर्ता-भोक्ता भाव से युक्त है, पारिणामिक भाव युक्त है।

---

32. जीवणे सगकज्जस्स उत्तिण्णदाए सगभग्ग-उज्जमेसुं च अट्ठा आवस्सगा। सग-उज्जम-भग्गेसुं च वीसासं विणा कस्सिंचिदवि खेत्ते जीवो साफल्लं ण लहेदि, सो असाफल्ल-दाहे दज्झिस्सदि॥

32. जीवन में स्वकार्य की उत्तीर्णता के लिए स्व-भाग्य एवं पुरुषार्थ पर आस्था होना अनिवार्य है। स्व पुरुषार्थ एवं भाग्य पर विश्वास किए बिना किसी भी क्षेत्र में व्यक्ति सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता, वह असफलता की दाह में जलता रहेगा।

---

33. जीवं पढमं सगीय-जोग्गदाए अट्ठा होज्जा। जोग्गदा-अहिणाणं विणा भावीकज्जस्स णिण्णय-सिद्धी य णवि होहिदि। णाणीजीवा सगजोग्गदा-परिक्खणं किच्चा कज्ज-पुरिसत्थं आरंभेंति॥

33. व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी योग्यता पर आस्था होना चाहिए। योग्यता समझे बिना भावी कार्य करने का निर्णय एवं सिद्धि नहीं होगी। ज्ञानी पुरुष स्वयोग्यता का परीक्षण कर कार्य करने का पुरुषार्थ प्रारंभ करते हैं।

---

34. अवरेण तुमं सगं पडि जहा अट्ठं इच्छेसि, तहेव सग-परिणामं धरेहि। जह ववहारो तुमं अवरादो अरुइयरो, तह ववहारं अवरं पडि मा कुण। जदि तुवम्हि माणवत्तं तु सगत्तो भिण्णे पुरिसे जीवत्त-विवेग-साहिमाणं च गेज्झेहि॥

34. आप पर से स्व के प्रति जैसी आस्था चाहते हो वैसे अपने परिणाम रखो। जो व्यवहार आपको पर-से पसन्द नहीं है, वैसा व्यवहार आप पर के प्रति मत करो। स्व से भिन्न पुरुष में जीवत्व, विवेक एवं स्वाभिमान स्वीकार करो, यदि आपमें मानवता है तो।

---

35. भव्ववर-पुंडरीगो जदि मोक्खतच्चे अट्ठं धरेदि, दु सो पढमं मोक्खमग्गे अट्ठं धरेदि। जं समया मोक्ख-लद्धि-उवायो णत्थि, सो उवेये मोक्खे अट्ठं धरिय किं करिहिदि? तदेव मोक्ख-लद्धी होहिदि, जदा मोक्खमग्गं गेज्झेहिदि तदणुऊल-उज्जमं च करिस्सदि। सम्म-उज्जमं विणा सज्झ-सिद्धी असंभवा हि जाणेहि॥

35. भव्यवर पुंडरीक मोक्षतत्त्व पर यदि आस्था रखता है, तो वह सर्वप्रथम मोक्षमार्ग पर आस्था रखता है। जिसके पास मोक्ष प्राप्ति का उपाय ही नहीं; वह उपेय मोक्ष पर आस्था रखकर करेगा ही क्या? मोक्ष की

प्राप्ति तभी होगी जब मोक्षमार्ग को स्वीकार करेगा, तदनुकूल-पुरुषार्थ भी करेगा। बिना सम्यक्-पुरुषार्थ के साध्यसिद्धि असंभव जानो।

---

36. जं पडि तुमं अट्ठा-ठावणं इच्छेसि, पढमं तं अट्ठेयं मुणेहि, मज्झाण अट्ठेयो अट्ठापत्तं अत्थि वा णत्थि? कदो अट्ठा-घादो ण होज्जा? सो तच्चणाण-कसम्हि, उत्तिण्णदालद्धी अत्थि वा णत्थि? वत्तित्तं मुणेहि ण दु जीवं; जाणेहि सग-सरूवं च॥

36. जिसके प्रति आप आस्था स्थापित करना चाहते हो सर्वप्रथम उस आस्थेय को पहचानो, हमारा आस्थेय आस्था का पात्र है या नहीं? कहीं आस्था का घात न हो जाये। वह तत्त्वज्ञान की कसौटी पर उत्तीर्णता को प्राप्त है या नहीं? व्यक्ति को नहीं; व्यक्तित्व को पहचानो, अपने स्वरूप को जानो।

---

37. जे सच्चत्थ-अत्तागम-तवोभिदा, तम्हि कुणेहि अट्ठं। सच्चत्थ-बोहेण अंतरेण सग-अट्ठा-पयडीयरणं सगअण्णाणत्तं। सगीय-विण्णत्त-अण्णत्तं च जीवो सयं पयडावेदि। अवरा दु अवरा, ते दु णिमित्त-मेत्तं। णिमित्तेसुं कत्तत्तारोवणं होदि, कज्जं तु णियोवादाणे खु होदि। संसारभमणं संसारमुत्ती य आद-पुरिसत्थेण होंति। सम्मत्त-धम्मो वि आदविसुद्धीए हि फलेदि, अवराणि कारणाणि परासयभूदाणि भिण्णाणि; सक्खं कारणं तु आद-परिणामो हि। एवं णाण-चारित्ते जाणेज्जा॥

37. जो सच्चे आप्त-आगम-तपोभृत हैं उन पर आस्था करो। सत्यार्थ-बोध के बिना अपनी आस्था प्रकट करना, यह स्व की अज्ञानता है। अपनी विज्ञता व अज्ञता व्यक्ति स्वयं ही प्रकट कराता है। पर तो पर हैं, वे निमित्त मात्र हैं। निमित्तों पर कर्तापन का आरोप होता है, कार्य तो निज उपादान में ही होता है। संसार-भ्रमण, संसार-मुक्ति ये दोनों ही आत्म-पुरुषार्थ से होते हैं। सम्यक्त्वधर्म भी आत्मविशुद्धि से ही फलित होता है, अन्य कारण तो पराश्रय हैं, भिन्न हैं, साक्षात् कारण तो आत्म-परिणाम ही है। इसी प्रकार से ज्ञान एवं चारित्र में समझना चाहिए।

24

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

कम्मं

(कर्म)

1. जीवो जं पि सुहासुह-किरियं करेदि, सा कत्ताजीवस्स कम्मस्स य बोहं पि कारेदि। कत्ता-कम्माणि विणा वीसा कावि किरिया संभवा णत्थि। पत्तेग-जीवदव्वं सग-कत्ता-कम्म-किरिया-अहियारी, अवरस्स कत्तत्तं किरिया कम्मत्तं च सगसुह-दुह-हेदू णत्थि। जो जीवो दुक्ख-सुहाणि वेदेदि, सो णियप्पस्स कत्ता-कम्म-किरियाए बंध-कम्माणं दुक्ख-सुह-भोत्ता जीवो त्थि, कत्ता सगस्स सगो त्थि दु भोत्ता वि जीवो सग-कम्माणं सगो हि अत्थि। अवरकिद-कम्माणि अवरं सुह-दुक्खाणि किमु दिंसेहिंति?

1. जीव जो भी शुभ-अशुभ क्रिया करता है वह कर्ता-जीव तथा कर्म का भी बोध करा देता है। बिना कर्ता एवं कर्म के विश्व में कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। प्रत्येक जीव-द्रव्य स्व के कर्ता-कर्म-क्रिया का अधिकारी है, पर का कर्तापन क्रिया कर्मपना स्व के सुख-दुःख का हेतु नहीं है। जो प्राणी दुःख-सुख का वेदन करता है वह स्वात्मा के कर्ता-कर्म-क्रिया से बंध किए हुए कर्मों के दुःख-सुख का भोक्ता जीव है, कर्ता स्वयं का स्वयं है, तो भोक्ता भी जीव स्वयं के कर्मों का स्वयं ही है। पर- कृत कर्म पर को सुख-दुःख क्यों देंगे?

---

2. सगो हि कम्मं कुणेहि, कत्ता अवरं भासेहि; एवमेव महामूढत्तं। अण्ण-दव्वं अण्णदव्वस्स सुह-दुह-कत्ता ण होदि, सगस्स उवादाणं सगे हि होदि, ण दु अवरम्हि॥

2. स्वयं कर्म करे, कर्ता किसी को कहे यही महामूढ़ता है। अन्य-द्रव्य अन्य-द्रव्य के सुख-दुःख का कर्ता नहीं होता, स्व का उपादान स्व में ही रहता है, पर में नहीं।

---

3. अवरकिद-कम्माणि अवराणं होंति, ताणि कम्माणि सगत्तो भिण्ण-पुरिसस्स सुह-दुह-कारणाणि णवि होंति। मूढो अवरस्स सुह-दुहेसुं सग-कत्तत्तं संवट्टित्ता सग-अण्णाण-पयारं किच्चा लोए हस्स-पत्तं सिज्झदि॥

3. परकृत कर्म पर के ही होते हैं, वे कर्म स्व से भिन्न पुरुष के सुख-दुःख के कारण नहीं होते। अज्ञ प्राणी पर के सुख-दुःख में स्वकर्तापन को स्थापित कर स्व की अज्ञानता का ही प्रचार कर लोक में हास्य का पात्र बनता है।

---

4. जदि सुहासुह-कम्मादो आदरक्खा-भावो त्थि, दु सुहासुहकिरिया-परिणामादो पडिक्खणं आद-रक्खणं कुणेहि॥

4. शुभाशुभ कर्मों से आत्मरक्षा का भाव है; तो शुभाशुभ क्रिया एवं परिणामों से प्रतिक्षण आत्मरक्षा करो।

---

5. कम्मपीडिदं जीवं दट्ठूणं मा हसेहि, तुज्झ हसणेण तं पीडा-कट्ठं च अहिगं होहिदि, इमा वि माणसिग-हिंसा अत्थि। जो सग-परस्स ण करेदि माणसिग-हिंसं, सो हि भव्ववरो कम्मबंधादो सगीय-रक्खणं करेदि॥

5. कर्म से पीड़ित प्राणी को देखकर हास्य मत करो, आपकी हसी से उसे और अधिक कष्ट होगा, पीड़ा होगी, यह भी मानसिक हिंसा है। जो स्व-पर की मानसिक हिंसा नहीं करता वही भव्यवर कर्म-बंध से अपनी रक्षा करता है।

---

6. कम्मविवाग-काले कम्मबंध-चिंतणं पि करेहि, जदि असुहबंधं ण करीअ दु असुहोदयो कहं आगमेज्जा? असुहोदय-काले वि चिंतणं कुण णेव रोदणं, सगेण असुह-कम्मबंधं ण करीअ दु संपडि उदए किमु आगमेज्जा? तुज्झ कम्म-विवाग-कारणं तुमं सयं हि, णेव अण्णो॥

6. कर्मविपाक के काल में कर्मबंध का भी ध्यान रखो, अशुभ-बंध न किया होता तो अशुभ-उदय कैसे आया? अशुभ-उदय के काल में भी रुदन नहीं चिंतन करो, अशुभ-बंध स्वयं कर्मों का न किया होता तो सम्प्रति उदय में क्यों आता? तुम्हारे कर्म-विपाक का कारण अन्य नहीं, तुम स्वयं ही हो।

---

7. पुग्गल-पिंडभूद-कम्माणवग्गणाओ उवादाण-दिट्ठीए सयमेव कम्मरूवाओ परिणमेंति, किण्णु णिमित्त-दिट्ठीए जीवस्स परिणामा होंति णिमित्त-भूदा। जीव-परिणामा ण होदु हेदवो दु कदावि कम्म-वग्गणाओ कम्मरूवाओ ण परिणमंतु, एरिसो सिद्धंतस्स तेयालिग-णियमो; तम्हा कम्मविवागभयभीद-पुरिसस्स सग-भाव-कम्मेसुं च वज्झेज्जा॥

7. पुद्गल-पिण्ड कार्माण-वर्गणा उपादान-दृष्टि से स्वयं ही कर्मरूप परिणत होती है, परन्तु निमित्त-दृष्टि से देखें तो जीव के परिणाम निमित्त हैं। जीव परिणाम हेतु न बनें तो कर्मवर्गणा कभी भी कर्मरूप परिणत न हों, ऐसा सिद्धांत का त्रैकालिक नियम है, इसलिए कर्मविपाक से भयभीत पुरुष को स्व भाव-कर्म पर नियंत्रण रखना चाहिए।

---

8. सग-परिणामा हि जीवस्स सुहासुह-कम्मासव-बंध-कारणाणि, णेव परस्स भावा। बंधो होहिदि दु उदयो वि आगमेहिदि। जदि उदय-काले जीवो सग-भावं ण संभालेदि दु पुणो णव-णव-आसवबंधं च लहिस्सदि। जीवस्स सग-भाव-रक्खणस्स पडिक्खणं हि सेयं गंभीर-उज्जमं। विणा भावकम्म-णिरोहेण दव्वकम्म-णिरोहो असंभवो॥

8. पर के भाव नहीं स्वयं के परिणाम ही जीव को शुभाशुभ कर्मास्रव एवं बंध के कारण हैं। बंध होगा तो उदय भी आएगा। उदयकाल में यदि जीव स्वपरिणाम को सँभाल नहीं पाया तो पुनः नवीन आस्रव-बंध को प्राप्त करेगा। जीव को स्व-भावों को सँभालने का गंभीर पुरुषार्थ प्रतिपल करना ही श्रेयस्कर है। बिना भाव-कर्म निरोध के द्रव्य-कर्मों का निरोध सम्भव नहीं है।

---

9. जो वि जीवो लोए साहणा-मग्गं भजेदि, सा साहणा जदि परिणाम-विसुद्धीदो होहिदि दु सयल-साहणा कम्मक्खय-साहणं होहिदि। किंचण साहणा असुह-कम्मक्खयं हि करेदि, किंचण साहणा मेत्तं असुह-णिरोहं कारेदि, किंचण विसिट्ठ-साहगस्स विसिट्ठ-साहणा विसिट्ठ-रूवेण सुहासुहकम्मक्खयं कारेदि॥

9. लोक में जो भी जीव साधना के मार्ग को प्राप्त हो रहा है वह साधना यदि परिणाम विशुद्धि पूर्वक होगी तो संपूर्ण साधना कर्मक्षय का साधन बनेगी। कुछ साधना अशुभकर्म का ही क्षय कर पाती है, कुछ साधना अशुभ मात्र का निरोध कराती है, कुछ विशिष्ट साधक की विशिष्ट-साधना विशिष्ट रूप से शुभाशुभ कर्मों का क्षय करा देती है।

---

10. परमट्ठेण कम्म-परिणमणं सुतंतं तहा अप्प-परिणमणं सुतंतं। कम्माणि सगीय-जोग्गदाए परियट्टेंति तदा आदा संसारे सगीय-विभाव-सत्तीय भमेदि। ववहारेण जीव-परिणाम-णिमित्तेण कम्माण-वग्गणा कम्मरूवा परिणमेदि तहा कम्म-णिमित्तेण जीवो संसारे हिंडेदि, एरिसो णिमित्त-णेमित्तिग-संबंधो॥

10. परमार्थ से कर्म का परिणमन स्वतंत्र है और आत्मा का स्वतंत्र। कर्म अपनी योग्यता से परिणमन कर रहे हैं तथा आत्मा संसार में स्वकीय विभाव-शक्ति से भ्रमण कर रही है। व्यवहार-दृष्टि से जीव के परिणामों के निमित्त से कार्माण वर्गणा कर्मरूप परिणत हो रही है और कर्म के निमित्त से जीव संसार में भ्रमण कर रहा है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है।

---

11. लोए पुग्गल-भमणं कालाधीणं तहा जीव-भमणं कम्माधीणं। एरिसा विवत्था जीव-पुग्गलाणं तेयालिगा, सगकिदा ण दु ईसरकिदा॥

11. लोक में पुद्गल का भ्रमण कालाधीन है और जीव का भ्रमण कर्माधीन, ऐसी व्यवस्था जीव और पुद्गल की त्रैकालिक है, ईश्वर-कृत नहीं स्व-कृत है।

---

12. मूढो कम्मोदय-कम्मबंध-सत्तादिं अजाणंतो लोए भूद-पेदादि-उवासणाए सगीय-अमुल्ल-समय-सद्धा-वयं करेदि, जदि वि संसार-सुहदुक्खाणि कम्म-विवागा, जो सगेण पुव्वकिदं कम्म-परिणामो, अवर-भूद-विंतर-फलं णत्थि। विंतरादी वि सुह-दुक्खे णिमित्ताणि होंति, तं पि पुव्वकिद-सगकम्मोदय-परिणामो हि जाणेहि॥

12. अज्ञ प्राणी कर्मोदय, कर्मबंध, सत्वादि को न जानता हुआ जगति पर भूत-प्रेतादि की उपासना में अपना अमूल्य समय एवं श्रद्धा का व्यय करता है, जबकि संसार के सुख एवं दुःख कर्म विपाक हैं, जो कि स्वयं के द्वारा पूर्वकृत-कर्म का ही परिणाम है, अन्य किसी भूत-व्यन्तर का फल नहीं। व्यन्तरादि भी सुख-दुःख में निमित्त बनते हैं तो वह भी पूर्वकृत स्वकर्मोदय का ही परिणाम जानो।

---

13. कम्मसिद्धंतस्स बोहाभावे जीवो संसारे विविह-किलेसं लहेदि तहा मिच्छा-अट्ठाए णिमज्जित्तु सम्मत्त-णासं कुणेदि॥

13. कर्म-सिद्धांत के बोध के अभाव में जीव संसार में अनेक प्रकार के क्लेश को प्राप्त कर रहा है और मिथ्या-आस्था में डूबकर सम्यक्त्व का नाश कर रहा है।

---

14. असुहकम्मोदए संतजीवणं सेयोयरं, णवरि तदा जं पि उज्जमं करिहिसि तम्हि अणुत्तिण्णत्तं हि भजेहिसि। पहु-भजणं कुणेहि, असुह-किरियादो आदरक्खणं कुणेहि, रयणत्तयावलंबणं गेज्झेहि, संकप्प-वियप्प-जालादो णिय-रक्खणं कुणेहि। असुहो वि सुहरूवे परियट्टेज्जा। सव्वाणि दिणाणि सरिच्छाणि ण होंति, सव्वस्स दिणाणि वि सरिच्छाणि ण होंति; एरिसो पयडि-सणादण-धम्मो॥

14. अशुभ-कर्मोदय पर शान्त जीवन जीना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उस समय जो भी पुरुषार्थ करोगे उसमें अनुत्तीर्ण ही होना पड़ेगा। प्रभु भजन करो, अशुभ-क्रियाओं से आत्मरक्षा करो, रत्नत्रय धर्म का आलम्बन लो, संकल्प-विकल्प की ज्वालाओं से सुरक्षित रहो। अशुभ भी शुभरूप में परिवर्तित हो जाएगा। सब दिन एक से नहीं होते, सबके दिन भी एक से नहीं होते, ऐसा प्रकृति का सनातन धर्म है।

---

15. पुण्णकम्मस्स उदयम्हि सग-सुरक्खणं आवस्सगं, णवरि तदा संपुण्ण-विसय-सामग्गीओ सुलहत्तेण भजेदि। तदा तम्हि णवि लिप्पेज्जा। विरत्तचित्तेण पावत्तो आदरक्खणं किच्चा सगीय-पुव्वकिद-पुण्ण-रक्खणं, णवीण-पुण्ण-बंधणं, जिण्ण-पावकम्मणिज्जरणं च णाणीणं उचिद-कज्जं॥

15. पुण्य कर्म के उदयकाल में स्वयं को सँभालकर रखना अनिवार्य है, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण विषयों की सामग्री सुलभता से प्राप्त हो जाती है। उस समय उसमें लिप्त नहीं होना। विरक्त चित्त से पापों से आत्मरक्षा कर अपने पूर्वकृत पुण्य को सुरक्षित रखना, नवीन पुण्य का बंध करना, जीर्ण पापकर्म की निर्जरा करना, ज्ञानीजनों का यही श्रेयस्कर कार्य है।

---

16. आदधम्म-रक्खणं ते हि भविया करेंति, जे कम्मबंधोदय-पीडं जाणेंति। णियभावेसुं णेव वयणेसुं। जं असुहकम्मादो दुग्गदि-वीसासो सुहकम्मादो सुगदि-वीसासो दिढ-अट्ठा य तहा जो चदुग्गदि-सत्तं जाणेदि, सो खलु संसार-भमणादो होदि भयभीदो त्ति॥

16. आत्मधर्म की रक्षा वे ही भव्य जीव कर पायेंगे जो कर्म-बंध एवं कर्म-उदय की पीड़ा को समझते

हैं। वचनों में नहीं, निज भावों में। जिसे अशुभ-कर्मों से दुर्गति और शुभ-कर्मों से सुगति का विश्वास है, दृढ़ आस्था है तथा चारों गतियों की सत्ता को जो जानता है वही संसार के भ्रमण से भयभीत हो सकता है।

---

17. कम्मोदय-तिव्वदाए जीवो विवेग-सुण्णो उम्मत्तमिव होदि, हेयोवादेयम्हि लक्खं ण करेदि। जहा मणे आगमेदि, तहेव कज्जं करेदि। तं अणत्थं पच्छा अत्थ-णाणं होदि, तावं सव्वणासो होदि॥

17. कर्मोदय की तीव्रता में जीव विवेक-शून्य उन्मत्तवत हो जाता है, हेय-उपादेय पर तो लक्ष्य ही नहीं ले जाता। जैसा मन में आता है वैसा कार्य करता है। अनर्थ के बाद उसे अर्थ की सुध आती है, तब तक सब नष्ट हो चुका होता है।

---

18. मूढो कम्मोदयं पस्सित्ता रोच्छेदि, हद्धि हद्धि करेदि। मज्झम्हि महावेदणाकट्ठं च आगमेज्जा, णं इदं कट्ठं देयमाणं को त्थि, इदं ण विचिंतेदि? ईसरो परमप्पा विही बंभो य अरे! अवरो णो कोवि ईसरो, कम्मोदयो कम्मबंधं विणा ण आगमेदि। कम्म-बंधं अण्णेण ण किदं, सगस्स कम्मकत्ता य जीवो सयं हि अत्थि, विहा अण्णं मा देहि दोसं॥

18. अज्ञ प्राणी कर्मोदय को देख-देख रोता है, हाय-हाय करता है। मेरे ऊपर महाकष्ट, महावेदना आ गई है, पर यह नहीं विचारता है कि इस कष्ट को देने वाला कौन है? ईश्वर, परमात्मा, विधि, ब्रह्म, अरे भाई! अन्य कोई ईश्वर नहीं है, कर्मोदय कर्म बंध के बिना नहीं आता। कर्म बंध अन्य ने नहीं किया, स्वयं का कर्म, कर्ता जीव स्वयं है, व्यर्थ में पर को दोष मत दो।

---

19. कम्मसिद्धंत-बोहो जीवचिंतणं सउचं सिरेदि। जो पुरिसो सग-सुह-दुह-कत्ता अण्णं पस्सीअ, सो सगं पस्सेदि, सग-अणादि-अविज्जाचागं किच्चा सुतंतदा-वेदणं करेदि। तं होदि णिण्णयो बंधं सगेण किदं तु कम्मफलं पि सयं भुंजेज्जा तहा कम्मणासो वि सगोज्जमेण सयं हि करेज्जा। अवरो कोवि पुरिसविसेसो परमप्पा य मे सुह-दुह-कत्ताभोक्ता णत्थि। इदं पुण्ण-धुव्वसच्चं, सेसं तु जो त्थि सो त्थि॥

19. कर्म सिद्धान्त का बोध व्यक्ति की सोच को शौच बना देता है। जो पुरुष अपने सुख व दुःख का कर्ता अन्य को देखता था वह स्वयं को देखना प्रारम्भ कर देता है, स्व अनादि-अविद्या का त्याग कर स्वतंत्रता का वेदन करने लगता है। उसे निर्णय हो गया कि बंध स्वयं ने किया था तो कर्मफल भी स्वयं ही भोगना होगा

तथा कर्मनाश भी स्वयं के पुरुषार्थ से स्वयं ही करना होगा। अन्य कोई पुरुष विशेष या परमात्मा मेरे सुख व दुःख का कर्ता-भोक्ता नहीं है। यह बात पूर्ण ध्रुव सत्य है, शेष तो जो है सो है।

---

20. भवियो सगीय-कम्मफलं सगासिदं गेण्हेदि, बंध-णिज्जरा-विहाणं चावि जाणेदि कम्मबंध-हेदूदो आदरक्खा-उवायं गवेसेदि एवं कम्मणिज्जरा-मोक्खोवायस्स य पुण्णुज्जमं च करेदि। भाव-दसाए पडिक्खणं तच्च-चिंतणं करेदि॥

20. भव्य प्राणी स्वयं के कर्मफल को स्वाश्रित ही स्वीकारता है तथा बंध-निर्जरा के विधान को भी जानता है। कर्म बंध के हेतुओं से आत्म-रक्षा का उपाय खोजता है, साथ ही कर्म-निर्जरा तथा मोक्ष-उपाय का पूर्ण पुरुषार्थ करता है। भावों की दशा पर प्रतिक्षण तत्त्वचिंतन करता है।

---

21. जीवस्स सुह-दुक्खे कम्मं हि णिमित्तं, तमेव विहि-बंभ-ईसर-भगवद्-परमप्पा-विहु-देव-भग्ग-विरंचि-किदंत-णियदि-जम-सहाव-काल-गेह-आदि-णामेहिं जाणदे। अवरा केवि विहु-ईसर-परमप्पा य जीवाणं दुह-सुहाणि ण देंति, इदं सणादण-सच्चं॥

21. जीव के सुख-दुःख में कर्म ही निमित्त है, उसे ही विधि, ब्रह्म, ईश्वर, भगवान्, परमात्मा, विभु, दैव, भाग्य, विरंचि, कृतांत, नियति, यम, स्वभाव, काल, गृह आदि नामों से जाना जाता है। अन्य कोई विभु, ईश्वर या परमात्मा प्राणी के लिए दुःख-सुख प्रदान करने नहीं आते, यह सनातन-सत्य है।

---

22. पावकम्मासवत्तो आदरक्खा-भावा दु णिरत्थग-पावकम्माणि बुद्धीदो चत्तेज्जा। एरिसाणि कम्माणि मा कुण जाणि आदविसुद्धीदो अण्णेण ण भासेज्जा, एरिसाणि कम्माणि कुणेहि जेसिं भासणे ण थंभेदि, ण विसुद्धि-णासो, ण दु कुल-कलंकिदो तहा णेव पावासवो च होज्जा॥

22. पाप कर्मास्रव से आत्मरक्षा के भाव हैं; तो व्यर्थ के पाप कर्मों का बुद्धिपूर्वक त्याग कर देना चाहिए। ऐसे कर्म मत करो जो आत्मविशुद्धि पूर्वक किसी से नहीं कह सको, ऐसे कर्म करो जिनके कहने में न रुको, न विशुद्धि का नाश हो, न कुल में कलंक लगे और न ही पाप का आस्रव हो।

---

23. सग-चित्तं जं सहसा ण मुणेदु, तमेव दु पावकम्मं। चित्तं णीरमिव अत्थि। गहण-णीरं सग-

मज्झादो पंक-माणवादि-जीवाणं वग्गावेदि, तहेव असुह-कम्माणि चित्तं वग्गावेदि; पुणो साहग-चित्तं सच्छं होदि॥

23. स्वयं का ही चित्त जिसे सहसा न स्वीकारे वही तो पाप कर्म है। चित्त पानी तुल्य है। गहरा पानी मध्य में से कचड़े को या मनुष्यादि प्राणियों को उछाल देता है, उसी प्रकार अशुभ-कर्मों को चित्त उछाल देता है, फिर साधक का चित्त स्वच्छ रहता है।

---

24. कुण एरिसं कम्मं जेण होदु अब्भुदय-णिस्सेयस-सिद्धी। जेण असुह-कम्म-बंधो होदु, उहयलोए पीडालाहो होदु, अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाभावो होदु तहा जगदीए परिहासो होदु; तं कम्मं कदावि मा कुणेहि॥

24. ऐसा कर्म करो जिससे अभ्युदय-निःश्रेयस की सिद्धि हो। वह कर्म कभी मत करो जिससे अशुभ-कर्म का बंध हो, उभयलोक में पीड़ा की प्राप्ति हो, जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों ही सुखों का अभाव हो और जिससे जगति पर हसी हो।

---

25. असुहबंधो दु विग्गहेदूणं फलेदि, णं जीवो लोए असुह-बंध-जोग्गं जं किरियं करेदि, सा दु लोए झत्ति पयारिदा होदि; पुणो सा पसत्था अपसत्था य होदु पयारो तु होदि। पसत्थावेक्खाए अपसत्थ-पयारो तिव्वगदीए होदि॥

25. अशुभ का बंध तो विग्रह करके फलित होता है, परन्तु अशुभ-बंध के योग्य लोक में जो जीव क्रिया करता है; वह तो लोक में शीघ्र ही प्रचार को प्राप्त हो जाती है, चाहे वह प्रशस्त हो अथवा अप्रशस्त, प्रचार तो होता ही है। प्रशस्त की अपेक्षा अप्रशस्त का प्रचार और द्रुतगति से होता है।

---

26. परभावादो सगस्स तहा सगादो परभावाणं कत्तत्तं कम्मबंधस्स मुक्ख-कारणं। कत्तत्तेण हि जीवो मिच्छत्त-अविरदि-पमाद-कसाय-जोगेसुं पउत्तेदि। कत्ता-भावस्स अंतरंगादो अभावो होदु तहा जीवो सग-पउत्तिं तदणुऊलं करेदु, दु णूणं तिलोक्कपदि-पदे उवसोहेदु॥

26. परभावों से स्वयं का और स्वयं से पर भावों का कर्तापन कर्मबंध का प्रधान-कारण है। कर्तापन से ही जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग में प्रवृत्ति करता है। कर्तापन का अंतरंग से अभाव हो जाए और तदनुकूल प्राणी अपनी वृत्ति कर ले तो निश्चित ही त्रिलोक्यपति पद पर विराजमान हो जाए।

---

27. कम्मसहिदो संसारो कम्मरहिदा मुत्ती य। पुरिसत्थो पुरिस-हत्थेसुं। सग्ग-मोक्ख-णर-णारय-तिरियादि-अवत्थाओ माणवस्स विसुद्धि-संकिलेसदाए आलंबिदाओ संति, सग-पुरिसस्स पुरिसत्थे णिब्भराओ॥

27. कर्म सहित संसार है, कर्म रहित मुक्ति। पुरुषार्थ पुरुष के हाथ है। स्वर्ग-मोक्ष, नर-नारक, तिर्यंचादि अवस्थाएँ मानव की विशुद्धि व संक्लेशता पर आलंबित हैं, स्व-पुरुष के पुरुषार्थ पर निर्भर हैं।

---

28. जदि जीवो अंतोमुहुत्त-काल-परिणामा रक्खेदि, दु दिग्घकालपज्जंतं संसारादो कम्मोदय-कारणभूदाणं घणघोर-संकड-दंसणं ण करिस्सदि। कसाय-तिव्वदाए भोग-लिच्छाए य जीवं सच्चत्थ-दंसणं ण होदि। फलदो जीवो विसएसुं भावुगो होदूणं असुहकम्मं किच्चा असुहकम्मबंधं बंधित्ता चिरकालं संसारे महादुक्खाणि भजेदि॥

28. अन्तर्मुहूर्त काल के परिणामों को जीव सँभाल ले, तो दीर्घकाल तक संसार से कर्मोदय के कारणभूत घनघोर संकटों का दर्शन करना न पड़े। कषाय की तीव्रता एवं भोगलिप्सा व्यक्ति को सत्यार्थ के दर्शन नहीं होने देती है, फलतः जीव विषयों में भावुक होकर अशुभ-कर्म करके, अशुभ-कर्म के बंध बांधकर चिरकाल तक संसार में महा-दुःखों को प्राप्त होता है।

---

29. वासणा होदि कूरा, सा जीवं असुह-किच्चेसुं संलग्गिय संसारे महादुहिं करेदि। वासणा-लीण-जीवाणं णियप्पम्हि दु करुणा आगमेदव्वा॥

29. वासना क्रूर होती है; जो जीव को अशुभ-कृत्यों में लगाकर संसार में महादुःखी बनाकर रखती है। वासना में लीन जीवों को कम-से-कम स्वात्मा पर तो करुणा आना चाहिए।

---

30. जीवं संसारे बंधमाणा सत्ती कम्मं हि अत्थि तहा कम्ममुत्ते सदि आदा सिद्धत्तं लहेदि॥

30. कर्म वह शक्ति है, जो जीव को संसार में बांधकर रखती है और कर्म से मुक्त होते ही आत्मा सिद्धत्व को प्राप्त करता है।

---

31. एगहुत्तं पि किदं असुहायरणं जीवस्स मिच्छाभासण-भावा य जादावेदि। जगदीए

मिच्छाभावो कम्माणं विसालसेणं णिप्पादेदि। जदि असुह-कम्म-बंधादो भयो दु असुहायरण-भावादो णियं विरलेहि॥

31. एक बार भी किया गया अशुभ-आचरण जीव को मिथ्या-भाषण, मिथ्या-भावों को उत्पन्न करा देता है। जगति पर मिथ्या-भाव कर्मों की विशाल सेना खड़ी कर देता है। अशुभ-कर्मों के बंध से भय है, तो अशुभ-आचरण एवं अशुभ-भावों से निज को भिन्न करो।

---

32. आद-सुतंतदाए चिंतणं मणणं च जीवं कम्मत्तो सुतंतस्स सक्कारं दिंतेदि। चिंतणधारा-अणुऊला जीवस्स जीवण-धारा रयेदि। सेट्ठ-चिंतणं सेट्ठ-जीवणं॥

32. आत्म-स्वतंत्रता का चिंतन-मनन व्यक्ति को कर्मों से स्वतंत्र होने का संस्कार प्रदान करता है। चिंतन की धारा के अनुकूल व्यक्ति की जीवन-धारा निर्मित होती है। श्रेष्ठ-चिन्तन, श्रेष्ठ-जीवन।

---

33. जदि जीवस्स आद-पुरिसत्थो पबलो दु कम्माणि वि पयल्लंति जह मऊरज्झुणीए सप्पा पयल्लंति। तम्हा आदविसुद्धि-पुव्वगं लोगिग-कज्जादो अपहावित्ता मोक्खमग्गे अहिरमणं, पत्तेग-भव्व-जीवस्स कत्तव्वं॥

33. जीव का आत्म-पुरुषार्थ प्रबल है, तो कर्मों को भी शिथिल होना पड़ता है। मयूर की आवाज से सर्प शिथिल हो जाते हैं, इसलिए प्रत्येक भव्यजीव का कर्तव्य है कि वह आत्मविशुद्धि पूर्वक मोक्षमार्ग में लीन रहे, परन्तु लौकिक कार्यों से अप्रभावित रहकर।

---

34. तच्च-णिण्णय-पुव्वगं तच्चण्हू हि वत्थुणो वत्थुत्तं जाणित्ता, समूलकम्मक्खयं किच्चा, अणादि-अविज्जा-रित्तो होदूणं, आदविज्जा-बलेण कम्मरिवुक्खयं किच्चा, सदा परमाणंद-अणुहवं किच्चा; सिवसुहं णिब्बाह-रूवेण वेदेदि॥

34. तत्त्व-निर्णय-पूर्वक तत्त्वज्ञानी जीव ही वस्तु के वस्तुत्व को समझकर समूल-कर्मों का क्षय कर, अनादि-अविद्या से रिक्त होकर आत्मविद्या के बल से, कर्मरिपु का क्षय कर, सदा परमानन्द का अनुभव कर शिव-सुख को निर्बाध्य वेदता है।

---

35. कम्मोदयो णूणं आगमेदि; इमस्स णाणं किच्चा जीवं कम्मं कादव्वं। जं सुहासुहकम्मं वयं करेमो वट्टमाणे तं वट्टमाणस्सेव अत्थि, एरिसं मा मुणेहि। इमा तुडी, णवरि भविस्से वट्टमाण-किद-कम्मबंधो हि उदए आगमेहिदि, पुणो रोच्छेहिदि। अहो पण्ण! वट्टमाणे कुण पसत्थ-कम्मं, जेण भावीकाले णयणादो णीरं ण आगमेदु॥

35. कर्म का उदय आता है इस बात का ध्यान रखते हुए जीव कर्म करे। ऐसा मत समझ लेना कि जो शुभाशुभ हम कर रहे हैं वर्तमान में, वह वर्तमान का ही है। यह भूल है, क्योंकि भविष्य में वर्तमान में किया गया कर्मबंध ही उदय में आएगा, फिर नयनों से नीर बहेगा। अहो प्रज्ञ! वर्तमान में प्रशस्त कर्म करो; जिससे भावी काल में आँखों से पानी न आए।

---

36. अणावस्सग-कज्जेहिं जीव अहिग-कम्मासव-बंधं च कुणेदि। विसयकसाय-परपदत्थाणं णूणत्तं करंतं चत्तेज्जा। इंदियाणि होंति सिढिलाणि, सरीर-मणो होदि संतो, पुणो वि जीवो विसणे सक्कारवसादो विसयकसायरूव-पावपरिणाम-किरियासु रमित्ता कूरकम्मबंधं किच्चा भवे-भवे किलेसपत्तं होदि॥

36. अनावश्यक कार्यों से जीव अधिक कर्म का आस्रव-बंध कर लेता है। विषय-कषाय एवं पर पदार्थों की न्यूनता करते हुए त्याग करना चाहिए। इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, शरीर-मन श्रान्त है, फिर भी जीव व्यसन एवं संस्कार-वश विषय-कषाय रूप पाप-परिणाम एवं पाप-क्रिया में लीन रहकर क्रूर कर्मों का बंध कर भव-भव में क्लेश का पात्र बनता है।

---

37. जीवणे जदि संसारस्स किलेसादो मुत्ति-भावणा दु परमप्पा-सग्गुरूणं उवएसो त्थि— दिढत्तेण पावासव-णिरोहिणी-संवर-णिज्जरा-वड्ढिणी-संजमसमदायरी-चरियं गेण्हेहि, सम्म-संगदि-साहिच्च-खेत्तासयं गेण्हेहि, जेण पावकम्मादो आदरक्खा होज्जा॥

37. जीवन में संसार के क्लेशों से मुक्ति की भावना है तो परमात्मा एवं सद्गुरु का यही उपदेश है कि दृढ़तापूर्वक पापास्रव निरोधिनी, संवर एवं निर्जरा-वर्धनी संयम-समताकरी चर्या को स्वीकार करो, सद्-संगति, सद्-साहित्य, सद्क्षेत्र का आश्रय लो, जिससे पापकर्म से आत्मरक्षा हो सके।

25

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

अप्पमादो

(अप्रमाद)

1. कुसल-कज्जेसुं अणालस्स-भावो, उस्साहेण पत्तेग-धम्मिग-अणुट्ठाणं पुण्णकरणं, पण्णरस-पमादादो पडिक्खणं आदरक्खणं अप्पमादो। इमत्तो विवरीदा कुसल-पुण्ण-कज्जेसुं आलस्स-वट्टणं-संवेगभाव-सुण्णकिरिया य पमादो॥

1. कुशल कार्यों में आलस्य नहीं करना, उत्साहपूर्वक प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान को पूर्ण करना, पन्द्रह प्रमादों से प्रतिक्षण आत्मरक्षा करना 'अप्रमाद' है। इससे विपरीत कुशलकार्य अर्थात् पुण्य-कार्यों में आलस्य वर्तना, संवेग भाव-शून्य क्रिया करना 'प्रमाद' है।

---

2. पमादिं कस्सचिदवि वत्थुस्स सम्मोवलद्धी ण होदि, पमादे हेयोवादेय-विवेगणाणं पि ण होदि। पडिक्खणं पमादी उम्मादरदो होदि, सो करेदि विवेग-भावघादं च। जीवस्स घोररिवू पमादो॥

2. प्रमादी को किसी भी वस्तु की समीचीन उपलब्धि नहीं होती, प्रमाद में हेय-उपादेय के विवेक का भी भान नहीं रहता। प्रमादी प्रतिक्षण उन्माद में लीन रहता है, वह विवेक-भाव का तो घात ही कर लेता है। प्रमाद जीव का घोर शत्रु है।

---

3. जे पुरिसा अहोणिसं पमादे सुत्ता, ते लोगिग-पारमट्ठिग-उहय-उण्णदिं णस्संति। पमादो उण्णदिक्खयं कारेदि। जे पमादं चत्तिय सदा जग्गेंति, तेसिं होदि विगासो। तेसिं सिरि-चरणेसुं संसारस्स सयल-वेहवं णमंसेदि॥

3. जो पुरुष दिन-रात प्रमाद में सुप्त से रहते हैं; वे लौकिक एवं पारमार्थिक उभय-उन्नति का नाश करते हैं। प्रमाद उन्नति का क्षय कराता है। विकास उनका होता है, जो प्रमाद का त्याग कर सदा जाग्रत रहते हैं। उनके श्रीचरणों में संसार का सम्पूर्ण-वैभव सिर झुकाता है।

---

4. जे आदिच्चोदयस्स पच्छा पडिजग्गंति, ते जीवणे किं विगासं करिस्संति? जो गहेदि पमादासयं, सो होदि माणवत्त-सुण्णो। जो पमादं तज्जेदि, सो पुव्वज्जिद-कम्मक्खयं करेदि॥

4. जो सूर्योदय के उपरान्त उठते हैं; वे क्या जीवन में विकास कर पायेंगे? जो प्रमाद का आश्रय लेता है, वह मानवता-शून्य हो जाता है। जो प्रमाद का त्याग कर लेता है, वह पूर्वोपार्जित-कर्मों का क्षय कर देता है।

---

5. जह सुसावगो अभक्ख-अण्णाय-अणीदि-चागं करेदि, तह पण्णावंता पमादचागं करेंति। सग-संवेदणत्थं पमादो अभक्खमिव होदि। पमादो णियप्पस्स पुण्ण-अण्णायो, मोक्खमग्गे बाहगो य॥

5. प्रज्ञावन्त प्रमाद को ऐसे त्याग कर देते हैं जैसे सद्श्रावक अभक्ष्य, अन्याय, अनीति का त्याग कर देता है। प्रमाद स्व-संवेदन के लिए अभक्ष्यवत है। प्रमाद स्वात्मा के लिए पूर्ण-अन्याय है, मोक्षमार्ग में बाधक है।

---

6. जे इहपरलोए आदविगास-भावणं धरंति, ता पडिक्खणं भावेज्जा पमादचाग-भावणं। जे अप्पमादी होंति, ते हि लोए उच्चपदेसुं चिट्ठंति; पुण तं लोगिग-ठाणं होदु वा परमट्ठभूदं ठाणं॥

6. जो इहलोक एवं परलोक में आत्म-विकास की भावना रखते हैं, उन्हें प्रमाद के त्याग की भावना प्रतिपल भाना चाहिए। लोक में उच्चपदों पर वे ही बैठते हैं; जो प्रमादी नहीं होते। चाहे वह स्थान लौकिक हो, चाहे परमार्थभूत हो।

---

7. पमादे परमाणंदाणुभूदी ण होदि, आणंद-वेदणत्थं पमादो अग्गला अत्थि। परमाणंद-अणुहवणं अप्पमत्त-दसाए हि होदि, अप्पमत्तं विणा णो आदाणंद-लद्धी। पमादं उस्सार, परमाणंदं यच्छेहि॥

7. परमानन्द की अनुभूति प्रमाद में नहीं होती है, आनन्द के वेदन के लिए प्रमाद अर्गला है। परमानन्द का अनुभवन अप्रमत्त-दशा में ही होता है, अप्रमत्त हुए बिना आत्मानन्द नहीं मिलता है। प्रमाद हटाओ, परमानन्द पाओ।

---

8. पमाद-आलस्स-असुहविसणादो जदि एगस्स वि जीवणे सब्भावो दु जीवण-विगासो थंभेदि, पुणो जं समया तिण्णि हि संति; तस्स विगासो कहं कदो य संभवो? सयं चिंतेहि-अण्णस्स चिंतणं ण कस्सचिदवि वड्ढिकारणं अत्थि णेव हाणिस्स य॥

8. प्रमाद, आलस्य व अशुभ-आदत इन तीनों में से यदि एक भी जीवन में आ जाए तो जीवन का विकास रुक जाता है, फिर जिसके पास तीनों ही हैं उसका विकास कहाँ और कैसे सम्भव है? यह स्वयं ही सोचना पड़ेगा, पर का विचार न किसी की वृद्धि का कारण है न ही हानि का।

---

9. पेक्खावंतो सग-जीवण-विसए सयमेव णिच्छएंति तहा पमाद-पमादकारणत्तो पडिक्खणं आदरक्खणं करेंति; ते पगे-पगे खणे खणे सजगत्त-वट्टणं च करेंति। पण्णावंता पमादालस्सं च जीवणस्स विउल-दुग्घडणं मण्णेंति। तच्चणाणं तच्च-णिण्णयं च तेसिं पण-पाणा य। पमादीदो पमाददो य पुहुत्तं पेक्खावंतस्स मूलचिण्हं॥

9. प्रेक्षावान पुरुष स्व जीवन के बारे में स्वयं ही निर्णय लेते हैं और प्रमाद एवं प्रमाद के कारणों से प्रतिक्षण आत्मरक्षा करते हैं, पग-पग पर क्षण-क्षण में सावधानी का वर्तन करते हैं। प्रज्ञपुरुष आलस्य व प्रमाद को जीवन की एक बहुत बड़ी दुर्घटना मानते हैं। तत्त्वज्ञान, तत्त्वनिर्णय उनका प्रण व प्राण है। प्रमादी एवं प्रमाद से दूरी बनाकर चलना प्रेक्षावान की मूल-पहचान है।

---

10. अप्पमत्त-जीवणं वीसस्स पवित्तं जीवणं। जत्थ अप्पं परमप्पा-सिजणस्स सेट्ठ-जीवणं अत्थि, आदहिदभावे अखंडधुव-दिट्ठी तहा परभावादो भिण्ण-दिट्ठी अत्थि, तत्थेव आदहिदं॥

10. अप्रमत्त जीवन विश्व का पवित्र जीवन है। आत्मा को परमात्मा बनाने का श्रेष्ठ जीवन आत्महित भाव पर अखण्ड ध्रुव दृष्टि, परभावों से भिन्न दृष्टि जहाँ रहती है, वहाँ पर आत्महित है।

---

11. अप्पम्हि गदगद-भावो विवेगणाण-सब्भावे पयडेदि। विवेगणाण-सुण्णो वाद-कफ-पयडीए परिणद-देहवंतो य जीवो पडिक्खणं हीणभावणा-गसिदो होदि। आलस्स-पमादो तस्स संगं ण मुंचेदि, जेण कज्ज-खमदा णवि वड्ढेदि, इदं पमादस्स मूलकारणं। कज्ज-कुसलत्त-अभावे परमट्ठ-लोगिग-मग्गे हीणभावणारूव-किलेसदुक्खं पडिक्खणं लहेदि॥

11. आत्मा में गद्‌गद्-भाव विवेकज्ञान के सद्‌भाव में प्रकट होता है। विवेकज्ञान शून्य वात-कफ प्रकृति से परिणत शरीर वाला व्यक्ति प्रतिक्षण हीन-भावना से ग्रसित रहता है। उसका मूल कारण है कि आलस्य-प्रमाद उसका साथ छोड़ता नहीं है, जिससे कार्यक्षमता बढ़ती नहीं है। कार्य कुशलता के अभाव में परमार्थ एवं लौकिक उभय मार्ग में हीन भावना के क्लेश का दुःख प्रतिपल प्राप्त करता है।

---

12. कालकूड-विसादो वि अहिग-विसत्तं किंपि विसिट्ठ-विसं पमादो हीणभावणा य। जे हीण-भावणा-सहणे असमत्था, ते कादर-जीवणं जीविय मिदमिव जीवणं जीयंति। तेसिं समाय-देस-रट्ठेसुं णो किंपि मुल्लं, ते सव्वत्थ अवमाणं सहंति॥

12. कालकूट विष से भी अधिक विषाक्त कोई विशिष्ट विष है; वह प्रमाद और हीन-भावना है। जो हीन-भावना को सहने में असमर्थ होते हैं, वे कायर का जीवन जीकर मृत-तुल्य जीवन जीते हैं। उनकी समाज, देश, राष्ट्र में कोई भी कीमत नहीं होती है, उन्हें सर्वत्र अपमान सहना पड़ता है।

---

13. जो दुह-किलेसो य सत्तुणा ण होदि तत्तो अहिग-दुक्खं पमादो देदि। पमादो भवे भवे अप्पं पीडेदि। पमादो उण्णदि-मग्गदारे वि ण उट्ठावेदि। किं आदहिदं? सो इदं चिंतण-विसया णेव णिमिणेदि, विकहासुं संपेसेदि। कसायपहे णोदेदि। आदहिदुं कसायादो सग-रक्खणं कादव्वं, पमादं मुंचेदव्वं तहा विवेगं पबोहेदव्वं॥

13. जो दुःख व क्लेश शत्रु के द्वारा नहीं होता उससे अधिक दुःख प्रमाद देता है। प्रमाद भव-भव में आत्मा को पीड़ित करता है। प्रमाद जो है वह उन्नति मार्ग के द्वार पर भी खड़ा नहीं होने देता है। आत्महित क्या है? इसे तो विचार का विषय ही नहीं बनने देता है, विकथाओं में भेज देता है। कषाय के पथ पर धकेल देता है। आत्म-हितैषी को कषायों से अपनी रक्षा करना चाहिए, प्रमाद को छोड़ना चाहिए तथा विवेक को जाग्रत रखना चाहिए।

---

14. पमादाधीणस्स सगहिदभावणाए समयो णेव होदि। पमादादो सगीयं विच्छिंदेहि, साधीणदाए सुहं। पराधीणदाए सुहकप्पणा होदि, किण्णु सुहं णेव पसज्जेदि॥

14. जो प्रमाद के अधीन है उसे स्वहित भावना के लिए समय ही नहीं मिल सकता। प्रमाद से अपने आपको स्वतंत्र करो, स्वाधीनता में सुख है। पराधीनता में सुख की कल्पना हो सकती है, परन्तु सुख नहीं मिल सकता।

---

15. पमदाए पेम्म-पमादे कियत्तेण जीवेहिं पर-पाण-णासं सग-पाणणासं च किदं, महासंगामो वि हवीअ; तम्हा पमादचागो हि सेयो॥

15. प्रमदा के प्रेम प्रमाद में कितने जीवों ने पर-के प्राणों का नाश किया, कितनों ने स्व-के प्राणों का ही नाश कर लिया, महा-संग्राम हो गए, इसलिए प्रमाद का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

---

16. धम्म-धण-जसाण खए पबलकारणं णेह-पमादो य। जो वि विवेगसुण्णो होदूणं पर-इत्थीए णेहं भजेदि, तस्स धम्म-धण-जसो य खणमेत्ते विलिज्जेदि॥

17. धर्म-धन-यश तीनों के क्षय में प्रबल कारण स्नेह-प्रमाद है, जो भी व्यक्ति विवेक शून्य होकर पर-स्त्री पर स्नेह को प्राप्त होता है, उसका धर्म, धन एवं यश क्षण-मात्र में विलीन हो जाता है।

---

17. पण्णावंता पडिक्खणं जग्गित्ता जीयंति, ते विसयकसाय-मदिरादो कुणंति आदरक्खणं। किंणु हु कसायो, किं अणत्थं करेदु? अणियदं इदं। तम्हा कल्लाणेच्छुगा भवियप्पा पडिक्खणं पुरिसत्थं कादव्वा। अंतरंग-रूवेण वि जो विसय-कसायादो अपहाविदो सो हि सम्मं पण्णावंतो॥

17. प्रज्ञावन्त-पुरुष प्रतिक्षण जाग्रत होकर जीते हैं; वे विषय-कषाय की मदिरा से आत्मरक्षा करते हैं। कौन-सी कषाय, क्या अनर्थ करा दे? कुछ नियत नहीं, इसलिए कल्याणेच्छुक भव्यात्माओं को प्रतिक्षण पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। अंतरंग रूप से भी जो विषय-कषाय से प्रभावित नहीं होता; वही सच्चा प्रज्ञावन्त है।

---

18. पमादी-माणवो माणवत्तं विसरेदि। पमादस्स उम्मादो दिग्घकालपज्जंतं पहावी होदि।

परपदत्थाणं संजोग-विओगे किलेसबुद्धी, अयं णेह-पमाद-पहावो त्थि। पमाद-रत्त-पुरिसो परपदत्थेसु आदबुद्धिं तु करिज्जेदि, किण्णु पर-पदत्थाणि आदभूदाणि ण करिज्जेदि॥

18. प्रमादी-मानव मानवता को भूल जाता है। प्रमाद का उन्माद दीर्घकाल तक प्रभावी होता है। पर-पदार्थों के संयोग-वियोग में क्लेश-बुद्धि यह स्नेह-प्रमाद का ही प्रभाव है। प्रमाद में लीन पुरुष पर-पदार्थों में आत्म-बुद्धि तो कर सकता है, परन्तु पर-पदार्थों को आत्मभूत नहीं कर सकता है।

---

19. राग-पमादेहिं जीवो विगड-अणत्थं करेदि, कोडि-कोडि जीव-घादं च करेदि। जेण रागो आसी तं हि मारीअ। चिंतेहि-जीवेण रागो आसी वा वासणाए? जसकित्ति-कारणेण जीवो कस्सचिदवि घादं करेदि। वासणाए इच्छाए वधं करेदि। एगपावं गोवणत्थं अवर-पावं हिंसं करेदि। जं अणत्थ-मूलं एरिसं रागं धिगत्थु॥

19. राग-प्रमाद के कारण जीव बड़े-बड़े अनर्थ कर देता है, कोटि-कोटि जीवों का घात कर देता है। जिससे राग था उसे ही मार दिया। विचार करो, राग व्यक्ति से था या वासना से? यशकीर्ति के पीछे व्यक्ति किसी का भी घात कर देता है। वासना की चाह में वध कर देता है। एक पाप को छुपाने के पीछे दूसरा घोर-पाप हिंसा कर देता है, ऐसे राग को ही धिक्कार हो जो अनर्थों की जड़ है।

---

20. कियत्ता बाल-बाला-णेहेण णस्सीअ तहा कियत्ता हु बाला बालग-रागे णस्सीअ। अंधो होदि रागो, तत्थ धम्म-जस-कुल-जादि-पदादीणं गरिमा हि ण दीसेदि। मणुस्स-वित्ती सारमेयो व्व होदि। कामसेवी खण-मेत्ते सगस्स सव्वणासं किच्चा सोगं भजेदि॥

20. कितने बाल-बालाओं के स्नेह से नष्ट हो गए तथा कितनी ही बालाएँ बालों के राग में नष्ट हो गई। राग अन्धा होता है, वहाँ धर्म-यश-कुल-जाति-पद आदि की गरिता (गरिमा) तो दिखती ही नहीं है। मनुष्य की वृत्ति श्वान जैसी हो जाती है। कामसेवी क्षण-भर में अपना सर्वनाश कर शोक को प्राप्त होता है।

---

21. पमादी अवरे दोसं पस्सेदि, तं कहं तच्चस्स भूदत्थ-बोहो? सो सग-सुह-दुक्खं पर-णिमित्तेसुं गवेसेदि, जदि वि णिमित्तं तडत्थं, उवादाणं तु ससत्तं होदि; तम्हा रक्खेहि उवादाणं॥

21. प्रमादी पर में दोष देखता है, उसे तत्त्व का भूतार्थ-बोध कहाँ? स्वयं का सुख-दुःख पर-निमित्तों में खोजता है, जबकि उपादान सशक्त होता है निमित्त तटस्थ, इसलिए उपादान सँभालो।

---

22. उल्लसिद-भाव-पमादसुण्णत्तं च जीवस्स जीवण-विगासस्स विसिट्ठ-आयामं। पुप्फिद-पुप्फं पहिगो वि पेम्मेण पस्सेदि तहा पसण्ण-पुरिसं संपत्तीओ वि पस्सेंति। पबुद्ध-पुरिसं पस्सिय दस्सू वि पलायंति, तहेव पसण्ण-चित्तं पस्सिय विवत्तीओ पलायंति॥

22. उल्लसित-भाव, प्रमाद-शून्यता व्यक्ति के जीवन-विकास का विशिष्ट आयाम है। खिले पुष्प को पथिक भी प्रेम से देखता है तथा प्रसन्न-पुरुष को सम्पत्तियाँ भी देखती हैं। जाग्रत-पुरुष को देखकर चोर भाग जाते हैं, उसी प्रकार प्रसन्न चित्त को देखते ही विपत्तियाँ भाग जाती हैं।

---

23. पमाद-परिहारं किच्चा उस्साहेण णिच्चं सज्झाय-झाणेहिं सामण्ण-जीवो वि महाणाणी-झाणी होदूणं सगपर-कल्लाणं करेदि। पमादो सव्वगुणक्खयं कारेदि, तम्हा उहय-कहणं च मुणिय सयं णिच्छएहि सगजीवणस्स॥

23. प्रमाद का परिहार कर, उत्साह पूर्वक सतत स्वाध्याय व ध्यान करने से सामान्य व्यक्ति भी महान् ज्ञानी-ध्यानी बनकर स्व-पर कल्याण कर लेता है। प्रमाद सर्वगुणों का क्षय करा देता है, इसलिए दोनों बातों को समझकर स्वयं निर्णय करो अपने जीवन का।

---

24. अप्पमत्त-दसा हि उक्किट्ठ-सव्वकल्लाणाणं परमदसा, आद-विगासो पमादे णत्थि अप्पमत्तदाए अत्थि। मूढा पमादे मज्जित्तु धम्मजस-णासं करेंति, तत्थेव जोगीजणा पमादं तज्जिय परमप्पावत्थं लहेंति॥

24. अप्रमत्त-दशा ही उत्कृष्ट एवं सर्व-कल्याणों की परम दशा है, आत्मा का विकास प्रमाद में नहीं अप्रमत्तता में है। अज्ञ-प्राणी प्रमाद में डूबकर धर्म-यश का नाश कर लेते हैं, वहीं योगीजन प्रमाद का त्याग कर परमात्म-अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।0

---

25. जीवणुत्थाणे पमादो महारिवू। एगो जीवो पमादसुण्णो होदूणं सम्म-पुरिसत्थं कुणेदु, दु सो विगासं लहेहिदि। माणव-मत्थिक्को संपुण्ण-जीवेसुं विसिट्ठो होदि, तम्हा सम्मुवओगस्स आवस्सगत्तं॥

25. प्रमाद जीवन-उत्थान में महाशत्रु है। एक व्यक्ति प्रमाद-शून्य होकर सम्यक्-पुरुषार्थ करे, तो वह विकास को प्राप्त कर लेगा। मानव-मस्तिष्क सम्पूर्ण-जीवों में विशिष्ट होता है, इसलिए सम्यक्-उपयोग की आवश्यकता है।

---

26. विगाससीलो सगीय-पण्णं णिरत्थग-विसएसुं ण रामेदि। सो विसिट्ठ-ठाणेसुं हि सग-पण्णा-पओगं करेदि, जम्हि सग-पर-हिदं णिहिदं। लोए एरिसं किंपि वत्थुं णत्थि, जं माणव-णाणस्स बाहिरं ति॥

26. विकासशील मानव अपनी प्रज्ञा को व्यर्थ के विषयों में नहीं लगाता। वह विशिष्ट स्थानों पर ही अपनी प्रज्ञा का प्रयोग करता है, जिसमें स्व-पर का हित निहित होता है। लोक में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो मानव के ज्ञान से बाहर हो।

---

27. उस्साहो एगा अलोगिगा सत्ती, सो जीवं णंताणंत-सुद्ध-सिद्धपरमप्पाणं मज्झे सुतंत-परमप्पा कारेदि; तम्हा पमादं तज्जित्तु अप्पमत्तस्स सम्मं पुरिसत्थं कुणेहि॥

27. उत्साह एक अलौकिक शक्ति है, जो कि जीव को अनन्तानन्त शुद्ध-सिद्ध परमात्माओं के मध्य स्वतंत्र परमात्मा बना देती है, इसलिए प्रमाद का त्याग करके अप्रमत्त होने का सम्यक्-पुरुषार्थ करो।

---

28. पमादेण पमादो उस्साहेण उस्साहो वड्ढेदि। एगहुत्तं किदं पमादं अणेगहुत्तं करणिज्जं पमाद-सक्कारं जम्मेदि; तम्हा एगहुत्तं पि पमादं ण कादव्वं इदं पण्ण-पुरिस-कत्तव्वं। पमाद-सुण्णो होदूणं सगपरहिदयर-मग्गं पवहेहि सिरिजिणसासणस्स उज्जोयणं च कुणेहि॥

28. प्रमाद से प्रमाद की वृद्धि होती है और उत्साह से उत्साह की। एक बार किया गया प्रमाद अनेक बार करने योग्य प्रमाद के संस्कारों को जन्म दे देता है, इसलिए प्रज्ञ-पुरुषों का कर्तव्य है कि वे एक बार भी प्रमाद न करें। प्रमाद-शून्य होकर स्व-पर हितकारी मार्ग को प्रशस्त करें तथा श्री जिनशासन का उद्योतन करें।

---

29. जीवणे पुरिसत्थ-उस्साहा कदावि ण विमोचेज्जा। जदि वि अहुणा कज्ज-पुण्णत्तं णवि होदु, तदा वि कज्जपुण्णदाए उज्जमेहि; णवरि भविस्से सो हि उज्जमो कज्जसिद्धि-कारणं होहिदि। कुण उज्जमं ण दु पमादं॥

29. पुरुषार्थ एवं उत्साह जीवन में कभी नहीं छोड़ना चाहिए। भले ही अभी कार्य की पूर्णता न भी हो, तब भी कार्यपूर्णता के लिए पुरुषार्थ करना, क्योंकि भविष्य में वही पुरुषार्थ कार्य-सिद्धि का कारण बनेगा। प्रमाद नहीं, पुरुषार्थ करो।

---

30. विसय-लित्तदा कामादि-विगाराणं तिव्वदा य इमा जीवणस्स महप्पमादो। जावं जीवो कामादि-भावादो आदरक्खणं ण करिस्सदि, तावं पमादाभावो णवि होहिदि तहा पमादाभावं विणा मोक्खतच्चसिद्धी ण होहिदि॥

30. विषयों की लिप्तता, कामादि विकारों की तीव्रता यह जीवन का महा-प्रमाद है। जब-तक जीव कामादि भावों से आत्मरक्षा नहीं करेगा तब तक प्रमाद का अभाव नहीं होगा और प्रमाद का अभाव हुए बिना मोक्षतत्त्व की सिद्धि नहीं होगी।

---

31. पमाद-वसादो जीवो होदि विवेगसुण्णो। तं णेव होदि बोहो मे पमाद-चरियादो अणेगजीवा किलेसं भजेंति। पमाद-उम्मादादो आदरक्खणं विणा अहिंसा-परमधम्मस्स पुण्णदो पालणं असंभवं। धम्ममूलस्स रक्खाभावा दु मुंच पमादं॥

31. प्रमाद के वश होकर जीव विवेक-शून्य हो जाता है। उसे बोध ही नहीं रहता है कि मेरी प्रमाद चर्या से अनेक जीव क्लेश को प्राप्त हो रहे हैं। प्रमाद के उन्माद से आत्मरक्षा किए बिना, अहिंसा परम धर्म का पूर्णतः पालन सम्भव नहीं है। धर्म के मूल की रक्षा करने के भाव हैं तो प्रमाद छोड़ो।

---

32. पमादजीवणं उम्माद-मुच्छिदस्स जीवणं। उम्मादे णत्थि विवेगो पमादी वि होदि अविवेगी। पमादीणं उम्मादीणं च दोण्हं एगत्तं। उम्माद-विमोयणे सदि पमाद-विमोयणं तहा पमाद-विमोयणे सदि उम्माद-विमोयणं॥

32. प्रमाद का जीवन उन्माद और बेहोशी का जीवन है। उन्मत्त के पास विवेक नहीं होता, प्रमादी भी विवेक शून्य होता है। प्रमादी व उन्मादी दोनों की एकता है। उन्माद छूटे तो प्रमाद छूटे और प्रमाद छूटे तो उन्माद छूटे।

---

33. पमादिं कोवि सज्जणो सगीय-मित्तं ण कुव्वेदि तहा पमादी कंचिदवि मित्तं ण कुव्वेदि। जदि कदाचि किंपि मित्तं पि हुज्जा दु झत्ति हि मित्तत्तं पडिभंजेदि। पमादिस्स कोवि सहजोगं दिग्घकाल-पज्जंतं ण करेदि, अप्पीयजणा वि अवसरेंति, पुणो अण्णस्स किं कहणं?

33. प्रमादी को कोई सज्जन अपना मित्र नहीं बनाता और प्रमादी किसी को मित्र नहीं बनाता। यदि

कदाचित् कोई मित्र बन भी गया तो शीघ्र ही मित्रता टूट जाती है। दीर्घकाल तक प्रमादी का कोई साथ नहीं देता, सगे भी दूर हो जाते हैं, फिर अन्य की क्या बात कहें?

---

34. वेरग्गपुण्ण-णिप्पमाद-वित्ती सिद्धि-पदायिणी-वित्ती। जे होसी वद-जुत्ता, ते हि भव्ववरा सिद्धिं भजेंति। परभावा सत्त-चित्तवंतो पमादी दिग्घ-संसारी-जीवो होदि, सो पमादासत्तिं तज्जित्ता हि मुत्तिं लहिस्सदि॥

34. सिद्धि प्रदायिनी वृत्ति वैराग्यपूर्ण निष्प्रमाद वृत्ति है। जो व्रतों से युक्त थे, वे ही भव्यवर सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। पर-भावों में आसक्त चित्त वाला प्रमादी दीर्घसंसारी जीव होता है, वह प्रमाद एवं आसक्ति का त्याग करके ही मुक्ति को प्राप्त कर पाएगा।

---

35. जीवणे उस्साही-सहावो सेट्ठ-उवहारो उक्किट्ठवरदाणं च, सो पडिक्खणं वड्ढमाणत्तं पडि णेदुं णव-णव-उमंग-तरंगाओ लहावेदि। उण्णदीए पत्तेग-खणं उस्साहपुण्णं हीण-भावणा-सुण्णं च होदु॥

35. जीवन में उत्साही स्वभाव श्रेष्ठ-उपहार है या कहें उत्कृष्ट वरदान, जो कि प्रतिपल वर्धमानता की ओर ले जाने के लिए नवीन-नवीन उमंग-तरंगों को प्राप्त कराता है। उन्नति के लिए प्रत्येक पल उत्साहपूर्ण हो और वह भी हीन-भावना से शून्य।

---

36. सयल-पमादा आदविसुद्धि-घादगा, मोक्खमग्गे बाहगा, विणासगा य। पुणो वि जदि कसाय-पमादे णियंतणं होदु दु सेस-पमादा वि णियंतिदा होंति। कसाय-पमादस्स उग्गदा वच्छल्ल-घादं किच्चा अवीसासं जम्मेदि, जेण जीवो एगागी होदि। अवरो कोवि सुजणो तं सहजोगं ण देदि तदा पुणो तम्हि हीणभावणा-संकिलेसत्तं पविसेदि; परिणामदो सो णियप्पघाद-वियारं पि करिज्जदे॥

36. सम्पूर्ण प्रमाद आत्मविशुद्धि के घातक हैं, मोक्षमार्ग में बाधक हैं, विनाशक हैं। फिर भी यदि कषाय प्रमाद पर नियंत्रण हो जाए तो शेष प्रमाद भी नियंत्रित हो सकते हैं। कषाय-प्रमाद की उग्रता वात्सल्य का घात कर अविश्वास को जन्म दे देती है, जिससे व्यक्ति अकेला रह जाता है। अन्य कोई सज्जन-पुरुष उसको सहयोग देना भी पसन्द नहीं करता तब फिर उसके अन्दर हीन-भावना एवं संक्लेशता प्रविष्ट कर जाती है, परिणामतः वह स्वात्मघात का भी विचार करने लगता है।

---

37. णिप्पमाद-दसा हि जीवं उहयलोए सुह-दायगा, तिलोक्क-पुज्जत्तं च यच्छेदि। णिद्दोस-धम्म-साहणा अप्पमत्तदाए हि संभवा, तम्हा पत्तेग-भव्ववर-मुमुक्खुस्स पमादचाग-पुव्वगं पडिक्खणं पुरिसत्थ-पुव्वगं णिप्पमादत्त-साहणं कुज्जा। पमादो भव-वड्ढगो, णिप्पमाददा हि भवक्खयस्स पबलसाहणं अत्थि; एसो जिणोवएसो॥

37. निष्प्रमाद दशा ही जीव को उभय-लोक में सुख-प्रदायक, त्रिलोक्य पूज्यता प्रदान करती है। निर्दोष धर्म साधना अप्रमत्तता से ही सम्भव है, इसलिए प्रत्येक भव्यवर मुमुक्षु के लिए प्रमाद त्याग करते हुए प्रतिक्षण पुरुषार्थ पूर्वक निष्प्रमादता की साधना करना चाहिए। प्रमाद भव-वर्धक है, निष्प्रमादता ही भव क्षय का प्रबल साधन है, ऐसा जिनोपदेश है।

26

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

चिंतणं

(सोच)

1. जीवस्स वत्तित्तं सग-चिंतणे सिज्झेदि। पढमं सग-चिंतणं सम्मं कादव्वं। अवर-अवलोयण-अवेक्खा पढमं सगं पस्सेज्जा। जीवस्स सग-चिंतणं हि हास-विगास-कारणं ति॥

1. व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वयं के सोच पर निर्मित होता है। सर्वप्रथम अपने सोच को सम्यक् करना चाहिए। दूसरों को देखने की अपेक्षा, सर्वप्रथम स्वयं को देखना चाहिए। व्यक्ति का सोच ही ह्रास एवं विकास का कारण है।

---

2. जीवस्स चिंतणे हि बंधमोक्खा आलंबिदा। चिंतणाणुसारेण हि जीवणं सिज्झेदि। वट्टमाण-चिंतणे हि भविस्स-जीवणस्स उज्जलत्तं आधारिदं॥

2. व्यक्ति के सोच पर ही बंध और मोक्ष आलम्बित है। सोच के अनुसार ही जीवन बनता है। वर्तमान सोच पर ही भविष्य के जीवन की उज्ज्वलता निर्भर है।

---

3. जदि सगचिंतणं पवित्तं तु पत्तेगवत्थु-जीवा गुणवंता पस्सेहिदि तहा जस्स चिंतणं विगिदं, तं सामण्ण-जीवेसुं परमप्पेसुं च बहुदोसा हि दीसेंति॥

3. यदि स्वयं का सोच पवित्र है तो प्रत्येक वस्तु व व्यक्ति गुणवान् दिखेगी और जिसकी सोच ही विकृत है उसे व्यक्ति हो या परमात्मा सभी में दोष-ही-दोष दिखते हैं।

---

4. जीव-वत्थूणि य मा सज्झवेहि, ताणि दु पर-पदत्थाणि। सग-चिंतणं सज्झवेहि, तं तु सगस्स वियारो त्ति। जदि जीवो सग-चिंतण-उण्णयणस्स णिण्णयं करेदि, दु पडिक्खणं उण्णदी आरंभेहिदि॥

4. व्यक्ति एवं वस्तु को ठीक मत करो; वह तो पर-पदार्थ है। स्व का सोच ठीक करो, वह तो स्व का ही विचार है। यदि व्यक्ति स्वयं के सोच को ठीक करने का निर्णय कर ले, तो क्षण-क्षण में उन्नति प्रारम्भ हो जाएगी।

---

5. उत्तम-पुरिसाण चिंतणं पि उत्तममेव होदि तहा अधम-पुरिसाण चिंतणं णीचं हि होदि॥

5. उत्तम-पुरुषों की सोच भी उत्तम ही होती है और अधम-पुरुषों की सोच निम्न ही होती है।

---

6. सगीय-विगिद-चिंतणं परियट्टण-उज्जमं कुणेहि, ण दु पयडिं। जदि तुमं सग-विगिद-चिंतणं ण परियट्टेज्जा दु तुज्झ जीवणं जगदीए णव-णव विगिदिं उवहरेहिदि, तेण पहाविय सरलजीवा सगीय-अहिदं करिस्संति, जस्स दुप्परिणामो सगपरं भविस्से भुंजिहिदि॥

6. प्रकृति को नहीं, अपनी विकृत सोच को बदलने का पुरुषार्थ करो। यदि आप स्वयं की विकृत सोच को नहीं बदल पाये तो तुम्हारा जीवन जगति पर नवीन-नवीन विकृति खड़ी करेगा, उससे प्रभावित होकर भोले प्राणी अपना अहित करेंगे, जिसका दुष्परिणाम स्व-पर को भविष्य में भोगना पड़ेगा।

---

7. चिंतेहि किंचि चिंतेहि तुज्झ चिंतणं सउचं कदा होहिदि? चिंतणस्स सुइत्तं विणा संसारादो उद्धारो ण होहिदि। जदि संसारस्स दुक्ख-किलेसादो मुत्तिं इच्छेसि दु चिंतणं सउचं करेज्जा॥

7. सोचो-जरा-सोचो, तुम्हारा सोच, शौच कब होगा? सोच की शुचिता के बिना तेरा संसार से उद्धार नहीं होगा। संसार के दुःख एवं क्लेश से मुक्ति चाहिए तो सोच को शौच कीजिए।

---

8. सेट्ठ-पवित्त-चिंतण-जुदो पुरिसो हि सेट्ठ-कज्जस्स अणुमोयणं करेहिदि। जेसिं चिंतणं सुइत्त-सुण्णं, ते सुह-भाव-कज्जाणुमोयणं पि ण कुणंति, अविदु णिंदंति॥

8. श्रेष्ठ, पवित्र-सोच से युक्त पुरुष ही श्रेष्ठ-कार्यों की अनुमोदना कर सकेगा। जिनकी सोच शुचिता शून्य है वह अच्छे भाव एवं कार्य की अनुमोदना भी नहीं करते, अपितु निन्दा करते हैं।

---

9. खीण-पुण्णप्पाणं पुण्ण-परिणामा ण होंति। पुण्ण-कज्जाणं तेसिं अणुमोदणत्थं चावि पुण्णं होदव्वं, इदं धुवं सच्चं। पक्खीण-पुण्णप्पा सक्खं विरज्जमाण-तित्थयरस्स वि णिंदं करेदि, तं ण होदि णाणं महा-पुण्णप्पस्स णिंदाए होदि पुण्णक्खयो णीचगोत्तासवो य॥

9. क्षीण-पुण्यात्मा के पुण्य-परिणाम नहीं होते। पुण्य-कार्यों एवं पुण्य-कार्यों की अनुमोदना के लिए भी पुण्य चाहिए, यह ध्रुव सत्य है। पुण्य-क्षीण साक्षात् विराजे तीर्थंकर की भी निन्दा करता है, उसे भान ही नहीं होता कि महा-पुण्यात्मा की निन्दा से पुण्य-क्षीण होता है तथा नीच-गोत्र का आस्रव होता है।

---

10. देह-चेट्ठा चिंतणाणुसारेण हि होदि तहा तेणेव होदि उवयारावयारो य। सगचिंतणम्हि खु होदि सगपरस्स उवयार-अवयारो य, तम्हा चिंतणम्हि णियंतणं आवस्सगं॥

10. शरीर की चेष्टा सोच के अनुसार ही होती है और उसी से उपकार-अपकार होता है। स्वयं की सोच पर ही स्व-पर का उपकार-अपकार होता है, इसलिए सोच पर नियंत्रण आवश्यक है।

---

11. चिंतणस्स सुइत्तं पत्तेगजीवस्स कल्लाणं कारेदि। चिंतणस्स विगिदे सदि अकल्लाण-मग्ग-दारो उग्घडेदि। चिंतणस्स अत्थिरूव-गमणं णत्थिरूवादो तस्स रक्खणं तहा सगारप्पग-चिंतणस्स णिरंतरदा; सव्वुक्किट्ठ-साहणा अत्थि॥

11. सोच की शुचिता प्रत्येक प्राणी का कल्याण करा देती है। सोच के विकृत होते ही अकल्याण मार्ग का द्वार खुल जाता है। सर्व-उत्कृष्ट-साधना कोई है, तो वह है सोच को अस्ति में ले जाना, नास्ति से सुरक्षित रहे और सकारात्मक सोच बना कर रखे।

---

12. जीवस्स जीवणसइली तस्स चिंतणाणुसारेण होदि। चिंतणस्स उच्चत्तं जीवणं उच्चत्तं देदि, चिंतणस्स लहुत्तं जीवणं लहुं करेदि॥

12. व्यक्ति की जीवन शैली उसके सोच के अनुसार बनती है। सोच की ऊँचाईयाँ जीवन को उच्चता पर ले जाती हैं, वहीं सोच का लाघव जीवन को लघु ही बनाता है।

---

13. जीवस्स भोयण-भासण-रीदि-वत्थाभरण-संगदीदो होदि तस्स चिंतणस्स बोहो॥

13. व्यक्ति के भोजन, भाषण, रीति, वस्त्राभूषण और संगति से उसके सोच का बोध हो जाता है।

---

14. जस्स चिंतणं जहेव होदि तस्स अंतरिग-चेट्ठा तहेव मुहम्हि णिवट्टेदि। मुहस्स भंगिमा अंतरिग-चिंतणस्स दप्पणं॥

14. जिसका सोच जैसा होता है उसके हाव-भाव वैसे ही मुख-मण्डल पर निर्मित होने लगते हैं। मुख की भङ्गिमा आंतरिक सोच का दर्पण है।

---

15. भोयण-भाव सुइदाए चिंतणं होदि सुइं॥

15. भोजन और भावों की शुचिता से सोच शुचि होता है।

---

16. चिंतण-विगिदे सदि इंदिएसुं होदि वियारो तहा चिंतण-सुइदाए इंदियाणि संजमिदाणि होंति।

16. सोच विकृत होते ही इन्द्रियों में विकार होने लगता है सोच की शुचिता से इन्द्रिय संयमित होती हैं।

---

17. परभाव-गदं चिंतणं आद-सुइत्तं णस्सेदि। सगीय-चिंतणं परपदत्थादो पुहुत्तकरणं साहगस्स परमधम्मं। जो परचिंतणादो परभावादो य होदि भिण्णो, तम्हि आदसंति-सोदो फुडेदि॥

17. पर-भावों पर गया सोच आत्मा की शुचिता को समाप्त कर देता है। अपना सोच पर-पदार्थों से भिन्न करना ही साधक का परम-धर्म है। जो पर-सोच व पर-भावों से भिन्न हो जाता है उसमें आत्मशान्ति का स्रोत प्रस्फुटित हो जाता है।

---

18. पवित्त-चिंतणेण वीस-बंधुत्त-सुत्तं उग्घोसेदि। संकुइद-चिंतणं संपदाय-पंथसंतवादे विप्पणस्सेदि॥

18. पवित्र-सोच से विश्व-बंधुता का सूत्र उद्घोषित होता है। संकुचित-सोच सम्प्रदाय, पंथ, संतवाद में समाप्त हो जाता है।

---

19. जस्स चिंतणं विराडं होदि, सो वीसस्स मित्तं होदूणं जीवेदि तहा मरणस्स पच्छा वि लोयस्स जीवाणं अट्ठाहिदएसुं रज्जं करेदि॥

19. जिस पुरुष का विराट्-सोच होता है; वह विश्व का मित्र बनकर जीता है और मरण के उपरान्त भी जगत के लोगों के आस्था के हृदयों पर राज्य करता है।

---

20. जदा जीव-अंतोकरणे पवित्तदा-वासो होहिदि तदा पयडेहिदि आद-सुइत्तं। तुच्छचिंतगाणं दयणिज्ज-दसा होदि, णाणीजणा सगीयचिंतणे णूणं विचिंतेदि॥

20. आत्म-शुचिता तभी प्रकट होगी जब प्राणी के अन्तःकरण में पवित्रता का वास होगा। तुच्छ-सोच वालों की दयनीय दशा होती है, ज्ञानीजन अपने सोच पर अवश्य ही सोचते हैं।

---

21. तिण्हा-पीडिद-चिंतणं संसारे जीवस्स सव्वाहिग-किलेसकारणं होदि। जस्स चित्ते किलेस-मुत्ति-भावणा, तं भव्ववरं पढमं सग-अंतोकरणादो तिण्हं पुरिसत्थादो विच्छिंदेज्जा॥

21. तृष्णा से पीड़ित सोच संसार में जीव को सर्वाधिक क्लेश का कारण बनती है। क्लेश- मुक्ति की जिसके मन में भावना है, उस भव्यवर को सर्वप्रथम स्व अन्तःकरण से तृष्णा को पुरुषार्थपूर्वक पृथक् करना होगा।

---

22. मोही हि संगहेदि परिग्गहं। जस्स अंतरंगे मोहलोह-रंजिदं चिंतणं होहिदि, सो हि परिग्गह-संगहे आणंदिय परिग्गहाणंदी-रुद्दज्झाणे अहिरमेहिदि तहा रुद्दकज्जे होदि अग्गसरो वि॥

22. मोही-जीव ही परिग्रह का संचय करता है। जिसके अंतरंग में मोह-लोभ से रंजित सोच होगी वही परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानकर परिग्रहानन्दी रौद्र-ध्यान में लीन होगा तथा रौद्रकार्य करने में अग्रसर होता है।

---

23. जीवं सगचिंतणं अत्थवंतं कादव्वं, अत्थविहीण-चिंतणं णिंदा-उवहास-किलेस-कारणं च होदि॥

23. व्यक्ति को अपना सोच अर्थवान बनाना चाहिए, अर्थ-विहीन सोच निन्दा-उपहास एवं क्लेश का कारण बनता है।

---

24. विण्ण-पुरिसा अवरं सग-समयं विहा ण देंति तहा सयं वि णिरत्थग-चिंतणे समय-विणासं ण करेंति। जं चिंतणं बुद्धीए देदि वियप्पं, धिगत्थु एरिसं चिंतणं॥

24. विज्ञ-पुरुष पर को अपना समय व्यर्थ में देना तो दूर, अपितु स्वयं भी व्यर्थ के सोच में समय व्यतीत नहीं करते। जो सोच बुद्धि में विकल्प खड़ा करे, ऐसे सोच को धिक्कार है।

---

25. सेट्ठ-पण्ण-पुरिसा हि सगीय-चिंतणं सुइमयं करेंति तहा तदणुऊलं पवित्तायरणं पि करेंति॥

25. श्रेष्ठ प्रज्ञ-पुरुष ही अपना सोच शुचिमय बना पाते हैं और तदनुकूल पवित्र-आचरण करते हैं।

---

26. उत्तम-चिंतणाइं विसिट्ठ-पुण्णोदय-काले हि आगच्छेंति, पुण्णभावे उत्तमचिंतणं णवि उप्पज्जेदि॥

26. श्रेष्ठ-विचार विशिष्ट पुण्योदय के काल में ही आते हैं, पुण्य के अभाव में उत्तम-सोच उत्पन्न नहीं होता है।

---

27. भाव-सुइत्तं चिंतणं सउचं कुव्वेदि। जस्स चिंतणं पावणं होदि, तस्स सयल जीवणं हि पावणं। जीवण-पवित्तदा जीव-चिंतणे आलंबिदा॥

27. भावों की शुचिता सोच को शौच बना देती है। जिसका सोच पावन होता है; उसका सर्व जीवन ही पावन हो जाता है। जीवन की पवित्रता व्यक्ति के सोच पर आलम्बित है।

---

28. रत्त-दूसिदेणं सरीरम्हि रोगा जायंति तहा चिंतण-विगिदे सदि चित्त-विशुद्धि-हासो होदि॥

28. रक्त के दूषित होने से शरीर में रोग होते हैं और सोच विकृत होते ही चित्त-विशुद्धि का ह्रास होता है।

---

29. अम्म-सेवणेणं रत्तं होदि दूसिदं। असुह-चिंतणेणं चित्तं होदि दूसिदं; इमम्हि णो संसयो त्ति॥

29. अम्ल सेवन से रक्त दूषित होता है। अशुभ-सोच के नियोग से चित्त दूषित होता है; इसमें संशय नहीं है।

---

30. चिंतण-णिम्मलदाए सुसत्थ-सज्झाओ आवस्सगंगं॥

30. सोच की निर्मलता के लिए सद्-शास्त्रों का स्वाध्याय अनिवार्य अंग है।

---

31. वीस-बंधुत्त-चिंतणं णरेसपदं पडि णेदि। जस्स विगासो णिच्छिदो, तस्स चित्ते विराडत्त-चिंतणं पयडेदि॥

31. विश्व-बंधुत्व की सोच सम्राट् पद की ओर ले जाती है। विराटता का विचार उसी के अन्दर प्रकट होता है जिसका विकास निश्चित है।

---

32. अप्पधी-पक्खीणपुण्णप्पस्स चिंतणं पि तुच्छं होदि। हीण-जणाणं वावार-भासण-भोयणं चेव हीणं होदि॥

32. अल्पधी, पुण्यक्षीण का सोच भी तुच्छ होता है हीन-जनों का भोजन, भाषण, व्यापार हीन ही होता है।

---

33. जीवस्स वत्तित्तं तस्स चिंतणे आलंबिदं। जह चिंतणं होदि, तहेव वत्तित्त-णिम्माणं होदि, तम्हा जा वि सगीय-वत्तित्तस्स सेट्ठत्तं इच्छेंति, ता पढमं सगीय-चिंतणं सेट्ठं कुज्जा॥

33. व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके सोच पर निर्भर है। जैसा सोच होता है, वैसा ही व्यक्तित्व निर्मित होता है, इसलिए जिन्हें अपना व्यक्तित्व श्रेष्ठ बनाना है उन्हें सर्वप्रथम अपना सोच श्रेष्ठ बनाना चाहिए।

---

34. चिंतणं कुणहि विराड-विसालं च, जम्हि वीस-बंधुत्तं समाहिदं होदु॥

34. सोच को विराट्-विशाल करो, जिसमें विश्व-बंधुत्व समाहित हो।

---

35. रिवुम्हि वि मित्त-भावो पयडेज्जा, पत्तेग-पाणी-अंतसे भगवं-अप्प-दंसणं; एवमेव जीवस्स चिंतणस्स सुइत्तं॥

35. व्यक्ति के सोच की शुचिता यही है कि शत्रु में भी मित्र-भाव प्रकट हो जाये। प्रत्येक प्राणी के अन्दर भगवान्-आत्मा का दर्शन होने लग जाए।

---

36. णिम्म-चिंतणे पंथ-परंपरा-रागद्दोस-किलेस-ईसा-पडिप्फड्ढा-मच्छरियादी जायंते तहा विराड-चिंतणं मेत्ती-वच्छल्ल-पमोद-करुणा-संवेग-वेरग्गं च वड्ढेदि॥

36. निम्न सोच में पंथ, परम्परायें, राग-द्वेष, क्लेश, ईर्ष्या, डाह, मात्सर्य पनपता है और विराट्-सोच मैत्री, वात्सल्य, प्रमोद, करुणा, संवेग, वैराग्य को बढ़ाता है।

---

37. जीवं जदा णरेस-पदस्स चिंतणं होदि, तदा माण-कसाय-पीडादो पीडित्तु रोच्छेदि तहा साहू-सहावे मद्दव-धम्मेण आणंदिदो होदि॥

37. व्यक्ति को जब सम्राट्-पद पर सोच खड़ा हो जाता है तब मानकषाय की पीड़ा से पीड़ित होकर बिलखता है और साधु स्वभाव में मार्दव-धर्म से आनन्दित होता है।

---

38. जीवस्स चिंतणं जदा पवित्तं होदि, तदा भोयण-भासणाणि होंति पवित्ताणि। सच्छ-भोयण-भासणं च पावक्खय-पुण्णवड्ढि-कारणं होदि। सच्छभोयणेणं सच्छ-वित्तीए य कोरोणा-सरिच्छ-महामारीदो जीवरक्खणं होदि, लोए सुह-संति-वड्ढी होदि तहा दुक्खकिलेस-हाणी होदि।

सगीय-संबंधीणं च सुह-दुक्खे चिंतगा वसुंधराए बहू जादा, किण्णु जेण परिचयो णत्थि तेसिं सुह-दुक्खे चिंतगा साहु-पुरिसा णिस्सत्थी बहु-थोवा होंति॥

38. व्यक्ति का सोच पवित्र होता है तब भोजन-भाषण दोनों ही पवित्र होते हैं। स्वच्छ भोजन एवं स्वच्छ भाषण पाप-क्षय, पुण्य-वृद्धि का कारण बनता है। स्वच्छ-भोजन, स्वच्छ-चित्तवृत्ति से कोरोना जैसी महामारियों से जीवों की रक्षा होती है, लोक में सुख-शान्ति की वृद्धि होती है तथा दुःख-क्लेश की हानि होती है। अपने और अपनों के सुख-दुःख में सोचने वाले वसुन्धरा पर बहुत हुए, पर जिनसे परिचय नहीं उनके सुख-दुःख में सोचने वाले साधु-पुरुष बहुत ही अल्प होते हैं, जो निःस्वार्थ वाले हों।

---

39. ते हि सग-पीडा सरिच्छा पर-पीडाए चिंतणं करेंति, जे सगीय-पीडं अंतरंगदो जाणेंति। परदुक्खेसुं मा हस्सेहि, अविदु कम्मविवागं विचिंतिय सग-चिंतणं सउचं कुणेहि। धण-धरणी-कुडुंबादो वड्ढमाणं वड्ढमाणो मा गेण्हेहि, अविदु जे करुणा-दया-मेत्ती-वच्छल्ल-पुण्णा, पाणिमेत्तं पडि पसत्थचिंतणं धारेंति, ते जणा हि सम्म-वड्ढमाणो होहिंति। परिग्गह-संगह-वित्ती वड्ढमाणत्तस्स सम्मं अहिणाणं णत्थि, गुण-संगहो हि वड्ढमाणत्तस्स सम्मं अहिणाणं अत्थि॥

39. स्वयं की पीड़ा जैसी पर की पीड़ा पर विचार वे ही कर पाते हैं, जिन्होंने अपनी पीड़ा को अंतरंग से जाना है। पर के दुःखों पर हास्य मत करो, अपितु कर्म-विपाक का चिंतन कर अपने सोच को शौच करो। धन-धरती कुटुम्ब से वर्धमान को वर्धमान मत स्वीकारो, अपितु जो करुणा, दया, मैत्री, वात्सल्य से पूर्ण हैं; प्राणिमात्र के प्रति प्रशस्त सोच रखते हैं वे जन ही तो बन पायेंगे सच्चे वर्धमान। परिग्रह संग्रह-वृत्ति वर्धमानता की नहीं है सम्यक्-पहचान, गुण-संग्रह ही वर्धमानता की सही-पहचान है।

---

40. जीवस्स कज्जपद्धति-भोयणपद्धदी य जीवस्स चिंतण-बोहं कारेदि, जह चिंतणं होदि, तहेव जीवस्स आयारो सिज्झेदि। पत्तेग-कज्जे कारणं णिहिदं होदि, अयं सिद्धंतो। चिंतणं पि पुण्णोदय-पावोदएसुं च आलंबिदं, पक्खीण-पुण्णे सदि चिंतणं पि हीणं हीणं पावायार-मायायार-कामाचार-रूवं होदि, एवं तिव्वपुण्णोदए जीवचिंतणं सिहरम्हि णिवसेदि। पुण्णोदए धम्म-धम्मप्पमज्झे वासादो वियार-तच्चणाण-तच्चणिण्णयदिट्ठि-सदाचार-सुवियाराणं उदयो होदि। णाणीजणा सगचिंतणं णिम्मलं करंति, जेण सयलवीसं पडि बंधुत्त-भावो पयडेदि। वत्थु-वत्तिं पडि एयत्त-ठावणा चित्तम्हि जायदे। णाणी अवरं तु दुक्खकिलेसं णेव देदि, अविदु सगम्हि सुही होदि। तम्हि दुक्ख-किलेसाइं ण वसंति, सो पुण्ण-संतिमय-जीवणं जीवेदि। चिंतणेण जीवस्स भावेहिं सह देहस्स अंगे अंगे परियट्टणं होदि॥

40. व्यक्ति की कार्य-शैली एवं भोजन-पद्धति व्यक्ति के सोच का बोध करा देती है, जैसा विचार होता है वैसा ही व्यक्ति का आचार बनता है। प्रत्येक कार्य में कारण निहित रहता है, यह सिद्धांत का नियम है। सोच भी पुण्योदय-पापोदय पर आलम्बन करता है; क्षीण-पुण्य पर विचार भी हीन-हीन अर्थात् पापाचार, मायाचार, कामाचार रूप होते हैं, वहीं पुण्योदय-तीव्रता पर व्यक्ति का सोच शिखर पर निवास करता है। धर्म-धर्मात्माओं के मध्य वास करने के विचार, तत्त्वज्ञान, तत्त्वनिर्णय पर दृष्टि, सदाचार सद्विचारों का उदय रहता है पुण्य के उदय में। ज्ञानीजन अपने सोच को इतना निर्मल रखते हैं; जिससे सम्पूर्ण विश्व के प्रति बंधुता का भाव प्रकट हो जाता है। वस्तु व व्यक्ति सभी के प्रति एकत्व की स्थापना चित्त में हो जाती है। ज्ञानी अन्य जीव को तो दुःख-क्लेश देता ही नहीं, अपितु स्वयं में भी सुखी रहता है। दुःख-क्लेश उसके अंतःकरण में स्थान ही नहीं पाते; वह पूर्ण-शांति का जीवन जीता है। सोच से व्यक्ति के भावों में ही नहीं, अपितु देह के अंग-अंग में परिवर्तन होता है।

---

41. जीवो विहा हि विचित्त-पयार-सिंगार-साहणेहिं सुंदरदा-कप्पणं करेदि, जं सुभगदा-जुत्तं णत्थि। विसुद्ध-चिंतणं हरिसिद-चित्तं गदगद-पमुदिद-भावदसा य अंगं अंगं आगरिसत्तं देहि। तुमं सयमेव सगम्हि अणुहवेसि। अण्णादो पण्हस्स आवस्सगत्तं णत्थि। असुह-चिंतणं पंकं दुग्गंध-पुण्णं च। जह पंकलित्त-लोहो मंडूरादो णस्सेदि, तहेव असुह-वियार-मंडूरे सुवियार-उच्चायार-पण्णविसारदा-भाव-णिम्मलदा-जीवण-विगाससीलत्तं च खणमेत्ते णस्सेदि तहा जीवणं कट्ठमयं होदि॥

41. व्यक्ति व्यर्थ में ही विभिन्न प्रकार के शृंगार साधनों से सुन्दरता की कल्पना करता है, जो कि सुभगता युक्त नहीं है। विशुद्ध-सोच, हर्षित-चित्त, गद्गद् प्रमुदित भाव-दशा अंग-अंग को आकर्षकता प्रदान करती है। अनुभव आप स्वयं-ही-स्वयं में कर सकते हैं। अन्य से प्रश्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अशुभ-सोच कीचड़ है, जो दुर्गन्ध-पूर्ण है। कीचड़ से लिप्त लोहा जंग खाकर नष्ट होता है; उसी प्रकार अशुभ-विचारों की जंग में सद्-विचार, उच्च-आचार, प्रज्ञा की विशदता, भावों की निर्मलता, जीवन की विकासशीलता क्षण-मात्र में नष्ट हो जाती है और जीवन कष्टमय हो जाता है।

---

42. चिंतणस्स विसालत्तं जीवं जादि-पंथ-कुल-संपदाय-खेत्तदा-रट्ठदादो अच्चंत-उच्चो उट्ठावेदि। जस्स चिंतणं विसालं, तं पाणिमेत्तं सगीयो मण्णेदि जीवं सग-चिंतण-सहावे य परियट्टणं कादव्वं; केवलं सगं णवि पस्सेज्जा विसेसो। सामण्णो वि पस्सेहि। विसेस-वियप्पे तुमं कुओ वच्छल्लभाव-करुणादो पुहं तु ण होसि?

42. सोच की विशालता व्यक्ति को जाति, पंथ, कुल, सम्प्रदाय, क्षेत्रता, राष्ट्रता से अत्यंत ऊँचा खड़ा कर देती है। उसे प्राणिमात्र अपना स्वीकारता है, जिसका सोच विशाल होता है। व्यक्ति को अपने सोच और स्वभाव में परिवर्तन लाना चाहिए, एकमात्र स्वयं को ही विशेष नहीं देखना चाहिए। सामान्य भी देखो, विशेष के विकल्प में आप कहीं वात्सल्य-भाव एवं करुणा से दूर तो नहीं हो रहे हो?

---

43. जदि तुमं समाज-बंधु-रट्ठभावणादो पुहं होसि, दु पुण तुमं हीण-भावणादो गसिदो होहिसि, तुज्झ सुह-संती य णस्सेहिदि। जदि सग-वत्तित्तस्स विराडत्तं इच्छेसि दु चिंतणस्स सुइत्तं वड्ढेहि। जीवस्स चिंतणस्स लहुत्तं पंथ-जादि-संपदाय-रागद्दोस-ईसा-पडिप्फड्ढा-पहुदिं च जम्मेदि, पुणो तं जगदिं दुक्खस्स महागत्ते पाडेदि। रिवुम्हि वि मेत्तीभावं जादेज्जा, पाणिमेत्तं पडि भगवं-अप्पस्स बोहं कारिज्जा, सग-सरिच्छं ववहारं अवरं पडि वि पयडेज्जा तहा सत्थीजणाण दुग्गंधं णस्सेज्जा, एवं चेव जीवस्स चिंतणस्स सुइत्तं॥

43. यदि आप समाज-बंधु, राष्ट्र-भावना से दूर खड़े हो गए, तो फिर आप हीन भावना से ग्रसित हो जायेंगे, आपकी सुख-शान्ति समाप्त हो जाएगी। अपना व्यक्तित्व विराट् बनाना चाहते हैं तो सोच की शुचिता को वर्धमान करो। व्यक्ति के सोच की लघुता पंथ, जाति, सम्प्रदाय, राग-द्वेष, ईर्ष्या-डाह को जन्म देती है, फिर वह जगति को दुःख के महागर्त में डाल देती है। व्यक्ति के सोच की यही शुचिता है, जो कि शत्रु के अन्दर भी मित्र-भाव उत्पन्न कर दे। प्राणिमात्र में भगवानात्मा का बोध करा दे, स्व जैसा व्यवहार पर के प्रति भी प्रकटा दे तथा स्वार्थीजनों की दुर्गन्ध को समाप्त करा दे।

27

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

अणुग्गहो

(अनुग्रह)

1. जे सग-जीवणस्स पत्तेग-खणं सगपर-उवयारे जुंजंति, तेसिं जीवाणं जीवणं हि धण्णं। उवयार-भावेण विणा ण दु संसारसुह-लद्धी णेव परमट्ठ-सुह-लद्धी। उवयार-परिणामा पुण्णप्पस्स भवियस्सेव होंति, पुण्णहीणो कस्सचिदवि उवयारं ण करिस्सदि। उवयार-सुण्णस्स दोण्णि हत्था अज-गंडत्था दो-थण-समाणा, जे मेत्तं गंड-भारा संति, ते कस्सचिदवि दुद्ध-दाणं ण करेंति, तहेव उवयार-हीणा पुढवीए भारभूदा। करुणासील-उवयारीजणा समिद्ध-तरुमिव, ते परोवयारेण सगं फलभारजुत्ता किदा, ते सयमेव ण करेंति फल-सेवणं। एवं सम्म-उवयारी ते हि होंति जे सग-परिग्गहं परोवयारे समप्पेंति। फलवंतरुक्खमिव सज्जणा सयं कट्ठं सहित्ता वि परोवयारं करेंति। जहेव फलवंतरुक्खो पहिगाणं पत्थर-आघादं सहित्ता वि लोयं सरस-महुर-रसपुण्णफलाणि देंति॥

1. उन जीवों का जीवन ही धन्य है जो अपने जीवन के अंश-अंश को अर्थात् प्रत्येक क्षण को स्व-पर उपकार में लगाए हैं। उपकार-भाव के बिना न संसार-सुख की प्राप्ति होती है न परमार्थ- सुख की। उपकार के परिणाम पुण्यात्मा भव्य-जीव के ही होते हैं, पुण्यहीन किसी का उपकार भी नहीं कर पाएगा। उपकार-शून्य व्यक्ति के दोनों हाथ बकरों के गले में लटके दो-स्तनों के समान हैं जो मात्र गले के भार हैं; किसी को दुग्ध प्रदान नहीं करते, उसी प्रकार उपकार-हीन पुरुष पृथ्वी पर भार हैं। करुणाशील, उपकारी-जन हरे-भरे तरु-तुल्य हैं, जो पर-उपकार हेतु स्वयं को फलों के भार से युक्त किए हैं, वह स्वयं फल सेवन नहीं करते। इसी तरह सच्चे उपकारी वे होते हैं जो स्वयं के परिग्रह को पर-उपकार में समर्पित कर देते हैं। सज्जन-पुरुष स्वयं कष्ट सहन करके भी पर-का उपकार करते हैं, फलदार वृक्षवत। जैसे फलवान वृक्ष पथिकों के पत्थरों की मार सहकर भी जगत् को स्वादिष्ट, मधुर, रसपूर्ण फल प्रदान करते हैं।

---

2. सज्जणा उवयारी-माणवा णाणा-कट्ठाणि सहित्ता, सग-पाणाणं पि चिंतं मुंचिय परपाण-

रक्खणं करेंति; महामारी-काले भेसज्जमिव। सच्चत्थ-उवयारी हि णरुत्तमो, सो उवयार-पडियारे पडि-उवयार-भावणं ण करेदि, अविदु णिस्सत्थ-भावेण परोवयारं करेदि। उवयारेण अंतरेण ण दु ववहार-धम्मो पलेदि, णेव परमट्ठधम्मो। उवयारभावो वि वत्थुधम्मो। पत्तेग-दवियम्हि उवयारभावो तेयालिगो। लोए बुद्धि-अबुद्धिपुव्वगं च उवयारंताणि दव्वाणि लोयंति। अणुग्गह-धम्मो विराडो त्थि एगदव्वं अवर-दव्वस्स उवयारं करेदि तहा सगो सगस्स वि उवयारं करेदि। सज्जण-दुज्जणा दोण्णि होंति उव्विग्गा, एगो परोवयारं विणा अवरो परावयारं विणा। एस किं होदि? सज्जणं उवयारस्स पुव्वब्भासो त्थि, तत्तो पेरणाए सो उवयारं उवयारं हि करेदि तहा दुज्जणं पि परावयारस्स पुव्वब्भासो त्थि, तम्हा तं अणुवयारेण विणा संतिलाहो ण होदि, इमा पुव्वब्भास-महिमा। जे सदा हि सुकिच्च-सक्कारा सगम्हि रुप्पंति, ते जणा उत्तमा। असुह-सक्कारो आदम्हि आगदो, सो जीवणे कदा उदए आगच्छेहिदि कोवि ण जाणेदि। जीवणस्स चरम-उक्करिस-काले असुह-पुव्वब्भासो कुओ आगदो, दु सयल-उक्करिसो खणमेत्ते पदण-रूवे परियट्टेदि। जत्थ जय-जयकारो गदिमाणो, तत्थेव हाहाकारो होदि, तम्हा सदा सेट्ठ-कज्जं कुणेहि, जेण सेट्ठत्तं पयडेज्जा। जदि जीवम्हि उवयार-सक्कारा आगदा दु सो चरमसास-पज्जंतं परोवयारं हि करेहिदि। मरणस्स पच्छा वि उवयारगस्स जसो जिवेदि। आयासदव्वस्स उवयारो पत्तेगदव्वं अवगासदाणं, जाणि वि जडचेयण-पदत्थाणि तेसिं अवगासट्ठाणं आयास-दव्वं। वट्टणा-परिणाम-किरिया-परत्तापरत्तं चावि कालदव्व-उवयारो। समय-बोहो कालदव्वेण हि होदि। भूद-भावी-वट्टमाण-घडी-घंटा-पल-विपल-णिमेस-आवली-जुग-संवच्छर-उस्सप्पिणी-अवसप्पिणी-हुंडावसप्पिणी-कप्पकाला य ववहार-काल-भेदा तहा वट्टणा-लक्खणं णिच्छयकालो। आउ-कालो कोवि लहू कोवि दिग्घो, अयं काल-दव्व-उवयारो त्ति॥

2. सज्जन, उपकारी-मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर; अपने प्राणों की भी चिंता छोड़कर पर के प्राणों की रक्षा करते हैं, महामारी में वैद्यों के समान। सच्चा-उपकारी ही नरोत्तम होता है; जो कि उपकार के बदले में प्रति-उपकार की भावना नहीं रखता है, अपितु निःस्वार्थ भाव से पर का उपकार करता है। बिना उपकार के न व्यवहार धर्म पलता, न ही परमार्थ, उपकार-भाव भी वस्तु का धर्म है। प्रत्येक द्रव्य में उपकार-भाव त्रैकालिक होता है। जगत् में बुद्धि एवं अबुद्धिपूर्वक उपकार करते हुए द्रव्य देखे जाते हैं। अनुग्रह धर्म विराट् है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपकार करता है तथा स्व-स्व का भी उपकार करता है। सज्जन एवं दुर्जन दोनों को चैन नहीं पड़ती; एक को पर-उपकार किए बिना और दूसरे को पर-अपकार किए बिना। ऐसा क्यों होता है? तो इसका उत्तर यही है कि सज्जन को उपकार करने का पूर्व-अभ्यास है, उससे प्रेरित होकर वह उपकार-ही-उपकार करता है तथा दुर्जन को भी पर-अपकार करने का पूर्व-अभ्यास है, इसलिए उसे अनुपकार किए बिना शान्ति नहीं मिलती, पूर्वाभ्यास की यही महिमा है। वे जन ही श्रेष्ठ हैं; जो सदा ही सुकृत्य का संस्कार अपने अन्दर डालते हैं। एक बार खोटा संस्कार आत्मा में आ गया वह जीवन में नहीं मालूम कब उदय में आ जाए? जीवन के चरम-उत्कर्ष-काल में खोटा पूर्वाभ्यास कहीं आ गया, तो सम्पूर्ण उत्कर्ष क्षणमात्र में पतन में बदल जाता है। जहाँ जय-जयकार चल रही थी, वहीं पर हा-हाकार होने लगती है, इसलिए सदा श्रेष्ठ-कार्य करो जिससे श्रेष्ठता

ही प्रकट हो। जीव के अन्दर यदि उपकार करने के संस्कार आ गए तो वह अंतिम श्वास तक परोपकार ही करेगा। मृत्यु के उपरांत भी उपकार करने वाले का यश जीवन्त रहता है। आकाश द्रव्य का उपकार प्रत्येक द्रव्य को अवकाश-दान करना है, जो भी जड़-चैतन्य पदार्थ हैं उन सबका अवकाश स्थान आकाश-द्रव्य है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व काल-द्रव्य का उपकार है। जो भी समय का बोध होता है, वह काल-द्रव्य के द्वारा होता है। भूत-भावी-वर्तमान, घड़ी, घण्टा, मिनिट, पल, निमेष, आवली, युग, संवत्सर, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, हुंडावसर्पिणी, कल्पकाल ये सब व्यवहार काल के भेद हैं तथा वर्तना लक्षण 'निश्चय-काल' है। आयु-काल, कोई छोटा, कोई बड़ा यह सब काल-द्रव्य का उपकार है।

---

3. जीव-पुग्गल-गमणे उवयारी धम्मदव्वं। लोयो दव्वं जं किरियावट्टी-सत्ति-संपण्णं। गमणकिरियाए धम्मदव्वं जीव-पुग्गलं उदासीण-णिमित्तेण उवयाररदं, जह तोयं मच्छाणं होदि। जावं धम्मदव्वं तावं हि जीव-पुग्गल-दव्वस्स गमणं, तस्स पुरदो णत्थि॥

3. जीव एवं पुद्गल को गमन में उपकारी 'धर्म-द्रव्य' है। लोक एक ऐसा द्रव्य है जो क्रियावर्ती शक्ति सम्पन्न है। धर्म द्रव्य जीव-पुद्गल को उदासीन निमित्त से उपकाररत है गमन क्रिया में, जैसे मछली के लिए सहकारी पानी होता है। जहाँ तक धर्म द्रव्य है, वहाँ तक ही जीव एवं पुद्गल-द्रव्य का गमन है, उसके आगे नहीं।

---

4. जीव-पुग्गल-णिवासणे उवयारी अधम्म-दव्वं। णिवसणे अधम्म-दव्वं उदासीण-रूवेण सहयारी होदि, जह छाया पहिगाणं। सगिच्छादो पहिगो छायाए णिवसणेदि दु रुक्ख-छाया उवयारी, णेव बलादो। जडदव्वेहिं पि चेयण्ण-उवयारो होदि॥

4. जीव एवं पुद्गल द्रव्य को ठहरने में कोई उपकारी द्रव्य है, उसका नाम है अधर्म द्रव्य। अधर्म द्रव्य उदासीन रूप से सहकारी होता है ठहरने में, जैसे पथिक के लिए वृक्ष की छाया। स्वेच्छा से पथिक छाया में रुकना चाहता है, तो वृक्ष की छाया उपकारी है बलात् नहीं। जड़ द्रव्यों से भी चैतन्य का उपकार होता है।

---

5. संसारे संसारीणं पुग्गलकिदा बहूवयारा। इंदियजण्ण-सुहदुहं जीवण-मरणं देहमणवयणं पाणावाणं च पुग्गलकिद-जीवोवयारो त्ति। णीर-भोयणादीहिं संसारे जीवो सग-दव्व-पाणाणं रक्खेदि, इमा रक्खा वि पुग्गलकिदा एव। दव्वपाणो वि पुग्गलभूदो। बंधलद्धप्पा संसारे इमेंसि सव्वेसिं उवकिदो, तम्हा जीवोवयारो पुग्गलेणं होदि; इमं अणेयंत-दिट्ठीए मुणेदव्वो॥

5. संसार में संसारी-जीवों के लिए पुद्गल-कृत बहुत उपकार हैं। इन्द्रियजन्य सुख-दुःख, जीवन-मरण, शरीर, मन, वचन, प्राण-अपान ये सब पुद्गल-कृत जीव का उपकार है। भोजन-पानी आदि के माध्यम से संसार में जीव अपने द्रव्य-प्राणों की रक्षा करता है, यह रक्षा भी पुद्गल-कृत ही है। द्रव्य-प्राण भी पुद्गलभूत है। बंध को प्राप्त आत्मा संसार में इन सबके द्वारा उपकृत है, इसलिए जीव का उपकार पुद्गल के द्वारा होता है, इसे अनेकान्त दृष्टि से समझना चाहिए।

---

6. पुग्गलदव्वं पुग्गलस्स उवयारं करेदि, जह दुद्धादो सक्कर-मलं खलेदि, फेणगादो वत्थमलं खलेदि, बालुगा-सुहा-संजोगेण भवणं सत्तिमाणं होदि, उच्छिट्ठ-पत्ताणि भम्हादो सोधएदि; अयं पुग्गलकिदो पुग्गल-अणुग्गहो। परोप्परे जीवो वि जीवस्स उवयारं करेदि। गुरू सिस्सं तच्चणाणं दिक्खा-सिक्खा-सक्कारं च देदूणं तहा गुरु-आणं पालित्ता सिस्सो तेसिं सेवित्ता गुरूवयारं करेंति तहा संताणो मादु-पिदूणं सेवा-सुस्सुसं किच्चा कुल-परंपरा-रक्खणं किच्चा तेसिं उवयारं करेदि। धेणुं गोवालेण तिण-णीरं च देदूणं उवयरदे, दु धेणुणा दुद्ध-गोमय-वच्छादिं देदूणं उवयरदे। किसगो रुक्खा उव्वरग-णीरं च देदूणं उवयरेदि। रुक्खो किसगं फलपुप्फ-इंधणादिं च देदूणं उवयरेदि। एवं सयल-वीसे परोप्पर-उवयारं दिस्सेदि। उवयारिस्स उवयारं गेण्हिय किदण्णदा-धम्मं पालिय माणवत्त-परिचय-पयडीकरणं माणवधम्मो एवमेव साहुत्तं॥

6. पुद्गलद्रव्य पुद्गल का भी उपकार करता है जैसे कि दुग्ध के द्वारा शक्कर का मल हटता है, साबुन से वस्त्रों का मल हटता है, बालू-सीमेन्ट के संयोग से भवन शक्तिमान बनता है, जूठे बर्तनों को राख से स्वच्छ किया जाता है, यह सब पुद्गल-कृत पुद्गल का अनुग्रह है। परस्पर में जीव भी जीव का उपकार करता है। गुरु शिष्य को तत्त्वज्ञान प्रदान करके, दीक्षा-शिक्षा संस्कार देकर उपकार करते हैं तथा शिष्य गुरु-आज्ञा का पालन कर उनकी सेवा कर गुरु का उपकार करता है। माता-पिता संतान को जन्म देकर पालन-पोषण कर उपकार करते हैं तथा संतान माता-पिता की सेवा-सुश्रुषा कर कुल-परम्परा की रक्षा कर उनका उपकार करती है। गाय को गोपाल ने घास-पानी देकर उपकृत किया; तो गाय द्वारा दुग्ध, गोबर, बछड़े देकर उपकृत किया जाता है। किसान वृक्षों को खाद-पानी देकर उपकृत करता है वृक्ष किसान को फल-पुष्प, ईंधन आदि देकर उपकृत करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में परस्पर उपकार देखा जाता है। मानव का धर्म है, उपकारी के उपकार को स्वीकार कर कृतज्ञता के धर्म को पालन कर मानवता का परिचय दे, यही साधुता है।

---

7. संसारे पावी-जीवाणं संखा दु पउरा एव, महापावी वि थोवा णत्थि। पंचपावाणि करेंति दु होंति पावी, किण्णु जे उवयारिस्स उवयारं कज्ज-पुण्णे सदि सिग्घं विसरेंति, ते मूढा महापावी-सण्णं लहित्ता पुढवीए भारभूदा जीयंति॥

7. संसार में पापी-जीवों की संख्या तो प्रचुर है ही, परन्तु महापापी भी कम नहीं हैं। पाँच पाप करे तो पापी होते हैं, पर जो उपकारी के उपकार को काम निकलते ही शीघ्र भूल जाते हैं, वे मूढ़-जन महापापी संज्ञा को प्राप्त होकर पृथ्वी पर भार बनकर जीते हैं।

---

8. सज्जणा कदावि सगोवयारिस्स उवयार-विम्हरणं ण करेंति, उवयारिस्स उवयारं पडिपलं सुमरेंति। ते हि जीविद-साहुदा-दंसणं भूलोगं कारेंति। एरिसा पवित्तचित्तेहिं वसुंधरा-सोहा। उवयारिस्स उवयारं विसरिय जे किदग्घी पुढवीए जिवंति, ते महीए कंडगसमाणा; ते सज्जण-हिदए वेधित्ता तिव्व-पाव-बंधं किच्चा दुग्गदिपत्तं होहिंति। एरिसं पुप्फजीवणं गेण्हेहि, जं उज्जाणपालगादो णीरं लेदि तहा पडियाररूवे सुगंधं देदि। हुव इक्खु व्व, सो णीरं गेण्हिय महुर-रसं देदि। हुव धेणू णीरं पिबिय दुद्धं देदि, किण्णु मा हुव उसहो, तं णीरं रसं पि देहि पुणो वि मेत्तं मुत्तं हि देदि सो। मा हुव विसहरो वि, सो महुर-दुद्धं पिबिय वि विसं हि देदि॥

8. सज्जन-पुरुष कभी भी अपने उपकारी के उपकार का विस्मरण नहीं करते हैं, उपकारी के उपकार को हर-समय ध्यान में रखते हैं। वे ही जीवित-साधुता का दर्शन भूलोक को कराते हैं। ऐसे पवित्र-हृदयी लोगों से ही वसुन्धरा की शोभा है। उपकारी के उपकार भूलकर जो कृतघ्नी पृथ्वी पर जी रहे हैं, वे मही पर काँटों के तुल्य हैं; वे सज्जनों के हृदय में चुभन उत्पन्न कर तीव्र-पाप का बंध कर दुर्गति के पात्र बनेंगे। ऐसे पुष्प का जीवन स्वीकार करो जो नाली से पानी लेता है और बदले में सुगंध देता है। गन्ने के समान बनो, जो नीर ग्रहण कर मधुर रस देता है। गाय बनो; पानी पीकर दुग्ध देती है, परन्तु बैल मत बनो, उसे पानी क्या रस भी दो, फिर भी मात्र मूत्र ही देता है। काल-नाग विषधर भी मत बनो, वह मधुर-दुग्ध पीकर भी विष ही उगलता है।

---

9. परोवयारी उहयलोए सुही होदि। सो वट्टमाणे णिल्लोहदाजुत्तो जसधण-जुत्तो होदूणं सुही होदि तहा भावि-पज्जाए सुकिच्च-सुहभावजोगेण सग्गादि-सुहं भजेदि। धरणीए भारभूदो होदूणं णवि जीवेज्जा, अविदु सगपरेसुं उवयारित्ता धरणीए सुंदर-उवहारो हुवेज्जा; एवमेव पत्तेग-माणवस्स कत्तव्वं। करुणापुण्ण-सहिदयीणं अंतोकरणे हि परोवयार-भावा आगमेंति; सत्थी-लोलूवी-विसयासत्तचित्त-मणुस्सेसुं कस्सचिदवि उवयार-भावा हि ण होंति। सग-परिणामेहिं मिल्लेहि, किं तुज्झ भावदसा?

9. परोपकारी उभय-लोक में सुखी होता है। वर्तमान में निर्लोभता से युक्त होकर यशधन से युक्त होकर सुखी होता है तथा भविष्य पर्याय में सुकृत्य शुभ-भावों के योग से स्वर्गादि के सुख को प्राप्त करता है। प्रत्येक मानव का कर्तव्य है कि वह धरती पर भार बनकर न जिए, अपितु स्व-पर दोनों पर उपकार कर धरती पर सुन्दर उपहार बने। करुणापूर्ण सहृदयी जीवों के अंतःकरण में ही पर-उपकार के भाव आते हैं; स्वार्थी, लोलुपी और

विषयों में आसक्त चित्त वाले मनुष्यों के अन्दर किसी के उपकार करने के भाव ही नहीं होते। स्व-परिणामों से मिलो; आपकी भाव दशा क्या है?

---

10. अहो माणवा! माणवत्तं ण रोच्छेज्जा, परोपर-उवयार-भावचागं मा कुज्जा। जदि हिदए चाग-भावा जादंतु दु हिंसा-असच्च-चोरिय-कुसील-परिग्गह-ईसा-पडिप्फड्ढा-मच्छरियचागं च कुज्जा, किण्णु उवयार-भारं रक्खेज्जा। परोवयारे धम्मभावणं धारेहि, परोवयारस्स किवं मा दरिसेहि, उवयार-भावणं आद-भावणादो पयडेहि, उवकिदं हीणभावणं मा जादावेहि। अज्ज तुए परोवयारं किदं, समए सदि सो वि तुज्झ उवयारं करेहिदि। णाणी! सव्वस्स दिणाणि ण होंति सरिसाणि, तम्हा मिदुदाए जीवेहि ण दु दप्पे॥

10. अहो मानवो! मानवता न रोने पाए; परस्पर उपकार-भाव का त्याग मत कर देना। त्याग करने के भाव उत्पन्न हों हृदय में, तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, ईर्ष्या, डाह, मात्सर्य का त्याग कर देना, लेकिन उपकार-भाव को सुरक्षित रखना। पर-उपकार पर धर्म-भावना रखना, पर-उपकार का अहसान मत दिखाना, उपकार-भावना आत्म-भावना से प्रकट करना, उपकृत को हीन-भावना उत्पन्न मत कराना। आज आपने पर का उपकार किया है, समय आने पर वह भी आपका उपकार करेगा। ज्ञानी! सबके दिन एक-से नहीं होते, इसलिए अहं में नहीं मृदुता में जियो।

---

11. णाणिणो! पयडीदो किंचण सिक्खेहि, जदि पयडी सगीय-उवयारं रुंभेदि, दु किं तुज्झ जीवणं होहिदि गदिमाणं? अहोणिसं तुमं पयडीदो उवकिदो होसि। आदिच्च-पयासो, आयासस्स अच्छादणं, ससंक-कोमुदी, धरणीए अंकुरिद-वणप्फदी, कलकलरव-जुदो सागरो, सरिदा-सरोवराणं सीयलणीरं, पव्वद-सिंखलाओ, वण-उववणं, विसम-काणणं, वणचरो, जलचरो, थलचरो, णहचरो, णागरिगो, वणवासी य, एदे सव्वे उवयरंति। जदि पयडि-उवयारं ऊसरेदु दु इमा धरा माणव-सुण्णा होहिदि। मेत्तं उवयार-भोत्ता होदूणं मा जीव, उवयार-कत्ता वि हुज्जा। पयडीदो एवमेव भूदत्थ-सिक्खं पप्पेहि॥

11. ज्ञानियो! प्रकृति से कुछ तो शिक्षा ले लो; प्रकृति अपना उपकार करना बंद कर दे, तो क्या आपका जीवन चलेगा? प्रातः से शाम तक आप प्रकृति से उपकृत होते देखे जाते हैं। सूर्य का प्रकाश, आकाश का आच्छादन, चन्द्रमा की चाँदनी, धरती पर उगती वनस्पति, कलकलरव-युक्त सागर, सरिताओं-सरोवरों का शीतल नीर, पर्वतों की शृंखलाएँ, वन-उपवन, बीहड़-जंगल, वनचर, जलचर, थलचर, नभचर, नागरिक, वनवासी ये सभी तो उपकार करते हैं। यदि प्रकृति का उपकार हट जाए, तो यह धरा मानव-शून्य हो जाएगी।

मात्र उपकार के भोक्ता बनकर ही मत जियो, उपकार के कर्ता भी बनना सीखो। प्रकृति से यही भूतार्थ-शिक्षा प्राप्त करो।

---

12. कम्म-पबलदाए जीवो कट्ठ-पव्वदेसुं आरोहेदि, तक्काले पण्णा वि कज्जकरणे असमत्थत्तं पयडेदि, संबंधा वि हविज्जंति विच्छिण्णा। जह जिण्ण-भवण-भित्तीओ णिज्झरंति, तहेव सिद्ध-कज्जाइं पि विप्पलयंति। इमीए ठिदीए णट्ठ-माणवत्ते करुणा-उवयारस्स ओसह-पओगो आवस्सगो समय-संकमणं विचित्तं, तुमं समत्थवंतो तस्स पुण्णोवओगं कुणेहि। दुहीजण-उवयारो तुज्झ पुण्णजसवड्ढि-कारणं॥

12. कर्म की प्रबलता में जीव कष्टों के पर्वतों पर आरोहित होता है, उस काल में प्रज्ञा भी कार्य करने में असमर्थता प्रकट करने लगती है, संबंध भी विच्छिन्न होने लगते हैं। जैसे जीर्ण-भवन की दीवारें गिरने लगती हैं, वैसे बने कार्य भी बिगड़ने लगते हैं। इस स्थिति में टूटती मानवता पर करुणा एवं उपकार की औषधि का प्रयोग करना अनिवार्य है। समय का संक्रमण विचित्र ही होता है, आपके पास सामर्थ्य है, उसका उपयोग भरपूर करो। दुःखीजनों का उपकार आपके पुण्य एवं यश-वृद्धि का कारण है।

---

13. जो सगे करुणाए अद्द-चित्तो होदि, सो हि परोवयार-भावं उप्पज्जेदि। उवयारो सग-कारुण्णं दुक्खभूद-अब्भंतरपीडाए पडियारो। उवयारसीलो अवरपीडं गंभीरत्तेण चिंतेदि, पीडित-पीडं जाणित्ता तस्स पीडा-हरण-उज्जमं च करेदि। असुहोदए आवस्सगदाओ होंति किण्णु वत्थु-अणुवलद्धी; तदा हिदए किं होज्जा? एरिसेण अणुहवेण उवयारी परोवयार-जदणं करेदि। अहो पण्णप्पा! सव्वस्स दिणाणि सरिसाणि ण होंति, समयो परियट्टेदि, भग्गं पि परियट्टेदि। इदं सुत्तं सदा मिदीए धारेहि॥

13. जो स्वयं में करुणा से आर्द्र-चित्त होता है वही परोपकार के भाव उत्पन्न कर पाता है। उपकार स्व-कारुण्य, दुःखभूत आंतरिक पीड़ा का प्रतिकार है। उपकार-शील दूसरे की पीड़ा को गंभीरता से विचारता है, पीड़ित की पीड़ा को समझकर उसकी पीड़ा-हरण का पुरुषार्थ करता है। अशुभोदय पर आवश्यकताएँ तो रहती हैं, पर वस्तुएँ अनुपलब्ध रहती हैं, उस समय हृदय पर क्या बीतती है? इस अनुभूति के साथ उपकारी परोपकार का प्रयत्न करता है। अहो प्रज्ञात्मन्! सबके दिन एक से नहीं होते, समय बदलता है, भाग्य भी बदलता है। इस सूत्र को हमेशा स्मरण में रखो।

---

14. लोगिग-पारमट्ठिग-खेत्तेसुं उवयारस्स आवस्सगत्तं। सग-परोवयार-णियोगेण णिच्छय-ववहार-धम्मो गदिमाणो। जे पारमट्ठिग-जीवणं जीवंति, ता पारमट्ठिग-दिट्ठीए उवयरेज्जा, जे ववहार-जीवणं जीवंति, ता ववहाररूवेण उवयरेज्जा, इदं कत्तव्वं मण्णेज्जा। पुण्ण-लद्धं भोग-सामग्गिं परोवयारे वि विव्वेहि णेव भोगे; एरिसा किरिया भावी-पुण्ण-बंधं कारित्ता पुणो अब्भुदय-कारणं होहिदि। जो भवियो सगलद्धदव्वं सत्त-खेत्तेसुं उवउंजेदि, सो सत्त-परमठाणं भजेदि॥

14. लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों ही क्षेत्रों में उपकार की आवश्यकता है। स्व-परोपकार के नियोग से निश्चय तथा व्यवहार धर्म चलता है। जो पारमार्थिक-जीवन जीते हैं उन्हें पारमार्थिक-दृष्टि का उपकार करें, जो व्यवहार-जीवन जीते हैं उन्हें व्यवहार रूप से उपकृत करना अपना कर्तव्य स्वीकारना चाहिए। पुण्य से प्राप्त भोग-सामग्री भोग में ही नहीं परोपकार में भी व्यय करो, जो कि भावी पुण्य-बंध कराके पुनः अभ्युदय का कारण बनेगी। जो भव्य अपने प्राप्त द्रव्य को सात क्षेत्रों में लगाता है; वह सप्त-परम-स्थान को प्राप्त होता है।

---

15. उवयारस्स खेत्ताणि अणेगाणि, तत्थ-तत्थ दयादाणरूवे उवयरेज्जा। बुभुक्खिदं भोयणदाणं, तिसाउरं णीरदाणं, रोगिं णिद्दोस-णिरामिस-ओसह-दाणं, णाण-पिवासुं सत्थदाणं, भयभीदं णिब्भयत्त-दाणं, पत्तेग-जीव-रक्खणं किच्चा अभयदाणं, अग्गि-जलप्पावणादो माणवपसु-भूदादीदो पागदिग-विवदादो पीडिदाणं मणुस्स-तिरियाणं सग-जोग्गदा-सत्तीए पीडा-पडियारं कादव्वं। एदाणि सव्वाणि उवयारक्खेत्ताणि॥

15. उपकार करने के क्षेत्र अनेक हैं; वहाँ-वहाँ दया-दान के रूप में उपकार करना चाहिए। भूखे को भोजन, प्यासे को पानी देना, रोगी को निर्दोष निरामिष औषधि देना, ज्ञान-पिपासु को शास्त्र प्रदान करना, भयभीत को निर्भय कराना, प्रत्येक प्राणी के प्राणों की रक्षा करके अभय-दान करना, अग्नि से पीड़ित, पानी की बाढ़ आदि से पीड़ित, मानवों-पशुओं-भूतादि से पीड़ितों को, प्राकृतिक-विपदाओं से पीड़ितों को, चाहे वे मनुष्य हों या तिर्यंच उनकी स्व-योग्यता, यथा-शक्ति पीड़ा का प्रतिकार करें। ये सब उपकार क्षेत्र हैं।

---

16. उवयार-भावो उक्किट्ठो धारेज्जा, णवरि उवयारगं पडिक्खणं होदि पुण्णासवो। जस्स पुण्णं होहिदि, सो हि उवकिदं होहिदि, पुण्णखीणस्स उवयारं परमप्पा वि ण करिस्सदि। जदि वि सागरो विसालो, किण्णु णीरं तु तेत्तियं हि लद्धेदि जेत्तियं विसालं पत्तं। भोयणसालाए भोयणं तु पउरं, मूढो लिच्छं तु विउलं करेदि, परंतु जेत्तियो उदरो तेत्तियं हि भोयणं करिस्सदि। णाणीजणा पत्तजोग्गत्तं दट्ठूणं तम्हि वत्थुं ठावेंति; जे पत्त-परिक्खं विणा सग-अहिट्ठ-वत्थुं ठावेंति, ते पच्छा अणुतवेंति। मलिण-भग्ग-अवरविगिद-पत्ते य विवेगीजणा बहुमुल्लं सगदव्व-णिक्खेवं ण करेंति। तहेव पण्णपुरिसा

जस्स उवयरंति, तस्स जोग्गदा-णाणं पि करेंति। पुण्णखीणं अप्पदव्वं देदूणं हि उवयरेहि, सो बहुदव्वक्खयं करिस्सदि। अभक्ख सेविस्स उवयारं तस्स अभक्खसेवणस्स चागं कारित्ता हि कुज्जा, सत्त-विसणिस्स सत्त-विसणचागं कुणेहि अण्णहा किदोवयारो तुज्झ हि अवयारं करिस्सदि। पावीदो पावचाग-पेरणादाणं पि उवयारो एव। पढमं णिव्विसणी-करणं अण्ण-दव्वदाणादो विउल-उवयारो त्ति, णवरि दुहिदस्स मूलकारणं विसणं। सम्मोवयारी कदावि पाविस्स पावपुट्ठिं ण करेदि।

16. उपकार भाव उत्कृष्ट रखना चाहिए, क्योंकि उपकार करने वाले को प्रतिक्षण पुण्यास्रव होता है। उपकृत वही हो पाएगा जिसका जितना भाग्य होगा, भाग्यहीन का परमात्मा भी उपकार नहीं कर पाएगा। सागर विशाल है, पर पानी तो उतना ही ला पाओगे जितना बड़ा पात्र है। भोजनशाला में भोजन तो प्रचुर है; मूढ़ लालसा तो बड़ी कर सकता है, परन्तु भोजन उतना ही कर पाएगा जितना उदर है। ज्ञानी जन पात्र की योग्यता देखकर उसमें वस्तु रखते हैं, बिना पात्र-परीक्षा के जो अपनी अभीष्ट वस्तु रख देते हैं वे बाद में पछताते हैं। मलिन, भग्न व अन्य विकृत-पात्र में विवेकी-जन कीमती स्व-द्रव्य का निक्षेप नहीं करते। उसी प्रकार प्रज्ञ-पुरुष जिसका उपकार करते हैं उसकी योग्यता का भी ध्यान रखते हैं। पुण्यक्षीण को अल्प-द्रव्य देकर ही उपकार करें बहु-द्रव्य का वह क्षय कर देगा। अभक्ष्य-सेवी का उपकार उसके अभक्ष्य सेवन का त्याग कराके ही करें, सप्त-व्यसनी के सप्त-व्यसन का त्याग कराएँ, अन्यथा किया गया उपकार आपका ही अपकार कर देगा। पापी से पापों का त्याग कराना भी उपकार ही है। अन्य द्रव्य देने से बड़ा उपकार यही है कि सर्वप्रथम निर्व्यसनी बनाना, क्योंकि दुःखी होने का मूल कारण व्यसन ही हैं। सच्चा उपकारी कभी पापी के पापों की पुष्टि नहीं करता है।

---

17. दुही-धणहीण-पुण्णहीण-साधम्मी-धम्मप्पा-अणुग्गहो धम्मस्सेव अणुग्गहो। धम्मप्पा सुरक्खिदो दु धम्मो सुरक्खिदो। संखादिट्ठीए वीसे मज्झमवग्ग-धणहीण-संखा अहिगा। जदि धणिगेहिं इमेसिं उवयारो होसि दु णूणं महाणं धम्मधम्मप्पाणं हि सुरक्खा अत्थि। धणी-साहुजण-णाणी-वेज्ज-गुरवो य एदे सव्वे मज्झाणं रट्ठ-सोहा, तम्हा इमेसिं पि जहाजोग्गं सक्कारं कादव्वं। जम्हि देसे रट्ठे संपदाए कुलपरंपराए जादीए समुदाए अणुग्गह-भावो जीविदो, परोपर-उवयार-भावा संति; ते हि रट्ठ-देसादी उण्णदिसीला सुहिदयवंता होंति। उवयारीजणा लोए जसक्खादिं भजेंति। उवयारीजणाणं णामो तेसिं मिच्चूवरंतं पि जणसामण्ण-जणाणं सिरिमुहे जीविदो होदि॥

17. दुःखी, धन-हीन, पुण्य-हीन, साधर्मी-धर्मात्मा का अनुग्रह (उपकार) करना धर्म का ही अनुग्रह है। धर्मात्मा सुरक्षित रहेगा तो धर्म सुरक्षित रहेगा। संख्या की दृष्टि से विश्व में देखा जाए तो मध्यम वर्ग एवं गरीबों की संख्या ही अधिक है। यदि धनिकों द्वारा इनका उपकार हुआ तो विश्वास रखो हमारे धर्म और धर्मात्माओं की ही सुरक्षा है। धनीजन, ज्ञानीजन, साधुजन, वैद्य, गुरु ये सब हमारे राष्ट्र की शोभा हैं, इसलिए इनका भी यथा-योग्य सत्कार होना अनिवार्य है। जिस देश में, राष्ट्र में, सम्प्रदाय में, कुल-परम्परा में, जाति में, अनुग्रह-भाव जीवित है, परस्पर उपकार के परिणाम हैं, वही देश-राष्ट्रादि उन्नतिशील, सुहृदयवान होते हैं। उपकारी जन लोक में यश-

ख्याति को प्राप्त होते हैं। उपकारी-जनों का नाम उनकी मृत्यु के उपरांत भी जन-सामान्य जनों के श्रीमुख में जीवित रहता है।

---

18. जं विवत्तियाले अवरस्स उवओगस्स णत्थि, तेसिं धणिगाणं धणं विहा अत्थि। तेसिं धणं केवलं पुण्णमलं, जं महामारी-सरिच्छ-वीसवावी-विवत्तीए कस्सचिद् उवओगे ण आगमीअ॥

18. उन धनिकों का धन किस काम का जो विपत्ति में किसी के काम न आ सके, उनका धन मात्र पुण्य का मल है जो महामारी जैसी विश्वव्यापी विपत्ति में किसी के काम न आ सके।

28

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

धम्मो

(धर्म)

1. धम्मो वत्थुणो भूदत्थ-सच्चत्थ-सहावो, धम्मो संपदायो णत्थि। जो सहावभूदो वत्थु-धम्मो तं सयल-संपदाया गेज्झंति, किण्णु सयल-संपदाएसुं परोप्परो विरोहो त्थि; तम्हा संपदाया मुणमाणा थोवा। संपदाया लहू लहू हि होंति, धम्मो विराडो होदि तहा तं मुणमाणा वि विराडा हि होंति॥

1. धर्म सम्प्रदाय नहीं, अपितु धर्म तो वस्तु का भूतार्थ, सत्यार्थ-स्वभाव है। जो स्वभाव-भूत वस्तु-धर्म है उसे सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं, परन्तु सभी सम्प्रदायों में परस्पर विरोध है, इसलिए सम्प्रदायों को मानने वाले अल्प ही हैं। सम्प्रदाय लघु-लघु ही होते हैं, धर्म विराट् होता है तथा उसे मानने वाले भी विराट् ही होते हैं।

---

2. णीर-सहावो सीदलदा, अग्गि-सहावो उण्हत्तं, जीव-सहावो चेयणा णादा-दिट्ठा-भावो य; इदं वीसे को ण गेज्झेदि? सव्वे गेज्झंति। बालगोवालो वत्थु-सहाव-धम्मं जाणेदि, इमम्हि भेदो णत्थि, भेदो दु संपदाएसुं॥

2. जल का स्वभाव शीतल है, अग्नि का स्वभाव उष्णता है, जीव का स्वभाव चेतना एवं जानना-देखना है, इसे विश्व में कौन नहीं स्वीकारता? सभी स्वीकारते हैं। बाल-गोपाल वस्तु स्वभाव धर्म को जानता है; इसमें भेद नहीं, भेद तो सम्प्रदायों में है।

---

3. धम्मो संसारादो दुहिदा जीवा दुक्खत्तो फेडित्ता सम्मं सुहं देदि। जत्थ पच्चक्खे मूग-पसु-

पक्खि-जीवा उप्पीडावेदि, बुद्धीदो पाण-हरणं कीरदे; एरिसो बलिकम्मजुत्तो किरियाकारगो धम्मप्पा कहं? सा किरिया वि धम्म-सण्णं कहं लब्भेदि? कदावि णत्थि। वट्टमाण-भूद-भावी-तेयालिग-सुहसंतिहेदू धम्मो, णो अण्णो णेव अण्णहा। पउत्तिणिवित्तिमूलग-सहावविहाव-किरियादसाओ धम्मधाराओ, अदो तच्चण्णेसिं मज्झत्थं होदूणं धम्मस्स सच्चत्थबोहं कादव्वं। पंथ-संपदाय-परंपरासुं धम्मपक्खावगमणस्स सम्मं उज्जमं कादव्वं। कम्हि संपदायम्हि धम्मकहणं कियं अत्थि?

3. संसार से दुःखी प्राणियों को दुःख से निकालकर सच्चे-सुख को प्राप्त करा दे; उसका नाम धर्म है। जहाँ प्रत्यक्ष में मूक पशु-पक्षियों को पीड़ित किया जा रहा हो, बुद्धि-पूर्वक प्राण-हरण किए जा रहे हों, ऐसे बलि कर्म युक्त क्रिया करने वाला धर्मात्मा कैसे? वह क्रिया भी धर्म संज्ञा को कैसे प्राप्त कर सकती है? कभी भी नहीं। वर्तमान, भावी एवं भूत त्रैकालिक जो सुख-शांति का हेतु है वही धर्म है; अन्य नहीं, अन्यथा नहीं। प्रवृत्ति-मूलक, निवृत्ति-मूलक, स्वभाव-दशा, विभाव-दशा, क्रिया-दशा ये धर्म की धाराएँ हैं, अतः तत्त्वान्वेषी को मध्यस्थ होकर धर्म का सत्यार्थ-बोध करना चाहिए। पंथों, परम्पराओं, सम्प्रदाओं में धर्म-पक्ष को समझने का सम्यक्-पुरुषार्थ करना चाहिए। किस सम्प्रदाय में धर्म की बात कहाँ तक है?

---

4. णिय-पुट्ठिकरणं कियं? भोगवित्ति-पोसणं कियं? रायणीदिकरणं कियं? कियदी सामाजिगदा? दंडणीदि-अत्थणीदि-सत्थसिद्धी कियदी? भोदिगरूवा वा पोराणिगा? जोगसाहणा-झाणधारणा-जमणियम-संजम-तवच्चाग-दाणदमण-दया-अहिंसा-परमबंभ-उवासणा कियं? सुद्द-णारि-पसु-पक्खीसुं करुणा अत्थि वा अच्चायारो? वणप्फदि-कीड-सलहाणं एगिंदियादो पंचिंदियजीवजावं का विवत्था? भोयणं वसणं च केहं? का सक्किदी?

4. निजी पुष्टिकरण कितना है? भोगवृत्ति का पोषण कहाँ तक है? राजनीतिकरण कितना है? सामाजिकता कितनी है? दण्डनीति, अर्थनीति, स्वार्थसिद्धि कितनी है? भौतिकरूप है या पौराणिक? योग-साधना, ध्यान-धारणा, यम-नियम, संयम, तप-त्याग, दान-दमन, दया-अहिंसा, परमब्रह्म की उपासना कहाँ तक है? शूद्रों-नारियों-पशु-पक्षियों पर करुणा है या अत्याचार? वनस्पति, कीट-पतंगे, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों तक क्या व्यवस्था है? भोजन-वसन कैसा है? संस्कृति क्या है?

---

5. उल्लिहिद-पक्खेसुं णिप्पक्खचिंतणं कादव्वं। रायणीदि-सामाजिगदा-दंडणीदीओ समाज-रज्जविवत्था-अंगं मण्णिय पस्सेज्जा, णेव धम्मंगं। संपदायिग-णियमा संपदायिगो एव भासेज्जा, तं धम्मो ण भासेज्जा। धम्मं अवमाणिदं ण करेहि, धम्मो एग-सुद्धावत्था, सा विसुद्धदाए आरंभेदि। सग-चिंतणधारा-मेत्तं धम्मरूवो णत्थि, णवरि चिंतणधाराओ जीव-विसेसेणं पुट्ठ-जुत्ताओ होंति। धम्मो जीववाची णत्थि, धम्मो दु वत्थुणो वत्थुत्त-जुत्तो॥

5. उल्लिखित पक्षों पर निष्पक्ष चिंतन करना चाहिए। सामाजिकता, राजनीति, दण्ड-नीति इन सबको समाज एवं राज्य-व्यवस्था का अंग बनाकर देखना चाहिए, न कि धर्म का अंग। साम्प्रदायिक नियमों को साम्प्रदायिक ही कहा जाए उसे धर्म न कहा जाए। धर्म को अपमानित न किया जाए, धर्म एक शुद्ध-अवस्था है जो विशुद्धता से प्रारंभ होता है। स्व-विचारधारा मात्र धर्म का रूप नहीं है, क्योंकि विचारधाराएँ व्यक्ति विशेष से पुष्ट व युक्त होती हैं। धर्म-व्यक्तिवाची नहीं है, धर्म तो वस्तु के वस्तुत्व से युक्त है।

---

6. पत्तेग-पदत्थं धम्मदिट्ठीए धम्मप्पा, एरिसं किंपि पदत्थं णत्थि जं होदु धम्मरित्तं। सग-सहावरूवो धम्मो दु जडचेयण्ण-दव्वेसुं सदा विज्जमाणो त्थि, एरिसो कोवि कालो ण आगमेदि जदा सहाव-धम्मत्तादो पदत्थं भिण्णत्तं भजेदि। जीवो पुग्गलो सहावे वसेहिदि वा विभावे, किण्णु सगधम्मे णूणं वसेहिदि॥

6. प्रत्येक पदार्थ धर्म-दृष्टि से धर्मात्मा है, ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो कि धर्म से रिक्त हो। स्व स्वभाव रूप धर्म तो जड़-चैतन्य सभी द्रव्यों में सदा विद्यमान रहता है; ऐसा कोई भी काल नहीं आता जब स्वभाव धर्मत्व से पदार्थ भिन्नत्व को प्राप्त होता हो। हाँ, इतना अवश्य है कि जीव एवं पुद्गल स्वभाव में रहेगा या विभाव धर्म में, परन्तु रहेगा स्व-धर्म में।

---

7. धम्म-अधम्म-आयास-काला, एदाणि चउ-दव्वाणि सगधम्मे हि सदा वसंति, इमेसिं विभावरूव-परियट्टणं ण होदि। तियाल-सुद्धत्थ-पज्जायस्स परिणमण-सब्भावो चउ-दव्व-सहावो त्थि तहा सहावो सहाववंते सणादणो वसेदि। सग-गुण-पज्जायादो दव्वाणि लोए सदा वसेंति, दव्वत्त-हाणी कदावि ण होहिदि। परिणमण-सीलदा णत्थि विणासो, अवत्थंतरदा वत्थुणो वत्थुत्त-णासगा णत्थि, अविदु णवीण-पज्जायस्स उप्पत्ती एव। इदं परमट्ठ-वयणं पि जाणेहि॥

7. धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल ये चार द्रव्य स्व-धर्म में ही सदाकाल रहते हैं, इनका विभाव रूप परिणमन नहीं होता। त्रिकाल शुद्धार्थ-पर्याय के परिणमन से युक्त रहना इन चार-द्रव्यों का स्वभाव है और स्वभाव स्वभावपन में सनातन रहता है। स्वगुण-पर्याय से द्रव्य लोक में हमेशा रहेंगे, द्रव्यत्व की हानि तो कभी भी नहीं होगी। परिणमन-शीलता विनाश नहीं है, अवस्थान्तरता वस्तु के वस्तुत्व की नाशक नहीं है, अपितु नवीन पर्याय की उत्पत्ति ही है। इस परमार्थ वचन को भी समझो।

---

8. सहाववाची-धम्मो कदावि ण णस्सेदि, एगदव्वं अवरदव्वे परोप्पर-संजोग-संसिलेसं लद्धे

सदि वि सग-सहावचागं ण करेदि। कम्हिचिदवि लोयवट्टी-दव्वे सगरूवो परदव्वं परिणदकरणस्स वा सगं परदव्वभूदो परिणदकरणस्स खमदा णत्थि। एगदव्वस्स अवरदव्वे तहोवपत्ती-संबंधो णत्थि, सग-सग-सरूवो हि दव्वस्स अवट्ठाणं अत्थि। कम्मेहिं संसारावत्थाए जीवाणं अणादि-संबंधो, पुणो वि जीवो कम्मं जीवरूवो ण करिज्जेदि तहा पुग्गलकम्माणि वि जीवं पुग्गलकम्मरूवाणि ण परियट्टिज्जेंति। अदुल-बलवंता ईसर-परमप्पा परमदेवाधिदेवा अरिहंत-तित्थयरा भगवंता वि कंचिद दव्वं परदव्वरूवं ण करिज्जंति, णेव भविस्से करिस्संति तहा ण कदावि भूदे करीअ॥

8. स्वभाववाची धर्म कभी नाश को प्राप्त नहीं होता, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में परस्पर संयोग-संश्लेष को प्राप्त होने पर भी स्व-स्वभाव का त्याग नहीं करता। किसी भी लोकवर्ती-द्रव्य में वह क्षमता नहीं है जो अपने रूप पर-द्रव्य को परिणत करा ले अथवा स्व को पर-द्रव्यभूत परिणत कर ले। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में तथोपपत्ति सम्बंध नहीं होता, अपने-अपने स्वरूप ही द्रव्य का अवस्थान है। कर्मों से संसार-अवस्था में जीवों का अनादि सम्बंध है, फिर भी जीव कर्म को जीव रूप नहीं कर सका तथा पुद्गल-कर्म भी जीव को पुद्गल-कर्म रूप परिणत नहीं कर सके। अतुल बलधारी, ईश्वर-परमात्मा, परम-देवाधिदेव अरिहंत तीर्थंकर भगवंत भी किसी द्रव्य को पर-द्रव्य रूप नहीं कर सके, न ही भविष्य में कर पाएँगे और न कभी भूत में किया है।

---

9. अहो! अहो! अहो! दव्वस्स किं अदुल-सहज-जोग्गत्तं, तं कदावि पररूवं ण परिणमेदि, सग-सद-धम्म-णासं णवि संघडेदि। दव्वं उप्पादव्वय-धुवप्पगं अवस्सं, परंतु पररूवत्तं णवि लद्धेदि, एवमेव दव्वस्स सगधम्म-सुतंतदा। पदत्थं सगधम्म-सुतंतदा-लोवं ण करेदि, विभावदसाए मिस्सत्तं खु भजेदि, कम्मासयं भजेदि, पुणो वि सग-धम्मत्ते अचलं होदि। जोगीसरो अचल-अदुल-अणुवम-सगधम्मस्स आलंबणादो हि कम्मक्खयं किच्चा पुण्ण-सुतंत-सुद्धसिद्धत्तदसं लद्धिय किदकिच्च-असरीरी-णिक्कलंक-णिगल-परमप्पा सिज्झेदि। अहो! एवमेव दव्वस्स सगधम्मत्त-सत्ती; इमस्स समक्खे अण्णस्स-किंचिवि णत्थि सत्ती॥

9. अहो! अहो! अहो! यह द्रव्य की क्या अतुल सहज योग्यता; कभी पररूप परिणत नहीं होता, अपने सत्-धर्म का नाश नहीं होने देता। द्रव्य उत्पादव्ययध्रुवात्मक अवश्य है, परन्तु पररूपता को प्राप्त नहीं करता, यही द्रव्य स्वधर्म की स्वतंत्रता है। पदार्थ स्वधर्म की स्वतंत्रता का लोप नहीं करता, विभावदशा में मिश्रता को प्राप्त अवश्य होता है, कर्मों के आश्रय को प्राप्त हो जाता है, फिर भी स्व-धर्मत्व पर अचल रहता है। योगीश्वर अचल, अतुल, अनुपम स्वधर्म के आलम्बन से ही तो कर्म क्षय कर पूर्ण स्वतंत्र शुद्ध सिद्धत्व-दशा को प्राप्त कर कृतकृत्य अशरीरी निष्कलंक निकल-परमात्मा बन जाता है। अहो! यही है द्रव्य की स्वधर्मत्व शक्ति; इसके समक्ष अन्य किसी की कुछ भी नहीं चलती।

---

10. परम-अज्झप्पतच्चे रत्त-जोगीसरा जस्स धम्मस्स आसयं गेण्हंति, किं सो धम्मो? सो धम्मो दु जो त्थि सो त्थि। जोगीसरा अण्ण-परवत्थुभूद-धम्मस्स आसयं णवि गेण्हेंति, जदा सरूव-लीणा होंति, दु मेत्तं णियगुणपज्जाए अहिरमेंति। अहं एग-चेयण्ण-चिम्मयो णायग-सहावी धुवधाम-टंकुक्किण्ण-परमप्पा। मज्झादो भिण्णो अण्णो, अण्णो एव; अण्णस्स अहं ण दु दव्वं, णेव गुणो, णवि य पज्जायो। अहं तु सगदव्वगुण-पज्जायजुदो सग-चदुट्ठये पुण्णो। आणंदकंद-णाणघणो हं परभाव-पुण्णसुण्णो हं। अहं एगो, एगो आसी, एगो हि वसेहिमि, णायगो! णायगो! णायगो! णायगो! णायगो हं। परस्स कत्ता णत्थि हं, परो वि मे कत्ता णत्थि, ण आसी, णेव होहिदि, इदं धुवं सच्चं। सब्भूद-ववहारा सग-सहावे हि परियट्टणसीलो हं। सगसदादो कदावि ण भिण्णो हवीअ, णवि अम्हि, णेव होहिमि; एसो परमेसर-उवएसो। परमेसरेण भासिदं तम्हा णो म्हि; एरिसो मे सहावो एव; तम्हा परमेसरेण भासिदं। परमप्पा णादो त्थि, णादो एव होहिदि, णादो एव आसी। ते कस्सचिदवि कत्ता हत्ता ण आसी, णवि संति, णेव होहिंति॥

10. परम-अध्यात्म तत्त्व में लवलीन योगीश्वर जिस धर्म का आश्रय लेते हैं; वह धर्म क्या है? वह धर्म तो वही है—'जो है सो है'। योगीश्वर अन्य किसी भी पर-वस्तुभूत धर्म का आश्रय नहीं लेते; जब स्वरूप लीन होते हैं तो मात्र निज गुण-पर्याय में लीन रहते हैं। मैं एक चैतन्य-चिन्मय ज्ञायक स्वभावी ध्रुवधाम, टंकोत्कीर्ण परमात्मा हूँ। मेरे से भिन्न अन्य, अन्य ही है; अन्य का मैं न द्रव्य हूँ, न गुण हूँ, न ही पर्याय। मैं तो स्व-द्रव्य-गुण-पर्याय युक्त स्व-चतुष्टय में पूर्ण हूँ। मैं आनन्दकन्द, ज्ञानघन पर-भावों से पूर्ण शून्य हूँ। एक हूँ, एक था, एक ही रहूँगा, मैं ज्ञायक! ज्ञायक! ज्ञायक! ज्ञायक! ज्ञायक ही हूँ, पर का कर्ता नहीं, पर भी मेरा कर्ता नहीं, न था, न होगा, यह ध्रुव सत्य है। स्व-स्वभाव में ही परिणमनशील हूँ; सद्भूत व्यवहार से। स्वसत् से भिन्न कभी हुआ नहीं, होऊँगा नहीं, हूँ नहीं, ऐसा ही परमेश्वर ने कहा है। परमेश्वर ने कहा है; इसलिए नहीं हूँ, ऐसा मेरा स्वभाव ही है, इसलिए परमेश्वर ने कहा—परमात्मा ज्ञाता है, ज्ञाता ही रहेंगे, ज्ञाता ही थे। वे किसी के कर्ता-हर्त्ता न थे, न हैं, न होंगे।

---

11. ववहारधम्मो किरियापहाण-धम्मो, सो वि दुविहो लोगिगववहारो परमट्ठववहारो य। लोग-परंपरा-पालणं, मादु-पिदु-सिक्खगादि-विणयो, मण्णजण-सम्माणं, राया-रज्जपुरिस-वेज्जादि-आदरो, पंडिदाणं सक्कारो उवहार-पदाणं चावि लोए लोगववहार-धम्मो। इमेण सम्मत्त-मिच्छत्तस्स कोवि संबंधो णत्थि, मेत्तं लोगोवयार-विणयो त्थि। कुडुंब-परिवार-रज्जविवत्था-विज्जादाण-भिच्च-कम्मादी, एदे सव्वे लोगिग-ववहारधम्मो, मोक्खमग्गादो भिण्णो॥

11. व्यवहार धर्म क्रिया-प्रधान धर्म है, वह भी दो प्रकार-लौकिक-व्यवहार और परमार्थ-व्यवहार। लौकिक-व्यवहार से तात्पर्य लोक-परम्परा का पालन करना, माता-पिता-शिक्षक आदि की विनय करना, मान्यजनों का सम्मान रखना, राजा एवं राज्य-पुरुषों, वैद्यादि का आदर करना, विद्वानों का सत्कार करना, भेंटादि

प्रदान करना, यह लोक में लोक-व्यवहार धर्म है। इससे सम्यक्त्व-मिथ्यात्व का कोई सम्बंध नहीं है, मात्र लोकोपचार-विनय है। कुटुम्ब-परिवार, राज्यव्यवस्था, विद्या-दान, भृत्य कर्मादि ये सब लौकिक-व्यवहार का धर्म है, मोक्षमार्ग से भिन्न है।

---

12. सम्मत्त-मिच्छत्तेणं च पओयणवंतो परमट्ठ-ववहारो। वीदरागदा-जुत्तं मग्गं अंगीकरणं सम्मत्तं तहा सरागत्त-अंगीकरणं मिच्छत्तं। पंचपरमेट्ठी-विणयो, सुपत्ताणि भत्तिविणयादो दाणं, सम्मदेवसत्थगुरु-पूयणं, अट्ठमूलगुण-पालणं; अयं अविरद-सम्मत्ती-धम्मो। अणुव्वद-सिक्खव्वद-गुणव्वद-पालणं वदी-सावगाणं ववहार-धम्मो।।

12. परमार्थ-व्यवहार जो कि सम्यक्-मिथ्यात्व से प्रयोजनवान है। वीतरागता से युक्त मार्ग को स्वीकारना सम्यक्त्वभूत है तथा सरागता को स्वीकारना मिथ्यात्व है। पंच-परमेष्ठी की विनय करना, सद्-पात्रों को भक्ति एवं विनय पूर्वक दान देना, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पूजन करना, अष्ट मूल गुणों का पालन करना, यह अविरत सम्यक्त्वी का धर्म है। अणुव्रत, शिक्षाव्रत एवं गुणव्रतों का पालन करना व्रती-श्रावकों का व्यवहार-धर्म है।

---

13. कासायिगभाव-कम्मपयडीणं उवसम-खवोवसम-खयो य, सग-सग-गुणट्ठाण-सरूवदिट्ठीए अयं परमट्ठधम्मो। णिग्गंथ-मुणिदिक्खं धारित्ता जिणलिंगेण मूलुत्तरगुण-पालणं, अयं णिग्गंथाणं ववहारधम्मो। सो असुहादो णिवित्ति-जण्णो सुहे-पउत्ति-जण्णो धम्मो। वद-समिदि-गुत्ति-धम्म-अणुपेहा-परीसहजय-भूदो त्थि।।

13. काषायिक-भावों, कर्म-प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय करना, स्व-स्व गुणस्थान व स्वरूप-दृष्टि से यह परमार्थ-धर्म है। निर्ग्रन्थ मुनि-दीक्षा धारण कर जिनलिङ्ग से मूलोत्तर गुणों का पालन करना, यह निर्ग्रन्थों का व्यवहार-धर्म है। वह अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति-जन्य धर्म है। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय भूत है।

---

14. णिच्छय-धम्मो किरिया-सुण्णो सरूव-लीणदा-भूदो। सो णाणी-जोगीणं गोयरो, मेत्तं ववहारिजणाणं सद्धाणविसयो, भावणाविसयो तहा तवोधणा अणुभूदि-विसयो त्थि। जत्थ बहिरब्भंतर-किरिया-णिरोहो, भवकारणाणं पुण्णक्खयो हवीअ। जत्थ णिव्वियप्प-णाणदंसण-चारित्त-धारा, परभावादो पुण्णभिण्णत्तवेदणं, संकप्पवियप्पसुण्ण-सग-एगागी-णियप्पवेहव-संवेदणं, चिदबंभाणुहवणं मेत्तं अवसेसं अत्थि, सयल-परविसेस-रित्त-सगसामण्णविसेसजुत्त-टंकुक्किण्ण-

णायग-धुवसहाव-वेदणं, परमट्ठ-लीणत्तं च; एवमेव णिच्छय-धम्मो। सक्खं मोक्खकारणं सच्चत्थधम्मो; ण अण्णो णेव अण्णहा॥

14. निश्चय-धर्म क्रिया-शून्य, स्वरूप लीनता भूत है। ज्ञानी-योगियों के गोचर, व्यवहारी जनों के मात्र श्रद्धा का विषय है, भावना का विषय है तथा तपोधनों को अनुभूति का विषय है। अंतरंग-बहिरंग क्रियाओं का जहाँ पर निरोध है, भव के कारणों का जहाँ पूर्ण क्षय हो चुका है। निर्विकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र की धारा; पर-भावों से पूर्ण भिन्नत्व का वेदन, संकल्प-विकल्प शून्य, एकमात्र स्व-एकाकी निज-आत्मवैभव का संवेदन, चिद्-ब्रह्म का अनुभव मात्र जहाँ अवशेष है, सम्पूर्ण पर-विशेषों से रिक्त एकमात्र स्व-सामान्य-विशेष से युक्त टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-ध्रुव-स्वभाव वेदन, परमार्थ-लीनता, निश्चय धर्म यही है। साक्षात् मोक्ष का कारण, सत्यार्थ धर्म, अन्य नहीं अन्यथा नहीं।

---

15. आदधम्मो हि मुक्खधम्मो, तस्स धम्मस्स लद्धीए सेसा धम्मा। सज्झ-धम्मो कम्मादीद-अवत्था, जत्थ मेत्तं परमबंभो चेयण्णं चेयण्णमेव वसदि। ण णयवियप्पो, ण पमाणवियप्पो, णवि णिच्छयधम्म-वियप्पो, णेव ववहारधम्मवियप्पो, एवमेव परमप्पदसा। आदा सगीय-सहजधम्मं पयडेदि, असहजदाए सयल-हेदूणं पुण्णाभावो होदि। अट्ठ-कम्मसुण्ण-अट्ठगुणजुद-केवलणाण-दंसणादि-आदगुणविभूदी मेत्तं सेसा, इमा आदस्स अंतिमदसा चरमदसा पुण्णकिदकिच्चदसा। जो चेयण्णदव्वस्स भूदत्थ-धम्मो आसी सो उवलद्धीअ। अदु आददव्वस्स कोवि उज्जमो अवसेसो णत्थि, लोयग्गे विज्जमाणो हुवीअ। कदि कप्पकाला गदा, णं पयड-परमप्पा अवदारं ण भजेहिंति॥

15. आत्मधर्म ही मुख्यधर्म है; उस धर्म की प्राप्ति हेतु शेष धर्म हैं। साध्य-धर्म कर्मातीत अवस्था, जहाँ पर एकमात्र परमब्रह्म चैतन्य-चैतन्य ही रहता है। न नय का विकल्प, न प्रमाण का विकल्प, न निश्चयधर्म का विकल्प, न व्यवहारधर्म, यही है परमात्म-दशा। आत्मा अपने सहज-धर्म को प्रकट कर लेता है, असहजता के सम्पूर्ण-हेतुओं का पूर्ण अभाव हो जाता है। अष्ट-कर्म-शून्य, अष्ट-गुण-युक्त, केवलज्ञान-दर्शनादि आत्म-गुणों की विभूति मात्र शेष, यह आत्मा की अंतिम-दशा है, पूर्ण कृतकृत्य दशा। जो चैतन्य-द्रव्य का भूतार्थ-धर्म था वह उपलब्ध हो चुका। अब आत्म-द्रव्य के लिए कोई भी पुरुषार्थ अवशेष नहीं बचा, लोकाग्र पर विराजमान हो गए। कितने ही कल्पकाल बीत जाएँ, परन्तु प्रकट-परमात्मा अवतार को प्राप्त नहीं होंगे।

---

16. उवसमभाव-तवसाहणाहिं उत्त-णिगल-परमप्पावत्था-लाहो होदि, तम्हा पत्तेग-साहगं देहधम्मपालणेण सह आदसाहणाए, कासायिग-भावस्स उवसम-भावस्स विसुद्धिभावेहिं साहणाए आवस्सगत्तं। आद-साहगो परधम्मादो अपहाविदूणं जीवेदि। जो परधम्मेहिं पहाविदो होदि सो

आदधम्मसाहणा-सुण्णो होदि। परभावाणं णाणं सद्धाणं च आदसाहणाए बाहगं णत्थि, अविदु परभावधम्मलीणत्तं आदसाहणाए पुण्णबाहग-कारणं। एयत्त-णियधम्मो परमसुंदरो॥

16. उपशम-भाव और तप-साधना से उक्त निकल परमात्म-अवस्था प्राप्त होती है, इसलिए प्रत्येक साधक को देह-धर्म के पालन के साथ आत्म-साधना, काषायिक-भाव के उपशम-भाव की विशुद्ध-भावों से साधना की अनिवार्यता है। आत्म-साधक पर-धर्मों से अप्रभावित होकर जीता है, जो पर-धर्मों से प्रभावित होता है वह आत्म-धर्म की साधना से शून्य रहता है। पर-भावों का ज्ञान व श्रद्धान आत्म-साधना में बाधक नहीं है, अपितु पर-भावों के धर्म में लीन होना आत्म-साधना में पूर्ण बाधक कारण है। एकत्व निज-धर्म परम सुन्दर है।

---

17. परभावाणं रागो बंधकारणं, तम्हा सहावसिद्धि-भावगस्स आदसाहगस्स णिव्वियप्पभावदो सग-साहणा-अब्भासं णिच्चं कुज्जा। आद-पुरिसत्थो मेत्तं सगपुरिसस्स होदव्वो, परपुरिसस्स किदो पुरिसत्थो सक्खं सिद्धि-कारणं णत्थि। जदा वि होहिदि आदसिद्धी, सा सगस्स सगम्हि किद-पुरिसत्थस्स एव फलं होहिदि। एयत्त-विहत्त-भावे गमणत्थं कस्सचिद अण्णस्स आसयो अणावस्सगो, सगासयी सगधम्मो; अयं सिद्धंतो अखंडणीयो॥

17. पर-भावों का राग बंध का कारण है, इसलिए स्वभाव-सिद्धि की भावना रखने वाले आत्म-साधक के लिए निर्विकल्प भाव से स्व-साधना का अभ्यास सतत करते रहना चाहिए। आत्म-पुरुषार्थ मात्र स्व-पुरुष के लिए होना चाहिए, पर-पुरुष के लिए किया गया पुरुषार्थ साक्षात्-सिद्धि का कारण नहीं है। जब भी आत्म-सिद्धि होगी वह स्व के लिए स्व में किए गए पुरुषार्थ का ही परिणाम होगा। एकत्व-विभक्त भाव में जाने के लिए किसी अन्य का आश्रय नहीं चाहिए, स्वाश्रयी स्वधर्म यह सिद्धान्त अकाट्य है।

---

18. सम्म-दंसण-णाण-चरित्तभूद-रयणत्तयलक्खणप्पगो धम्मो, उवायतच्चं तहा मोक्खतच्चलद्धी उवेयतच्चं। उवायं विणा णवि होदि उवेय-सिद्धी, अणुवाय-सिद्धी परमप्पस्स णत्थि, उवायो पुरिसत्थो य तहा पुरिसत्थो हि पुरिस-धम्मो। जो धम्म-अत्थ-काम-मोक्ख-पुरिसत्थाणं सिद्धिं करेदि, सो हि वीर-पुरिसो। चरमपुरिसत्थो मोक्खो, सो वि उवायेण हि सिज्झेहिदि। मोक्ख-पुरिसत्थ-सिद्धी परमप्प-पदस्स सहजोवलद्धी। परमप्प-दंसणं जीवस्स पुण्णजोगेण भजेज्जा। परमप्प-पदस्स साहणाए वि पुण्णं होदव्वं, परंतु पुण्णसुद्धावत्था-भूदो परमप्प-पदो पुण्णपावाणं अच्चंतक्खयादो भजेदि। परमप्पा पुण्ण-णिरंजण-णिक्कलंक-णिरामयदसाजुदो होदि॥

18. सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्रभूत जो रत्नत्रय लक्षणात्मक धर्म है, जो कि उपाय-तत्त्व है तथा मोक्षतत्त्व की प्राप्ति उपेयतत्त्व है। बिना उपाय के उपेय की सिद्धि नहीं होती, अनुपाय-सिद्धि परमात्मा की नहीं है, उपाय

अर्थात् पुरुषार्थ और पुरुषार्थ ही पुरुष का धर्म है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चार पुरुषार्थों की सिद्धि जो करता है वही वीर पुरुष है। अन्तिम पुरुषार्थ-मोक्ष है, वह भी उपाय से ही सिद्ध होगा। मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि से तात्पर्य परमात्म-पद की सहज उपलब्धि। परमात्मा के दर्शन तो जीव के पुण्य-योग से प्राप्त होते हैं। परमात्म-पद की साधना के लिए भी पुण्य चाहिए, परन्तु परमात्म-पद जो पूर्ण शुद्ध-अवस्था है वह पुण्य-पाप दोनों के अत्यन्त क्षय से प्राप्त होता है। परमात्मा पूर्ण निरंजन, निष्कलंक, निरामय दशा से युक्त होते हैं।

---

19. अब्भंतर-करुणादिट्ठी, पसत्थरागजुद-परिणामो, दुहिदेसुं किवाभावसब्भावो, उवयारो, सगरक्खाए तेसिं कट्ठ-णिवारणं च दया धम्मो त्थि। जदि सयं हि असुरक्खिदो, पुण अण्णेसुं कहं करुणं करिस्सदि। सग-रक्खाए वि सजगदापुण्ण-दिट्ठी होदव्वा। जो जोग्ग-पुरिसो सासण-सेवं करेदि, तं सेवं अजोग्गो ण करेदि, तम्हा सगीय-जोग्गत्तं सुरक्खेहि, एवमेव विवेगसील-करुणावंत-अहिणाणं।।

19. दया धर्म है अंतरंग करुणा-दृष्टि, प्रशस्त-राग से युक्त परिणाम, दुःखी प्राणियों पर कृपा-भाव का उत्पन्न होना, उपकार करना, उनके कष्ट दूर करना, स्वरक्षा के साथ। स्वयं ही सुरक्षित नहीं रहे, तो फिर अन्य जीवों पर करुणा कैसे कर पाओगे? स्व-रक्षा पर भी सजगतापूर्ण दृष्टि होना चाहिए। योग्य-पुरुष जो शासन की सेवा कर सकता है, वह अयोग्य नहीं कर सकता है, इसलिए अपनी योग्यता को सुरक्षित रखो, यही विवेकशील करुणावंत की पहचान है।

---

20. कासाइग-भावोवसमणे सदि आदगुणा सहजत्तेण जायदे, एवमेव सच्चत्थ-आदसुहस्स उवादाणं। जदत्थे दुहं सुहं च किंपि अण्णं वत्थुं णत्थि अविदु आदम्हि कसाय-तिव्वत्तं वड्ढेदि दु पाणी होदि दुही तहा जत्थ कसाय-उवसमणं खमादि-दहधम्म-पयडियरणं च तत्थ आद-सुहं पयडेदि। आदसुहस्स लीणत्तेण कम्मणिज्जिण्णं किच्चा माणवो पहुदा-सिद्धिं करेदि।।

20. काषायिक-भावों का उपशमन होते ही आत्म-गुणों का सहज उत्पादन होने लगता है, यही सत्यार्थ आत्म-सुख का उपादान है। यथार्थ में दुःख व सुख कोई अन्य वस्तु नहीं है; अपितु आत्मा में कषाय की तीव्रता बढ़ती जाए तो प्राणी दुःखी होने लगता है और कषाय शान्त हो जाएँ, क्षमादि दस-धर्म प्रकट होते जाएँ वहीं से आत्म-सुख प्रकट होने लगता है। आत्म-सुख की लीनता से, कर्म निर्जीर्ण कर मानव भगवत्ता की सिद्धि कर लेता है।

उत्तम-खमाधम्मो

(उत्तम क्षमाधर्म)

21. बहिरंग-रिउणो अब्भंतर-रिववो हि जम्मेदि। जदि अंतरंगे कासाइग-भावा ण उप्पज्जेंतु दु अवरं पडि कोहादि-भावा णवि पयडेंतु। अवरा पडि जे असुहभावो जायंते, ताओ भावणाओ हि उप्पेरिदेण भिण्ण-जणा रिवुत्त-ववहारं करेंति। पढमं सगम्हि कालुस्स-भावणा-अभावं कादव्वं, णवरि कालुस्सदा-अणुप्पत्ती खमा। परकिद-कट्ठपदाणे सदि जो परं कट्ठपदाण-अभावो त्ति उत्तमखमाधम्मो। जत्थ कोहाभावो, तत्थेव खमाधम्मो॥

21. बहिरंग शत्रुओं को जन्म देने वाले भी अंतरंग शत्रु ही हैं। अंतरंग में काषायिक-भाव उत्पन्न न हों तो अन्य किसी के प्रति क्रोधादि प्रकट न करें। दूसरे के प्रति जो अशुभ-भाव उत्पन्न होता है, उन्हीं भावनाओं से उत्प्रेरित भिन्न-जन शत्रुता का व्यवहार करने लगते हैं। सर्वप्रथम स्व के अन्दर कालुष्य-भावना का अभाव करना होगा, क्योंकि कालुष्यता की अनुत्पत्ति क्षमा है, परकृत कष्ट देने पर भी जो पर को कष्ट देने के भाव ही न लाए वही उत्तम क्षमा धर्म है। क्रोध का अभाव जहाँ होगा, वहीं क्षमा-धर्म होगा।

---

22. देह-साहणं किच्चा जीवो कियत्तं सरीर-सोसणं कुणेदि, जदि आद-साहणा णत्थि दु परमट्ठपद-लाहो असंभवो। जदि कोवि सरीरादो पचंड-तवस्सं करेदि, णं उवसमभावाभावो दु तस्स णामो खमावंतस्स पच्छा हि होहिदि। अंतरंग-धम्मो खमा। जस्स चित्ते रिवुभावस्स अभावो, सो पुढवीए गमंतो वि भावीसिद्ध-भगवंता। एरिसेहिं साहगेहिं हि पुढवी पवित्ता होदि। धरणी इमेसिं साहगाणं फासेण सगीया अहोभग्गं मण्णेदि, ण दु कामी-कोही-दंभी-जणादो, ते दु पावीजणा धरणीए भारभूदा॥

22. देह-साधना करके व्यक्ति कितना ही शरीर सुखा ले; यदि आत्म-साधना नहीं है तो परमार्थ-पद मिलना असम्भव है। यदि कोई शरीर से प्रचंड तपस्या कर रहा है, परन्तु उपशमभाव का अभाव है तो उसका नाम क्षमाशील के बाद ही आएगा। क्षमा अंतरंग-धर्म है। शत्रु-भाव का अभाव जिसके चित्त में है वह पृथ्वी पर चलता हुआ भावी-सिद्ध-भगवान् है। ऐसे साधकों द्वारा ही पृथ्वी पवित्र हो रही है। धरती इन्हीं साधकों के स्पर्श से अपना अहो भाग्य स्वीकारती है, कामी-क्रोधी-दंभी लोगों से नहीं, वे पापीजन तो धरती पर भार हैं।

---

23. भगवद-महावीर-सामिणा जो सच्चत्थ-तच्चोवएसं अप्पत्थी-भवियाणं दिसिदं, तं संपडि-याले अच्चंत-आवस्सगं। तेसिं उवएसाणं सो हि पालेहिदि जम्हि सगपर-करुणा-दया-खमा

य होहिदि। जम्हि सगं पडि खमाभावो करुणादया-भावो णत्थि, सो सदुवएसा णवि सुणेहिदि; पुण तेसिं अणुसारेण आयरणं तु अच्चंत-दुरूह-कज्जं। जो सदुवएसाणुसारेण आयरेदि, सो सगपरहिदं करेदि। जो खमाभावादो अणभिण्णो, सो हि हिंसादि-पंचपावासयं गेज्झेदि। सो मोहेण सगो सगस्स रिवू होदि, सगो सगादो वेरं धारेदि, णवरि पंचपावेहिं णरयादि दुग्गदीसुं पसु-पक्खि-णारगजीवा होदूणं केण विहाणेण पीडेहिंति, सव्वे अयं जाणंति। कम्म-फलं सगमेव कट्ठं देहिदि॥

23. आत्मार्थी भव्य-जीवों के लिए तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने जो सत्यार्थ तत्त्वोपदेश दिया है वह सम्प्रति काल में अत्यंत आवश्यक है। उन उपदेशों को वही पाल पाएगा जिसके भीतर स्व-पर करुणा, दया और क्षमा होगी। जिस व्यक्ति के अन्दर स्व के प्रति क्षमा-भाव नहीं, करुणा, दया-भाव नहीं, वह सम्यक्-उपदेशों को सुन भी नहीं पाएगा, फिर उनके अनुसार चलना तो अत्यंत कठिन कार्य है। जो सदोपदेश के अनुसार चलता है वह स्व-पर का हित कर लेता है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच-पापों का आश्रय वही लेता है जो क्षमाधर्म से अनभिज्ञ है। वह मोहवश स्वयं-ही-स्वयं का शत्रु बनता है, स्वयं-ही-स्वयं से वैर धारण किए है, कारण पाँच पाप करेंगे तो संसार की नरकादि दुर्गतियों में नारकी, पशु-पक्षी बनकर किस प्रकार से पीड़ित किए जाएँगे, यह सभी जानते हैं। कर्म का फल स्वयं को ही कष्ट देगा।

---

24. अभक्खभोयणं असच्च-कक्कसादि-भासणं च तण-मणा हि वियारंति, फलदो तत्तो महामारी-सरिसा महारोगा जायंति। माणवस्स माणवत्तं पुणो पलावेण रोच्छेदि, हा! हा! करेदि। अहो अप्पा! सगपरम्हि करुणं कुणेहि, सगं खमेहि। सच्छ-भोयण-भासणं च कुणेहि। णिरत्थग-संचरणं पि मा कुणेहि। जत्थ दिट्ठीए अणेयंतं, वाणीए सियवादो, चरियाए अहिंसा होहिदि; तत्थ वीसस्स सयल-आवत्तीओ सदो समत्तेहिंति। जा सासण-आणा सगपरहिदयारी, तं अट्ठाए पालेदव्वं। कट्ठकाले परोप्पर-उवयारभावं धारेदव्वं। सव्वस्स दिणाणि सरिसाणि ण होंति, सव्वाणि दिणाणि सरिसाणि ण होंति, एदाणि दिणाणि वि णिस्सरेज्जा। धेरियं अणिवारियं। सगपरा पडि खमं धारेहि॥

24. अभक्ष्य-भोजन, असत्य कर्कश आदि भाषण, तन एवं मन दोनों को ही विकृत करते हैं, फलतः उससे महामारी जैसे महारोग उत्पन्न होते हैं। मानव की मानवता फिर सिसक-सिसक कर रोती है, हाय! हाय! करती है। अहो आत्मन्! स्व-पर पर करुणा करो, स्व को क्षमा करो। स्वच्छ भोजन, स्वच्छ भाषण करो। व्यर्थ में संचरण मत करो। दृष्टि में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद, चर्या में अहिंसा जहाँ होगी वहाँ विश्व की सम्पूर्ण आपत्तियाँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी। जो शासन-आज्ञा स्व-पर हितकारी है उसे आस्था पूर्वक पालन करना चाहिए। कष्ट के काल में परस्पर उपकार भाव रखना। सबके दिन एक से नहीं होते, सब दिन एक से नहीं होते, ये दिन भी चले जाएँगे। धैर्य अनिवार्य है। स्व-पर दोनों के प्रति क्षमा धारण करो।

---

25. गुणीसु पेम्मं, दुहीसु करुणं पाणीमेत्तेसु मेत्तीभावं तहा विवरीद-मग्गे गममाणेसु मज्झत्थ-भावं धारेहि; एवमेव वीरस्स सम्मोवएसो। अहिंसा-सच्च-अचोरिय-बंभचेर-अपरिग्गहा य एदे पंचसिद्धंता वीसकल्लाण-अंगाणि; अयमेव सगं पडि परमखमा-भावो॥

25. गुणी-जनों से प्रेम, दुःखी जनों पर करुणा, प्राणी-मात्र पर मैत्री-भाव तथा विपरीत मार्ग पर चलने वालों पर माध्यस्थ-भाव धारण करो, यही समीचीन धर्मोपदेश है वीर का अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच सिद्धांत विश्व-कल्याण के अंग हैं, यही स्वयं पर परम-क्षमा-भाव है।

---

26. जत्थ खमा-सहिण्णुदा-अणुकंपाओ होहिंति, तत्थ पहुत्त-सत्ता सदो विज्जेहिदि। तीसु वि एगभावो वि णूणे सदि, पहुत्त-सत्ता झत्ति णिरिणासेहिदि। तम्हा तीसु वि एगं पि णूणं मा कुण। जिदिंदियदा-णामगुणं अहिगं होदव्वं, सत्ताधारिस्स अयं गुणो आवस्सगो। अस्स गुणस्स अभावस्स कारणं तु रावण-सत्ता णस्सेदि तहा रामस्स सत्ता पहाववंता होदि। वीसे जिणिंद-सासणं जिदिंदियत्त-कारणं हि वड्ढेदि॥

26. क्षमा, सहिष्णुता, अनुकंपा ये तीन जहाँ होंगे, वहाँ प्रभुत्व-सत्ता स्वतः खड़ी हो जाएगी। तीन में से एक भी कम हुआ, वहाँ प्रभुत्व-सत्ता शीघ्र पलायन कर जाएगी। इन तीन में से एक भी कम नहीं करना। हाँ, एक गुण अधिक बढ़ा कर रखना चाहिए जिसका नाम है जितेन्द्रियता, सत्ताधारी के लिए यह गुण अनिवार्य है। इस गुण के अभाव के कारण ही तो रावण की सत्ता नष्ट हो गई और राम की सत्ता प्रभाववान् हो गई। विश्व में जिनेन्द्रदेव का शासन जितेन्द्रियता के कारण ही वर्धमानता को प्राप्त है।

---

27. णिब्बलाणं बलं वीराणं आभूसणं च खमा। लोए ते सव्व-सामण्ण-मज्झे वि पुज्जत्तं भजेंति, जे खमा-धिज्जेहिं अवर-वयणं सुणेंति। ते सग-कहणं करेंति, परंतु बला कम्हिचिदवि ण विरोलेंति। सगीय-भावणा-कहणं भूदत्थं सच्चत्थं, किण्णु अवर-भावणं पि मुणेज्जा। जदि तुज्झ चिंतणादो वि अहिगादो अवरचिंतणं अहिग-हिदयारी-भूदत्थ-सेट्ठं च, दु तं अट्ठाए सिग्घं गेण्हेज्जा। इमम्हि सगीय-लहुत्तं ण मुणेज्जा तहा तुज्झ वयणं जीवा सुणंति दु माणं णवि कुज्जा॥

27. क्षमा निर्बलों का बल है तथा वीरों का आभूषण। लोक में वे लोग सर्व-सामान्य जनों के मध्य भी पूज्यता को प्राप्त होते हैं जो धैर्य और क्षमा के साथ दूसरे की बात सुनते हैं। अपनी बात बतलाते तो हैं, परन्तु बलात् किसी पर थोपते नहीं हैं, बलपूर्वक आरोपित नहीं करते हैं। सत्य तो यही है कि अपनी भावना रखनी चाहिए, परन्तु दूसरे की भावना को समझना चाहिए। आपके विचारों से भी अधिक दूसरे के विचार अधिक

हितकारी, भूतार्थ एवं श्रेष्ठ हैं तो उन्हें आस्थापूर्वक शीघ्र स्वीकार कर लेना चाहिए। इसमें अपना छोटापन नहीं मानना और आपकी बात लोग सुन रहे हैं तो मान नहीं करना चाहिए।

---

28. कोहग्गी महाजालाए कस्सचिदवि रक्खा असंभवा। इमाए जालाए जो जो पवेसेहिदि तेसिं सग्गुणा णियमेण णस्संति। राय-महाराय-साहु-चागी-तवस्सी-धणवदि-भिक्खु-बाल-जुवा-वुड्ढ-णाणी-पंडिद-अण्णाणी-मूढेसुं जे वि कोह-हुदासणे पवेसंति, ते संताव-अवत्थं भजेंति। जं पि वत्थुं अग्गीए पवेसेदि, तस्स दसा भम्हो एव होदि; एवंचेव कोहग्गीए गदो जीवो सगीय-सग्गदि-सग्गुण-मेत्तीभाव-पेम्मणेह-वच्छल्ल-पीदि-पहुदि-गुणा खणमेत्ते दज्झेदि॥

28. क्रोधाग्नि महा-ज्वाला है; जिसमें किसी की भी रक्षा संभव नहीं है। इस ज्वाला में जो-जो प्रविष्ट होगा इन सबके सद्गुणों का भस्म होना नियतता को प्राप्त है। बड़े-बड़े राजे-महाराजे, साधु-त्यागी-तपस्वी, धनपति-भिखारी, बाल-युवा-वृद्ध, ज्ञानी-पंडित, अज्ञानी-मूढ़ इनमें से जो भी क्रोध-हुताशन में जाता है; वह एक ही अवस्था को प्राप्त होता है और वह है संताप। अग्नि में जो भी वस्तु आती है; उन सबकी एक-ही दशा होती है, उसका नाम राख भस्म है, इसी प्रकार से क्रोधाग्नि में गया प्राणी अपनी सद्गति, सद्गुण, मैत्री-भाव, प्रेम-स्नेह, वात्सल्य-प्रीति आदि गुणों को क्षण मात्र में राख कर लेता है।

---

29. अग्गि-समणं णीरदो होदि, णीरं विणा अग्गि-समणं असंभवं। कोहाणल-समणत्थं खमा-सलिलस्स आवस्सगत्तं, खमा-पयसं विणा कोहजाला-उवसमणं ण होदि, जा वि सगीय-संजमभावणाए तम्हि सो हिद-सग्गुणमणीणं रक्खाभावो त्थि, ते खमावारि-पओगं कुज्जा; एवमेव सच्चत्थ-बोहो॥

29. अग्नि का शमन नीर से होता है, बिना पानी के अग्नि शान्त करना असम्भव है। क्रोधानल को शान्त करने के लिए क्षमा सलिल की आवश्यकता है; बिना क्षमा पयस के क्रोध-ज्वाला का उपशमन नहीं हो सकता है, जिन्हें भी अपनी संयम-भावना एवं उसमें शोभते सद्गुण-मणियों की रक्षा का भाव हो तो वह क्षमा वारि का प्रयोग करें, यही सत्यार्थ-बोध है।

---

30. खमा आदसंतीए परमदारं, तम्हा पत्तेग-हिदेच्छुं खमा-भावं धारेदव्वं। एवमेव सारो त्थि॥

30. सार यही है कि—क्षमा आत्मशांति का परम द्वार है, इसलिए प्रत्येक हितेच्छु को क्षमा-भाव धारण करना चाहिए।

उत्तम-मद्दव-धम्मो
(उत्तम मार्दवधर्म)

31. माणवजीवणे जम्मादो लद्धकसायो माणकसायो। माणवस्स सासे सासे माणो झलेदि। वयं कम्हि वयणम्हि मज्जेमो; इमस्स सच्चत्थ-बोहो माणवं होदव्वं। अहो पण्ण! विचिंतेहि, जम्हि माण-कसायो जग्गेदि तं वत्थुं तत्तो अच्चंत-भिण्णं तहा जं अभिण्णं तम्हि तुज्झ लक्खं णत्थि। सुद्धणाणदंसणाणि य जीवदव्वस्स अभिण्ण-गुणा। जदि जीवो सग-गुणेसुं विवेगदो वियारेदि दु अहिमाणो खणमेत्ते णस्सेदि। अहो अच्छेरं! अहंभावे जीवंतम्हि दया जायदे, णायग-णियपहुं कसायी किच्चा पसण्णदाए अणुहवं करेदि। माणवं सगपण्णाए किंचि पओगं कादव्वं। कसायी कहं पसंसणीयो होदि, सो दु णिंदणिज्जो एव होदि। माणी सग-परं पडिपलं किलेसं देदि, कदावि हसेदि, कदावि रोच्छेदि, वरागा-भग्गे एमेव लिहिदं॥

31. मानव जीवन में जन्म से प्राप्त कषाय का नाम 'मान-कषाय' है। मानव की श्वास-श्वास में 'मान' झलकता है। इस बात का मानव को 'सत्यार्थ-बोध' होना चाहिए कि हम किस बात पर घमंड कर रहे हैं? अहो प्रज्ञ! विचार कर; जिस पर मान-कषाय इठला रही है वह वस्तु तेरे से अत्यन्त भिन्न है और जो अभिन्न है उस पर तेरा लक्ष्य नहीं है। शुद्ध-ज्ञानदर्शन; ये जीव द्रव्य के अभिन्न गुण हैं। यदि जीव स्व-गुणों पर विवेकपूर्ण विचार कर ले तो अभिमान क्षणमात्र में विलीन हो जाए। अहो आश्चर्य! अहं भाव में जीने वाले पर त्रास आता है; ज्ञायक भावी निज-भगवान् को कषायी बनाकर प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। मानव को स्व प्रज्ञा का थोड़ा तो प्रयोग करना चाहिए। कषायी प्रशंसनीय कैसे हो सकता है? कषायी तो निंदनीय ही होता है। मानी स्व-पर को प्रतिपल क्लेश प्रदान करता है; कभी हसता है, कभी रोता है, बिचारे के भाग्य में यही लिखा है।

---

32. सच्चत्थ-तच्चत्थ-णिण्णयो माण-णिहरणे मद्दव-धम्म-सब्भावे हि संभवो। जह सीयल-णीरे मुहावलोयगं होदि, उण्ह-कुहण-णीरे मुहं ण झलेदि, तहेव जदा चित्तं कसाय-उण्हदाए संतं होदि सामण्ण-अवत्थाए होदि तदेव वत्थुणो जधत्थ-वत्थुत्त-णिण्णयो होदि; तम्हा तच्चणिण्णयस्स पुव्विं सगं पुण्ण-सहजदाए णिट्ठवेहि, पुणो तुमं णिच्छएहिसि दु तुज्झ णिण्णयो विसिट्ठदा-जुदो विराडो होहिदि। लोयस्स पत्तेगजीव-कहणस्स सवणस्स आवस्सगत्तं णत्थि, तम्हि चिंतणं पि अणिवारियं णत्थि; जदि सग-पण्णा विसिट्ठा दु। भद्द-परिणामी-संतपरिणामी-पुरिसो हि विसद-तच्चणिण्णय-भूमिगाए पवेसदे तहा पुणो तस्स णिण्णयं जगदि-जीवा पुज्जंति। जं जीवं सव्वण्हुया-सिद्धी होदि सो सयल-कसाय-इंदियविसएसुं विजयी होदि। जा जिदिंद-सण्णा-लाहो होदि, ते जिणा होंति। एरिसाइं जइण-वयणाइं सया वंदणिज्जाइं। एत्थ जिणस्स वयणमिदि जइणं णेयं वा जिणो जिणिंद-देवो त्ति; जेसिं देवा जिणा ते दु सामण्ण-जइणा। जइणत्त-भूदत्थदाए अवेक्खाए जिदकसायो जिदिंदियो जिदमोहो य समीचीण-दिट्ठीए सव्वसिद्धि-अहिगारी॥

32. सत्यार्थ तत्त्वार्थ का निर्णय मान के निर्हरण, मार्दव-धर्म के सद्भाव में ही सम्भव है। शीतल नीर में मुखावलोकन होता है; उष्ण उबलते पानी में मुख नहीं दिखता उसी प्रकार से जब चित्त कषाय की गर्मी से शान्त होता है, सामान्य-अवस्था में होता है तभी वस्तु के यथार्थ वस्तुत्व का निर्णय होता है, इसलिए तत्त्व-निर्णय के पूर्व अपने आपको पूर्ण सहजता में स्थित करें, फिर आप निर्णय करेंगे तो आपका निर्णय विशिष्टता से युक्त विराटता को प्राप्त करेगा। लोक के हर व्यक्ति की बात को सुनना आवश्यक नहीं है, उस पर विचार करना भी अनिवार्य नहीं है यदि स्वयं की प्रज्ञा विशिष्ट है तो। भद्र-भावों से युक्त शान्त-परिणामी पुरुष ही विशद तत्त्व-निर्णय की भूमिका में प्रवेश कर पाता है और फिर उसके निर्णय को जगति के लोग पूजते हैं। सर्वज्ञता की सिद्धि जिस जीव को होती है वह सम्पूर्ण कषाय एवं इन्द्रिय विषयों पर विजय प्राप्त किए होता है। जितेन्द्र-संज्ञा जिनको प्राप्त होती है ऐसे वे जिन होते हैं। ऐसे जैनों के वचन सदा वंदनीय होते हैं। यहाँ जैन जिनदेव को समझना; सामान्य जैन तो वे हैं जिनके देव जिन हैं। जैनत्व की भूतार्थता विचार करेंगे तब आप पायेंगे कि जित-कषाय, जितेन्द्रिय, जित-मोह, समीचीन-दृष्टि की सर्व-सिद्धि का अधिकारी है।

---

33. जो णाण-पूया-कुल-जादि-बल-रिद्धि-तव-देहादीसुं अहंभावं ण धारेदि तहा इमत्तो मदत्तो रहिदेण जो जीवणं जीवेदि, तमेव सक्खं मोक्खतच्चस्स परमबंधुभूद-मद्दवधम्मो पयडेदि। माणाभावे हि मद्दवधम्मो होदि त्ति॥

33. ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप एवं शरीरादि में जो अहं भाव नहीं रखता तथा इन मदों से रहित होकर जो जीवन जीता है, उसी को साक्षात् मोक्ष-तत्त्व का परम बंधु मार्दव-धर्म प्रकट होता है। मान के अभाव में ही मार्दव-धर्म होता है।

---

34. जदा जीवस्स विणासकालो आगमेदि तदा तस्स माणो वड्ढमाणो हविज्जदे। जह दीव-समत्तिकाले तस्स सिहा अहिग-आहावंता होदि, तहेव मरणकाले सासा गदिमाणा होंति, तम्हा विवेगसीला सग-रक्खणं कुज्जा। सगेण सग-विणासादो रक्खेहि। माणीजीवा गुरु-पहू य ण दिस्संति। माणकसाएहिं पहाविदो पडिक्खणं विचिंतेदि– कहं मे माणकसाय-पुट्ठी होदु? पुणो सो माण-पुट्ठीए मायाचारी-भावं पि करेदि। सो खादि-पूया-लाहट्ठं सगीय-संपत्तिं पि अवराणं देदि। साधु-वेस-धारी माण-वसादो सगीय-सच्चत्थसाहणा-कालं पि णस्सेदि। जह बुभुक्खिद-पसू भोयणत्थं कण्णं उत्थेदि कुओ भोयण-लद्धी होदु, तहेव माण-बुभुक्खिद-साहुवेसी वि जागरूगो होदि-मे खादीए किंपि साहण-लद्धी होदु। अहं जिणदिक्खा मोक्खतच्च-लद्धीए सगाणुभूदीय गहेदि वा माणाणुभूदीए; तं किंपि पओयणं ण होदि॥

34. जब व्यक्ति के विनाश का काल आ जाता है तब उसका मान वृद्धिमान होने लगता है। जैसे दीपक बुझने के समय उसकी लौ और अधिक तेज होने लगती है, ऐसे ही मृत्यु के काल में श्वासें तेज होने लगती हैं, इसलिए विवेकशील नरों को चाहिए कि वह अपनी रक्षा करें। अपने ही द्वारा अपने विनाश से बचें। मानी को न गुरु दिखते हैं, न प्रभु। मान-कषाय से प्रभावित व्यक्ति प्रतिक्षण यही सोचता है कि मेरे मान की पुष्टि कैसे हो? और फिर वह मान की पुष्टि के लिए मायाचारी भी कर लेता है। वह ख्याति, पूजा, लाभ के लिए अपनी सम्पत्ति भी दूसरों को दे देता है। साधु भेषी मान के वश होकर अपनी सत्यार्थ-साधना के काल का भी बलिदान करने को तत्पर हो जाता है जैसे भूखा पशु भोजन के लिए कान उठाता है कि कहीं से भोजन प्राप्त हो जाए, ऐसे ही मान का भूखा साधु-भेषी भी चौकन्ना रहता है कि मेरी ख्याति का कोई साधन मिल जाए। उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता इस बात से कि हमने जिनदीक्षा मोक्ष-तत्त्व की प्राप्ति के लिए स्वानुभूति के लिए ली है कि मानानुभूति के लिए।

---

35. अहो अच्छेरं! माणो कियत्तं कूरत्तं जादावेदि? साहगो वि साहणं मुंचेदूणं पहु-हवणत्थं लक्खं मुंचेदूणं माण-पुट्ठीए जीवणं जीवेदि। ओहो! पहावणा-णामे सो आद-पहावणं मुंचेदि। धम्मपहावणाए दु साहगस्स बहि-साहणा समुचिदा, तस्स णाणाविह-णिरत्थग-पवंचाए आवस्सगत्तं णत्थि॥

35. अहो आश्चर्य! मान कितनी क्रूरता उत्पन्न करा देता है? साधक भी साधना छोड़कर भगवान् बनने के लक्ष्य को छोड़कर, मान की पुष्टि के लिए जीवन जीता है। ओहो! प्रभावना के नाम पर वह आत्म-प्रभावना छोड़ बैठता है। धर्म-प्रभावना के लिए तो साधक की बाह्य-साधना ही बहुत है, उसके लिए नाना प्रकार के व्यर्थ के प्रपंच की आवश्यकता नहीं है।

---

36. मोक्खमग्गी जिणसासण-पहावणं तु करेदि, किण्णु खादि-लाह-पूयत्तो ऊसरेदूणं जे पहावणा-भावं धरेंति, ता पढमं चिंतेज्जा-मे भावा सगदेह-पयारस्स दु णत्थि? जदि अत्थि दु इमाए इच्छाए णिरोहं सिग्घं कुणेहि, अण्णहा इच्छा कोरोणा-महामारी-सरिसा वित्थरेहिदि, पुणो तस्स रोहणं अच्चंत-दुग्गमं कज्जं होहिदि। आदत्थी मुमुक्खू पत्तेगसमयस्स आउकम्म-णिसेगा अग्घवंता मण्णेदि, पत्तेगसमयं मोक्खतच्चोवलद्धीए आद-सक्कारं करेदि- ते सक्कारा मे आद-पएसेसुं वसेज्जा, ममं मज्झ मोक्खतच्चं दिंतु, माणादि-कसाया दु भावदव्वकम्माण मलं, अदु इदं किं लद्धिकरणं जो ममं संसार-दुक्ख-मज्झे रोधेज्जा॥

36. मोक्षमार्गी जिनशासन की प्रभावना तो करता है, परन्तु ख्याति-लाभ पूजा से दूर होकर जो प्रभावना का भाव रखते हैं उन्हें सर्वप्रथम इस बात का चिंतन कर लेना चाहिए कि मेरे भाव स्वदेह प्रचार के तो नहीं

आ रहे? यदि आ रहे हैं तो इस इच्छा का निरोध शीघ्र करो, अन्यथा कोरोना महामारी जैसे फैल जाएँगे, फिर उन्हें रोक पाना अत्यंत कठिन कार्य हो जाएगा। आत्मार्थी मुमुक्षु एक-एक समय के आयुकर्म के निषेकों को अर्घवान समझता है, प्रत्येक समय को मोक्ष-तत्त्व की उपलब्धि हेतु आत्म-संस्कार करता है कि वे संस्कार मेरे आत्म-प्रदेशों मात्र पर रहें जो कि मुझे मेरा मोक्ष-तत्त्व प्रदान करा दें, मानादि कषाय तो मल है भाव एवं द्रव्य कर्मों का, इसे अब क्या प्राप्त करना जिसने मुझे संसार के दुःखों के मध्य रोककर रखा है।

---

37. अदु मद्दव-धम्मस्स परमरसभूद-विणयगुण-मेलणं इच्छेसि। कस्सचिद कज्जस्स तस्स मग्गदारं गवेसदे, इदं धुवं सच्चं। इमम्हि सरलभवियाणं उवओगो णत्थि। कियत्तं उज्जमं करेज्जा जावं जिणालय-देवालय-दारं ण उग्घडेहिदि तावं देवाहिदेव-दंसणं कहं हुज्जा? एवं साहगो कियत्तं अहिगं साहणं करिज्जदे, किण्णु जम्हि पंचपरमेट्ठीणं, सगीय-जेट्ठ-आइरिय-उवज्झाय-साहु-भयवंताणं, णाणीजणााणं, धम्मप्पाणं जहाजोग्गा विणयभावणा णो होहिदि तस्स मोक्खसिद्धी कहं होहिदि? णवरि विणओ मोक्खद्दारं। जो मायाभाव रहिदो-सुभत्ति-सहिदो विणयभावो, सो हि मोक्खदारं। भत्तिसुण्ण-मायासहिद-विणयो मोक्खदारं णत्थि; तम्हा पुणो पुणो जाणेहि, सगीय-भावदसा-णिण्णयं सयं कुणेहि-मे अंतोकरणे किं होज्जा? सग-परिक्खं सगेण हि कुज्जा दु कामं होहिदि॥

37. अब तो 'मार्दव-धर्म' का परम-रस विनय-गुण उससे मिलना है। किसी कार्य के लिए उसका मार्ग-द्वार खोजा जाता है, यह बात ध्रुव-सत्य है। इस पर ध्यान नहीं जा रहा भव्य-भोले जीवों का। कितना ही पुरुषार्थ कर लो जब-तक जिनालय-देवालय का द्वार नहीं खुलेगा तब-तक देवाधिदेव के दर्शन कैसे होंगे? इसी प्रकार से साधक साधना कितनी ही अधिक कर ले, परन्तु जिसके भीतर पंचपरमेष्ठी, अपने ज्येष्ठ आचार्य-उपाध्याय-मुनि-भगवंतों, ज्ञानी-जनों, धर्मात्माओं की यथा-योग्य विनय भावना नहीं होगी तब-तक मोक्ष-तत्त्व की सिद्धि कैसे होगी? क्योंकि मोक्ष का द्वार तो विनय है। मायाचारी रहित, भक्ति सहित जो विनय है वही मोक्ष का द्वार है। भक्ति शून्य, मायाचारी सहित विनय मोक्ष का द्वार नहीं है, इसलिए पुनः पुनः समझो, अपनी भाव-दशा का स्वयं निर्णय करो कि मेरे अंतःकरण में क्या चल रहा है? स्व की परीक्षा स्व से ही कर लें तो बहुत ही अच्छा हो जाएगा।

उत्तम-अज्जव-धम्मो

(उत्तम आर्जवधर्म)

38. सारल्ल-भावो अज्जव-धम्मो। जत्थ माया-भावेसुं नियंतणं होदि, वक्कवित्ति-रहिद-दसा, सहज-जीवण-सेली अज्जवधम्मो। माणवस्स माणवदा-दंसणं वक्कहिदयीसुं ण होंति, जत्थ

परभावेसुं सारल्लं तत्थेव माणवदा-दंसणं होंति। सारल्ले माणवत्तं णत्थि अविदु सारल्ले भगवत्ता-दंसणं होंति; एवमेव सच्चत्थदा॥

38. सरलता का भाव आर्जव धर्म है। जहाँ माया-परिणामों पर नियंत्रण होता है, वक्रवृत्ति से रहित अवस्था, सहज जीवन जीने की शैली 'आर्जव-धर्म' है। मानव की मानवता के दर्शन वक्र-हृदयी में नहीं होते, मानवता के दर्शन वहीं होते हैं जहाँ पर भावों में सरलता होती है। सत्यार्थता तो यही है कि सरलता में मानवता ही नहीं, अपितु सरलता में भगवत्ता के ही दर्शन होते हैं।

---

39. जावं भाव-पसुत्तं ण जायदे, तावं कोवि जीवो पसु-पज्जायं ण भजेदि। जो जीवो पडिपलं पडिपगं माया-भावं धरेदि, सो माणव-वेसे पसू हि भमेदि। पसु-वक्क-देहं भाव-वक्कदा-कुफलं। अंगंग-वक्कदा तिरियस्स पडिक्खण-परिणामाणं कुडिलदा-बोहं कारेदि। अहो! इदं वक्क-देहं संपडि-कज्जरूवे दिस्सेदि, अस्स कारणं लोगा जाणेज्जा–''मए किदं माया-भावो अयं तिरिय-पज्जायो''। जदि एरिसं विगिद-देहं तुमं ण इच्छेसि, दु माया-भावेसुं णियमेहि। जे माणव-पज्जाए विचित्त-विगिद-देहागिदिवंता दिस्संति, ते सव्वे पुव्वकिद-माया-पसादं लहेंति। देहरयणा जीवस्स भावरयणाए दप्पणं॥

39. जब तक भाव-पशुता नहीं आती तब तक कोई भी जीव पशु-पर्याय को प्राप्त नहीं होता। जो जीव पल-पल में, पग-पग में मायाचारी के परिणाम रखता है, वह मानव-भेष में पशु ही घूमता है। पशु का वक्र शरीर भावों की वक्रता का कुफल है। अंग-अंग की वक्रता तिर्यंच के क्षण-क्षण के परिणामों की कुटिलता का बोध कराती है। अहो! यह वक्र शरीर सम्प्रति कार्य-रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है, इसका कारण सारा जगत् जान ले कि—''मेरे द्वारा किए गए मायाचारी के परिणाम यह तिर्यंच पर्याय है।'' ऐसा विकृत-शरीर आप लोगों को नहीं चाहिए है, तो माया के भावों पर नियंत्रण कर लो। जो मनुष्य पर्याय में विचित्र, विकृत शरीराकृति वाले मिलते हैं वे सब पूर्वकृत मायाचारी का प्रसाद पा रहे हैं। देह-रचना व्यक्ति की भाव-रचना का दर्पण है।

---

40. मणे अण्णो वयणे अण्णो देहचेट्ठा अण्णा, एवमेव मायाभावो। एरिसं तिजोग-कुडिल-वित्तिं मायावी-जणा करेंति, जदिवि ता वि जाणेज्जा-मे मायाभावो पयडेदि, पुणो वि वरागा पउत्ति-विवसा सगीय-पउत्ति-अणुसारेण मायाभावं किच्चा इह लोए उवहास-पत्तं परलोए दुग्गदि-पत्तं होंति। जो पुरिसो जम्हि पदम्हि आसीणो, तं तस्स पदस्स अणुऊल-चरियं कादव्वं। जदि जीवो एरिस-कज्जं ण करेदि, दु सो माया-फलं णियमेण लद्धेहिदि। धम्म-वेसं धरित्ता धम्मप्पा लावेज्जा, अदो असुहकम्मं ण कुणेहि णवरि कम्मं तुमं अवक्खेदि॥

40. मन में कुछ, वचन में कुछ, शरीर की चेष्टा कुछ भिन्न ही करें, यही मायाचारी है। ऐसी त्रि-योग की कुटिल-वृत्ति मायावी जन करते हैं, यद्यपि उन्हें भी बोध रहता है कि मेरी मायाचारी प्रकट हो ही जाती है, फिर भी बिचारे आदत के लाचार अपनी आदत के अनुसार मायाचारी करके, इस लोक में उपहास तथा पर-लोक में दुर्गति के पात्र बनते हैं। जिस पद पर जो पुरुष आसीन है, उसे उस पद के अनुकूल चर्या करना ही चाहिए। यदि व्यक्ति ऐसा नहीं करता है, तो वह मायाचारी के फल को नियत प्राप्त करेगा। धर्म का भेष बनाकर धर्मात्मा कहला रहे हैं, अतः अशुभ-कर्म न करें, क्योंकि कर्म आपको देख रहा है।

---

41. अज्जवधम्मो सरलदाए उवएसं देदि। जगदीए ते जीवा धण्णा जे सगीयं सारल्लं पडि गमणस्स समुज्जमं णिच्चं कुणंति। ते भावी भयवंता, जे सज्जणेहिं वंदणिज्जा पुज्जणिज्जा थुज्जा य। एरिसेहिं सरलसहावी-भविएहिं भूमंडल-सोहा। तेसुं चरणेसुं सदा सव्वलोग-पुज्जत्तं पणदि-णिवेदणं करेदि॥

41. आर्जव-धर्म सरलता की ओर जाने का उपदेश देता है। जगति पर वे जीव ही धन्य हैं; जो अपने आपको सरलता की ओर ले जाने का प्रतिक्षण सम्यक्-पुरुषार्थ करते हैं। वे भावी भगवान् हैं; जो सज्जनों के द्वारा वन्दनीय, पूज्यनीय, स्तुत्य हैं। ऐसे सरल-स्वभावी भव्य-जीवों के द्वारा ही तो भू-मण्डल की शोभा है। सर्व-लोक-पूज्यता उनके चरणों में सदाकाल प्रणति निवेदन करती है।

---

42. जदि महाण-वत्तित्तं इच्छेसि दु अज्ज अहुणा वा वि सारल्ल-जीवणं आरंभेहि। मायाभाव-पसंसा वि तुज्झ णिंदा एव। अण्णं तुज्झ सच्चत्थदा-णाणं णत्थि, किण्णु सगस्स असच्चत्थदा-बोहो सगं तु अत्थि॥

42. महान् बनना है तो आज से नहीं; अभी से सरलता में जीना प्रारंभ कर दो। मायाचारी की प्रशंसा भी आपकी निन्दा ही है। अन्य को आपकी सत्यता का ज्ञान नहीं है, परन्तु स्वयं की असत्यता का स्वयं को तो बोध है।

उत्तम-सउच-धम्मो

(उत्तम शौचधर्म)

43. पगरिसलद्ध-लोह-णिव्वित्ती उत्तमसउच-धम्मो। सुइत्त-पूरिदो सउच-धम्मो। जत्थ

णिल्लोहदा तत्थेव सउच-धम्मो। लोही-हिदए कदावि पवित्तदाए ठाणं णत्थि, तस्स चित्तं सदा असुइमयं होदि, भाव-विसुद्धदा तं समय दुल्लहा। सयलपाव-जणगो लोहो। लोही परिग्गह-सण्णाए अदि-असुह-लहु-कज्जम्हि णवि संकुचेदि। तत्थ कुलीणत्तं सिविणे वि ण दिट्ठव्वं, तस्स पडिक्खणं बिलाव-परिणाम होंति। जह बिलावस्स पडिक्खणं मूसगस्स हिंसाभावा होंति, तं मूसगो पसजेदु ण पसजेदु, किण्णु तस्स दिट्ठी मूसगम्हि हि वसेदि। एरिसा दसा लोहिस्स अत्थि, तं धणलाहो होदु वा ण होदु, सो पडिक्खणं सगीय-इच्छा-पुत्तीए हि चिंतेदि; तम्हा तं आसवबंधाभावो णत्थि॥

43. प्रकर्ष प्राप्त लोभ की निर्वृति उत्तम शौच-धर्म है। शौच-धर्म शुचिता से पूरित है। जहाँ पर होगी निर्लोभता वहीं होगा शौच-धर्म। लोभी के हृदय में कभी भी पवित्रता को स्थान नहीं मिलता, लोभी का अंतःकरण सदा अशुचिमय रहता है, भाव-विशुद्धता उसके पास दुर्लभ है। सम्पूर्ण पापों का जनक लोभ है। लोभी जीव परिग्रह संज्ञा से ग्रसित होकर खोटे-से-खोटे, छोटे-से-छोटे कार्य करने में संकोच नहीं करता है कुलीनता तो वहाँ स्वप्न में भी दृष्टव्य नहीं होती, उसके प्रतिक्षण बिलाव परिणाम रहते हैं, जैसे बिलाव के प्रतिक्षण मूषक मारने के परिणाम रहते हैं, चाहे उसे चूहा मिले या न मिले, परन्तु दृष्टि उसकी चूहे पर ही रहती है। ऐसी ही दशा लोभी की है, चाहे धन मिले अथवा न मिले, पर वह प्रतिक्षण अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही विचार करता है, इसलिए उसे आस्रव-बंध का अभाव नहीं है।

---

44. णिल्लोहत्तं आद-सुइदाए मुक्खकारणं। जीवो लोए जं पि पवंचणं करेदि, सो धण-धरणी-परिग्गह-णिमित्तेण एव, किण्णु जेण परिग्गहा चत्तं तस्स अहुणा पवंचणाए किं आवस्सगत्तं? इदं रहस्सं णाणी-जणा हि जाणेंति, धण-मूढा इमम्हि परमसच्चम्हि किं विचिंतेज्जा? कत्थ मोही-पण्णा गदिमाणा?

44. निर्लोभता आत्म-शुचिता का मुख्य कारण है। लोक में व्यक्ति जो भी छल-कपट करता है वह धन-धरती, परिग्रह के पीछे करता है, पर जिसने परिग्रह का ही त्याग कर दिया है उसके लिए अब छल-कपट की आवश्यकता ही क्या? इस रहस्य को ज्ञानी-जन ही समझते हैं, धन-मूढ़ इस परम-सत्य पर क्या विचार कर पाएँगे? मोही की प्रज्ञा ही कहाँ चलती है?

उत्तम-सच्चधम्मो

(उत्तम सत्य-धर्म)

45. जो वत्थुसहावो जहा अत्थि तं तहेव कहणं, ण णूणं ण अहिगं; इदं सच्चं। परसंतावकारग-वयणाणं तज्जिय सग-परहिदु-वयण-भासणं सच्चधम्मो। णवकोडीए सच्चभासणं उत्तमसच्चधम्मो।

जत्थ सच्चं होदि तत्थेव विजयजस-वड्ढमाणं होदि तहा जत्थ सच्चं णत्थि, तत्थेव ण विजयो णेव जसो॥

45. जो वस्तु-स्वभाव जैसा है उसे वैसा ही कहना; न न्यून न अधिक, यह सत्य है। पर को संतापित करने वाले वचनों का त्याग कर स्व-पर हितकारी वचनों को बोलना सत्य धर्म है। नवकोटि से सत्य को बोलना उत्तम सत्य धर्म है। जहाँ सत्य होता है वहीं विजय-यश वर्धमान होता है और जहाँ सत्य नहीं वहाँ न विजय, न यश।

---

46. कण्णप्पिय-वयणाइं सयल-वीसो गेण्हेदि, किण्णु कण्ण-पडु-वयणाइं पसू वि ण गेण्हेदि; पुणो किं णरा किं देवा गेण्हेहिंति? अहो मित्त! पियं भासेहि, हिदं भासेहि, सीमिदं भासेहि॥

46. कर्ण-प्रिय वचनों को सम्पूर्ण-विश्व स्वीकारता है, पर कर्ण-कटु-वचनों को पशु भी नहीं स्वीकारता, फिर क्या नर, क्या देव, स्वीकार करेंगे? अहो मित्र! प्रिय बोलो, हितकारी बोलो, सीमित बोलो।

---

47. जस्स जीवणं सच्चेण सह वट्टेदि, तेहिं महाणुभावेहिं सह वीसो उट्ठावेदि, एवं असच्चवादिस्स सगबंधू वि होंति, पुणो अवरो को होहिदि? जत्थ वाणी-माहुरियं गंभीरत्तं सारल्लं वागपडुत्तं वयणमाहुरिय-पियत्तं, तस्स समक्खे अमिदं पि णीरसं। संसारे वाणीए महुर-वागरसं जुगवं सहस्सजीवा सुही करेदि। जह वत्ता-हिदयो होहिदि तह वयण-पओगो होहिदि। वयणाइं अमिदकज्जं पि कुणंति तहा विस-कज्जं पि। पियवयणेहिं सयलजीवा संतोसं भजेंति तहा कडुग-वयणेहिं सयल-लोगो खिण्णत्तं भजेदि। कोरोणा-महामारी कमसो सो वड्ढंता मारेदि माणवजादिं, किण्णु कडुवयण-अरदियर-भीदयर-सावज्जवयणेहिं कोही-सत्थी-वंचगा सच्चदयाधम्मसुण्णचिंतणं कम्मपावबंधविवेग-सुण्णा सगीय-असुह-कण्णसूलवयणेहिं जुगवं कोडि-कोडि-भव्ववराणं हिदयसरोवरे विगसिद-विसुद्ध-सुमणाइं खणमेत्ते भिल्लसंति। एरिसेहिं जलणसील-वयणेहिं तव्वयण-भासगेहिं च सदा सजगदाए पुहुत्तं धारेज्जा॥

---

47. जिसका जीवन सत्य के साथ रहता है उन महानुभावों के साथ विश्व खड़ा रहता है, वहीं असत्यवादी के स्वबंधु भी नहीं होते, तो फिर अन्य कौन होगा? वाणी में माधुर्य, गंभीरता, सरलता, वाक्-पटुता, वचन-माधुर्य-प्रियता जहाँ है उसके समक्ष अमृत भी नीरस है। संसार में एक साथ सहस्त्रों जीवों को सुखी कोई कर सकता है, तो वह वाणी का मधुर वाक्-रस है। वक्ता का हृदय जैसा होगा, वचनों का प्रयोग वैसा होगा। वचन

अमृत का भी काम करते हैं और विष का भी। प्रिय-वाक्यों से समस्त-प्राणी संतोष को प्राप्त होते हैं और कटुक वचनों से सर्व-जगत् खिन्नता को प्राप्त होता है। कोरोना जैसी महामारी तो क्रमशः बढ़ते-बढ़ते मारती है मानव जाति को, परन्तु कटुक-वचन, अरतिकर, भीतकर, सावद्य-वचनों के द्वारा क्रोधी, स्वार्थी, वंचक, सत्य-दया-धर्म शून्य विचार, कर्म-बंध पाप-बंध के विवेक से शून्य अपने अशुभ कर्ण-शूल वचनों से एक साथ कोटि-कोटि भव्यवर पुंडरीकों के हृदय-सरोवर में खिले विशुद्धि के सुमनों को क्षण-मात्र में भस्म कर देता है। ऐसे ज्वलनशील वचनों से एवं तद्-वचनों को बोलने वाले से सदा सावधानी पूर्वक दूरी बनाकर रखना चाहिए।

---

48. भवण-णिम्माणे कियत्तं दव्वं कियत्तो पुरिसत्थो होदि, इदं चिंतणं भवण-दज्झमाण-चित्ते कत्तो? भावविसुद्धीए कियत्तो पुरिसत्थो होदि, ताए किं मुल्लं, विसुद्धमोक्खपासादो कहं णिम्मेदि, इदं अवियारवादी-पेक्खासुण्ण-कडुगहस्सवादिं च किं जाणे? जदि सगहिदभावणा सगम्हि अत्थि दु जह तुमं अग्गीदो पुहुत्तं धरेसि, तहेव एरिसाण हिदयारी-वयणाण दरिद्दीदो सदा पुहुत्तं धारेज्जा। एव एरिसेसु दुब्बुद्धिजीवेसुं करुणा-मज्झत्थभावं च धरेज्जा। जे सग-कम्म-पीडिदा, सुसरणामकम्म-सुण्णा तहा दुस्सरणामकम्मोदयजुत्ता, एरिसेसु जीवेसु वि सब्भावणं कुज्जा। ता वि सुहकम्मोदयलाहो होदु।

48. भवन बनाने में कितना द्रव्य; कितना पुरुषार्थ लगता है यह विचार भवन जलाने वाले के अन्दर कहाँ? भावों की विशुद्धि में कितना पुरुषार्थ लगता है, उसकी क्या कीमत है, विशुद्ध-मोक्ष महल कैसे निर्मित होता है, यह अविचारवादी, प्रेक्षा-शून्य, कटुक हास्यवादी को क्या मालूम? जैसे आप अग्नि से दूर रहते हो; उसी प्रकार ऐसे हितकारी वचनों के दरिद्रियों से सदा दूर रहना चाहिए, यदि स्वहित-भावना स्व के अन्दर है तो। साथ ही ऐसे दुर्बुद्धियों पर भी करुणा एवं माध्यस्थ-भाव रखना। ऐसे जीवों के अन्दर भी सद्-भावना बनाकर चलना, जो स्वकर्मों से ही पीड़ित हैं, जो सु-स्वर नाम कर्म शून्य तथा दुःस्वर नाम कर्म के उदय से युक्त हैं। उन्हें भी शुभ-कर्मों का उदय प्राप्त हो।

---

49. पहावी-पुण्णपुरिसा सहजेण मिदभोजी-मिदभासी होंति। मिदभोयणं मिदभासणं चेव जीवस्स वत्तित्तं वड्ढेंति। जो महुर-गंभीर-आगमसम्मदवयणं भासेदि, तं लोगो अट्ठाए समयं देदूणं सुणेदि। बहुपलावी-बहुभोजीदो हि साहवो आदरक्खणं कुणंति। तेसिं वियाराण सगपरिवारे हि सम्माणो ण होदि, पुणो अण्णत्थ किं भासेज्जा?

49. प्रभावी पुण्य-पुरुष सहज ही मित-भोजी एवं मित-भाषी होते हैं। मित-भोजन, मित-भाषण दोनों ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को वर्धमान करते हैं। जो मधुर-गंभीर आगम-सम्मत बोलता है, उसे जगत् आस्था से समय

निकालकर सुनता है। बहु-प्रलापी, बहु-भोजी दोनों से ही साधु आत्म-रक्षा करते हैं। उनके विचारों का स्व-परिवार में ही सम्मान नहीं रहता, फिर अन्यत्र क्या कहा जाए?

---

50. ते णरा जीवणे धण्णा, जे सच्चधम्म-भासासमिदि-वयणगुत्ति-सच्चाणुव्वदाणि य पालेंति। एदाणि वदाणि अणत्थादो आदरक्खणं कारेंति। मउणं सव्वसेट्ठं, तं सज्जण-सहाए वि सम्माणं लब्भावेदि॥

50. जीवन में वे नर धन्य हैं जो सत्य-धर्म, भाषा-समिति, वचन-गुप्ति तथा सत्याणुव्रत का पालन करते हैं। ये सभी व्रत अनर्थों से आत्म-रक्षा कराते हैं। मौन सर्वश्रेष्ठ है जो सज्जनों की सभा में भी सम्मान प्राप्त कराता है।

---

51. आवस्सगत्ते सीमिद-भासणं कुणेहि। जत्थ आवस्सगत्तं णत्थि तत्थ मउणवदं धारेहि, किण्णु जत्थ धम्मणासे किरियाधंसे सुसिद्धंत-विवलावे सदि तत्थ आपुच्छे वि भासेज्जा, भूदत्थ-सुसिद्धंत-रक्खाए; एसो आगमादेसो। आदसाहगस्स मिदु-महुर-गंभीर-मोक्खमग्गपोसग-वयणाइं हि भासेज्जा। जेहिं वयणेहिं संसयभमविच्छेदो होदु, तमेव हिदुवयणं भासेहि। जेहिं वयणेहिं संसयभमो जायदु तहा जीवाणं विवत्ति-उप्पादणं च होदु; तेसिं वयणाणं पओगं वि ण कुज्जा; एरिसं सच्चं पि ण भासेहि॥

51. आवश्यकता पर सीमित भाषण करें। जहाँ आवश्यकता न हो वहाँ मौन-व्रत धारण करें, परन्तु जहाँ पर धर्म का नाश हो रहा हो, क्रियाओं का ध्वंस हो रहा हो, सद्-सिद्धांत का व्यपलाप हो वहाँ पर बिना पूछे भी बोलना चाहिए, भूतार्थ सत्-सिद्धान्त की रक्षा के लिए, ऐसा आगम आदेश है। आत्म-साधक के लिए मृदु-मधुर-गंभीर, मोक्षमार्ग के पोषक वाक्यों को ही बोलना चाहिए। जिन वचनों से संशय रूप भ्रम का विच्छेद हो वही हितकर वचन बोलो। उन वाक्यों का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए; जिन वचनों से संशय भ्रम खड़ा हो तथा लोग विपत्ति में पड़ जाएँ, ऐसा सत्य भी नहीं बोलना।

उत्तम-संजमधम्मो

(उत्तम संयम-धर्म)

52. पाणी-इंदियाणं असुहपउत्तीए णिउत्ती 'संजमधम्मो'। पुढवी-अगणि-जल-वाउ-

वणप्फदि-तसकायिग-जीवाणं रक्खणं, इमेसिं कट्ठं अदाणं; छव्विहो पाणीसंजमो। पंचिंदिय-मण-वसीकरणं इमेसिं विसयादो उवेक्खाभावो छव्विहो इंदिय-संजमो। अयं उहय-संजमो मोक्खमग्गिं पालेज्जा। जदि उहयसंजमेसुं एगो वि मुंचीअ वा णेव गेण्हीअ दु सो मोक्खमग्ग-चुओ॥

52. प्राणी एवं इन्द्रियों की अशुभ-प्रवृत्ति की निवृत्ति स्वरूप 'संयम-धर्म' है। पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक इन षट्-कायिक जीवों की रक्षा करना, इन्हें कष्ट नहीं देना, यह छह प्रकार का प्राणी-संयम है। पाँच इन्द्रिय एवं मन इन्हें वश करना, इनके विषयों से उपेक्षा भाव रखना, यह छह प्रकार का इन्द्रिय-संयम है। यह उभय-संयम मोक्षमार्गी को पालन करना अनिवार्य है। यदि दोनों ही प्रकार के संयम में से एक भी छोड़ दिया अथवा स्वीकार ही नहीं किया तो वह व्यक्ति मोक्षमार्ग से च्युत है।

---

53. संजमसाहणं विणा णरो पसुसरिसो। आहार-भय-मेहुण-परिग्गह-सण्णाओ तिरिएसुं पि संति, इमेसुं माणवस्स कावि विसेसदा णत्थि। इंदिय-इच्छाणिरोहं किच्चा सगीय-अंतोकरणं विसेसविवेगादो पवित्तिकरणं, संजदजीवणं, णिरत्थग-कज्जादो आदरक्खणं, वदेसु दोसे सदि सगगुरु-समक्खे आलोचित्ता पायच्छित्त-गहणं, पुणो तहा दोसं ण करणस्स पदिण्णा-धारणं; एदे माणव-विसेसदा। एवमेव विसेसत्तं माणवं पसुत्तो भिण्णं कारेदि। सो हि माणवो कदा महामाणवत्तं भजेदि॥

53. बिना संयम-साधना के नर पशु के तुल्य है। आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह ये चार संज्ञाएँ पशुओं के अन्दर भी हैं; इनमें मानव की कोई विशेषता नहीं है। इन्द्रिय विषयों से विरक्ति अर्थात् इन्द्रियों का निरोध, इच्छाओं का निरोध कर अपने अंतःकरण को विशेष विवेक-पूर्वक पवित्र रखना, संयमी जीवन जीना, व्यर्थ के कार्यों से आत्मरक्षा करना, व्रतों में दोष होने पर स्वगुरु के समक्ष आलोचना कर प्रायश्चित्त स्वीकार करना, पुनः वैसा दोष नहीं लगाने की प्रतिज्ञा धारण करना, ये मानव की विशेषता है। यही विशेषता मानव को पशुओं से भिन्न करा देती है। वही मानव एक दिन महा-मानवता को प्राप्त होता है।

उत्तम-तवधम्मो

(उतम तप-धर्म)

54. कम्मक्खयत्थं किदा साहणा उत्तम-तवधम्मो। जह तवणं विणा सुवण्णं सुद्धत्तं ण भजेदि, तहेव तवणं विणा आदा वि सुद्ध-परमप्पपदं ण भजेदि। सारीरिग-माणसिगसुद्धिकारणं तवो। अहिग-भोयणादो सरीरं रोग-गसिदो होदि, कारणं तु उदरे विगिद-मलसंगहो होदि। उववासादि-तवेणं उदरं

पायणतंताइं पि संती होदि, जेण तेसिं कज्ज-खमदा वड्ढेदि तहा उदरमलं पित्तरूवे देहादो पुहं होदि, इमेण होदि देहसुद्धी। अहिग-इट्ठ-गरिट्ठ-भोयणादो देहम्हि धाऊ वड्ढेदि, धाउ-वड्ढणादो जीवम्हि विगारीभावा पयडेंति जेण चित्ते असुद्धत्तं जायदे। पुणो जीवो असुह-भावेहिं णाणाविह-असुहकम्मं कुणेदि। जस्स फलं रज्जदंड-णरयादि-दुग्गदि-गमणं च होदि॥

54. कर्मक्षय के लिए जो साधना की जाती है वह उत्तम तप धर्म है। बिना तपाए जैसे स्वर्ण शुद्धता को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार से तप किए बिना आत्मा भी शुद्ध परमात्म-पद को प्राप्त नहीं होती। शारीरिक-मानसिक शुद्धि का कारण तप है। अधिक भोजन से शरीर रोग-ग्रसित हो जाता है, कारण पेट में विकृत-मल का संग्रह हो जाता है। उपवास आदि तप के माध्यम से उदर को, पाचन-तंत्रों को भी विश्राम मिलता है जिससे उनकी कार्य क्षमता बढ़ जाती है तथा पेट का मल पित्त के रूप में शरीर से बाहर हो जाता है, इससे शरीर शुद्धि हो जाती है। अधिक इष्ट-गरिष्ठ भोजन से शरीर में धातु-वृद्धि हो जाती है; धातुवृद्धि से व्यक्ति के अन्दर विकारी-भाव प्रकट होते हैं जिसके कारण मन में अशुद्धता जन्म लेती है। फिर व्यक्ति अशुभ-भावों के कारण अनेक प्रकार के अशुभ-कर्म करने को तैयार हो जाता है। जिसका परिणाम राज्य-दण्ड से लेकर नरकादि दुर्गतियों में जाना होता है।

---

55. तवेण मणस्स विगारी-पउत्ति-उवसमणं होदि। मणसुद्धी वीसस्स जेट्ठुअम-सुद्धी, तम्हा बहिरब्भंतर-तवा कादव्वा। उववास-ऊणोदरादी बहिरंगतवा। पायच्छित्त-विणयादी अंतरंगतवा॥

55. तप करने से मन की विकारी प्रवृत्ति का भी उपशम होता है। मन-शुद्धि विश्व की सबसे बड़ी शुद्धि है, इसलिए अंतरंग एवं बहिरंग तपों को करते रहना चाहिए। उपवास, ऊनोदर आदि बहिरंग तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय आदि अंतरंग तप हैं।

उत्तम-चागधम्मो

(उत्तम त्याग-धर्म)

56. णिम्ममत्तभावजुत्तेण सगवत्थुचागो दाणं अहवा संजदजोग्ग-आहार-ओसह-अभय-सत्थ-दाणं चागधम्मो॥

56. निर्ममत्व भाव से युक्त होकर स्व-वस्तु का त्याग करना दान है अथवा संयत के योग्य आहार-औषध-अभय तथा शास्त्र; ये चार प्रकार का दान करना 'त्याग-धर्म' है।

---

57. सावगेहिं तमेव वत्थुं वदीणं दिंतेज्जा जेण तेसिं सुतवसज्झाय-वड्ढी होदु। जं असंजम-रागद्दोस-कारणं होज्जा, एरिसं वत्थुं कदावि साहगा णवि दिंतेज्जा। दाणं दप्पो णत्थि, दाणं तु धम्मो त्थि। धम्मो विवेगदो होदि। अविवेगादो पदत्तवत्थुं दाण-सण्णं ण भजेदि, तम्हा जं दव्वं तुए दिंतिज्जदे तस्स किं पओगो होदि, इमस्स विचिंतेज्जा; इदं दायार-कत्तव्वं। उव्वरा-भूमीए ववेद-बीयं उत्तमफलं देदि तहा ऊसरभूमीए ववेद-बीयं मुहा होदि। साहगो लद्ध-दव्वोवओगं धम्मज्झाणे तवे सज्झाए जवे य पूरेदि, पुण दायारो पि तस्स फलं भजेहिदि। जदि दायारेण पदत्तवत्थुणो पओगो कोवि मूढो विसयकसाय-कामभोग-अभक्ख-भक्खण-सुरासेवण-सरिच्छ-पावेसुं संलग्गेदि, दु दायारं पि णियमेण दुग्गदिभूद-फललद्धी होहिदि। दाणं मेत्तं हि उद्देस्सं ण होदव्वं, अविदु देयवत्थु-उवओगे पुणो पुणो चिंतणं होदव्वं॥

57. श्रावकों के द्वारा वही वस्तु व्रतियों को देना चाहिए जिससे उनके सुतप-स्वाध्याय में वृद्धि हो। ऐसी वस्तु कभी साधकों को प्रदान नहीं करनी चाहिए जो असंयम एवं राग-द्वेष का कारण बने। दान अहं नहीं; दान धर्म है। धर्म विवेक पूर्वक होता है। अविवेक पूर्वक दी वस्तु दान संज्ञा को प्राप्त नहीं होती, इसलिए दाता का कर्तव्य है जो द्रव्य आपके द्वारा दिया गया है उसका उपयोग क्या हो रहा है इसका भी ध्यान रखा जाना चाहिए। उर्वरा भूमि में बोया गया बीज उत्तम फल को देता है तथा ऊसर भूमि में डाला गया बीज व्यर्थ चला जाता है। साधक प्राप्त द्रव्य का उपयोग धर्म-ध्यान, तप, स्वाध्याय, जप में पूर्ण करता है, तो दाता को भी उसका फल प्राप्त होगा। यदि दाता द्वारा प्रदत्त वस्तु का प्रयोग कोई अज्ञ विषय-कषाय, काम-भोग, अभक्ष्य-भक्षण, सुरा-पान जैसे पापों में लगाता है, तो दाता को भी नियम से दुर्गति-भूत फल की प्राप्ति होगी। दान देना ही मात्र उद्देश्य नहीं होना चाहिए, अपितु देय-वस्तु के उपयोग पर पुनः-पुनः ध्यान रखना चाहिए।

---

58. पत्तदत्ती-समदत्ती-दयादत्ती-भेदादो वि दाणं दिस्सदे। उत्तम-मज्झिम-जहण्ण भेद-जुदा तिविह-पत्ता ओसह-सत्थ-अभय-आहार-भेदजुद-दाणं च सददं कादव्वं। णिद्दोस-णिज्जंतुगरसायण-सुद्धभक्ख-अप्पदिट्ठिद-पत्तेगवणप्फदिजुत्त-ओसहं पत्त-रुगणे सदि णिरोगदाए दिंतेज्जा॥

58. पात्रदत्ती, समदत्ती, दयादत्ती के भेद से भी दान देखा जाता है। उत्तम-मध्यम-जघन्य के भेद से तीन प्रकार के पात्रों को औषध-शास्त्र-अभय-आहार ये चार प्रकार का दान हमेशा करते रहना चाहिए। निर्दोष-निर्जन्तुक-रसायन, शुद्ध खाने-योग्य, अप्रतिष्ठित प्रत्येक-वनस्पति से युक्त औषधि पात्रों के अस्वस्थ होने पर निरोगता हेतु प्रदान करना चाहिए।

---

59. रत्त-मंसादि-जइविग-असुइमय-दव्वाइं ओसहरूवे णवि आहारे दिज्जा णेव लेवादिदव्वं सरीरे कुज्जा; णवरि असुइ-अभक्ख-दव्वाइं अकल्लाण-कारगाइं। एदाइं दाण-सण्णं ण भजेंति। सदा सुइमय-दव्व-दाणं हि दिज्जदे। ओसह-दाणादो दायारस्स दिव्व-सुंदर-णिरोगीदेह-लद्धी होदि तहा जं साहगं दाणं दिंतेदि तस्स साहणा वि सत्था होदि॥

59. रक्त-मांसादि जैविक अशुचिमय-द्रव्य औषधि के रूप में न तो आहार में देना और न ही लेपादि शरीर पर करना, क्योंकि अशुचि-अभक्ष्य द्रव्य अकल्याणकारी हैं। ये दान संज्ञा को प्राप्त नहीं होते। दान सदा शुचिमय द्रव्य का ही दिया जाता है। औषधदान से दाता को सुन्दर, स्वस्थ शरीर की प्राप्ति होती है तथा जिस साधक को दान दिया है उसकी साधना भी स्वस्थ होती है।

---

60. अरहंतवाणीए उवदिट्ठसत्ततच्च-णवपदत्थ-छद्दव्व-तिक्काल-पंचत्थिकाय-छल्लेस्सादि-वाचगा चउ-अणुओग-गंथा तिविह-पत्ता दाणं सत्थदाणं। सत्थदाणत्तो उत्तमबुद्धि-लाहो त्थि, तम्हा सदा सुपत्ताणं सत्थदाणं कादव्वं। जं सत्थं साहगस्स अज्झयणेच्छा होदु, एरिसा गंथा उवहारे दिज्जा, णेव अण्णा। आगमसिद्धंत-सत्थाणं पगासणं कारिदूणं सगपर-सुदाराहणाए सहयोगं किच्चा सगीय-सुदणाणावरण-कम्मक्खयं कुज्जा तहा जिणालयेसुं गंथं विरायमाणं किच्चा सुदभंडारा वड्ढेज्जा॥

60. अरहंत-वाणी में उपदिष्ट सात-तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य, तीन काल, पंचास्तिकाय, षट्-लेश्यादि के कथन करने वाले चतुरनुयोगी ग्रंथों को तीनों पात्रों को प्रदान करना शास्त्र-दान है। शास्त्र दान करने से श्रेष्ठ बुद्धि की प्राप्ति होती है, इसलिए सदा सद्-पात्रों को शास्त्र-दान करते रहना चाहिए। जो साधक को अध्ययन करना हो; ऐसे शास्त्रों को भेंट करें, अन्य नहीं। आगम-सिद्धांत शास्त्रों का प्रकाशन कराकर स्व-पर श्रुताराधना में सहयोग कर अपने श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षय करें तथा जिनालयों में ग्रंथ विराजमान कर श्रुत-भण्डारों को वर्धमान करें।

---

61. धणहीण-छत्ताणं सहजोगं किच्चा पाढेज्जा, ता णाणी किच्चा देस-रट्ठ-समाय-सक्किदि-विगासं च कुज्जा। जदि सग-पण्णा पवित्ता विसदा दु आगमाणुसारेण जगकल्लाणत्थं सगोवओग-विसुद्धीए अहिणव-गंथा गंथेज्जा, किण्णु कहणं जिणवयणाणुसारेण हि कुज्जा। भासापरियट्टणं तु कुज्जा, परंतु सिद्धंत-परियट्टणं णवि कुज्जा। सिद्धंत-विरुद्ध-वक्खा आगमसत्थ-सण्णं ण भजेहिदि। आगमा पुव्वावर-विरोह-रहिद-सिद्धंताणं हि परूवेंति। अत्तकहिद-वाणी, अविरुद्धवयणं च पवयणं, तमेव सत्थं। हिंसादि-कम्मपुट्ठि-कारगाइं पुत्थगाइं आगमसत्थ-सण्णं ण भजेंति, अविदु जम्हि पाणीमेत्तं पडि करुणा-वक्खा, तमेव धम्म-सत्थं॥

61. धनहीन छात्रों को सहयोग कर अध्ययन कराएँ; उन्हें विद्वान् बनाकर देश-राष्ट्र-समाज एवं संस्कृति का विकास करें। स्वयं की प्रज्ञा पवित्र, विशद है तो आगमानुसार जगत्-कल्याणार्थ स्व-उपयोग विशुद्धि हेतु

नवीन ग्रंथों का सृजन करें, परन्तु जिन-वचनों के अनुसार ही कथन करें। भाषा परिवर्तन तो करें, परन्तु सिद्धान्तों को ज्यों-का-त्यों रहने दें। सिद्धान्तों के विरुद्ध जो व्याख्या होगी, वह आगम-शास्त्र संज्ञा को प्राप्त नहीं होगी। आगम तो पूर्वापर विरोध रहित, सिद्धान्तों की ही प्ररूपणा करते हैं। आप्तकथित वाणी, अविरुद्ध-वचन जो प्रवचन है वही मात्र शास्त्र हैं। हिंसादि कर्मों की पुष्टि करने वाली पोथियाँ एवं किताबें आगम-शास्त्र संज्ञा को प्राप्त नहीं होतीं, अपितु प्राणिमात्र के प्रति करुणा की व्याख्या जिसमें है वही 'धर्म-शास्त्र' है।

---

62. जम्हि परोप्पर-उवयार-सिक्खा माणवहिदेण सह पाणीमेत्तहिद-कहणं च होदु सोच्चिय जधत्थे धम्मगंथो। जत्थ दुक्खपीडा-अगणि-अदिविट्ठि-अणाविट्ठि-महामारी-णदीसमुद्दादि-अप्पावादो पीडिदजणा पडि-उवयार-सिक्खा करुणादाणरूवे पेरणं भासेदु, एरिसा सग्गंथा हि सत्थं जाणेहि। कोडिल्ल-कामभावणा-हिंसापोसग-पुत्थगाइं सुसत्थाइं ण होंति॥

62. जिसमें परस्पर उपकार की शिक्षा हो; मानव हित ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के हित की बात जिसमें हो वही यथार्थ में 'धर्म-ग्रंथ' है। दुःख-पीड़ा, अग्नि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, नदी-समुद्रादि की बाढ़ से पीड़ित-जनों के प्रति उपकार करने की शिक्षा, करुणा दान के रूप में जहाँ प्रेरणा दी हो ऐसे सद्-ग्रंथों को ही शास्त्र जानो। कौटिल्य काम-भावना एवं हिंसा-पोषक पुस्तकें सद्-शास्त्र नाम को प्राप्त नहीं हैं।

---

63. सुसत्थे पुढवी-जल-अग्गि-वाउ-वणप्फदिकायिग-तसकायिग-सव्वजीवाणं च रक्खावण्णणं होदि। गिहत्था मुहा वणप्फदि-छेदणं पि ण कुणंतु। सुसत्थेसुं साहुं पि काएचिद अवत्थाए जीवाणं किंचिवि पीडिदकरण-आएसो णत्थि। तेसिं सत्थाणं दाणं कुज्जा जेण वीसकल्लाण-पण्णा-विगासो तहा आदंकी-दस्सुबुद्धि-विरामो होदु, वीस-पाणीसुं परोप्पर-वच्छल्लभावो होदु धम्म-पयासो वा होदु॥

63. सद्-शास्त्र में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक सर्व-जीवों की रक्षा का वर्णन होता है। गृहस्थ व्यर्थ में वनस्पति का भी छेदन न करें। साधु को किसी भी अवस्था में जीवों को किञ्चित् भी पीड़ित करने का आदेश नहीं है; सद्-शास्त्रों में। उन्हीं शास्त्रों का दान करें जिससे विश्व-कल्याणी प्रज्ञा का विकास हो और आतंकी, नक्सली-बुद्धि का विराम हो। राष्ट्र, देश, विश्व के प्राणियों में परस्पर वात्सल्य-भाव हो, धर्म का प्रचार हो।

---

64. पाणीमेत्ते करुणा सयलजीवाण पाणरक्खा धम्मप्प-सुरक्खा य अभयदाणं। सागाहार-णिद्दोसभोयण-दाणं च दाणं। उत्तम-मज्झिम-जहण्ण-पत्ता जहाजोग्ग-भत्तिपुव्वगं दाणादो उत्तम-मज्झिम-जहण्ण-फल-लद्धी होदि॥

64. प्राणिमात्र पर करुणा, सभी जीवों के प्राणों की रक्षा करना, धर्मात्माओं की सुरक्षा अभय-दान है। शाकाहार, निर्दोष-भोजन प्रदान करना दान है। उत्तम, मध्यम, जघन्य तीनों पात्रों को यथा-योग्य भक्तिपूर्वक दान देने से उत्तम, मध्यम, जघन्य फल की प्राप्ति होती है।

उत्तम-आकिंचण्णधम्मो

(उत्तम आकिंचन्य-धर्म)

65. देहादि-परपदत्थादो पुण्ण-ममत्तचागो आकिंचण्ण-धम्मो। सरूवे थिरबुद्धिसब्भावो, परिग्गहसण्णा-विच्छेदो, अपरिग्गह-अणिच्छाभावे लीणत्तं, परभावादो पुण्ण-उवेक्खाभावलद्धी खलु उत्तम-आकिंचण्ण-धम्मो। जत्थ देहमेत्तपरिग्गहो सेसो त्ति॥

65. शरीरादि पर-पदार्थों से पूर्ण-ममत्व का त्याग करना आकिंचन्य-धर्म है। स्वरूप में स्थिर-बुद्धि, परिग्रह-संज्ञा का विच्छेद, अपरिग्रह-भाव, अनिच्छा भाव में मग्नता, पर-भावों से पूर्ण उपेक्षा भाव की प्राप्ति ही उत्तम-आकिंचन्य धर्म है। शरीर मात्र परिग्रह जहाँ शेष है।

उत्तम-बंभचेरधम्मो

(उत्तम ब्रह्मचर्य-धर्म)

66. जत्थ लोयस्स सयल-इत्थीसुं मादु-भगिणी-भावो, पसुवित्ति-सुण्णं एगमेत्तं चिदबंभ-आदसरूवे रमणं, एगीभूद-चिदविलासो, परभावादो पुण्ण-उदास-दसा विगारीभाव-सुण्णदसा, तत्थेव परम-बंभचेरधम्मो त्थि। एवंचिय अप्पस्स सहजावत्था-अणुभूदी। णो अवरा, णेय अण्णहा। एरिसस्स वीदराग-धम्मस्स जो आसएदि, सो हि भव्ववरो समाहि-सिद्धिं लहित्ता पुणब्भवाभावं किच्चा किदकिच्च-परमप्पा होदि॥

66. जगत् की स्त्री मात्र में माँ-भगनी (बहिन) भाव का जहाँ परिणाम है, पशु-वृत्ति से शून्य एकमात्र चिद्-ब्रह्म आत्म-स्वरूप में रमण है, एकीभूत चैतन्य-विलास है, पर-भावों से पूर्ण उदास, विकारी भावों से शून्य-दशा, परम ब्रह्मचर्य-धर्म है। यही आत्मा की सहज अवस्था की अनुभूति है। अन्य नहीं, अन्यथा नहीं। ऐसे वीतराग-धर्म का जो आश्रय लेता है वही भव्यवर समाधि एवं सिद्धि को प्राप्त कर, पुनर्भव का अभाव कर, कृतकृत्य परमात्मा हो जाता है।

29

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

सिक्खा

(शिक्षा)

1. देस-रज्ज-पंत-णयर-गाम-जणपद-समाय-परिवार-धम्म-संपदाय-विगासो सिक्खाए एव णिहिदो। जत्थ सिक्खा सक्खरदा, तत्थ विगाससीलदा। सिक्खा-अभावे कस्सचिद विगासो अच्चंत-दुग्गम-कज्जं। सहस्स-सिक्खिदाणं एगो मणुवो खणमेत्ते जाणाविज्जदे, किण्णु एगं असिक्खिद-मूढं सहस्स-सिक्खग-सिक्खिगा वि ण जाणाविज्जंति, इदं दुल्लहं कज्जं॥

1. किसी देश, राज्य, प्रान्त, नगर-गाँव, जनपद, समाज, परिवार, धर्म, सम्प्रदाय का विकास निहित है तो शिक्षा से, जहाँ शिक्षा है, साक्षरता है वहाँ विकासशीलता है। शिक्षा के अभाव में किसी का विकास कर पाना अत्यंत कठिन कार्य है। सहस्त्रों शिक्षित जनों को एक मनुष्य क्षण मात्र में समझा सकता है, परन्तु एक अशिक्षित मूढ़ को सहस्त्रों शिक्षक-शिक्षित समझा पाएँ यह दुर्लभ कार्य है।

---

2. सहस्स-मूढ-असिक्खिद-सिस्साणं अवेक्खा एग-णाणी-सिक्खिदगुरुस्स सिस्सो हवणं सेट्ठं। णाणी-संपक्को जस-णाण-सम्माण-वड्ढिकारणं, किण्णु अण्णाणी-संपक्को मूढत्त-अवजस-अवमाण-अण्णाणत्त-कारणं अत्थि, तम्हा पण्ण-पुरिसा सदा णाणी-सुसीलेहिं सह वसेदव्वा; अण्णहा एगागी-णिवसणं हि वरं। सिक्खिदस्स भासा पण्णा विवेगो य णिरोगी होदि। असिक्खिदस्स भासा-बुद्धिविवेगो भिण्णदाजुदो होदि। सिक्खाए सह बुद्धी वि पसत्था होदव्वा। जदि जीवे बहुसिक्खालाहं करीअ, किण्णु बुद्धि-विवेगसीलदा-लाहं ण भजीअ दु उत्तमसिक्खा मेत्तं पमाणपत्त-भारा होहिदि। परंतु देस-रट्ठ-समाय-वीसे य गेहे वि तस्स मुल्लं ण होहिदि। सिक्खाए सह वावहारिगदा-सिक्खा वि समाय-मज्झे वसिय गेण्हेज्जा। पत्तेगठाणे पुत्थगीय-णाणं णवि होदि कज्जयारी, सव्वत्थ वावहारिग-अणुहव-णाणेण सह पुत्थगीय-णाणं होदि कज्जयारी। पुत्थगीय-णाणं आधारं होदि, किण्णु अणुहवभूद-णाणेण एव होदि कज्जं॥

2. एक ज्ञानी शिक्षित-गुरु का शिष्य बनकर जीना श्रेष्ठ है, सहस्त्रों-मूढ़ अशिक्षित-शिष्यों की अपेक्षा। ज्ञानियों का सम्पर्क यश-ज्ञान-सम्मान वृद्धि का कारण है, परन्तु अज्ञानियों का सम्पर्क मूढ़ता, अपयश, अपमान एवं अज्ञानता का प्रबल कारण है, इसलिए प्रज्ञ-पुरुषों को सदा ज्ञानी-सुशील जनों के साथ रहना चाहिए, अन्यथा एकाकी रहना ही श्रेष्ठ है शिक्षित व्यक्ति की भाषा, प्रज्ञा एवं विवेक स्वस्थ होते हैं। अशिक्षित व्यक्ति की भाषा-बुद्धि विवेक भिन्नता युक्त रहते हैं। शिक्षा के साथ बुद्धि भी प्रशस्त होनी अनिवार्य है। शिक्षा बहुत प्राप्त की, पर बुद्धि एवं विवेकशीलता प्राप्त नहीं कर सका जीव तो अच्छी शिक्षा मात्र प्रमाण-पत्रों का भार होगी, परन्तु समाज, देश, राष्ट्र, विश्व में तो क्या घर में भी उसकी कीमत नहीं होगी। शिक्षा के साथ-साथ व्यावहारिकता की शिक्षा भी समाज के मध्य रहकर लेना चाहिए। प्रत्येक स्थान पर पुस्तकीय-ज्ञान कार्यकारी नहीं होता है, सर्वत्र व्यावहारिक एवं अनुभवज्ञान के साथ पुस्तकीय-ज्ञान कार्यकारी होता है। पुस्तकीय-ज्ञान आधार होता है, पर कार्य तो अनुभवभूत ज्ञान से ही होता है।

---

3. पढमं चिंतेज्जा-कओ मे रिवु-संखा दु ण वड्ढेदि? सच्च-सिक्खा वि जीवस्स बुद्धिं पेक्खिय दिज्जा॥

3. सर्व-प्रथम इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं मेरे शत्रुओं की संख्या तो नहीं बढ़ रही है। सत्य की शिक्षा भी व्यक्ति की बुद्धि देखकर देना चाहिए।

---

4. अण्णाणी णिवसणं वरं, किण्णु दुट्ठ-पुरिसस्स सेवं किच्चा सिक्खा-लाहो वरो णत्थि; सिक्खाए सह सिट्ठत्तं पि पसज्जेज्जा। विस-मिस्सिदं अमिदं कस्स कज्जस्स? दोण्णि हि मिच्चुकारणाइं। जत्थ णाणफलं अण्णाण-णिवित्ती चारित्तं च होदु तत्तो णाणं लहेहि। चरियवंत-सेवाए लद्धणाणं विज्जा-जस-पुज्जत्तं लाहेदि, तम्हा विवेगिणो पत्तेग-कज्जं विवेगादो हि कुणंति। पायो सीसा गुरुसहाव-सीला होंति, गुरुजणाण पउत्तिं तु सीसा गाहेंति; तम्हा दु सिक्खगं विज्जाण-णीदिण्हु-सदायारी-कुसल-भद्दसहावी य होज्जा, जेण तस्स सीसा वि तग्गुणसीला होदूणं रट्ठ-धम्म-समाज-कल्लाणभावणाजुत्ता होदूणं जसवंता होज्जा॥

4. अज्ञानी रहना श्रेष्ठ है, परन्तु दुष्ट-पुरुष की सेवा करके शिक्षा प्राप्त करना अच्छा नहीं है; शिक्षा के साथ शिष्टता भी प्राप्त होना चाहिए। वह अमृत किस काम का जिसमें जहर मिला हो। दोनों ही मृत्यु के कारण हैं। ज्ञान वहाँ से प्राप्त करो जहाँ ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति, ज्ञान का फल चारित्र हो। चारित्रवान की सेवा से प्राप्त ज्ञान विद्या, यश व पूज्यता को प्राप्त कराता है, इसलिए विवेकशील लोग प्रत्येक कार्य को विवेकपूर्वक ही करते हैं। शिष्य प्रायः गुरुस्वभावशील होते हैं, गुरुजनों की प्रवृत्ति को तो शिष्य स्वीकारते हैं,

इसलिए शिक्षक, विद्वान्, नीतिज्ञ, सदाचारी, कुशल, भद्र-स्वभावी होना चाहिए जिससे उसके छात्र (शिष्य) भी तद्गुणशील होकर राष्ट्र-धर्म-समाज-कल्याण की भावना से युक्त होकर यशवान बनें।

---

5. सिक्खग-कत्तव्वं-सो सीसं एरिसं सिक्खं दिज्जा, जेण सो णीदिवंत-विहूदिवंतो होदूणं पि विणयवंतो होज्जा। अहंकारी-माणिस्स णीदि-विहूदीओ पुण्णमलं मेत्तं जाणेहि। जदि सुधम्म-सत्थ-गुरुजणा पडि विणयभावस्स अभावो सिस्समि अत्थि, दु एरिसो विणयहीण-सीसो सगस्स गुरुस्स य हस्स-कारणं होदि। एवं सुसील-विणयवंत-सीसो सगपर-जसवड्ढीए कारणं होदि, तम्हा सिक्खगं पडिक्खणं छत्ताणं सग्गुणी-करणस्स पुरिसत्थं कुज्जा। अहंभाव - परणिंदा - आदप्पसंसा - कामभावणा - सिग्घकोव-गुरुजणावमाण-लोहमायाभावा य सव्वे विज्जा-बुद्धिक्खयस्स पबलकारणाइं; इमादो दोसादो गुरु-छत्ता फेडेज्जा। जदि उवरोत्त-हेदूदो छत्तो पुहं ण होहिदि दु विज्जावड्ढी असंभवा॥

5. शिक्षक का कर्तव्य है कि वह शिष्य को ऐसी शिक्षा दे; जिससे वह नीतिवान-विभूतिवान होकर भी विनयवान रहे। अहंकारी-मानी की नीति-विभूति सब पुण्य का मल मात्र समझो। यदि सद्धर्म-शास्त्र गुरुजनों के प्रति विनयभाव का अभाव है, ऐसा विनयहीन शिष्य गुरु और स्वयं की हसी का कारण बनता है वहीं सुशील, विनयवान शिष्य स्व-पर के यशवृद्धि में कारण बनता है, इसलिए छात्रों को सद्गुणी बनाने का पुरुषार्थ शिक्षक को प्रतिक्षण करते रहना चाहिए। अहंभाव, पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा- काम-भावना, शीघ्र कोप, गुरुजनों का अपमान, लोभ-माया परिणाम—ये सब विद्या एवं बुद्धिक्षय के प्रबल कारण हैं, इन बुराईयों से गुरु एवं छात्रों को सुरक्षित रहना चाहिए। यदि उपरोक्त हेतुओं से छात्र दूर नहीं होगा तो विद्या-वृद्धि असंभव है।

---

6. धम्म-रट्ठ-पोसगा छत्ता हि होहिंति। कहं होस्सदि भावी-रट्ठ-समाया अस्स णिण्णयो सिक्खा-सिक्खगेसुं आधारिदो। जदि तुमं देसधम्म-उण्णदिं इच्छेसि दु सिक्खा धम्मिग-णीदि-णायपुण्णा होदु, संपदाया परोप्परे सब्भावणा पुण्णा होंतु, तम्हि ईसाभावस्स अभावो होदु, पाणीमेत्ते करुणाभावो उप्पादगा होदु, देसभत्तिभावणा-जुदा य होदु॥

6. धर्म एवं राष्ट्र के पोषक छात्र ही होंगे। भावी समाज-राष्ट्र कैसा होगा इसका निर्णय शिक्षक एवं शिक्षा के हाथ में है। देश-धर्म की यदि आप उन्नति चाहते हैं, तो शिक्षा धार्मिक, नीति व न्यायपूर्ण हो, सम्प्रदाय परस्पर सद्भावनापूर्ण हों, उसमें ईर्ष्या भाव का अभाव हो, प्राणिमात्र में करुणाभाव उत्पन्न करने वाली हो, देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत हो।

---

7. सिक्खगो सुवियारी सदायारी विसण-धुम्मपाणादि-मुत्तो होदव्वो। सो मज्जादा-पालगो होदु, असुहभाव-सुण्णो पसत्थभाव-पयडकारगो महापुरिसा पडि अट्ठवंतो तहा पत्तेग-छत्तं पडि णेहभाव-संजुत्तो होदु। रट्ठं पडि समप्पिदो गुरू हि रट्ठहिद-भावणाए णिब्भरिदूणं सीसाणं विसिट्ठ-सिट्ठ-विज्जं पयच्छेदि॥

7. शिक्षक सद्विचार, सदाचारी, व्यसनमुक्त तथा धूम्रपानादि से रहित हो। शिक्षक मर्यादा का पालक हो, अशुभ-भावों से शून्य तथा प्रशस्त भावों को प्रकट करने वाला, महापुरुषों के प्रति आस्थावान तथा प्रत्येक छात्र के प्रति स्नेहभाव से भरा हो। राष्ट्र के प्रति समर्पित गुरु ही राष्ट्रहित भावना से भरकर शिष्यों को विशिष्ट-शिष्ट विद्या प्रदान करता है।

---

8. सयल-सिक्खासुं अज्झप्प-सिक्खा सव्वोवरी। जेसिं ण पत्ता अज्झप्प-सिक्खा ते इहपर-लोए दुक्खं लद्धवंता। ते कदावि सगं असंति-किलेस-ईसा-असूया-मच्छरभाव-रित्ता ण करिस्संति॥

8. सम्पूर्ण शिक्षाओं में अध्यात्म की शिक्षा सर्वोपरि है। जिन्हें अध्यात्म-शिक्षा प्राप्त नहीं हुई वे इह-लोक, पर-लोक अर्थात् उभय लोक में दुःख को प्राप्त करने वाले हैं। अशान्ति, क्लेश, ईर्ष्या डाह, असूया, मात्सर्य से अपने को वे कभी रिक्त नहीं कर पाएँगे।

---

9. जगदीए अज्झप्प-भिण्णाओ जाओ वि सिक्खाओ, ताओ मेत्तं भोदिग-इंदियसुह-पोसगाओ। तेसिं मेत्तं एगो हि उद्देस्सो केणचिद पयारेण वयं इंदिय-सुह-पुत्ती होज्जा॥

9. जगति पर अध्यात्म से भिन्न जो भी शिक्षाएँ हैं, वे मात्र भौतिक इन्द्रिय सुख की ही पोषक हैं; उनका मात्र एक ही उद्देश्य है कि किसी भी प्रकार से हमारे इन्द्रिय-सुखों की पूर्ति होना चाहिए।

---

10. रायणीदि-कूडणीदि-वावारणीदि-असिमसिकिसि-विज्जावाणिज्ज-कलादि-सिक्खाओ परमट्ठेण पुण्ण-भिण्णाओ। मेत्तं अज्झप्पं हि परमट्ठ-विज्जा। जीवणस्स अंतो अज्झप्प-विज्जाए होदव्वो॥

10. राजनीति, कूटनीति, व्यापार-नीति, असि-मसि-कृषि-विद्या-वाणिज्य, कलादि जो भी शिक्षाएँ हैं, वे परमार्थ से पूर्ण पृथक् हैं, एकमात्र अध्यात्म ही परमार्थ-विद्या है। जीवन का अंत अध्यात्म-विद्या से होना चाहिए।

---

11. लोयस्स किंपि वत्थुं परलोए संगे ण गच्छेहिदि, इदं धुवसच्चं। हद्धि हद्धि किच्चा जीवो परवत्थुं संगहेदि, किण्णु ठायिच्चं णवि दिंतेदि। सो मेत्तं धुव-णायगभावं सगबंभ-णियवत्थुं चेव सगेण सह धरेदि। अवरज्जणे जं पावासवं किच्चा कम्मबंधं करेदि, तमेव परभवे संगे णेदि॥

11. लोक की कोई भी वस्तु परलोक में साथ नहीं जाएगी, यह ध्रुव सत्य है। हाय-हायकर व्यक्ति पर-वस्तु को संगृहीत कर सकता है, पर स्थायित्व नहीं दे सकता है। वह मात्र ध्रुव ज्ञायकभाव स्व-ब्रह्म निजवस्तुत्व को ही स्व के साथ रख सकता है। अन्य के अर्जन में जो पापास्त्रव कर कर्मबंध किया है उसे ही पर-भव में साथ ले जाएगा।

---

12. मज्झाणं तु एगत्तभावो एव, अवरो अण्णो कोवि परभावो मज्झ णत्थि। इदं धुवसच्चं विसरणं अणादिस्स अण्णाण-भावो। इमस्स अण्णाणभावस्स चागं किच्चा णियप्प-सिद्धीए दयादमचाग-समाहि-आसयं लब्भेहि। मेत्तं आदधम्मो सहजोगं देहिदि। पक्ख-पंथ-संपदायाणं रागो अण्ण-संपदाया पडि दोसबुद्धिं तु जणाविज्जदे, परंतु आदतच्चस्स सच्चं समया ण णेहिदि, तम्हा अज्झप्प-विज्जा-अमिद-पाणं करेहि तहा णिरत्थ-दोसबुद्धि-पंकादो रक्खेहि॥

12. एकत्व-भाव ही मात्र हमारा है, दूसरा अन्य कोई पर-भाव हमारा नहीं है। इस ध्रुव सत्य को भूल जाना, यही तो अनादि का अज्ञान-भाव है। इस अज्ञान-भाव का त्याग कर स्वात्म-सिद्धि हेतु दया-दम-त्याग-समाधि का आश्रय प्राप्त करो। एकमात्र आत्मधर्म ही साथ देगा। पक्षों, पंथों, सम्प्रदायों का राग अन्य सम्प्रदायों के प्रति द्वेष-बुद्धि तो उत्पन्न करा सकता है, परन्तु आत्म-तत्त्व के सत्य के पास नहीं ले जा पाएगा, इसलिए अध्यात्म-विद्या अमृत का पान करो एवं व्यर्थ के द्वेष-बुद्धि के पंक से बचो।

---

13. जधत्थे सिक्ख-उण्णदी विणयसीलं हि होदि, विणयहीणो विज्जा-विज्जाफलं च ण पसज्जेदि। जीवणे उत्तम-सिक्खवंत-विज्जावंतो हवणत्थं हुव विणयवंतो, कुण अहंभावाभावं, सिक्खग-समक्खे सगीय-विण्णत्तं मा भावेहि, तत्थ दु अप्पण्हू होदूणं चिट्ठेहि, तदेव सिक्खो तुमं सगीय-पुण्ण-विज्जं दिस्सदि। जदि तुमं सिक्खग-समक्खे सगीय-विसेसत्तं भावेहिसि दु सो पुण पसमेहिसि, णवरि कत्थ दंभिणो णाणं? णाणे दंभो कत्थ? इदं पुण्ण-सच्चं गेण्हेहि। इमम्हि कस्सचिदवि पयारस्स संकं मा कुणेहि॥

13. यथार्थ में शिक्षा की उन्नति विनयशील को ही होती है; विनयहीन विद्या एवं विद्या के फल को प्राप्त नहीं हो पाते। जीवन में श्रेष्ठ शिक्षावान्, विद्यावान् बनना चाहते हो तो विनयवान् बनो, अहंकार भाव का अभाव करो, शिक्षक के सामने अपनी विज्ञता मत दिखाओ, वहाँ तो अल्पज्ञ बनकर बैठो, तभी शिक्षक अपनी पूर्ण-

विद्या आपको दे पाएगा। यदि आप शिक्षक के समक्ष अपनी विशेषता दिखाओगे तो वह फिर शान्त हो जाएगा, क्योंकि दंभी को ज्ञान कहाँ? ज्ञान में दंभ कहाँ? यह बात पूर्ण सत्य स्वीकारो। इसमें किसी भी प्रकार की शंका न करो।

---

14. जदि सिक्खा-सिक्खगं पडि अट्ठा सगं णाणीकरणस्स तिव्वभावणा, पमाणसुण्णत्तं उस्साह-सत्ति-पुण्णत्तं छत्तम्हि विउलरूवेण णिब्भरेदि तहा खवोवसमो विसिट्ठो, बुद्धी णिम्मला, सहावो संतो, विगारी-भावादो आदरक्खणं करेदि, दु तं णाणी-हवणादो णो कोवि रुंभेहिदि॥

14. शिक्षा एवं शिक्षक के प्रति आस्था, स्वयं को ज्ञानी बनाने की तीव्र-भावना, प्रमाद शून्यता, उत्साह-शक्ति की पूर्णता यदि छात्र के अन्दर कूट-कूटकर भरी है और साथ-ही-साथ क्षयोपशम विशिष्ट है, बुद्धि निर्मल है, स्वभाव शान्त है, विकारी भावों से आत्म-रक्षा करता है तो उसे ज्ञानी बनने से कोई भी नहीं रोक सकता है।

---

15. मादु-भासाए छत्तो सिग्घं सिक्खं गेण्हेदि, तम्हा पढमबोहो मादुभासाए हि दिसेज्जा। सगभासाए पढमं विसेसत्तं लहेज्जा, पुण अवर-भासा-अज्झयणं होदव्वं। कत्तोचिदवि भासत्तो पुहुत्तकरणस्स बुद्धि-पक्खवादो य णवि होज्जा। जेत्तियं अहिग-भासाणं तुमं णादा होहिसि, तेत्तिया भासिणो तुमं सगीय-कहणं वरेण भासेसि एवं अवर-कहणं पि वरेण जाणेसि। विभिण्ण-भासा-णाणेणं विभिण्ण-भासा-भासीदो पुहुत्तं समत्तेदि तहा सगपरस्स तच्चणाणस्स आदाण-पदाणं चावि होदि। पत्तेग-णागरिगं सगीय-सगीय-देसप्पदेसस्स भासाणुरागो होदि तहा सो सग-भासाए हि आणंदेदि॥

15. मातृ-भाषा में छात्र शिक्षा-को शीघ्र ग्रहण करता है, इसलिए सर्वप्रथम-बोध मातृ-भाषा में ही देना चाहिए। स्व-भाषा में विशेषता को प्राप्त कर ले फिर अन्य भाषाओं का अध्ययन होना चाहिए। किसी भी भाषा से दूरी बनाने की बुद्धि या पक्षपात नहीं होना चाहिए। जितनी अधिक भाषाओं के आप ज्ञाता होंगे उतने भाषियों को आप स्वयं अपनी बात अच्छे से बतला सकते हैं, साथ ही दूसरे की बात अच्छे से समझ सकते हैं। विभिन्न भाषाओं के ज्ञान से विभिन्न भाषा-भाषियों से दूरी समाप्त होती है तथा स्व-पर के तत्त्वज्ञान का आयात-निर्यात भी कर सकते हैं। प्रत्येक नागरिक अपने-अपने देश व प्रदेश की भाषा का अनुरागी रहता है और उसे स्वयं की भाषा से ही आनन्द आता है।

---

16. वट्टमाणे आइरिय-पवरो महावीरकित्ति-सामी अट्ठारह-भासा-णादारो। णाणी-समणो जादो। तित्थयर-उसहदेवादो भगवं महावीरसामी-पज्जंतं सयलतित्थयराणं दिव्व-देसणा अट्ठारह-महाभासासु एवं सत्तसय-खुद्दभासासुं जादा, अदो णाणीजणा मादुभासा-रट्ठ-भासाए अणुरागं तु कुणंति, किल कादव्वा; परंतु अवर-भासा-विरोहं किच्चा सगहिदयस्स उदारसुण्णदा-परिचयं ण दिंतेज्जा॥

16. वर्तमान में आचार्य प्रवर महावीरकीर्ति जी महाराज ऐसे ज्ञानी हुए जो अट्ठारह भाषाओं के ज्ञाता थे। भगवान् तीर्थंकर देव ऋषभदेव से महावीर स्वामी पर्यन्त सम्पूर्ण तीर्थंकरों की दिव्य-देशना अट्ठारह महाभाषा एवं सात सौ क्षुद्र भाषाओं (लघु भाषाओं) में हुई है, अतः ज्ञानीजन मातृ-भाषा, राष्ट्र-भाषा पर अनुराग तो रखते हैं, रखना ही चाहिए, परन्तु अन्य किसी भाषा का विरोध करके स्वहृदय की उदार-शून्यता का परिचय नहीं देना चाहिए।

---

17. भासा भावाहिवत्तीए उवाओ, सद्दो पुग्गलस्स पज्जाओ अवत्था वा। भासा वायगा, वत्ता भिण्णो, वच्चत्थं भिण्णं च। जाए वच्च-वच्चत्थ-बोहो होदि; एरिसा वायगा भासा होदि। रट्ठभासाए सम्माणं कुज्जा, किण्णु अहिगाहिग-भासा-णाणं कुज्जा; अयं पत्तेग-विज्जत्थी-धम्मो। मेत्तं भारह-देसो हि बहुभासी-देसो॥

17. भाषा भावों की अभिव्यक्ति का एक उपाय है, शब्द पुद्गल की एक अवस्था (पर्याय) है। भाषा वाचक है, वक्ता भिन्न है, वाच्यार्थ भिन्न है। जिसके माध्यम से वाच्य एवं वाच्यार्थ का बोध होता है, ऐसी वाचक भाषा होती है। प्रत्येक विद्यार्थी का धर्म है कि वह राष्ट्र-भाषा का मान रखे, पर जितनी भाषाएँ सीख सको सीखो। एकमात्र भारत देश ही तो है जो बहुभाषी है।

---

18. भासासु भिण्णत्तं अत्थि, होस्सदि वि, किण्णु भासाए विभिण्णदासु देसवासीसु परोप्पर-विभिण्णदाओ णवि होज्जा। अणेगदाए एगत्तं, एगदाए अणेगत्त-दिट्ठी होदव्वा। कोवि भासीजीवो होदु सव्वे जीवदव्वाइं, तम्हा सव्वे सुही-सदायारी-अहिंसाधम्मे वीसासवंता होदव्वा। अहिंसा हि परमो बंभो, सा हि परमो धम्मो। भासा-वियप्पेण विभिण्ण-पंत-रट्ठा पडि रागद्दोसभावं किच्चा हिंसावट्टिं णवि कुज्जा। जीवेहि वा जीवावेहि-इदं सुत्तं पडिगेहं पेसएज्जा, तदेव मज्झाण सिक्खाए सम्म-उवओगो होस्सदि। सद्दावधारणा णाणं णत्थि, तदणुऊल-पउत्तिं पि कुज्जा तहा जण-सामण्णं पि एरिसं भावणं जणएज्जा॥

18. भाषाओं में भिन्नता है; रहेगी, परन्तु भाषा की विभिन्नताओं में देशवासियों में परस्पर विभिन्नताएँ खड़ी

न हों। अनेकता में एकता, एकता में अनेकता देखने की दृष्टि बनाकर चलें। कोई भी भाषी हो हम सब जीव द्रव्य हैं, इसलिए सभी सुखी, सदाचारी, अहिंसा धर्म में विश्वास वाले बनकर रहें। अहिंसा ही परमब्रह्म है, वही परम धर्म है। भाषा के विकल्प में विभिन्न प्रान्तों-राष्ट्रों के प्रति राग-द्वेष खड़ा कर हिंसा की वृद्धि न करें। 'जिओ और जीने दो' का सूत्र घर-घर प्रेषित करें, तभी हमारी शिक्षा का सम्यक्-उपयोग होगा। मात्र शब्दों को रट लेना ज्ञान नहीं है, तदनुकूल प्रवृत्ति भी करें और जन-सामान्य को भी ऐसी भावना उत्पन्न कराएँ।

---

19. सदायार-पुण्णा सिक्खा होदव्वा, णाय-णीदि-सदायारं विणा सिक्खा सुसिक्खा-सण्णं ण पडिवज्जेदि। सुसिक्खाए णीदि-णाय-सदाचारो गब्भिदो होदि, जो देसरट्ठ-समाय-हिदम्हि अत्थि। सामाइग-उण्णदि-सोदो सिक्खाए अवलंबिदो। जत्थ सिक्खा उच्चा, तत्थ वियारसीलदा वि उच्चा होस्सदि। जत्थ वियारा उच्चा, तत्थ सदायारो वि उच्चो सयमेव णिम्मेस्सदि; तम्हा सिक्खाए उच्चत्तं अणिवारियं। सिक्खाए अत्थ-किरिया-कारित्तं छत्त-सिक्ख-आसयादो गदिमाणं अग्गि व्व, जह-जह अग्गिं इंधण-लाहो होहिदि, तह-तह अग्गि-सिहा वड्ढेदि। जदि इंधणं विसालट्ठाणे अवट्ठिदं तु सणे सणे अग्गी वि विसाल-ट्ठाणे अवट्ठिदो होस्सदि। इंधणाभावे अग्गी वि उवसमेहिदि। एवं छत्त-सिक्खगस्स गुरु-सिस्सस्स बलम्हि सिक्खा-वड्ढणं होदि। जदि गुरु-सिस्स-परंपराए लोवो जादो, छत्त-सिक्खग-समत्ता जादा दु सिक्खा वि पाओ समत्तेहिदि, तम्हा विज्जा-पसारत्थं जेत्तियं आवस्सगत्तं सिक्खगस्स तेत्तियं आवस्सगत्तं छत्तस्स वि होदि। गुरू तदेव विज्जं पाढिज्जदे वड्ढाविज्जदे जदा जोग्ग-विणयवंत-कुसग्ग-चारित्तवंत-पमादसुण्ण-समसील-सच्चत्थग्गाहीसीससमूहा होस्सदि। पत्तेग-विज्जालयस्स वे पाणा संति—छत्तो सिक्खगो य। दोसु एगस्स वि अभावो सदि विज्जालयस्स अत्थ-किरिया-कारित्तस्स पुण्ण-अभावो होस्सदि, इदं पि संजाणेज्जा। परोप्परे गुरु-सीसस्स संजोग-संबंधो, अण्णहा विज्जा णवि विसट्टेदि॥

19. शिक्षा सदाचार पूर्ण हो; बिना न्याय-नीति-सदाचार के शिक्षा सुशिक्षा संज्ञा को प्राप्त नहीं होती। सुशिक्षा में नीति-न्याय-सदाचार गर्भित रहता है, जो कि देश-राष्ट्र, समाज के हित में है। सामाजिक उन्नति का स्रोत शिक्षा पर अवलम्बित है। जहाँ की शिक्षा उच्च होगी, वहाँ विचारशीलता भी उच्च होगी। जहाँ विचार उच्च श्रेणी के होंगे, वहाँ सदाचार उच्च श्रेणी का स्वयमेव निर्मित होगा, इसलिए शिक्षा में उच्चता अनिवार्य है। शिक्षा का अर्थ-क्रिया-कारित्व छात्र और शिक्षक के सहारे चलता है अग्निवत, अग्नि को ईंधन मिलता रहेगा वैसे-वैसे अग्नि की लौ बढ़ती जाती है। यदि ईंधन विशाल स्थान को घेरे हैं तो धीरे-धीरे अग्नि भी विशाल स्थान को घेर लेगी। ईंधन का अभाव हो गया तो अग्नि भी बुझ जाएगी। इसी प्रकार छात्र तथा शिक्षक, गुरु एवं शिष्य के बल पर शिक्षा भी वृद्धि को प्राप्त होती है। यदि गुरु-शिष्य परम्परा का लोप हो गया, छात्र शिक्षक समाप्त हो गए तो शिक्षा भी प्रायःकर समाप्त हो जाएगी, इसलिए विद्या के प्रसार के लिए जितनी आवश्यकता शिक्षक की होती है उतनी ही आवश्यकता छात्र की भी होती है। गुरु विद्या को तभी पढ़ा पाएगा, बढ़ा पाएगा जब योग्य

विनयशील, कुशाग्र, चारित्रवान, प्रमाद-शून्य, श्रमशील, सत्यार्थ-ग्राही शिष्य-समूह होगा। कोई भी विद्यालय चले, परन्तु उसके दो प्राण हैं—छात्र एवं शिक्षक। इन दोनों में से एक का भी अभाव हुआ तो विद्यालय के अर्थ क्रिया-कारकपने का पूर्णतया अभाव हो जाएगा, इस बात को भी अच्छी तरह से समझना चाहिए। परस्पर में गुरु-शिष्य का संयोग सम्बंध है, नहीं तो विद्या विकसित नहीं हो सकती है।

---

20. सासग-णरेस-सेट्ठी-सामी-धम्माहिगारी-किसग-वावारी-भिच्चाचारिणो गुरु-सीस-संबंधं उज्जलेज्जा। दोण्हं जहाजोग्ग-बहुमाणे सदि सक्किदि-साहिच्च-सिक्खा-विगासो लोएज्जा। जत्थ सिक्खा-विगासो तत्थ सयल-सेस-विगासाण सोहा। जगदीए अत्थि सिक्खा-सत्थस्स मुक्ख-भूमिगा; जस्स देसस्स देह-बुद्धि-सत्थो त्थि तस्स देसस्स विगासो अविरामो त्थि। जत्थ सिक्खा-सत्थ-चिंतणं कीरदे तत्थेव सक्किदी वि विगाससीला होदि, तम्हा धम्म-सक्किदीए विगासो सिक्खा-पयारो य होदु॥

20. शासक, सम्राट्, सेठ, स्वामी, धर्माधिकारी, किसान-व्यापारी, भृत्याचारी कोई भी हो इन सबको गुरु-शिष्य सम्बंध को उज्ज्वल रखना होगा। दोनों का यथायोग्य बहुमान होगा तभी संस्कृति, साहित्य, शिक्षा का विकास दृष्टिगोचर होगा। जहाँ शिक्षा का विकास वहाँ पर सम्पूर्ण शेष विकासों की शोभा है। जगति पर शिक्षा एवं स्वास्थ्य की अहं भूमिका है; शरीर एवं बुद्धि स्वस्थ है जिस देश की उस देश का विकास विराम नहीं ले सकता। संस्कृति भी वहीं विकासशील रहती है जहाँ शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर विचार किया जाता है, इसलिए धर्म-संस्कृति का विकास हो, शिक्षा का प्रचार हो।

---

21. पुरिस-सिक्खाए सह णारिं पि सिक्खिदं होज्जा, णवरि दोण्हं संजोगादो हि होदि सिक्खिद-परिवारो। देसस्स पत्तेगपरिवारो सिक्खिदो होहिदि दु सयल-देसो सिक्खिदो होहिदि। वावारिग-सिक्खाए सह बुद्धिमंत-सिक्खा वि होदव्वा। हिदाहिद-विवेग-सिक्खा अदि-आवस्सगा, णवरि मेत्तं अहिगार-पसिक्खणं अणिप्पण्णत्तं, इमत्तो देसम्हि संवेदणा-अभावो होस्सदि। अहिगार-जुद्धम्हि हिंसप्पग-जीवण-सेली होस्सदि, दया-करुणा-परोवयार-भावणा णस्सेहिदि; तम्हा सिक्खाए कत्तव्व-संगहो अणिवारियो॥

21. पुरुष की शिक्षा के साथ-साथ नारी को भी शिक्षित होना अनिवार्य है, क्योंकि दोनों के संयोग से ही शिक्षित-परिवार बनता है। एक-एक परिवार देश के शिक्षित होंगे तो सम्पूर्ण-देश शिक्षित होगा। व्यापारिक शिक्षा के साथ समझदारी की भी शिक्षा होनी चाहिए। हिताहित विवेक की शिक्षा का होना अति-आवश्यक है, क्योंकि अधिकारों की मात्र शिक्षा देना अधूरापन है, इससे देश में संवेदनाओं का अभाव हो जाएगा। अधिकारों की लड़ाई

में हिंसात्मक जीवन-शैली बन जाएगी, दया-करुणा-परोपकार की भावना विलीन हो जाएगी, इसलिए शिक्षा में कर्तव्य को संग्रह करना अनिवार्य है।

---

22. जदि तुमं सग-इच्छा-पुत्ति-अहिगारो दीसेदि, दु अवर-भावणा-अहिणाणं पि तुज्झ कत्तव्वं। जदि संताणो मादु-पिदूदो भागस्स अहिगारं इच्छेदि दु मादु-पिदुस्स सेवा-बोहो वि होदव्वो। सीसो गुरुणा अवेक्खेदि दु तं पि अणुसासण-बोहो होदव्वो॥

22. यदि आपको स्वयं की इच्छाओं की पूर्ति का अधिकार दिखता है, तो साथ में दूसरे की भावनाओं का भी ध्यान रखना आपका कर्तव्य है। यदि सन्तान माता-पिता से हिस्से का अधिकार चाहती है, तो माता-पिता की सेवा करने का बोध भी होना चाहिए। शिष्य गुरु-से अपेक्षा रखता है तो उसे भी अनुशासन का बोध होना चाहिए।

---

23. 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'; अस्सिं सुत्तम्हि वि चिंतेज्जा। जदा तुज्झ सिक्खा-पणालीए कत्तव्व-बोह-वियारं करिस्सदे तदेव परोप्परे उवयार-भावो जादिस्सदि; णवरि कत्तव्व-बोहेण विणा माणव-जीवणं बहु-दुक्करं। सयल-माणवजीवणं परोप्पर–आसिदं तहा परोप्पर-उवयारेण हि देसुण्णदी संभवा। सगासय-मेत्तेण जीवण-सब्भावस्स भासग-देसा विगासं ण करिस्संति, तेसिं सिद्धंता सयल-देसम्हि णेव मण्णेहिंति, णवरि एगो हि जीवो गेहविसयग-सयलकज्जं करिस्सदि दु सो बोद्धिग-कज्जं णवि करिस्सदि। चदु-वण्ण-विवत्थाओ कंचिदवि हीण-करणस्स णत्थि॥

23. **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'**-—परस्पर में उपकार करना जीवों का उपकार है; इस सूत्र पर भी विचार करना चाहिए। परस्पर में एक-दूसरे के प्रति उपकार-भाव तभी आएगा जब आपकी शिक्षा-प्रणाली में कर्तव्य-बोध का भी ध्यान रखा जाएगा, क्योंकि बिना कर्तव्य-बोध के मानव जीवन जीना बहुत ही कठिन है। सम्पूर्ण मानव जीवन परस्पर के आश्रित है और परस्पर के उपकार से ही देश की उन्नति सम्भव है। स्वाश्रय मात्र से जीवन जीने की बात करने वाले देश विकास नहीं कर पाएँगे, न ही उनके सिद्धान्त सम्पूर्ण-देश में लागू हो पाएँगे, क्योंकि एक ही व्यक्ति घर के पूरे कार्य करेगा तो वह बौद्धिक कार्य नहीं कर पाएगा। चार वर्ण-व्यवस्था किसी को हीन करने की नहीं हैं।

---

24. सग-जोग्गदाए कज्ज-पणाली-विवत्था अत्थि। जीवस्स वियारो कज्ज-सेली य दप्पत्तेण णवि होदि, अविदु जोग्गत्तेण होदि। जदि सग-जोग्गदाए कज्जं होहिदि, दु देस-धम्म-समाय-विवत्था

सुचारु-रूवेण गदिमाणा। णवीण-वियारगं पढमं विवेग-पुव्वगं सग-वियारेसुं आलोयण-पेक्खं कादव्वं। जीवणे एग-विसए कोवि पसिद्धिं भजेदु दु तं तत्थेव गेण्हेदि, तस्स पसिद्धी मा वंचेहि। अवर-कज्ज-जोग्गत्तं तम्हि होदु कोवि णियमो णत्थि॥

24. स्व-योग्यता से कार्य-प्रणाली की व्यवस्था है। व्यक्ति की सोच, कार्य-शैली अहंता से नहीं होती, अपितु योग्यता से होती है। स्व-योग्यता से कार्य होगा, देश-धर्म-समाज व्यवस्था सुचारु रूप से चलेगी। नवीन विचार रखने वाले को सर्वप्रथम विवेक-पूर्वक स्व-विचारों में आलोचन-प्रेक्षा करना चाहिए। जीवन में एक विषय पर कोई प्रसिद्धि प्राप्त कर ले तो उसे वहीं तक स्वीकारना, उसकी प्रसिद्धि से छले नहीं जाना। अन्य कार्य की योग्यता उसके अन्दर हो कोई नियम नहीं है।

---

25. एगो पुरिसो होदि सेट्ठ-सासगो; दु सो वरो अज्झावगो वि होदु; इदं अवस्सं णत्थि। जाणेज्जा, पत्तेग-सड्ढेय-कहणेहिं अवणदि-मग्गं मा चुणेहि। जं कज्जं तुए कीरदे, तं तुमं करेसि तहा जं कज्जं अण्णेण वरेण कीरदे, तं तेण हि करिज्जदि। सगीय-समयो सगीय-कज्ज-विसेसदाए जुंजेज्जा। अयं विउल-गंभीरदाए वियारणिज्ज-विसयो॥

25. एक पुरुष श्रेष्ठ-शासक हो सकता है; इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि वह श्रेष्ठ अध्यापक भी हो। विषय समझना; प्रत्येक श्रद्धेय की बातों में आकर अवनति-मार्ग को नहीं चुनना। जो कार्य आपसे बनता है उसे आप करें और जो कार्य अन्य से अच्छे से बनता है वह उससे ही कराएँ। अपना समय अपने कार्य को विशेष करने में लगाएँ। यह बहुत ही गंभीरता से विचारने का विषय है।

---

26. जेसुं विसएसुं सगावलंबी हविज्जंति तत्थेव सगावलंबी हवेज्जा। सेण्णं चरहाकज्जं ण दिसदे। कहावायगो होदु वा णियप्प-झाणी-जोगी होदु सव्वं सगजोग्गदाए विचिंतिय कज्जं कुज्जा। सगीय-सगीय-खमदं पस्सेहि, सग-खवोवसम-जोग्गत्तेण हि जीवो कज्जं करेदि; अस्स सिद्धंतस्स णाणं आवस्सगं। उत्तम-सिक्खाए धम्म-गंथाणं पि गंभीर-अज्झयणं होदव्वं, जेण समायम्हि संपदायिगदाए दुग्गंधो ण हुज्जा। सम्मभाव-सब्भावणा-पाढस्स पढणं हि हिदयारी॥

26. स्वावलम्बी जिन विषयों पर हो सकते हैं वहाँ पर ही स्वावलम्बी बनें। सेना को चरखा कातने को नहीं दिया जा सकता है। कथावाचक हो या स्वात्म-ध्यानी योगी सभी को स्वयोग्यता का ध्यान रखते हुए कार्य करना चाहिए। अपनी-अपनी क्षमता को देखो, स्वक्षयोपशम की योग्यता से ही जीव कार्य करता है, इस सिद्धांत

का ज्ञान होना अनिवार्य है। श्रेष्ठ शिक्षा के लिए धर्म-ग्रंन्थों का भी गंभीर अध्ययन होना चाहिए, जिससे समाज में साम्प्रदायिकता की दुर्गन्ध न हो। साम्य-भाव, सद्भावना का पाठ पढ़ना ही हितकारी है।

---

27. पहु-उसहदेवेण सगीय-रज्जकाले पढमं वीसे णारी-सिक्खणं आरंभीअ। सगीय-उह-पुत्तीओ सयमेव विज्जब्भासं कारीअ। बंभी-पुत्तिं अक्खर-विज्जा-सिक्खणं सुंदरी-पुत्तिं अंक-विज्जा-सिक्खणं दिंतीअ। संपडि जा बंभी-लिवी अत्थि, सा तित्थयर-उसहदेवस्स पुत्ती-बंभी-णामेण वीस-विक्खादा।।

27. भगवान् ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में सर्वप्रथम विश्व में नारी-शिक्षा प्रारंभ की। अपनी दोनों बेटियों को स्वयं ही विद्याभ्यास कराया। ब्राह्मी को अक्षर-विद्या एवं सुंदरी को अंक-विद्या की शिक्षा दी। सम्प्रति जो ब्राह्मी-लिपि है वह तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के नाम पर विश्व-विख्यात है।

---

28. एग-पट्टेण गोधूमं णवि पिसेदि, तस्स उह-पट्टाइं आवस्सगत्तं। तहेव णारी-णरा य सिक्खिदा होस्संति तदेव देसुण्णदिं भजेहिदि। णाण-विगासेण कस्सचिद खेत्तस्स हणणं ण कीरदे। सरस्सदी सदा सदायार-वंतम्हि हि पसीदेदि। जदि वीसे विज्जट्ठाण-इच्छा, दु सगीय-चारित्तं पढमं उज्जलं कुणेहि। कस्सचिदवि देसस्स उण्णदि-अवणदीए मावगं धणबल-जणबल-सेण्णबल-अत्थसत्थबलेहिं सह महत्तपुण्णं पण्णाबलं बुद्धिबलं सिक्खाबलं च अत्थि। सिक्खिद-देसस्स विगासो सरलो त्थि। कम्हि वि देसे कंचिदवि रट्ठं विजयलद्ध-इच्छा दु पढमं गुत्तचरेहिं तत्थ राया-आमच्च-रायपुरोहिद-रायसेट्ठी-सयलपयाजणाणं बुद्धि-विगासो केह? इदं णाणं कादव्वं। जत्थ बोद्धिग-विगासो पबलो तत्थ संधि-सम्म-दामणीदीए कज्जं कादव्वं, तत्थ भेद-दंडणीदी य अकज्जयारी होदि; णवरि बुद्धिमंत-मेत्ती वरा णेव बुद्धिमंत-रिवुत्तं।।

28. एक पाटे से गेहूँ नहीं पिसता है, उसके लिए दो पाटे चाहिए। उसी प्रकार से नारी एवं नर दोनों शिक्षित होंगे तभी देशोन्नति कर सकेगा। ज्ञान विकास से किसी के क्षेत्र का हनन नहीं किया जा सकता। सरस्वती सदा सदाचारी पर ही प्रसन्न रहती है। यदि विश्व में विद्या के स्थान को प्राप्त करने के भाव हैं, तो अपने चारित्र को सर्वप्रथम उज्ज्वल करो। किसी भी देश की उन्नति-अवनति का मापदण्ड धनबल, जनबल, सैन्यबल, अस्त्र-शस्त्र बल के साथ सबसे महत्त्वपूर्ण कोई है तो वह है प्रज्ञाबल, बुद्धि-बल, शिक्षा बल। जो देश शिक्षित है उसका विकास करना सरल है। किसी भी देश पर किसी भी राष्ट्र को विजय प्राप्त करने की इच्छा है तो सर्वप्रथम गुप्तचरों से वहाँ के राजा, आमात्य, राज-पुरोहित, राजसेठ तथा सर्वप्रजाजन का बुद्धि विकास कैसा है यह ज्ञान कर लेना चाहिए। जहाँ पर बौद्धिक विकास प्रबल है वहाँ पर सन्धि, साम्य-दामनीति से कार्य करना चाहिए,

भेद और दण्ड-नीति वहाँ कार्यकारी नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्धिमानों की शत्रुता नहीं मित्रता ही श्रेष्ठ है।

---

29. सिट्ठ-सिक्खगं कारणवसादो सगीय-थोवाहिदं गेण्हेज्जा, किण्णु रट्ठ-णिम्माणे सगीय-पमुह-भूमिगं णिव्वहेज्जा। छत्ताणं काए वि दसाए विवरीद-सिक्खणं ण दिज्जा। छत्ता गुणवड्ढिं गुण-गाहित्तं च कहं लद्धेज्जा, एस सिक्खग-पयासो पडिक्खणं होदव्वो; णवरि सिक्खाए अवणदी हि रट्ठावणदी तहा सिक्खाए उण्णदी हि रट्ठोण्णदी। जाए मच्छादि-जीवाणं पाण-रक्खण-सिक्खं दिज्जा, ण दु तेसिं हिंसाए; सा हु वरा सिक्खा। पसु-पक्खीणं पाण-हरणस्स णत्थि, अविदु तेसिं धण्णकण-णीर-भोयण-दाणं सासेज्जा। अज-कुक्कुडी-मच्छाणं रक्खणं कुणेहि ण दु तेसिं किसिं कुणेहि। तेसिं मूग-जीवाणं हिंसित्ता धणज्जणं पावं। जीवाणं रक्खा-भावो होदु, इमा दु सम्म-सिक्खा॥

29. शिष्ट-शिक्षक को कारणवश अपना अल्प-अहित स्वीकार कर लेना चाहिए, परन्तु राष्ट्र निर्माण में अपनी अहं-भूमिका निभाना चाहिए। छात्रों को किसी भी दशा में विपरीत-शिक्षा नहीं देना चाहिए। छात्र गुणवृद्धि, गुण ग्राहीपना कैसे प्राप्त करें; ऐसा शिक्षक का प्रतिक्षण प्रयास होना चाहिए, क्योंकि शिक्षा की अवनति ही राष्ट्र की अवनति है और शिक्षा की उन्नति ही राष्ट्रोन्नति है। वही शिक्षा श्रेष्ठ है; जिसमें मछली मारने की नहीं, अपितु मछली आदि जीवों की प्राण-रक्षा की शिक्षा दी जाय। पशु-पक्षियों के प्राण-हरण की नहीं, अपितु उन्हें दाना-पानी-भोजन देना सिखाया जावे। बकरी, मुर्गी, मछली की खेती नहीं उनकी रक्षा करो, उन मूक-प्राणियों की हत्या कर धन कमाना पाप है। प्राणियों की रक्षा का भाव हो, यही सम्यक्-शिक्षा है।

---

30. जो सिक्खगो सगीय-जीवणस्स सव्वं विज्जादाणे णिवेसस्स लक्खं करेहिदि, सो हि उत्तम-विज्जादाणं करेहिदि। सिक्खगो सयमेव सज्झायसीलो विज्जब्भासी, विणम्मो, अच्चंत-आगरिसगो, महुर-वयणवंतो होदव्वो, तम्हि पडिक्खणं विज्जा-रसिगत्तं सवेज्जा। सिक्खगस्स जसस्सी-ललाडो दिप्पमाण-णेत्ताणि छत्ता सदो विज्ज-गहणत्थं इरिदेज्जा। जह धेणु-थण-पुट्ठ-दुद्धं वच्छं दूरदो वि आमंतेदि, तहेव सिक्खस्स विज्जप्पिय-छत्तेसुं अकिट्टिम-णेहो सग-संताणो व्व होदव्वो। सिक्खगस्स छत्तो वि सक्कारभूदो संताणो त्थि। विज्जामादाए सिक्खगो विसाल-परिवारं जणेदि, सो एत्तियं विसाल-परिवार-उब्भवं जम्मिदूणं पि ण करिज्जेदि। पण्णा-पदाया-णामेण गुरुणामो जुग-जुग-पज्जंतं अवट्ठिदो होदि॥

30. जो शिक्षक अपने जीवन का सर्वस्व विद्यादान में लगाने का लक्ष्य रखेगा वही उत्तम विद्यादान कर पाएगा। शिक्षक को स्वयं ही स्वाध्यायशील, विद्याभ्यासी, विनम्र, अत्यंत-आकर्षक, वाणी में माधुर्यवान, मिश्री

सा मधुर, जिसके अन्दर प्रतिक्षण विद्या-रसिकता स्रवित होती हो। शिक्षक का यशस्वी-भाल, ललाट, चमकती आँखें छात्रों को स्वतः विद्या-ग्रहण के लिए प्रेरित करें। जैसे गाय के थनों में भरा दुग्ध बछड़े को दूर से भी बुला लेता है, ऐसे ही शिक्षक का विद्या-प्रिय छात्रों पर अकृत्रिम-स्नेह स्व-सन्तानवत होना चाहिए। शिक्षक के लिए छात्र भी संस्कारभूत सन्तान है। विद्यामाता से एक शिक्षक विशाल-परिवार खड़ा कर लेता है, वह इतना बड़ा परिवार जन्म देकर नहीं कर सकता। प्रज्ञा-प्रदाता के नाम से गुरु का नाम युगों-युगों तक चलता है।

---

31. रहस्समयं णाणं गहण-पदत्तत्थं वायावरणं पि रहस्समयं कादव्वं। पाढगस्स मुह-मुद्दा वि रहस्समया हि होदु, सामण्ण-मुद्दाए रहस्समय-विज्जा-उग्घाडणं णवि होदि अग्घवंतं; तम्हा पडिक्खणं विसयाणुऊल-मुद्दा आवस्सगा। अपक्क-अम्मं गूढ-पालम्हि पक्कित्ता हि महुर-अम्मफलं होदि णेव मुत्तायासे। विज्जामंतं गूढदाए हि सिद्धेदि, णेव पयडदाए।।

31. रहस्यमय ज्ञान लेने एवं देने के लिए वातावरण भी रहस्यमय बनाना चाहिए। पाठक की मुख-मुद्रा भी रहस्यमय ही हो, सामान्य मुद्रा में रहस्यमय-विद्या का उद्घाटन अर्घवान् नहीं रहता, इसलिए प्रतिक्षण विषयानुकूल-मुद्रा होना अनिवार्य है। कच्ची केरी गूढ़-पाल में पककर ही तो आम बनती है, खुले आकाश में नहीं। विद्या-मंत्र मन्त्रणा-गूढ़ता में ही सिद्ध होती है, खुलेपन में नहीं।

---

32. उच्चकोटि-साहग-सरिसा हि सिक्खग-साहणा होदव्वा। सिक्खगं परमेट्ठी-आराहणं सिस्साणं गुरुत्त-पदत्तत्थं अवस्सं कादव्वं। मंगलज्झुणि-मंगलपाढो य जीवणस्स मंगलत्थं होदि। विज्जासिद्धी वि विग्घरहिदा मंगलमया होदु। पाव-गालणत्थं मंगलायरणं होदव्वं। णत्थिगत्त-परिहारो अत्थिगत्त-अहिणाणं सिट्ठायार-परिपालणं च होदु, इमाए भावणाए पढमं विज्जब्भासस्स किदकारिदस्स पुव्विं मंगलाचरणं अणिवारिय-रूवेण कुज्जा। पायो गुरु-पउत्तीए सिस्स-पउत्ती दिस्समाणा, तम्हा गुरुं णवि चुक्किज्जा, णवरि सयल-साहिच्च-सक्किदि-देस-रक्खणं गुरु-हत्थे त्थि। हत्था हत्थेहिं ण संचरंति, हत्था माणसिगदाए संचरंति। हत्थेहिं अग्गिं पलीविज्जदे तहा पसमिज्जदे वि। जह जीवस्स चिंतणं तहेव सो कज्जं करेदि। पसत्थ-चिंतगो पसत्थकज्जं हि करिस्सदि वा कारिस्सदि।।

32. उच्च-कोटि के साधक के समान ही शिक्षक की साधना होनी चाहिए। परमेष्ठी की आराधना; शिष्य को गुरुता प्रदान करने के लिए शिक्षक को अवश्य ही करना चाहिए। मंगल-ध्वनि, मंगल-पाठ जीवन के मंगल के लिए होता है। विद्या की सिद्धि भी विघ्न रहित मंगलमय हो। पाप के गालन के लिए मंगलाचरण होना चाहिए। नास्तिकता का परिहार, आस्तिकता की पहचान, शिष्टाचार का पालन हो इस भावना से सर्वप्रथम विद्याभ्यास

करने एवं कराने के पूर्व मंगलाचरण अनिवार्य रूप से करें। गुरु की प्रवृत्ति के अनुसार प्रायःकर शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है इसलिए गुरु भूल न करें, क्योंकि सम्पूर्ण साहित्य-संस्कृति, देश की रक्षा गुरु के हाथ में है। हाथ, हाथ से नहीं चलते, हाथ मानसिकता से चलते हैं। हाथों से अग्नि लगाई भी जा सकती है और बुझाई भी जा सकती है। व्यक्ति का सोच जैसा रहेगा वैसा ही वह कार्य करता है। प्रशस्त विचारवान व्यक्ति प्रशस्त ही कार्य करेगा और कराएगा।

---

33. सिक्खा-लद्धीए जीवं सगीयं बल्लं मण्णेदव्वं। बल्ल-कालो णाणलद्धीए दिव्व-सुवण्णमयं जीवणं। बल्लकालो सच्छ-णिक्कसाय-भद्दत्तपुण्ण-चिंतामुत्त-जीवणं अत्थि, ण दु गेह-णिम्माणस्स चिंता णेव गेह-पचलणस्स चिंता। सयल-दाइच्चं मादु-पिदूणं, सयल-वियप्पचिंताओ जणग-जणणीणं संति। बल्लजीवणं साहुत्तमिव। चिंता-सुण्णत्तं चिंतण-कारणं। बालग-साहगाणं च विसयबोहो झत्ति हवेदि॥

33. शिक्षा प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपने आपको बाल्य समझना चाहिए। बाल्य-काल ज्ञान प्राप्ति का सुन्दर-स्वर्णमय जीवन है। बाल्य-काल स्वच्छ, निष्कषाय, भद्रतापूर्ण, चिन्तामुक्त जीवन है, न घर बसाने की चिन्ता, न घर चलाने की चिन्ता। समस्त दायित्व माता-पिता के हैं, सम्पूर्ण विकल्प-चिन्ताएँ जनक-जननी को हैं। बाल्य-जीवन साधुतावत है। चिन्ता शून्यता चिन्तन का कारण है। बालकों एवं साधकों को विषय का बोध शीघ्र हो जाता है।

---

34. चिंताए णाण-णासो, सारीरिगबलक्खयो, बुद्धि-हासो होदि तहा वाही जादेदि। सव्वणास-कारणं चिंता। जदि णाणी-हवणस्स भावणा दु बालो व्व सव्वचिंताओ विसज्जिय णाणब्भासं कुणहि। णाणं विणा णर-जीवणं पसु-सरिसं॥

34. चिन्ता से ज्ञान का नाश, शारीरिक बल का क्षय, बुद्धि का ह्रास होता है तथा व्याधि उत्पन्न होती है। चिन्ता सर्व-नाश का कारण है। यदि ज्ञानी बनने की भावना है तो बालवत सर्व-चिन्ताओं का विसर्जन कर ज्ञानाभ्यास करो। ज्ञान के बिना नर जीवन पशु-तुल्य है।

---

35. अट्ठमिट्ठिगा-णवीणरुक्खग-बल्लजीवणं च, विगाससीलं जोग्गत्त-परिपुण्णं च, किण्णु पायडवंतो होदव्वो। जो पयड-कारगो वि पुण्ण-जोग्गो होदव्वो; जह मिट्ठिगं आयार-पदत्तत्थं मुत्ति-

णिम्माणत्थं च कुंभयारम्हि वि जोग्गत्तं होदव्वं। रुक्खगं कहं कत्थ कदा वावट्टणं अत्थि, इदं जोग्गत्तं वणपालम्हि होदव्वं तहा बालगा कहं वावट्टणं, कहं तस्स णिम्माण-करणं, इदं जोग्गत्तं मादु-पिदु-मित्त-सिक्खगेसुं होदव्वं। जा बल्लजीवणे कुणंति विगासं, तमेव जीवणं तेसिं चरमविगास-कारणं होदि। जीवण-णिम्माणस्स सम्म-पुरिसत्थो दु जधत्थे बल्लावत्थाए हि होदि, अवर-अवत्थाओ दु तस्स उज्जमस्स सुह-भोगस्स होंति॥

35. गीली-मिट्टी, नवीन-पौध और बाल्य-जीवन ये तीनों विकासशील हैं; योग्यता से भरे हैं, परन्तु प्रकट कराने वाला चाहिए। जो प्रकट करा सके वह भी पूर्ण-योग्य होना चाहिए, जैसे मिट्टी को आकार देने के लिए या मूर्ति आदि बनाने के लिए कुम्भकार के अन्दर योग्यता होना चाहिए। पौधे को कैसे कहाँ-कब मोड़ना है यह वागवान् (माली) में योग्यता होना चाहिए तथा बालकों को कैसे मोड़ना है, किस प्रकार का बनाना है, यह योग्यता माता-पिता-मित्र एवं शिक्षक में चाहिए। जो बाल्य जीवन में विकास कर लेते हैं, वही जीवन उनके अंतिम विकास का कारण बनता है। जीवन निर्माण का सही पुरुषार्थ तो यथार्थ में बाल्यावस्था में ही होता है, अन्य अवस्थाएँ तो उस पुरुषार्थ के सुख-भोग की होती हैं।

---

36. सयल-वीसं जम्मघुट्टीए परोवयार-भावणाए सेवण-सिक्खादाणस्स आवस्सगत्तं, इमा सिक्खा कोरोणा-सरिस-वीसवावीमहामारी-विवत्तियाले कज्जयारिगा अत्थि। जह संपडि सव्ववीसा सगजोग्गदाणुसारेण परोप्परे उवयारं करेंति दिस्समाणा, जत्थ पंथ-संपदाय-धम्म विसेसस्स भेदं विसरिय माणवो माणवस्स सेवाए रमेदि। भावीकाले वि भविस्स-पीढिं बोहो होदु, तम्हा सिक्खा-पद्धदीए परोवयार-भावणाए पयारो विगासो य होदव्वो। पट्ठक्कमे परोवयारस्स सुतंत-पाढो होदव्वो, सो वि धम्मस्स अंगो। करुणा-वच्छल्ल-दया य धम्मंगो तहा तस्स पालणं माणव-कत्तव्वं॥

36. सम्पूर्ण-विश्व को जन्म घुट्टी के रूप में परोपकार की भावना पिलाने की शिक्षा देने की आवश्यकता है, यही शिक्षा कोरोना जैसी विश्व-व्यापी महामारी की विपत्ति के काल में काम आने वाली है। जैसे सम्प्रति सर्व-विश्व स्वयोग्यतानुसार परस्पर में एक-दूसरे का उपकार करते दिख रहे हैं, जहाँ पंथ-सम्प्रदाय एवं धर्म विशेष का भेद भुलाकर मानव-मानव की सेवा में संलग्न है। भावी काल में भी; भविष्य की पीढ़ी को बोध रहे, इसलिए शिक्षा-प्रणाली में परोपकार की भावना का प्रचार एवं विकास होना चाहिए। पाठ्यक्रम में परोपकार का स्वतंत्र पाठ होना चाहिए, वह भी धर्म का एक अंग है। करुणा, वात्सल्य, दया धर्म का अंग है और उसका पालन करना मानव का कर्तव्य है।

---

37. वीसस्स सयलसिक्खाए फलभोत्ता पुण्णप्पा हि होदि। सिक्खालाहं पि कुज्जा, किण्णु

पुण्णक्खीणो दु पुण्णप्पा धणवदि-गेहे वि भिच्चकम्मं करिस्सदि, अणुयर-सण्णं हि लद्धेहिदि। जह अंगस्स मुल्लं सुण्णेण वड्ढदे तहेव पुण्णप्प-जीवत्थं सिक्खा उण्णदिं देदि। पुण्णहीणस्स सिक्खा सुण्णम्हि सुण्णमिव अत्थि। किं लहिस्सदि? सुण्णं सरिसं सुण्णं, तम्हा विवेग-पओगं कुणेहि। सिक्खाकम्मेण सह विज्जत्थी-जीवणे हि पुण्ण-कम्मं पि कादव्वं तहा अभक्ख-भक्खणादो अंडा-मंस-मज्ज-सेवणादो चोरिय-परइत्थिगमण-अहेड-वेस्सासेवण-जुआदि-विसणादो पुण्णरूवेण पुहुत्तं पि होदव्वं। सत्त-विसणाइं महापावाइं, पुण्णणास-पबलकारणाइं, कुलीणत्त-घादगाइं, संसारे दुक्ख-अवजस-दायगाइं च॥

37. विश्व की सम्पूर्ण-शिक्षा के फल का भोक्ता पुण्यात्मा जीव ही होता है। शिक्षा प्राप्त भी कर ली, परन्तु पुण्य-क्षीण है तो पुण्यात्मा धनपति के घर भृत्यकर्म करना होगा, अनुचर संज्ञा को ही प्राप्त कर पाएगा। पुण्यात्मा जीव की शिक्षा ऐसे उन्नति दिलाती है जैसे अंक पर शून्य, अंक की शून्य कीमत बढ़ाता है। पुण्य-हीन की शिक्षा ऐसी है जैसे शून्य-पर-शून्य। क्या प्राप्त होगा? शून्य बराबर शून्य, इसलिए विवेक का प्रयोग करो। शिक्षा कर्म के साथ विद्यार्थी जीवन में ही पुण्य-कर्म भी करते रहना चाहिए तथा अभक्ष्य-भक्षण, अण्डा-मांस-मदिरा सेवन, चोरी, परस्त्री गमन, शिकार खेलना, वेश्या-सेवन, जुआ आदि व्यसनों से पूर्ण रूप से दूर रहना चाहिए। सातों ही व्यसन महापाप हैं, पुण्यनाश के प्रबल कारण हैं, कुलीनता के घातक, संसार में दुःख एवं अपयश को दिलाने वाले हैं।

---

38. कुच्छिद-सिक्खा-सिक्खगा दोण्णि धम्मदेस-समायस्स घादग-अंगाइं। अज्जपज्जंतं जो वि आदंको लोए जादो, सो कुच्छिद-सिक्खा-सिक्खगेहिं हि जादो। बालजुवाणं बुद्धिं भमित्ता ता सग्ग-सग्ग-अच्छरा-रागं जादावित्ता, परमप्प-णामे परमप्पा तुवं सव्वविह-सुहाइं दिसेहिदि, तम्हा लोयं लुंटेहि हिंसेहि, सगीय-मद-वड्ढिं कुणेहि, जीवबलिं देहि, कुणेहि सुरा-पाणं, सुंदरीहिं सह सुहं भुंजेहि; इमेण परगदीए सव्वं भजेहिदि। एरिसं भमं पिडविदूणं परोप्पर-पेम्मवच्छल्लं णस्सावित्ता परोप्परे ईसा-अणलं पदीविदूणं सगत्थ-सिद्धीए संलग्गजीवा सरलजीवा वंचंति॥

38. कुत्सित-शिक्षा एवं कुत्सित-शिक्षक दोनों धर्म-देश एवं समाज के घातक अंग हैं। आज तक जो भी आतंक, लोक में उत्पन्न हुआ है वह कुत्सित-शिक्षा एवं कुत्सित-शिक्षकों के द्वारा हुआ है। बाल तथा युवाओं की बुद्धि को भ्रमित कर उन्हें स्वर्ग एवं स्वर्ग की अप्सराओं का राग उत्पन्न कराकर, परमात्मा के नाम पर, परमात्मा तुम्हें सब प्रकार के सुख देगा, इसलिए जगत् को लूटो-मारो, अपने मत की वृद्धि करो, जीवों की बलि दो, सुरा-पान करो, सुन्दरियों के साथ सुख भोगो, इससे परगति में सब मिलेगा। ऐसा भ्रम फैलाकर, परस्पर के प्रेम-वात्सल्य का नाश कराकर, एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या की आग लगाकर स्वार्थ-सिद्धि में लगे लोग भोले जीवों को ठग रहे हैं।

---

39. हिंसादि-अणायारेहिं सग्ग-सग्गसुहाइं च णवि पसज्जेंति, अविदु णरय-महादुक्खाइं पसज्जेंति। तत्थ पत्तेगंगाइं कट्टिदूणं मुहे पूरंति। जे परइत्थिबाल-कण्णा-सीलभंगं करंति, तेसिं णराधमाणं णरएसुं लोहमय-उण्हरत्त-पुत्तलिगाहि सारावदे, एदाणि घोरघोर-दुक्खाणि जीवा णरएसुं लब्भंते। तत्थ ण दु दूसिद-सिक्खा णेव दूसिदवंचग-मायावी-सिक्खगा य रक्खेंति, तम्हा मे बाल-जुवा-हिदय! सच्चं जाणेहि, सगीय-वट्टमाणभविस्स-सुह-संपदा-विणासं मा कुणेहि॥

39. हिंसादि अनाचार से स्वर्ग व स्वर्ग के सुख नहीं मिलते, अपितु नरक के महादुःख प्राप्त होते हैं। वहाँ अंग-अंग काट-काट कर मुख में भरे जाते हैं। जो पर की स्त्री एवं बाल-कन्याओं के शील भंग करते हैं, उन नराधमों को नरकों में लोह की गर्मागर्म रक्त पुत्तलिकाओं से चिपकाया जाता है, ऐसे घोर-घोर दुःखों को जीव नरकों में प्राप्त करते हैं। वहाँ न खोटी-शिक्षा और न ही खोटे वंचक छली शिक्षक बचाने जायेंगे, इसलिए मेरे बाल एवं युवा हृदयो! सत्य को समझो, अपनी वर्तमान एवं भविष्य की सुख-सम्पदा का नाश मत करो।

---

40. मेत्तं अहिंसा-परमबंभो हि लोए सरण-भूदो, कोवि अण्णो सरणो णत्थि। सयल-कुच्छिद-सिक्खा-सिक्खगा य अप्पस्स रिवुणो; एत्तो रिवुत्तो कुण सग-रक्खणं। सच्चबोहो पत्तेगजीवस्स हिदयं होदि। एसो कोवि सण्णी-जग्गिद-जीवो णत्थि जं सगकिदस्स बोहो णत्थि। एगहुत्तं सग-हिदयदो संतभावेण णिण्णेहि, तदा तुज्झ हिदयं पि भासेसि-तुमे जं पि चिंतेसि पढेसि कुणेसि, तं वरं वा अवरं? जगदी एरिसो कोवि माणवो णत्थि जं वर-अवर-बोहो ण होदु। चंडालो वि हिंसं हिंसा एव मण्णेदि। सो वि हिंसाए अहिंसा-दंसणं ण करेदि, किण्णु किंचण जीवा कम्मप्पेरिदा होंति, किंचण सग-विसण-णिरुवायो, किंचण कुसंगदीए कुपहगामी-जणेहिं सह लद्धकुसिक्खादो पहावित्ता असुहकज्जेसुं तप्परा होंति। मुणेहि, जदा कुकिच्च-फलं पावोदय-रूवे आगमेहिदि तदा अवरा कुच्छिद-सिक्खगा तुज्झ सहयोगं ण देहिदि। इदं कहणं चिंतेहि सयमेव। अण्णासिद-जीवणं किं णाणवंत-जीवणं? अरे मित्त! सग-कसायाणुरूवकज्ज-संपादणं पुण्ण-अण्णाणत्तं, पुणो अवराणुरूव-गमणं तु घोर-अण्णाणत्तमेव॥

40. एकमात्र अहिंसा परमब्रह्म ही लोक में शरणभूत है अन्य कोई शरण नहीं। सम्पूर्ण खोटी शिक्षाएँ एवं शिक्षक आत्मा (जीव) के शत्रु हैं, इन शत्रुओं से स्व रक्षा करो। सत्य का बोध प्रत्येक व्यक्ति के हृदय को होता है। ऐसा कोई संज्ञी जाग्रत-प्राणी नहीं जिसे अपने किए का बोध न हो। एक बार स्वयं के हृदय से शान्त-भाव से निर्णय लें तब आपका स्वयं का हृदय बोल देगा कि आप जो भी सोच रहे हैं, पढ़ रहे हैं, कर रहे हैं, वह अच्छा है या बुरा? जगति पर ऐसा कोई भी मानव नहीं जिसे बुरे और अच्छे का बोध न हो। चाण्डाल भी हिंसा को हिंसा ही समझता है। वह भी हिंसा में अहिंसा के दर्शन नहीं करता, परन्तु कुछ जीव कर्म के प्रेरित होते हैं, कुछ स्वयं की आदत के लाचार, कुछ कुसंगति के सताए जो कुपथगामी जनों के साथ प्राप्त कुशिक्षा से प्रभावित होकर अशुभ कार्यों को करने में तत्पर रहते हैं। समझो, जब कुकृत्यों का फल पापोदय रूप में

आएगा तब अन्य कोई भी खोटी शिक्षा देने वाले आपका साथ नहीं दे पाएँगे। इस बात का स्वयं ही विचार करो। अन्याश्रित जीना क्या कोई समझदारी का जीवन है? अरे मित्र! स्वयं की कषाय के अनुरूप कार्य करना, पूर्ण नासमझी है, फिर दूसरे के कहे अनुसार चलना तो घोर नासमझी है ही।

---

41. जगदीए पवंचग-जणा पढमं बालजुवा-जुवदीणं बुद्धिं हि छलेंति, पुण बुद्धिं भमिदूणं तेहिं तेहिं सह असुहकज्जं करेंति करावेंति। सगपण्णं जग्गेहि, पवंचग-रागं मुंचेहि। एदे जीवा सयं तु असुह-कम्मोदयादो दुग्गदीए गच्छेस्संति तहा तुवं पि असुह-कम्माइं कारिदूणं संगे दुग्गदीसुं णिज्जेहिंति। मित्त! किमु वयं अवजस-जीवणं जीविय णरगे गच्छेमो? एगक्खणं संत-भावेहिं इमस्स चिंतेहि। वयं पि सुसिक्खणं गहित्ता सेट्ठ-णागरिगा होदूणं महाजणेसुं वारिट्ठ-जसेहिं सह जीवामो, सुकिच्चं किच्चा सग्गदिं लब्भामो। जदि मरणोवरतं पि जीवाणं हिदए णामजसजीवणं इच्छेसि दु मे मित्त! कुपह-गमणादो आद-रक्खणं कुणेहि, सुणागरिगो होदूणं देसधम्म-समाय-उद्धारं कुणेहि॥

41. जगति पर छली-जन सर्वप्रथम बाल एवं युवा-युवतियों की बुद्धि को ही तो छलते हैं, बुद्धि भ्रमित कर फिर उनसे और उनके साथ अशुभ करते-करवाते हैं। स्व-प्रज्ञा को जाग्रत करो, कपटी-लोगों का राग छोड़ो। ये जीव स्वयं तो अशुभ कर्मोदय से दुर्गति में जाएँगे ही और आपको अशुभ-कर्म कराकर साथ में दुर्गतियों में ले जाएँगे। मित्रो! एक क्षण शान्त भावों से बैठकर इस बात का चिन्तन करो कि हम क्यों अपयश का जीवन जीकर नरक जाएँ? हम भी तो सुशिक्षा पाकर श्रेष्ठ-नागरिक बनकर महाजनों में वरिष्ठता एवं यश के साथ जिएँ, सुकृत्य करके सद्गति को प्राप्त करें। मरण के उपरान्त भी लोगों के हृदय में नाम एवं यश जीवित रहे। अहो मेरे मित्रो! कुपथ-गमन से आत्म-रक्षा करो, सद्-नागरिक बनकर देश-धर्म-समाज का उद्धार करो।

---

42. तित्थयर-चक्की-कामदेव-बलभद्द-णारायणादि-महापुरिसेहिं इह भूमंडले जम्मिय जगकल्लाणस्स पवित्त-सिक्खं दिंतियं सव्वस्स हिद-विगास-वयणं च कहिदं। 'जीवेहि जीवावेहि य' कस्सचिदवि जीवस्स अहिदं ण होदु, णवरि सव्वस्स हिदविगासे हि देस-धम्म-उण्णदी णिहिदा। सब्भ-विगाससीलदेसस्स सक्किदिं सब्भ-विगाससील-करणत्थं तत्थ रायणीदि-सिक्खा वि सब्भ-विगाससीला होदव्वा। असिक्खा-असब्भदा कस्सचिदवि देस-धम्मस्स उण्णदि-कारणं णवि होदि, अस्स सक्खी इदिहासो। जत्थ-जत्थ जदा-जदा असब्भदा-असिक्खाए सगीय-रज्जं संवट्टदे, तत्थ-तत्थ तदा-तदा विणासो हवदे। पयाए पेम्मदो जा सम्मज्जसीमं वड्ढेदि, तस्सेव वड्ढी दिग्घ-कालपज्जंतं होदि। असब्भ-कालो थोवो होदि, असिक्खिदाणं समयो आरंभे सदि णस्सेदि अहवा णेव आरंभेदि॥

42. तीर्थंकर, चक्री, कामदेव, बलभद्र, नारायणादि महापुरुषों ने इस भूतल पर जन्म लेकर जगत्-

कल्याण की पवित्र-शिक्षा प्रदान की, सबके हित, सर्व-विकास की बात की। 'जिओ और जीने दो', किसी भी जीव का अहित न हो, क्योंकि सबके हित एवं विकास में ही देश-धर्म की उन्नति निहित है। सभ्य, विकासशील देश की संस्कृति सभ्य एवं विकास बनाने के लिए वहाँ की राजनीति एवं शिक्षा भी सभ्य तथा विकासशील होना अनिवार्य है। अशिक्षा तथा असभ्यता किसी भी देश-धर्म की उन्नति का कारण नहीं बन सकती है, इस बात का इतिहास साक्षी है। जहाँ-जहाँ, जब-जब असभ्यता अशिक्षा ने अपना राज्य स्थापित किया वहाँ-वहाँ तब-तब विनाश हुआ। प्रजा पर प्रेम-से जो साम्राज्य की सीमा वृद्धिंगत करता है; उसी की वृद्धि दीर्घ-कालीन होती है। असभ्यों का काल अल्प होता है, अशिक्षितों का समय प्रारम्भ होते ही नष्ट हो जाता है अथवा प्रारम्भ ही नहीं हो पाता है।

---

43. सुगंधिद-पुप्फमिव सब्भत्तं सिक्खाए सह वसेदि। पुप्फं सयल-णयरं सुवासिदेदि, तम्हा पत्तेग-रायणायग-अहिणायगेहिं सह समायजणसहिद-परंपराइरिय-धम्माइरिय-कत्तव्वं, ते सब्भदा-सुसिक्खाए बलेण भारहस्स वीस-गुरुत्त-रक्खणं कुज्जा। जदि पुज्जजणा वि पक्खपाद-रागादो धम्मणीदि-णाय-विरुद्ध-सिक्खणं देंति दु ताए सिक्खाए मउणं धरेज्जा; णवरि पुज्जाण अविणयो वि ण होदु तहा णायधम्म-विरुद्धकज्जं पि ण होदु। णाय-धम्म-रक्खणं ण रागबुद्धित्तो होदि णेव दोस-बुद्धित्तो; रागे वि सच्चं छुट्टेदि तहा दोसे वि सच्चं छुट्टेदि। रागद्दोस-मज्झे जस्स परिणामा रत्ता, तेसिं जोग्ग-अजोग्ग-हेयोवादेय-विवेगो ण होदि। रागे रागीणं हिदं इच्छेदि, किलं च होदु। दोसे दोसीणं अहिदं इच्छेदि; लोए किंचणं पि होदु, तं अण्णं किंपि पओयणं णत्थि। रागी-दोसी-गुरुजणा वि होंतु, तेसिं कहणं णवि गेण्हेहि, सगपर-हिदयारी-सिक्खं गेण्हित्ता जीवेहि। सच्चपुण्ण जीवणं जीवंतस्स मरणोवरंतं पि तस्स णामो लोय-हिदएसुं जीवंतो होदि॥

43. सभ्यता शिक्षा के साथ रहती है; सुगन्धित पुष्पवत्। पुष्प सर्व-नगर को सुवासित कर देता है, इसलिए प्रत्येक राजनेताओं, अभिनेताओं के साथ समाजजनों सहित परम्पराचार्यों, धर्माचार्यों का कर्तव्य है कि वे सभ्यता-सुशिक्षा पर बल देकर भारत की विश्व-गुरुता की रक्षा करें। पूज्यजन भी यदि पक्षपात के राग से धर्मनीति एवं न्याय के विरुद्ध शिक्षा दें तो उस शिक्षा में मौन रखना चाहिए, क्योंकि पूज्यों का अविनय भी न हो पाए और साथ ही न्याय एवं धर्म के विरुद्ध कार्य भी न हो। न्याय एवं धर्म की रक्षा न राग-बुद्धि से हो सकती है, न द्वेष-बुद्धि से, राग में भी सत्य छूट जाता है और द्वेष में भी सत्य दूर रह जाता है। राग-द्वेष के मध्य जिसके परिणाम संलग्न हैं, उन व्यक्तियों को करनी-अकरनी, हेय-उपादेय का विवेक नहीं रहता। राग में रागियों का हित चाहता है; कुछ भी हो जाए। द्वेष में द्वेषियों का अहित चाहता है, लोक में कुछ भी हो जाए, अन्य उसे कोई प्रयोजन नहीं है। रागी-द्वेषी गुरुजन भी क्यों न हों; उनकी बात स्वीकार न कर, स्व-पर हितकारी शिक्षा को

स्वीकार कर जीना। सत्यपूर्ण जीवन जीने वाले के मरण-उपरान्त भी उसका नाम लोक के हृदयों में जीवन्त रहता है।

---

44. गुणग्गाही-जणा सग-सिक्खाए सह अवरस्स विज्जं पि धिज्जेण सोच्छंति, ते कस्सचिदवि णाणं तुच्छं भासिय सगीयदंभ-दंसणं कंचिद ण करेंति। विणयदो अवरत्थ-सग्गुणा हरिसेण सह गेण्हंते, एवमेव गुणी-सेक्ख-चिण्हं। कस्सचिद वत्थु-जीवं च पुण्णरूवेण तुच्छं मा मण्णेहि, अहुणा णत्थि आवस्सगत्तं, तम्हा तं सदेव अणावस्सगं मा भासेहि। मलिण-वत्थं पि आवस्सगदाए आवस्सगं होदि, जं मलिण-वत्थ-सण्णं लहिदूणं उवेक्खिदं आसी, तमेव वत्थं भवण-वाहणाइं सच्छदाए आवस्सगं हवदे। जे पुरिसा जीविदे तुज्झ अकज्जकारगा आसी, कदाणु हु तेसिं कंधेसुं तुज्झ सवजत्ता अवगच्छेहिदि; तम्हा पत्तेगवत्थु-जीवस्स मुल्लं कुणेहि।।

44. गुण-ग्राही-जन स्व-शिक्षा के साथ अन्य की विद्या को भी धैर्य से श्रवण करते हैं, वे किसी के भी ज्ञान को तुच्छ कहकर अपने दंभ के दर्शन किसी को नहीं कराते। विनय-पूर्वक अन्य के अन्दर जो भी सद्गुण हैं उन्हें सहर्ष स्वीकार करते हैं, गुणी-शैक्ष्य की यही तो पहचान है। किसी की वस्तु एवं व्यक्ति को पूर्ण-तुच्छ मत समझो, अभी आवश्यकता नहीं है, इसलिए उसे हमेशा के लिए अनावश्यक मत कहना। गंदा वस्त्र भी आवश्यकता पर आवश्यक हो जाता है, जो मलिन-वस्त्र संज्ञा प्राप्त कर उपेक्षित था, वही वस्त्र भवन एवं वाहन की सफाई करने के लिए आवश्यक बन गया। जो पुरुष तुम्हारे जीवित में काम नहीं आए थे, कभी उन्हीं के कन्धों पर तुम्हारी शवयात्रा जाएगी, इसलिए हर-वस्तु, हर-व्यक्ति की कीमत करो।

---

45. काए देस-णयर-पजादि-जादीए मदम्हि जीवेहि, कुल्ला-पासे वणे विगसिद-पाडलं पाडलमेव होदि। अम्म-रुक्खो कुओ वि उग्गेदु, किण्णु फलाइं तु अम्मफलाइं महुररसवंतं हि होहिंति। देसग्गाम-णयरमहाणयरेसु कुओ वि णाणी-महापुरिस-साहु-महप्पा-परमप्पा वा जादिज्जंति, तम्हा जादि-कुल-णयरे णाणी-महप्पा-परमप्पं च मा पस्स; अविदु सेट्ठु-कज्जसील-पुण्णप्प-महापुरिसम्हि तहा पुरिसत्थीसुं महापुरिसं पस्स। जो गुणवंतो, सो हि गुणी। गुणहीणं गुणवंतगुणी-सण्णालद्धी ण होदि। सगीय-रागीजीवेहिं गुणी-पहुसण्णालाहं पि होदु, दु किं सो गुणी-पहू य होदि? पत्त-भुजंगे णवि होदि मणी।।

45. किस देश, नगर, प्रजाति-जाति के मद में जी रहे हो, नाले के किनारे एवं जंगल में खिला गुलाब गुलाब ही रहता है। आम्र वृक्ष कहीं भी उगा हो, पर फल तो आम्र-फल मधुर रसवान ही होंगे। देश-गाँव-नगर-महानगर कहीं भी ज्ञानी महापुरुष-साधु-महात्मा व परमात्मा जन्म ले सकते हैं, इसलिए जाति-कुल या नगर में

ज्ञानी-महात्मा-परमात्मा मत देखो, अपितु श्रेष्ठ-कार्यशील पुण्यात्मा-महापुरुष में तथा पुरुषार्थी जीवों में महापुरुष को देखो। जो गुणवान् है; वही गुणी है। गुणहीन को गुणवान् या गुणी संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है। अपने चाहने वाले लोगों से गुणी क्या प्रभु संज्ञा भी प्राप्त कर ले, तो क्या वह गुणी-प्रभु हो सकता है? कागज के साँप में मणि नहीं होती।

---

46. गंथ-णाणे विराडत्त-लद्धि-मेत्तेण सगं जीवण-विगासस्स णाणी-सिक्खगो मण्णिय मा जीवेहि। सत्थ-सिक्खा पमाणपत्त-लद्धी अत्थि, किण्णु जीवण-विगासो पुत्थगीय-अज्झयणेण सह गूढाणुहवेण होहिदि। जदि अणुहवस्स गूढत्तं जीवणे ण आगच्छेहि दु सयल-पुत्थगी-णाणित्तं उवहास-उवलद्धिं हि मेत्तं कारिस्सदि, अवरा कावि विसिट्ठ-उवलद्धी णो होस्सदि। तम्हा पुत्थगाण सिक्खाए सह तव्विसयाणुहवस्स सिक्खं पि भजेज्जा। जदि विसेस-पुरिसत्थं विणा अमुल्ल-णिहि-लाहो होदि तु तं लब्भेज्जा। कस्सचिद जीवस्स अणुहव-लद्धी हुज्जा दु गेण्हेहि॥

46. ग्रंथों के ज्ञान में विराटता प्राप्त कर लेने मात्र से अपने आपको जीवन-विकास का ज्ञानी-शिक्षक मानकर मत चलना। शास्त्रों की शिक्षा प्रमाण-पत्र प्राप्त करना है, परन्तु जीवन-विकास पुस्तकीय पढ़ाई के साथ गहरे अनुभव से होगा। यदि अनुभव की गहराई जीवन में नहीं आई तो सम्पूर्ण पुस्तकीय-पंडिताई उपहास की उपलब्धि मात्र ही करा पाएगी, अन्य कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं हो पाएगी। इसलिए पुस्तकों की शिक्षा के साथ तद्-तद् विषय के अनुभव की भी शिक्षा प्राप्त करना चाहिए। यदि बिना विशेष पुरुषार्थ के अमूल्य निधि प्राप्त हो रही है तो उसे प्राप्त कर लेना चाहिए। किसी व्यक्ति के अनुभव मिलते हैं तो ग्रहण करो।

---

47. मित्त! विवत्ति-आगमे सदि वि सगीय-धिज्जं रक्खंतं वाणी-संजम-रक्खं कुणेहि, णवरि जत्थ वाणी-संजम-विणासो जादो तत्थ सगस्स सव्वस्सं णस्सेदि। जो वयणाइं संभलेदि, जाण विजयो वि तस्सेव होदि। धिज्ज-बंधो खंडणे सदि वाणी-असंजमिदे सदि य विजयो सत्तूणं णिच्छिदो। आवेगे विवेगहीणो होदूणं दुव्वयण-पओगं कदावि ण कुज्जा; इदं जीवणस्स जेट्ठअम-सिक्खा मणेज्जा। जदा जदा विवरीदत्तं आगच्छेदि तदा तदा महापुरिसाणं चिंतणं कुज्जा, तेसिं महाजोगीणं जीवण-वित्तदंसणं कुज्जा जेसुं घोरोवसग्गा जादा; पुणो वि सगीय-सम्मदाचागं ण किदं, मउणादो खमं धरित्ता उवसग्ग-फलं अप्पोक्करिसं लब्भेदूणं णिव्वाणं लब्भीअ तहा जग-अट्ठा-केंदं हवीअ॥

47. मित्र! विपत्तियों के आने पर भी अपने धैर्य को सँभालते हुए वाणी-संयम को जीवित रखना, क्योंकि जहाँ वाणी-संयम नष्ट हुआ वहाँ अपना सर्वस्व स्वाहा हो जाता है। वचनों को जिसने सँभाल लिया, समझो विजय भी उसने अपनी ओर बुला ली। जहाँ धैर्य का बाँध टूटा, वाणी आपकी असंयमित हुई, समझो आपने

विजय अपने ही शत्रु को प्रदान कर दी। जीवन में सबसे बड़ी सीख समझना—आवेग में विवेकहीन होकर दुर्वचनों का प्रयोग किसी भी स्थिति में नहीं करना। जब-जब विपरीतता आवे तब-तब महापुरुषों का ध्यान कर लेना, उन महायोगियों के जीवन-वृत्त के दर्शन करने लग जाना जिनके ऊपर घोर-उपसर्ग हुए, फिर भी अपनी साम्यता का त्याग नहीं किया, मौन-पूर्वक क्षमा धारण कर उपसर्ग का फल आत्मोत्कर्ष प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त कर लिया और जगत् की आस्था के केन्द्र बन गए।

---

48. जत्थ पाण-घादगजीव-पसुपक्खीओ होंतु, घोर-अकाल-महामारी-पहावो होदु, एरिसं ठाणं मुंचेदव्वं। जदि पाण-रक्खणं होहिदि दु धण-धरणी पुणो भजेहिदि। जदि माणवा ण होस्संति दु धम्म-सक्किदि-सब्भावो कहं होहिदि? तम्हा धम्म-सक्किदीए सगीय-पाण-रक्खणं कादव्वं। उचिद-समए सगीय-संपत्तिभूमिं च पुणो लहिज्जा, किण्णु सग-जीवण-रक्खणं आवस्सगं। समयो सव्वं णिब्बलो सबलो वा करेदि। किंचण कहणाइं समयासिदाइं होदि, विसाल-गत्त-विणाइं च समए पूरंति। एग-दिट्ठिं किच्चा जीवेहि पुणो जाणेहि, अधीरत्तं अणावस्सगं, णवरि अधीरत्तं जेट्ठअमं अण्णाणत्तं तहा धिज्जं णाणी-जीवस्स पढमं अहिणाणं॥

48. जहाँ पर प्राण-घातक व्यक्ति एवं पशु-पक्षी हों, घोर अकाल, महामारी का प्रभाव हो ऐसे स्थान को छोड़ देना चाहिए। प्राण रहेंगे तो धन-धरती, पुनः प्राप्त हो जाएगी। मानव ही नहीं रहेंगे तो धर्म-संस्कृति कैसे रहेगी? इसलिए धर्म-संस्कृति के लिए अपने प्राण सुरक्षित रखना चाहिए। समय पाकर अपनी सम्पत्ति व भूमि को पुनः प्राप्त कर लेना, परन्तु जीवन रक्षा स्वयं की अवश्य ही करना। समय सबको निर्बल एवं सबल बना देता है। कुछ बातें समय पर छोड़ देना चाहिए, बड़े-बड़े गर्त घाव-व्रण समय पर भर जाते हैं। एक दृष्टि बनाकर चलो, पुनः समझो, अधीर होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अधीरता सबसे बड़ी अज्ञानता है और धैर्य ज्ञानी जीव की प्रथम पहचान है।

---

49. णाणी-धिज्जवंत-सीलसंपण्ण-विवेगी-धम्मप्प-जीवाणं देव-दाणवा वि णमंते, पुणो किं णराण गणणा, तम्हा सग-जीवणे इमं सिक्खं गेण्हेहि। णाण-धण-धरणी-रागे आदघादं मा कुणेहि। संका-संगड-समाधाणं मिच्चू णत्थि। जीवणं अत्थि दु सव्वं अत्थि, जीवणं णत्थि दु किंचण णत्थि। हसंता पुप्फ-मालाओ गेज्झमाणा वसुंधराए विउला, किण्णु सूल-संकडेसु पसण्णदाए जीवणं जीवमाणा वीरा धराए विरला सिरिरामो तित्थयर-महावीरो य। पत्तेग-अवत्था-णाणं सिक्खेहि तह पत्तेग-अवत्थाए जीवणं सिक्खेहि। जो णायग-भावेण जीवेदि, तं कट्ठाइं पि आणंदेंति; इमा कहा णत्थि जीवणस्स सच्चत्थ-बोहो त्थि, जीवंतो अणुहवेहि। जीवेहि जीवावेहि य॥

49. ज्ञानी, धैर्यवान, शील-सम्पन्न, विवेकी-धर्मात्मा जीवों को देव-दानव भी शीश झुकाते हैं, फिर नरों की क्या गणना, इसलिए अपने जीवन में यह शिक्षा स्वीकार करो। ज्ञान, धन-धरती के राग में आत्महत्या मत करो। शंका या संकट का समाधान मृत्यु नहीं है। जीवन है तो सब है, जीवन नहीं तो कुछ नहीं। हसते-हसते पुष्प-मालाओं को स्वीकार करने वाले वसुन्धरा पर बहुत हैं, पर शूलों और संकटों में जीवन प्रसन्नतापूर्वक जीने वाले वीर धरा पर विरले श्रीराम व तीर्थंकर महावीर हैं। प्रत्येक अवस्था को जानना सीखो और हर अवस्था में जीना सीखो। जो ज्ञायक भाव से जीता है उसे कष्ट भी आनन्द देने लगते हैं, यह कथा नहीं जीवन का सत्यार्थ-बोध है, जीते-जी अनुभव करो। जियो और जीने दो।

30

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

विसणं

(व्यसन)

1. विसणं सा पउत्ती, जा जीवणे एगहुत्तं उवट्ठिदा होदु, पुणो मुहू मुहू तं करणस्स भावा होंति। असुह-विसणेसुं जीवो सगीय-सयलदव्व-णासं करेदि, विसणाइं विसादो वि अहिग-घादगाइं। विसं तु एगहुत्तं हि हिंसेदि, किण्णु विसणं तु पडिक्खणं हिंसेदि। धम्म-जस-कुल-संपत्तीणं जुगवं खयकारगं महामारी-विसणं।।

1. व्यसन वह आदत है जो जीवन में एक बार लग जाए, फिर बार-बार उसे करने के भाव होते हैं। बुरे-व्यसनों में व्यक्ति अपना सर्वस्व नाश कर बैठता है, व्यसन विष से भी अधिक घातक हैं। विष एक बार मारता है, परन्तु व्यसन तो क्षण-क्षण में मारता है। धर्म-यश-कुल-सम्पत्ति का एक साथ क्षय कराने वाली महामारी व्यसन है।

---

2. जदि सगीय-कुल-जादि-धम्मस्स पवित्तदा-रक्खण-भावा, दु अहोमित्त! विसण-विसत्तो सदा होहि विरत्तो। विसण-सेवणं तहा विसण-दंसणं चावि पीडा-दायगं। विसणिं कोरोणासरिस-महामारी सिग्घं पहाविदेदि तहा पुणो सो विप्फंदित्ता पाणं मुंचेदि, तम्हा विसण-विसणीदो पुहुत्तं धरेहि, रक्खणं होज्जा। सुहमय-जीवणं दुह-चिंता-गत्तम्हि पवाडमाणा कुपउत्ती विसणं, मंगलमय-जीवणं अमंगलमय-करणविही विसणं च। णिव्विसणत्त-आणंदो अवच्चो। विसणी-जीवस्स अंतरंग-वेदणा वि अवच्चा सो सयमेव सगे असुहं चिंतेदि। विसण-महापावं सयल-संबंध-परिवारं च णस्सेदि, विसणी-जीवस्स जीवणस्स पवित्तदा विलीएदि। विसणी चिंतेदि-सा अणुभूदी सत्ती य कदा भजेहिदि जा णिव्विसण-काले अलोगिग-विसिट्ठाणंद-धारा णियप्प-पदेसम्हि पवहीअ। सो सोदो ओमीलीअ। मित्ताइं! णाणीजण-गुरुजण-मज्झे णिवसण-सत्ती धंसेज्जा, भय-सण्णा पडिप्पलं संगे वसेदि, मे कुबुद्धीए जीवा हसंते। जीवण-मरणं च दुहमयं जादं। हद्धि! हद्धि! हद्धि!

2. अपने कुल-जाति-धर्म की पवित्रता को सुरक्षित रखने के भाव हैं, तो अहो मित्र! व्यसन-विष से सदा विरक्त रहना। व्यसनों का सेवन तो नाशक है ही, अपितु दर्शन ही पीड़ा दे देगा। व्यसनी को कोरोना

वैसी महामारी शीघ्र प्रभावित करती है और फिर वह तड़प-तड़प कर प्राण छोड़ता है, इसलिए व्यसन एवं व्यसनी दोनों से ही दूरी बनाकर चलो, सुरक्षित रहोगे। सुखमय जीवन को दुःख, चिन्ताओं के गर्त में डालने वाली कुटेव (खोटी आदत) का नाम व्यसन है, मंगलमय जीवन को अमंगलमय बनाने की विधि का नाम व्यसन है। निर्व्यसनता का जो आनन्द है वह अवाच्य है। व्यसनी व्यक्ति की जो अंतरंग वेदना है वह भी अवाच्य है। वह स्वयं ही स्वयं अशुभ सोचता है। व्यसन महा-पाप सर्व-संबन्धों व परिवार को नष्ट कर देता है, व्यसनी के जीवन की पवित्रता का तो पता ही नहीं चलता कि कहाँ विलीन हो गई? व्यसनी सोचता है कि वह अनुभूति एवं शक्ति कब मिलेगी जो निर्व्यसन-काल में अलौकिक, विशिष्ट-आनन्द की धारा स्वात्म-प्रदेशों में बहती थी। वह स्रोत अब बंद हो गया। मित्रो! ज्ञानीजनों, गुरुजनों के मध्य जाने की शक्ति क्षीण हो गई, भय संज्ञा प्रतिपल साथ रहने लगी, मेरी कुबुद्धि पर लोग हसते हैं। जीवन-मरण दुःखमय हो गया। हाय! हाय! हाय!

---

3. कल्लाण-मग्गत्तो जे पदिदेदि, सुमग्गत्तो विरेयदि, कुमग्गे धरेदि, सग्गुरु-सग्गुणादो पुहुत्तं करेदि, तं महाभयंकर-कट्ठदायगं विसणं अत्थि। विसणं जीवणं दुट्ठत्ते परियट्टण-कज्जं करेदि। विसणं धण-तण-पज्जंतं सव्वं धंसावेदि। णयर-देस-वीसेसुं च विसणेण जायदे अवजसो, विसणं धण्णकण्णस्स वि भिक्खं भिक्खेदि। विसणं साहुं पि दुज्जणं करेदि, महुर-संबंधेसु विसं मिस्सेदि वा॥

3. कल्याण-मार्ग से जो पतित करे, सद्मार्ग से दूर करे, कुमार्ग में रख दे, सद्गुरुओं एवं सद्गुणों से जो मिलन न करने दे, वह महाभयंकर कष्ट-प्रदाता व्यसन है। जीवन को दुष्टता में बदलने का जो कार्य करता है, वह व्यसन है। व्यसन धन से लेकर तन तक क्षीण करा देता है व्यसन नगर, देश और विश्व में अपयश दिला देता है, दाने-दाने की भीख मँगवा देता है व्यसन। साधु को दुर्जन बना देता है व्यसन, मधुर-सम्बंधों में विष घोल देता है व्यसन।

---

4. विसणेण अप्पाणत्था काम-कोह-माण-माया-लोहादि-अब्भंतर-रिवूणो जग्गावदे, तम्हा सव्व-पावेसुं महापावं विसणं। जदि तच्चणाणी-तच्चपेम्मीजणाणं दिट्ठी विसणेसुं पि गच्छेज्जा दु सगपर-हिदत्थं विसणाइं झत्ति हु मुंचेज्जा। लोए कियत्तं पि जव-तव-उववास-तित्थवंदणा-दाण-पूयादि-सुकज्जं कुणेज्जा, किण्णु एग-विसणस्स उवट्ठिदे सदि सयल-धम्मकम्माइं पि उहयलोगे अहिदादो ण रक्खेहिदि। विसणेहिं असुह-असुह-रोगा माणसिग-देहिग-कट्ठाइं देंति। विसणिं सेट्ठीजणा सगं समया णवि बइसारेंति। विसणीदो सज्जणा सग-संताणं सिंह-सप्पादि-सरिसं विच्छुहेंति। गेहे गेहे चरिचा वत्ता य हवेदि-अमुग-जीवादो संताणा फेडेहि, तं सगीय-गेहम्हि मा आमंतेहि, तस्स गेहे सगीय-बालगा णवि संपेसेहि, अण्णहा कुसक्कारा भजेज्जा। जदि एगो विसणी समायम्हि जादो दु सो महामारी-कोरोणा-सरिसो सहस्साणं विसणी कारेदि, तम्हा विसणीदो कोरोणा-रोगी-सरिच्छं पुहुत्तं कादव्वं॥

4. आत्मा के अन्दर जो भी काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि आन्तरिक शत्रु हैं, उन सबको जाग्रत करा देता है—व्यसन, इसलिए सर्व-पापों में महापाप है—व्यसन। तत्त्वज्ञानी, तत्त्वप्रेमी-जनों की यदि व्यसनों में दृष्टि भी

जा रही हो तो स्व-पर हितार्थ व्यसनों को शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए। लोक में कितने भी जप-तप-उपवास, तीर्थवंदना, दान-पूजनादि सत्कार्य कर लो, परन्तु एक व्यसन में भी लग गए तो सम्पूर्ण धर्म-कर्म उभय-लोक में अहित से नहीं बचा पाएगा। व्यसनों के कारण अशुभ-अशुभ रोग; मानसिक एवं शारीरिक-पीड़ा देते हैं। व्यसनी को श्रेष्ठीजन अपने पास भी नहीं बैठने देते हैं। जो व्यसनी होता है उससे सज्जन-लोग अपनी संतान को सिंह-सर्पादि जैसे दूर रखते हैं। घर-घर में चर्चा-वार्ता चलती है कि—अमुक व्यक्ति से बच्चों को दूर रखना, उसे अपने घर नहीं बुलाना, उसके घर अपने बालकों को नहीं भेजना, अन्यथा कुसंस्कारों को प्राप्त हो जाएगा। यदि एक व्यसनी समाज में हो गया तो वह महामारी कोरोना जैसे हजारों को व्यसनी बना देगा, इसलिए व्यसन-सेवी से कोरोना-रोगी जैसी दूरी बनाकर रखनी चाहिए।

---

5. जुअ-किरिया, मंसभक्खणं, मदिरापाणं, वेस्ससेवणं, अखेड-कीडा, चोरियकम्मं, परइत्थि-पुरिस-सेवणं च, एदाइं सत्त-विसणाइं जग-पसिद्धाइं। इमादो एगं पि एरिसं णत्थि, जस्स सेवणेण जीवस्स महाणत्त-बोहो होज्जा, सत्त-विसणाइं णिगिट्ठदा-जुत्ताइं॥

5. 1. जुआ खेलना, 2. मांस खाना, 2. मदिरा पीना, 4. वेश्या सेवन, 5. शिकार खेलना, 6. चोरी करना, 7. पर-स्त्री सेवन करना—ये सात व्यसन हैं, ये जगत् प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक भी ऐसा नहीं है; जिसके सेवन से व्यक्ति की महानता का बोध हो सकता हो, सातों-के-सातों ही निष्कृष्टता से युक्त हैं।

---

6. दियंबराइरिय-सोमदेवसूरिणा पसिद्ध-णीदि-सत्थे णीदि-वक्कामिदे अट्ठारह- विह-विसण-वक्खं किदं। तं जहा-इत्थि-आसत्ती, मज्जपाणं, आहेड-कीडा, जुअकीडा, पेसुण्णं, दिवा-सयणं, परणिंदा, गीदसवणासत्ती, णच्चदंसणासत्ती, वादित्तसवणासत्ती, णिरत्थग-गमणं, ईसा, साहसो अहवा परइत्थिसेवणं वा कण्णा-दूसणं, अत्थ-दूसणं, अकारण-वहो, दव्वहरणं, कक्कसवयणं, दंड-पारुस्सं चेदि॥

6. आचार्य प्रवर सोमदेवसूरि ने प्रसिद्ध नीति-शास्त्र 'नीति-वाक्यामृतम्' में अठारह प्रकार के व्यसनों की व्याख्या की है। 1. स्त्री-आसक्ति, 2. मद्यपान, 3. शिकार खेलना, 4. द्यूत क्रीड़ा, 5. पैशून्य (चुगली), 6. दिन में शयन, 7. पर-निन्दा, 8. गीतश्रवण में आसक्ति, 9. नृत्य-दर्शन में आसक्ति, 10. वादित्र-श्रवण में आसक्ति, 11. व्यर्थ-गमन, 12. ईर्ष्या, 13. साहस अथवा पर-स्त्री सेवन व कन्या दूषण, 14. अर्थ-दूषण, 15. अकारण वध, 16. द्रव्य-हरण, 17. कर्कश-वचन, 18. दण्ड-पारुष्य।

---

7. णीदि-णिवुण-सज्जणा उत्त-विसणाइं सगेच्छादो झत्ति हु मुंचेज्जा, समयप्पमाण-कालं पि इमाणि णवि गेण्हेज्जा। विसणाइं धम्मकुलजसाणं च खणमेत्ते णस्सेहिंति। इदिहासो सक्खी जेहिं जेहिं इमेसिं सेवीअ, तेसिं सव्वेसिं णासो जादो। पुराण-गंथेसुं सव्वस्स कहाओ संति तहा जे वट्टमाणे विसण-सेवणं करेंति, तेसिं जीवणं हि कहा, ते सयमेव जाणेज्जा। परादो पावाइं गूहिज्जंते, किण्णु

सगदो सयंभूदो किं गूहिस्संति? सग-सयंभूदो किंपि कहणं गुत्तं ण होदि। किमु हं अम्हि सग-जीवण-बोहो सव्वेसिं होदि। लोए को किमु अत्थि परमप्पं सव्वस्स णाणं। तम्हा णिरत्थग-कज्जं किच्चा सगं सगत्तो हि पावी मा लावेज्जा॥

7. नीति-निपुण सज्जन-पुरुषों को उक्त व्यसनों को स्वेच्छा से शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए, समय प्रमाण काल भी इन्हें नहीं स्वीकारना चाहिए। व्यसन धर्म-कुल-यश का पल मात्र में नाश कर देंगे। जिन-जिन लोगों ने इनका सेवन किया उन सबका नाश ही हुआ है, इतिहास साक्षी है। पुराण ग्रंथों में सबकी कथाएँ लिखी हैं और जो वर्तमान में व्यसन-सेवन कर रहे हैं, उनका जीवन ही कथा है, वे स्वयं ही समझें। पर से पाप छुपा सकते हैं, पर स्वयं एवं स्वयंभू से क्या छुपा पाएँगे? दो से कोई बात गुप्त रहती ही नहीं—स्वयं एवं स्वयंभू। स्व के जीवन का बोध सभी को रहता है कि मैं क्या हूँ? परमात्मा को सबका ज्ञान है कि—लोक में कौन क्या है? इसलिए व्यर्थ के काम करके अपने आपको अपने से ही पापी मत कहलाओ।

---

8. पढमं जुआदि-सत्तविसणाइं कमसो बुज्झेहि, पुणो अट्ठारह-विसणाइं बुज्झेहिंति। इमेसिं कुच्छिद-पउत्तीणं संबंधो कत्तोचिद धम्म-पंथ-संपदायत्तो णत्थि, एदाइं सत्त-विसणाइं अट्ठारह-विसणाइं वा जीवस्स सगीय-परिणदीओ, इमाइं कोवि धम्मो ण मण्णेदि णेव पंथ-संपदाओ य॥

8. सर्वप्रथम जुआ आदि सात व्यसनों को क्रमशः समझें, फिर समझेंगे अठारह को। इन खोटी-आदतों का सम्बंध किसी धर्म-पंथ-सम्प्रदाय से नहीं है, ये सातों ही अथवा अठारह ही व्यक्ति की स्वयं की परिणति हैं, उन्हें कोई धर्म नहीं स्वीकारते और न ही पन्थ-सम्प्रदाय।

---

9. जदि विसण-सेवणं हि कोवि धम्मो मण्णेदु, दु तत्तो भीमो अधम्म-अधम्मी य पुढवीए अण्णो को होदि? एरिसं मूढं सगमुहं सीवेज्जा। भासणाहिगारो तं णवि होज्जा॥

9. यदि व्यसन सेवन को ही कोई धर्म स्वीकारे तो उससे बड़ा अधर्म एवं अधर्मी पृथ्वी पर अन्य कौन हो सकता है? ऐसे अज्ञ को तो अपने मुख को सिल ही लेना चाहिए। बोलने का उसे अधिकार ही नहीं होना चाहिए।

---

10. इमाणि विसणाइं महापावाइं धम्मो भासगेसुं रज्ज-केंदसासणं रज्ज-रट्ठहिदम्हि णिरुंभेदूणं विसणमुत्तदेसस्स आएसेण सह आवस्सग-णियमो हि उवहरेज्जा। देसस्स अत्थिग-देहिग-माणसिग-विगासो य आरंभेहिदि॥

10. इन व्यसनों, महापापों को धर्म कहने वालों पर राज्य-शासन, केन्द्र-शासन को राज्य व राष्ट्रहित में रोक लगाकर, व्यसन-मुक्त देश का आदेश ही नहीं, आवश्यक नियम ही लगा देना चाहिए। देश का आर्थिक, शारीरिक तथा मानसिक विकास होना प्रारंभ हो जाएगा।

जुअ-विसणं
(जुआ-व्यसन)

11. विजय-पराजय-लक्खं गेण्हिय णिबंधणेण जाओ वि कीडाओ होंति वा कज्जाइं कीरिज्जंते, ते सव्वे जुआ। जुअ-कीडा एरिसा कीडा जा जीवस्स सव्वधणं णस्सेदि बहुधणवंता वि णिद्धणा होंति, रायो वि रंको झत्ति होदि। जुओ आसा-अणलं उप्पज्जेदि तहा अंते णिरासाए भम्ह-मेत्तं अवसेसं होदि। जुअम्हि अंधा जुअयारा जुअकीडाए धण-धरणी-वत्थाभरणेहिं सह सग-इत्थिं पि कीडाए जुंजंति, पुणो ता समया रोदणं हि सेसं होदि॥

11. हार-जीत के लक्ष्य को लेकर, शर्त लगाकर जो भी खेल खेले जाते हैं या कार्य किए जाते हैं वे सब जुआ हैं। जुआ (द्यूत-क्रीड़ा) ऐसी कीड़ा है जो व्यक्ति का सर्वस्व क्षय कर देता है, करोड़पति भी रोड पर आ जाते हैं, राजा को रंक बनते देर नहीं लगती। जुआ आशा की आग उत्पन्न करता है और अन्त में निराशा की राख मात्र अवशेष रहती है। जुआ में अंध जुआरी, दाँव पर धन-धरती, वस्त्र-आभूषण क्या, अज्ञ-प्राणी पत्नी तक दाँव पर लगा बैठते हैं, फिर उनके पास रोने के अलावा शेष बचता ही क्या है?

---

12. धम्मराय-सण्णा-लद्ध-जुहिट्ठिरो व्व-सरिस-सच्चवादी वि जुअ-कीडाए जगदीए अवजसं पत्तो, णवरि तेण अविवेगेण धण-धरणी-णारिं पि पसंगे अवसिज्जिदं। ओहो! जुअयाराणं मायाए अंते रज्जादो हि णिस्सरीअ। जुअ-कीडा मेत्तं धण-हाणिकारणं हि णत्थि, अविदु सत्थ-बुद्धि-विवेग-सुह-संति-हाणिं पि कुणेदि। धणाभावो सगस्स परिवारस्स जीवण-विवत्थाओ वि पहावेदि। जोग्ग-विवत्था-अभावे चित्ते खिण्णत्तं संजादेदि, तेण माणसिग-वियप्पो होदि, देहं पि असत्थत्तं लहेदि। देह-वदणस्स सयल-आहा विलीएदि। परिवार-कुडुंब-पडिवेसी-मादु-भगिणी-मित्त-पुत्त-वामा वि वीसासं ण करेदि। ओहो! जुअयारेण किं पीदि-करणं? अभग्गो वामाए वत्थाभरण-मंगलसुत्तं पि पसंगे अवसिज्जेदि, तम्हा जुअदो पुहं जीवणं हि वरं। सज्जणाणं घोरघोर-विवत्ति-आयरं जुअं दूरदो मुंचेज्जा॥

12. युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, जो धर्मराज संज्ञा को प्राप्त थे, वे भी जुआ के कारण जगति पर अपयश को प्राप्त हुए, क्योंकि उन्होंने विवेक खोकर धन-धरती और नारी तक को दाँव पर लगा दिया था। ओहो! जुआरियों की माया में फँसकर अन्त में राज्य से ही निकलना पड़ा। द्यूत-क्रीड़ा मात्र धनहानि का ही कारण नहीं है, अपितु स्वास्थ्य, बुद्धि-विवेक, सुख-शांति की भी हानि करता है। धन का अभाव परिवार की एवं स्वयं के जीवन की व्यवस्थाओं को भी प्रभावित करता है। योग्य-व्यवस्थाओं के अभाव में चित्त में खिन्नता उत्पन्न होती ही है, उससे मानसिक विकल्प होता है, शरीर भी अस्वस्थता को प्राप्त करता है। देह एवं मुख-मण्डल की सम्पूर्ण-आभा विलीन हो जाती है। परिवार, कुटुम्ब, पड़ोसी, माँ, बहिन, मित्र, पुत्र तो क्या पत्नी भी विश्वास करना छोड़ देती है। ओहो! जुआरी से क्या प्रीति करना? अभागा मेरे वस्त्राभूषण, मंगलसूत्र तक दाँव पर लगा आएगा, इसलिए जुआ से पृथक् जीवन जीना ही श्रेष्ठ है। सज्जनों को घोर-घोर विपत्ति की खान जुआ को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

---

13. जुअयारस्स वट्टमाण-जीवणेण सह भविस्स-भवो वि कट्टमयो होहिदि। असुहकम्माण गदी असुहा हि होहिदि। तिण्हा-आसा-णिरासाए पभंजणे जीवमाणो विसुद्धभावेहिं ण जीवेदि, सो संकिलेसदाए जीवणं जीवेदि तहा णवि परिसोहेदि दु चरम-सासपज्जंतं संकिलेस-भाव-सब्भावो होहिदि। संकिलेस-भावजुदो णरग-पसु-पहुदि-कुच्छिद-गदीओ हि लहेहिदि तहा छेदण-भेदण-मारण-ताडणादि-घोरदुहाइं भजेहिदि। अण्णो कोवि रक्खणं ण करेहिदि। तम्हा कुण णियप्पम्हि दयं तहा जय-पराजय-कीडं मुद्देहि॥

13. जुआरी का वर्तमान जीवन तो कष्टमय है ही, परन्तु आने वाला भविष्य का भव भी कष्टमय ही होगा। अशुभ-कर्मों की गति अशुभ ही तो होगी। तृष्णा-आशा एवं निराशा की आँधी में जीनेवाला विशुद्ध-भावों से नहीं जीता, वह संक्लेशता में जीवन जीता है और नहीं सुधरा तो अंतिम श्वास तक संक्लेश-भाव का सद्भाव ही रहेगा। संक्लेश-परिणामों से भरा प्राणी नरक, पशु आदि खोटी गतियों को ही प्राप्त करेगा और छेदन, भेदन, मारन-ताड़नादि घोर-दुःखों को प्राप्त होगा। अन्य कोई भी रक्षा करने नहीं आएगा। इसलिए स्वात्मा पर दया करो और हार-जीत के खेल खेलना बंद करो।

---

14. सज्जणा हिदयारी-सिक्खणं अवस्समेव पवज्जेंति, ते सच्चत्थ-बोह-अवमाणं ण करेंति, अविदु किद-दोसाण णिंदा-गरिहा-आलोयणा-पायच्छित्तं च किच्चा आद-विसुद्धिं वड्ढित्ता, दोसं मुंचित्ता, णिद्दोसो होदूणं, धम्म-सक्किदीए बहुमाणं करंता पाववित्ति-रहिदो होदूणं, सेट्ठ-णागरिगो होदूणं, सग-जीवणं सच्छं किच्चा इहपरलोयं सुहमयं कुणंति॥

14. सज्जन लोग हितकारी-शिक्षा को अवश्य ही स्वीकार करते हैं, वे 'सत्यार्थ-बोध' का अपमान नहीं करते हैं, अपितु किए गए दोषों की निन्दा-गर्हा एवं आलोचना, प्रायश्चित्त कर आत्म-विशुद्धि को वर्धमान कर, दोष छोड़, निर्दोष होकर धर्म-संस्कृति का बहुमान करते हुए पाप-वृत्ति से रहित होकर, एक श्रेष्ठ-नागरिक बनकर स्वयं का स्वच्छ-जीवन कर इह-लोक और पर-लोक अर्थात् उभय-लोक को सुखमय कर लेते हैं।

---

15. एरिसं माणं मा कुण-अदु अहं जुअयारो पावी य हवेमि, अदु किंचणं ण हवेदि उण्णयणं किच्चा णरगं पडि गमणं तु णिच्छिदं। सव्वहा एरिसं चिंतणं मा कुण, असुहं मुंच, सुहकम्म-विसुद्धभावेहिं पावक्खयं किच्चा णिज्जरं पसज्जेहि। जह आदिच्च-तिव्व-तवणादो पंकं सूसेदि, तहेव तवचाग-साहणाए बद्ध-कम्माइं पि पज्झरंते, तम्हा कुण पावचागं पसत्थभावं भावीभवं उज्जलं च। पुण्णापुण्णाइं जीवपरिणामेसुं आलंबिदाइं, णेव अवरो भिण्ण-कत्तासुं, तम्हा सुदिढत्तादो मुंच मुंच असुहकम्मं, कुण कुण कुण सुहकम्मं च॥

15. ऐसा मान-अहंकार नहीं करना कि अब तो मैं जुआरी-पापी हो ही गया हूँ अब कुछ नहीं हो सकता, सुधार करके नरक तो जाना ही पड़ेगा। सर्वथा ऐसा मत सोचो, अशुभ छोड़ो, शुभ-कर्म विशुद्ध-भावों से पाप-क्षय कर निर्जरा को प्राप्त करो। जैसे सूर्य की तीव्र-तपन से कीचड़ सूखने लगती है, उसी प्रकार तप-त्याग की साधना से बन्ध को प्राप्त कर्म भी झर जाते हैं, इसलिए पापों का त्याग करो, भाव प्रशस्त करो और आगामी

भव को उज्ज्वल करो। पुण्य-पाप जीव के परिणामों पर आलम्बित है, अन्य किसी भिन्न कर्ता पर आलम्बित नहीं है, इसलिए सुदृढ़तापूर्वक अशुभ-कर्म छोड़ो-छोड़ो, शुभ-कर्म करो-करो-करो।

---

16. मूढो परिग्गह-सण्णा-लोहकसाय-ममत्तपरिणाम-रागद्दोस-वसादो जुअ-सरिस-दुव्विसणे अहिरमेदि। सत्त-विसण-राओ जुओ। जदि जुअयारो धणं जिणेदि दु मज्जं पिबेदि, मज्जेण खुदित्ता मंसं भुंजेदि। मज्ज-मंस-तामसिगत्तेण मज्जित्ता वेस्साविित्तं करेदि। वेस्साओ पसीदेदुं धणं होदव्वं, तम्हा चोरियं करेदि, असुह-किरिया-कम्मं करंतो उग्गो होदूणं णिरीह-मूग-पसूणं अहेडं करेदि। धणहीणेण वेस्सादो अवमाणिदे सदि अवर-इत्थीओ पडि धावेदि। अहो! जुअ-संसग्गेण सत्त-विसणेहिं पउंजिदं। होलिगा-दीवोस्सवे अहवा अवर-विवाहादि-उस्सवे अहिरुईए वि जुअकीडं मा कुणेहि॥

---

16. अज्ञ प्राणी परिग्रह-संज्ञा, लोभ-कषाय, ममत्व-परिणाम, राग-बुद्धि के वश जुआ जैसे दुर्व्यसन में संलग्न हो जाता है। सातों ही व्यसनों का राजा जुआ है। यदि जुआरी धन जीत भी गया तो मदिरा पीता है, मद्य से क्षुदित मांस खाता है। शराब और मांस की तामसिकता से उन्मत्त हुआ वेश्यावृत्ति करता है। वेश्याओं को खुश करने के लिए धन चाहिए, इसलिए चोरी करता है, अशुभ क्रिया-कर्म करते-करते उग्र हो निरीह मूक-प्राणियों का शिकार करता है। धन-हीन हो वेश्याओं से अपमानित होने पर अन्य स्त्रियों की ओर दौड़ता है। अहो! एक जुआ के संसर्ग ने सातों के सात व्यसनों से जोड़ दिया। चाहे होली हो या दीवाली अथवा अन्य कोई भी विवाह आदि उत्सव, परन्तु शौक-शौक में भी जुआ नहीं खेलना।

मंस-विसणं

(मांस-व्यसन)

17. हे माणव! मंसं ण पव्वदेसुं फलेदि, ण रुक्खेसुं, ण आयासे, णेव पुढवीए अंकुरेदि। मंसं फल-पुप्फाइं णत्थि, णेव धण्णं रसं खणिय-रसायणं च, तं तु जीव-कलेवरं। पसु-आदि-घादं विणा मंसुप्पत्ती णवि होदि। मंस-भक्खगा कदावि दयावंत-माणवा ण होंति, णवरि जेसिं चित्तं कूरदाए संजुत्तं, ते हु मंसं भुंजंति। जो जीववहादो उप्पण्ण-मंस-भक्खणस्स उवएस-आएसं च करेदि तहा णिसेहं ण करेदि, सो देवो परमप्पा ईसरो धम्मोवएसगो गुरू धम्मप्पा महप्पा य णत्थि। जेसुं गंथेसुं जीव-कलेवर-भक्खणं आहार-सण्णा भणिदं, सो धम्मगंथो हु णत्थि। जत्थ दया-करुणा-अहिंसा-कहणं, परोप्परे जीव-रक्खा-कहणं अत्थि; मेत्तं सो हि सच्चत्थ-बोहदायग-उवएसगो, सो हि तच्चपरूवगो सच्चत्थ-बोहगो धम्मगंथो त्ति॥

17. हे मानव! मांस न पर्वतों पर फलित होता है, न वृक्षों पर, न आकाश में, न पृथ्वी पर अंकुरित होता है। मांस फल-फूल नहीं, न धान्य, न रस, न खनिज-रसायन, वह तो प्राणियों का कलेवर है। पशु आदि की हत्या के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं होती। मांस भक्षी कभी भी दयावान मानव संज्ञा को प्राप्त नहीं होते,

क्योंकि जिनका हृदय क्रूरता से ओत-प्रोत है वे ही मांस खाते हैं। वह देव नहीं, परमात्मा नहीं, ईश्वर-भगवान् नहीं, धर्मोपदेशक नहीं, गुरु नहीं, धर्मात्मा-महात्मा नहीं जो जीव-वध से उत्पन्न मांस खाने का उपदेश या आदेश करे और निषेध न करे। वह धर्म-ग्रंथ ही नहीं जिनमें जीव के कलेवर खाने को आहार-संज्ञा दी हो। जहाँ दया-करुणा-अहिंसा की बात की गई हो, परस्पर जीवों की रक्षा की बात की जाती है, एकमात्र वही सत्यार्थ-बोध देने वाले उपदेशक हैं, वही तत्त्वप्ररूपक सत्यार्थ-बोधक धर्मग्रंथ है।

---

18. जदि कोवि धम्म-णामे मंस-सेवणं किच्चा भासेदि-अयं तु मे धम्मो, अभक्खदव्वसेवण-आएसं कुणदु; सो सुधम्मो णत्थि। धम्मो दु सदा सुद्ध-सागाहार-पेरणं देदि। णिरीह-मूग-जीवाणं हिंसिय सगोदर-पोसणं माणवधम्मो णत्थि। माणवदा-सुण्णा णिसायरी-रक्खसीवित्ती पसुवित्ती। माणवो दु परमप्प-आयारवंतो त्थि, जावदिया महापुरिसा परमप्पा जादा, ते सव्वे माणवगदीए माणवदेहादो जादा। अहो णर! सगदेहायारं तु पस्स, जस्स पवित्तदेहस्स आसएदूणं परमप्प-महप्पाणा अहिंसा-परमबंभस्स उवएसं दिंतीअ तहा सयं पहुदा-सिद्धिं भजीअ, तं देहं लहिय जो पुढवीमादु-अंक-पुत्ता मारित्ता सगोदरं पोसंति; तत्तो पावित्तो मंसपरिपुण्ण-उदरो भासेदि-अस्स फलं अदु भविस्से तुज्झ सरीरादो णरयोदरो परिपूरिस्सदि। णरयगदीए तुज्झ देहस्स खडं खडं किच्चा णारया तुज्झ मुहे खिवेहिंति। सिरिराम-सिरि-किण्ह-भगवंमहावीरस्स य भूमिं जं दुद्ध-घिद-सुवासिदं आसी, ताए पवित्त-भूमीए वट्टमाणे जीवा पयडरूवे मूग-जीव-वहं करेंति॥

18. यदि कोई धर्म के नाम पर मांस-सेवन कर कहे कि यह तो मेरा धर्म है, अभक्ष्य-हिंसक द्रव्य सेवन का आदेश करे, वह सुधर्म नहीं। धर्म तो सदा शुद्धाहार-शाकाहार की ही प्रेरणा देता है। निरीह, मूक-प्राणियों का वध करके अपना पेट भरना मानव-धर्म नहीं। मानवता-शून्य, निशाचरी, राक्षसी-वृत्ति पशुवृत्ति है। मानव तो परमात्मा के आकार का है; जितने महापुरुष परमात्मा हुए हैं वे सब मनुष्यगति में, मनुष्य देह से हुए हैं। अहो नरो! अपनी देह के आकार को तो देखो, जिस पवित्र-देह का आश्रय पाकर परमात्मा महात्माओं ने अहिंसा परमब्रह्म का उपदेश दिया तथा स्वयं भगवत्ता की सिद्धि की, उस देह को पाकर जो पृथ्वी माँ की गोद के लालों को मारकर अपना उदर भर रहे हैं उन पापियों से मांस भरा उदर कह रहा है कि इसका फल अब भविष्य में आपके शरीर से नरक का उदर भरेगा। नरक-गति में तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर नारकी तुम्हारे ही मुख में डालेंगे। श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान् महावीर स्वामी की भूमि जो दुग्ध-घृत से सुवासित थी उस पवित्र भूमि पर वर्तमान में लोग खुलेआम मूक प्राणियों का वध कर रहे हैं।

---

19. अहो! अहो! दुग्गदि-णाणं सासण-भयो वि णत्थि। सो सासगो सासगो णत्थि जो भुंजेदि मंसं। पुढवी रुवेदूणं अस्सुपादं करेदि, तेण दु कदा भूयालरूवे कदा अकालरूवे कदा अदिविट्ठिरूवे अस्सुं देदि। जदा दुट्ठ-णराधमा ण मण्णंते दु पुढवी-मादू पयडिं रुट्ठेदूणं कोविदूणं च घादगेसुं अहिद्दवेदि॥

19. अहो! अहो! दुर्गति का भान नहीं, शासन का भय नहीं। वह शासक, शासक ही नहीं जो मांस

खाए। पृथ्वी रो-रोकर अश्रुपात कर रही है, उसी का परिणाम है कि कभी भूचाल के रूप में, कभी अकाल के रूप में, कभी अतिवृष्टि के आँसू डाल रही है। जब नहीं मानते ये दुष्ट नर-अधम; तो पृथ्वी-माँ प्रकृति को रुष्ट कर कुपित हो हत्यारों पर कहर ढाती है।

---

20. माणवदाए कलंकभूदो मंसभोजी मच्छ-अज-कुक्कुड-कुक्कुडी-सप्प-साण-सुअर-धेणु-विसह-महिस-उट्ठ-णरभूण-मूसग-पिवीलिगा-जीवा वि भुंजेदि। एरिसादो महापावी-णरादो महामारी-कोरोणाए पयडी मूग-जवाणं वहस्स पडियारं लेदि॥

20. मानवता के नाम पर कलंकित मांस-भोजी, जिन्होंने मछली, बकरे, मुर्गा-मुर्गी, साँप, कुत्ते, सुअर, गाय-बैल, भैंस, ऊँट; इतना ही नहीं ओहो! नर-भ्रूण भी खा डाले, चूहे, चींटा तक को नहीं छोड़ा। ऐसे महापापी नरों से महामारी कोरोना के द्वारा प्रकृति मूक-प्राणियों के वध का बदला ले रही है।

---

21. जदि कोवि भासेदि वयं काग-सुअरजीवं ण भुंजेमो, किण्णु इमा कावि दया णत्थि, णवरि अज-धेणु-भुंजणं पि अमाणवत्तं अत्थि। मूढा जीवाणं भुंजित्ता भासेंति-वयं पुढवी-संतुलणं करेंति, इदं घोरमूढत्तं। अहो माणव! सगीय-भाव-संतुलणं कुव्वेहि, लोयस्स संतुलणं सयं हि संतुलिदं अत्थि। सव्वे जीवा सगीय-सगीय-आउं आवहंति तहा आउं पुण्णं किच्चा गच्छेंति। पत्तेग-जीवस्स आऊ णियदो, मा कुण चिंतं पुढवी-संतुलणस्स। रसणा-पुट्ठीए पुढवी-संतुलणासयं मा गेण्हेहि, अविदु 'जीवेहि जीवावेहि य' इदं गीदं देहि। कुणेहि कोडि-कोडि-जण्ण-उववासो य जदि एगजीव-रक्खणं पि कुज्जा दु तं वरं। जीवरक्खणं हि वरधम्मो। जीववहं किच्चा कारित्ता मंस-भक्खणं पावमेव। वहं सयं कुणेहि अण्णेण कारेहि कारिदस्स अणुमोदेहि, तुज्झ जव-तव-उववास-जण्ण-पूया-पाढ-तंत-मंत-आराहणा विहा; संसार-भमण-कारणमेव अत्थि। णो अण्णेण सगबुद्धीए चिंतेहि-परं पीडित्ता को होदि सुही?

21. यदि कोई कहे हम कौआ, सुअर नहीं खाते, पर यह कोई दया नहीं; क्योंकि बकरे, गाय को खाना भी मानवता नहीं। अज्ञ-प्राणी जीवों को खाकर कहते हैं कि—हम पृथ्वी का सन्तुलन बना रहे हैं, यह घोर मूढ़ता है। अहो मानव! अपने भावों का सन्तुलन बनाओ, लोक का सन्तुलन स्वयं में सन्तुलित ही है। सभी प्राणी अपनी-अपनी आयु लेकर आते हैं और आयु पूर्ण कर चले जाते हैं। प्रत्येक जीव की आयु नियत है, मत करो आप चिन्ता पृथ्वी के सन्तुलन की। रसना की पुष्टि के लिए पृथ्वी-सन्तुलन का सहारा मत लो, अपितु 'जिओ ओर जीने दो' का नारा दो। चाहे करो कोटि-कोटि यज्ञ या उपवास, पर यदि एक जीव की रक्षा भी कर ली तो वह श्रेष्ठ है। जीव-रक्षा ही श्रेष्ठ धर्म है। जीव का वध करके, कराके मांस खाना पाप ही है। चाहे वध स्वयं करो, चाहे अन्य से कराओ या करने वाले की अनुमोदना करो, पर तुम्हारा जप-तप, उपवास, यज्ञ, पूजा-पाठ, तंत्र-मंत्र की आराधना व्यर्थ है, संसार-भ्रमण का ही कारण है। अन्य कुछ नहीं; एक बार स्वबुद्धि से विचार करो कि पर को पीड़ा देकर कौन सुखी हो सकता है?

---

22. हे माणव! किंचिवि माणवदा दया य सग-हिदयट्ठाणे सेसा दु अवस्सं चिंतेहि, अज्ज तुमं जंतूणो मारिय भुंजेहिसि कम्म-देव-भग्ग-विही वि तुवं ण रक्खेहिसि, णवरि पयडि-णायो सच्चं होदि। अहुणा हि अयं भमो णस्सेज्जा-वयं किंचणं पि अणत्थं करेमो तहा मज्झाणं पहु-गुरु-धम्मट्ठाणे मज्झाणं पावाइं णस्सेहिदि, अयं सव्वो भमो। सच्चत्थबोहं लहेहि। जह कम्मं वट्टमाणे करेहिसि तस्स फलं सयमेव भविस्से तुवं हि भुंजेहिसि, अण्णो कोवि कस्सचिदवि सुहदुह-कत्ताहत्ता णत्थि णत्थि। अट्ठाए सच्चं पि मुणेहि॥

22. हे मानव! किञ्चित् भी मानवता, दया स्व-हृदय के कोने में कहीं शेष रखी हो तो अवश्य चिंतन करें, आज तुम जंतुओं को मार-मार कर खाओगे तो कर्म-दैव-भाग्य-विधि भी आपको नहीं बचाएगी, क्योंकि प्रकृति का न्याय सत्य होता है। इस भ्रम को मिटा लेना अभी कि हम कुछ भी अनर्थ करते रहें और हमारा प्रभु-गुरु धर्मस्थान हमारे पापों को समाप्त कर देगा, यह सब भ्रम है। सत्यार्थ-बोध को प्राप्त करो। सत्य तो यही है कि जैसा कर्म वर्तमान में करोगे उसका फल स्वयं ही भविष्य में तुम्हें भोगना पड़ेगा, अन्य कोई भी किसी के सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता नहीं है, नहीं है। आस्था के सत्य को भी समझो।

---

23. पुज्ज-णिमित्तं पि जीववहं णवि कादव्वं, सो पुज्जो कहं पुज्जो जो जीवाणं रत्त-पिवासू होदु? जो जीव-घादं कारेदि सो णो देवो। देवस्स सच्चत्थ-सरूवं जाणेज्जा। देवाधिदेव-देव-कुदेव-अदेवा खलु मंसं ण भुंजेंति, जाणेहि सच्चं॥

23. पूज्य के निमित्त भी जीवों का वध नहीं करना चाहिए, वह पूज्य पूज्य कैसा जो जीवों के रक्त का प्यासा हो? वह देव नहीं जो जीवों का घात कराए। देव के यथार्थ स्वरूप को समझना चाहिए। देवाधिदेव, देव, कुदेव या अदेव, ये चारों ही देव मांस नहीं खाते, सत्य को समझो।

---

24. पढमा देवा देवाहिदेवा, एदे सव्वण्हू वीदरागी हिदोवएसी केवल्लणाण-संपण्णा अरहंत-देवा, इमेसिं मंस-भक्खण-वियप्पो किंचिवि णत्थि, अविदु सव्वण्हु-देवस्स कवलाहारो हि णत्थि; णवरि अरिहंतस्स खुहा-रोगो हि समत्तेदि। जस्स खलु भोयण-अभावो पुणो मंससेवण-पसंगो हि णत्थि॥

24. प्रथम देव हैं—देवाधिदेव; ये सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी, कैवल्यज्ञान सम्पन्न अरहन्त देव हैं, इनका मांस खाने का तो विकल्प ही छोड़ो, अपितु सर्वज्ञदेव का तो कवलाहार (ग्रास) ही नहीं होता, क्योंकि इनका क्षुधा रोग समाप्त हो चुका है। जिनके भोजन का ही अभाव है, तो फिर मांस-सेवन का तो प्रसंग ही नहीं।

---

25. विदीया देवगदीए देवा। ते अमिद-भोजी होंति। जदा ता भोयणेच्छा होदि, दु ते भोयण-चिंतणं करेंति, तदा तेसिं हि कंठदो अमिदं झरेदि, जेण तेसिं खुहा-णासो होदि। अमिदाहारी-देवा सडण-गलण-मल-मुत्त-रत्त-पीवजुत्त-माणव-पसु-पक्खीणं दुग्गंधिदमंसस्स सेवणं किमु

करिस्संति? सयं विवेगदो चिंतेहि। कुच्छिद-विगराल-रूवधारी-भूदविंतरादि-कुदेवाणं पि मूलरूवो सुंदरो हि होदि॥

25. दूसरे हैं, देव-गति के देव। वे अमृत-भोजी होते हैं। जब उन्हें भूख लगती है, तो वे भोजन का चिंतन करते हैं, तब उनके ही कंठ से अमृत झरता है, जिससे उनकी क्षुधा का नाश होता है। अमृत-आहारी देव सड़े-गले, मल-मूत्र-रक्त, पीव युक्त मनुष्य या पशु-पक्षियों के दुर्गन्धित मांस का सेवन क्यों करेंगे? स्वयं विवेक पूर्वक विचार करो। जो कुत्सित, विकराल रूपधारी भूत-व्यन्तरादि कुदेव हैं, उनका भी मूल रूप सुन्दर ही होता है।

---

26. तिदीया भूद-विंतरादि-देवा वि मंसाहारी ण होंति, ते वि अमिद-भोजी होंति। ते वि कोदुहल-वसादो लोगं भयभीदत्थं विकिरिया-मेत्तं भावेंति, किण्णु कस्सचिदवि मंसरत्त-सेवणं कोवि देवो ण करेदि तहा णेव करिज्जेदि॥

26. तीसरे, भूत-व्यन्तरादि देव भी मांसाहारी नहीं हैं, वे भी अमृत-भोजी हैं। वे भी कोतुहल-वश लोक को भयभीत करने हेतु विक्रिया मात्र दिखाते हैं, पर किसी के मांस-रक्त का सेवन कोई भी देव नहीं करता है और न ही कर सकता है।

---

27. चउत्था देवा अदेवा, जा जीवा लोए वणप्फदि-पहुदिं मण्णंते। अणेग-जीवा णीमादि-रुक्खा देवा मण्णिय उवासंते, किण्णु सो पज्जायम्हि वणप्फदिकायिग-एगिंदिय-जीवो त्थि, सो णो देवो अदेवो त्थि। दव्वणिक्खेवेण भविस्स-भूद-पज्जायं वट्टमाणे कहणं दव्व-णिक्खेव-विसयो, सो जीवो भूदे देवो हवीअ वा भविस्से देवो हविस्सदि पुणो वि तं वट्टमाणे देवो भासणं। अवर-अवेक्खा दव्वत्थिग-णयस्स, सुद्ध-दव्वदिट्ठीए सयलजीवा सिद्ध-परमप्पा, सयल-णियल-परमप्पा। कीएचिदवि दिट्ठीए देवम्हि मंसभक्खण-सुरापाण-अहिलासा ण संघडेदि। देवणामेण मूढा सरलजीवा विब्भमेंति। देवो बलिं इच्छेदि, एरिसं णत्थि, अविदु सगोदर-पुट्ठीए देवणामेण जीववहं किच्चा मंसं भुंजंति। देवा कदावि मंसं ण भुंजेंति, तम्हा देवणामेण वि जीववहं ण कुणेहि तहा कुदेव-कोदुहलादो पहाविय वि जीवहिंसाभावं ण कुणेहि। पुण्णपावस्स महिमा, ण कोवि लच्छिं देदि णेव कोवि कुणदि उवयारं। उवयार-अवयारा जीवस्स पुण्ण-पावोदयादो होदि। देवणामेण जीववहं कुणेहि, पुणो तं पसादं मण्णिय भुंजेहिसि दु इमत्तो णूणं पावकम्मासव-बंधो य होहिदि। किं अवरस्स हिंसा-वहादो होदि पुण्णं? सयमेव सगपण्णाए विचिंतेहि। किं अवरस्स हिंसा धम्मपुण्णकज्जं होदि? पुणो दयाकरुणा-अभयदाणं अहिंसा परमो धम्मो, इदं कहणं विहा होस्सदि तहा जीव-रक्खगो णरयं गच्छेहिदि तहा हिंसगो मंससेवी य सग्गं गच्छेहिदि। एरिसो कदावि ण होदि। मंसभक्खगो णवि गच्छेदि सग्ग-मोक्खं; जावं चत्तिय पायच्छित्तं ण गेण्हेदि तावं सो धम्मे ण होदि उवट्ठिदो। मायावीणं मायाजाले मा विमोहेहि, विचिंतेहि इदं॥

27. चौथा देव अदेव है, वह लोक में लोग वनस्पति आदि को मानते हैं, कई लोग नीमादि वृक्षों को देव मान करके उपासना करते हैं, परन्तु वह पर्याय में वनस्पति एकेन्द्रिय जीव है, वह देव नहीं अदेव है। हाँ,

द्रव्यनिक्षेप से भविष्य-भूत की पर्याय को वर्तमान में कहना द्रव्य-निक्षेप का विषय है, वह जीव भूत में देव हो अथवा भविष्य में देव बने, फिर भी उसे वर्तमान में देव कहना। दूसरी अपेक्षा द्रव्यार्थिक-नय की है, शुद्धद्रव्य-दृष्टि से सम्पूर्ण-जीव सिद्ध परमात्मा हैं, सकल व निकल परमात्मा हैं। किसी भी दृष्टि से देखें; तब भी देव के अन्दर मांस भक्षण, सुरा पान की अभिलाषा घटित नहीं होती। देव के नाम पर अज्ञ-प्राणी भोले-जीवों को भ्रमित कर रहे हैं। देव बलि चाहता है; ऐसा नहीं, अपितु स्व के उदर-पुष्टि हेतु देव के नाम पर जीव वध कर मांस खा रहे हैं। देव कभी भी मांस नहीं खाते, इसलिए देव के नाम पर भी जीव का वध न करें और कुदेवों के कोतुहल से प्रभावित होकर भी जीव-हिंसा के भाव न करें। पुण्य-पाप की महिमा है, न कोई किसी को लक्ष्मी देता है और न कोई उपकार करता है। उपकार-अपकार जीव के पुण्योदय-पापोदय से होता है। देव के नाम पर जीव वध कर, फिर उसे प्रसाद मानकर खाओगे, तो इससे निश्चित ही पाप कर्म का आस्रव-बंध होगा। क्या किसी की हिंसा से, वध से पुण्य हो सकता है? स्वयं ही स्व-प्रज्ञा से विचार करो। क्या किसी को मार देना धर्म-पुण्य का कार्य हो सकता है? फिर दया-करुणा करना, अभय-दान देना, अहिंसा-परम-धर्म ये सब बातें व्यर्थ हो जायेंगी तथा जीवरक्षा करने वाला नरक चला जाएगा तथा हिंसक मांस-सेवी स्वर्ग चला जाएगा। ऐसा कभी होता नहीं। मांस-भक्षी स्वर्ग-मोक्ष नहीं जाता, जब-तक त्याग करके प्रायश्चित्त नहीं कर लेता तब तक वह धर्म में उपस्थित नहीं होता है। समझो, मत फँसो मायावियों के मायाजाल में।

---

28. णणु जीवाणं सगं ण मारेज्जा, किण्णु इदरेण मारिदं तु किं हिंसा-दोसो? अरे मित्त! जाण, किद-कारिद-अणुमोदणादो पावबंधो होदि, जदि तुमं ण भुंजेसि दु तस्स हिंसा किमु होहिदि? तुमं मारेहि वा ण मारेहि जदि तुमं मंसं भुंजेसि दु हिंसाए पावबंधो णियमेण होहिदि। इदरेण हिंसाए मंसभक्खगं हिंसादोसो उवट्ठिदो, किण्णु जदि तं ण वयं मारीअ णेव इदरेण मारीअ, सयं पसु-पक्खि-पहुदि-जीवा सयमेव मरेज्जा तदा दु तस्स मंस-भक्खणे हिंसा पावं णत्थि?

28. एक प्रश्न है! स्वयं नहीं मारोगे प्राणियों को, पर दूसरे ने मारा हो तो क्या हमें हिंसा का दोष लगेगा? अरे मित्र? समझो, कृत-कारित-अनुमोदना से पाप का बंध होता है, यदि आप न खाएँ तो वह क्यों मारे? चाहे आप मारें या न मारें, यदि आप मांस खाते हैं तो हिंसा के पाप का बंध नियम से होगा। यह तो समझ में आ गया है कि—दूसरे के मारने पर मांस-सेवी को हिंसा का दोष लगेगा, पर एक बात और है, वह यह है कि न हमने स्वयं मारा, न दूसरे ने मारा, परन्तु पशु, पक्षी आदि स्वयं ही मर जाएँ तब तो उसके मांस खाने में हिंसा पाप नहीं लगेगा?

---

29. अरे भाउ! तुमं पुण्णसरलो त्ति; जदि जीवा सयमेव सगीअ-आउं पुण्णं किच्चा मरेदि, तदा वि मंसं ण भुंजदे, सो वि हिंसा पावमय-किरिया एव। मंसं मद-दप्पकारणं, तम्हि मिदगजादीए हि सम्मुच्छणजीवा पडिक्खणं जायंते तहा मरंते, तं पि जीवपिंडं अभक्खं अत्थि। सग-मिद-पसु-पक्खि-मंस-सेवणं करिज्जंते, जेहिं इणं उवएसिदं, ते पेक्खावंता णत्थि। ओहो! एरिसेण उवएसगाणं-उवएसेण अणत्थं जादं, तेसिं भत्तेण पसूणं पव्वदादो णिहोडिदं, पडित्ता मरीअ थंभेण बंधित्ता मुंचीअ पुणो सो मरीअ दु भुंजीअ। कूरदा-सीमं हि भंजेज्जा। जदा दया-उवएसदाणं पयारो त्थि, पुणो इमा कूरदा कहं?

29. अरे भाई! तुम पूरे भोले-प्राणी हो; यदि जीव स्वयं भी अपनी आयु पूर्ण करके मरा है, तब भी मांस नहीं खा सकते, वह भी हिंसा पापमय क्रिया ही है। मद या दर्प का कारण जो मांस है उसमें मृतक-जाति के ही सम्मूर्च्छन जीव प्रतिक्षण उत्पन्न हो रहे हैं और मर रहे हैं, वह भी जीवों का पिण्ड है, खाने योग्य नहीं है। जिन्होंने यह उपदेश दिया है कि स्व मृतक पशु-पक्षी के मांस का सेवन कर सकते हैं, वे प्रेक्षावान पुरुष नहीं थे। ओहो! ऐसे उपदेशकों के उपदेश से अनर्थ हो गया, उनके भक्तों ने पशुओं को पर्वत से गिरा दिया, गिर कर मर गए या खूँटे से बाँधकर छोड़ दिया, मर गया तो खा लिया। क्रूरता की सीमा ही तोड़ दी। जब दया का उपदेश देने का प्रचार है, फिर यह क्रूरता कैसी?

---

30. जदि कोवि भासेदि-अणले उण्हे पक्के दु मंसं भुजिज्जंते, तं तु फासुगं। णेव। अरे पावी! मंसं किंपि रुक्खफलं णत्थि, जं तुमं पचित्ता भक्ख-फासुगं इच्छेसि। मंसं अपक्कं पक्कं वा होदु दोसु अवत्थासु हिंसाजण्ण-कम्मं। दोसु मंसेसु पडिक्खणं णव-णव-अवर जीवुप्पत्ती होदि। पक्क-अपक्कं च मंसं तदेव पसज्जेहिदि जदा मूग-जीवाणं घादो होहिदि। जीवहिंसं विणा मंसुप्पत्ती ण होहिदि, तम्हा किंपि मंसं भक्खणजोग्गं णत्थि। रसणा-इंदियम्हि णियंतेहि, जादिपंथ-संपदाय-णामोच्चारणेण हिंसा धम्मो ण होदि, णेव तुवं पावकम्माइं मुंचेंति। राओ वि अवराहं करेदि दु तस्स वि णाओ होदि, तं पि दंडं गेण्हेहिदि एवं हिंसाकम्मेण तुमं लद्धमंसं धम्मणामेण सेवेहि वा सगीय-संपदाय-णायग-कहणेण कुणेहि; किण्णु पावबंधो णूणं होहिदि तहा दुग्गदि-दंडं पि भजेहिसि, इमम्हि संकं मा कुण। ण सिस्सो रक्खेहिदि णेव गुरू पहू वा। हिंसाकम्म-फलं हि भुंजेहिदि॥

30. यदि कोई यह कहे कि—अग्नि पर गर्म करने या पकाने पर तो मांस खा सकते हैं, वह प्रासुक हो गया। नहीं। अरे पापियो! मांस कोई वृक्ष का फल नहीं है जिसे तुम पकाकर भक्ष्य-प्रासुक बनाना चाहते हो। मांस चाहे कच्चा हो, चाहे पका हो दोनों ही अवस्थाओं में हिंसा जन्य कर्म है। दोनों ही मांसों में प्रतिक्षण नवीन-नवीन अन्य जीवों की उत्पत्ति हो रही है। मूल बात तो यही है कि कच्चा या पक्का मांस प्राप्त तो तभी होगा जब मूक-प्राणियों का घात होगा। बिना जीव-हिंसा के मांस की उत्पत्ति नहीं होगी, इसलिए कोई भी मांस खाने योग्य नहीं है। रसना-इन्द्रिय पर नियंत्रण रखो, जाति-पंथ-सम्प्रदाय का नाम लेने से हिंसा धर्म नहीं हो सकता, न आपको पाप-कर्म छोड़ सकते। राजा भी अपराध करता है, तो उसका भी न्याय होता है, उसे भी दण्ड स्वीकारना पड़ेगा, इसी प्रकार से हिंसा कर्म से प्राप्त मांस चाहे तुम धर्म के नाम से सेवन करो या अपने सम्प्रदाय के मुखिया के कहने से करो, पर पाप का बंध होगा ही होगा और दुर्गति का दण्ड मिलेगा, इसमें कोई शंका मत करना। न शिष्य बचा पाएगा, न गुरु, न प्रभु। हिंसा-कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा।

---

31. संसारे दुविहा पावीजीवा, वक्कबुद्धि-वंता सरलबुद्धिवंता अण्णाणी य। अण्णाणी दु दोण्णि एव, वक्कबुद्धि-जडबुद्धि-जुत्ता, दुवे समया कुतक्का होंति, किण्णु दोण्हं कि कुतक्क-भासा-बोहो होदि जडदा-सारल्लादो भासेज्जा वा वक्कदा-मायाचारीदो भासेज्जा? उहयबुद्धी-जुत्त-मूढाणं कुतक्का होंति दु सागाहारीजीवा फलधण्णं च भुंजंते, ते वि दु जीवा संति तहा वयं मंसभुंजगा मंसं भुंजंति, पुणो दोसुं किं भेदो त्थि?

31. संसार में दो प्रकार के पापी-जीव हैं, वक्र-बुद्धि वाले और दूसरे सरल-बुद्धि वाले अज्ञानी। अज्ञानी तो दोनों ही हैं; वक्र-बुद्धि एवं जड़-बुद्धि युक्त, दोनों के पास कुतर्क होते हैं, परन्तु दोनों के ही कुतर्कों की भाषा से बोध हो जाता है कि जड़ता सरलता से बोल रहा है कि वक्रता मायाचारी से बोल रहा है? उभय-बुद्धि युक्त अज्ञों के कुतर्क होते हैं कि—शाकाहारी लोग फल-अनाज खाते हैं, वे भी तो जीव हैं और हम मांसाहारी मांस-खाते हैं, फिर दोनों में क्या भेद है?

---

32. एगो जीवो एरिसं सारल्लेण भासेदि-जधत्थे सो सच्चं ण जाणेदि तहा अवरो वक्कदाए भासेदि। एरिसेहिं जीवेहिं भासेज्जा-जदि वणप्फदीए धेणु-अजादीसुं तुवं एगत्तं दीसेसि, फल-साग-सरिसं जदि मंसादिं मणेसि दु पुणो सगीय-मादु-पिदु-देवया-गुरु-पहुदिं पि सामण्ण-रूवं एगभूदं पस्सेहि, ता किं भुंजेसि? किं भुंजेहिसि? अज्जपज्जंतं किं भुंजीअ? तुमं संबंधिणो भिण्णं मण्णेसि तहा धेणु-सुअरादिं भिण्णं पस्सेसि, संबंधिणो णवि भुंजेसि तहेव पसु-पक्खीणं पि णवि भुंजेज्जा। पसु-पक्खीओ वि काएचिद मादूए संताणा। फल-सागादि-वणप्फदी रिदुम्हि होंति, इमा लद्धीए रुक्खा णवि णस्सदे। एवं दयाकरुणावंता साहारण-वणप्फदिं ण भुंजंते, ते मेत्तं पत्तेग-अप्पदिट्ठिद-वणप्फदिं हि भुंजंते, जेण वणप्फदिकाइगजीवाणं पि कट्ठं ण जायदे। जह तुमं सगीय-णह-केसा य णिक्कासणे पीडा ण होदि, तहेव रुक्ख-लदादो फल-णिक्कासण-समए सजगदाए गेण्हदे अहवा सयमेव पदिद-फलाइं गहणे ताओ पीडा ण होंति। किण्णु मंसं घादं विणा, पीडं विणा य णवि लद्धिज्जदे। मंसं तु पसूणा हिंसित्तु तेसिं रत्तं पव्वाहित्तु हि लद्धिज्जदे। धण्णा धण्णा धण्णा धरणी-देवा वीदरागीसमणा जे जीवजंतूणा णवि हिंसंति तहा ते हरिदतिणम्हि वि पादक्खेवो ण करेंति। तेसिं दयाकरुणा या उत्तमा, तम्हा ते धरणीए भगवंता॥

32. एक व्यक्ति ऐसा भोलेपन से बोल रहा है; यथार्थ में वह सत्य को नहीं समझता है और दूसरा वक्रता से बोल रहा है। ऐसे लोगों से कहना है कि—यदि वनस्पति एवं गाय-बकरी आदि में तुम्हें एकता दिख रही है, फल-शाक की भाँति यदि मांसादि को मानते हैं, तो फिर अपने माता-पिता, देवता-गुरु आदि को भी तो सामान्य रूप एकभूत देखो, उन्हें खाते हो क्या? खाओगे क्या? आज तक खाया है क्या? तुम संबंधियों को भिन्न मानते हो और गाय-सुअरादि को भिन्न देखते हो, संबंधियों को नहीं खाते हो वैसे ही पशु-पक्षियों को नहीं खाना चाहिए। पशु-पक्षी भी किसी माँ की सन्तान हैं। फल-सब्जी आदि वनस्पति मौसम पर होती हैं, इन्हें प्राप्त करने के लिए वृक्षों को नष्ट नहीं किया जाता है। उसमें भी दयालु-करुणावान् लोग साधारण-वनस्पति नहीं खाते, वे मात्र प्रत्येक-अप्रतिष्ठित वनस्पति ही खाते हैं, जिससे वनस्पतिकायिक-जीव को भी कष्ट न हो। जैसे आपको अपने नख-बाल निकालने पर पीड़ा नहीं होती उसी प्रकार से वृक्षों एवं लताओं से फल निकालने पर अथवा स्वयं ही जमीन पर गिरने पर फलों को ग्रहण करने पर उन्हें पीड़ा नहीं देकर सावधानी से चुनकर लाया जा सकता है, परन्तु मांस बिना हत्या के, बिना पीड़ा पहुँचाए प्राप्त नहीं किया जा सकता। मांस तो जानवरों को मारकर उनका रक्त बहाकर ही प्राप्त किया जाता है। धन्य-धन्य-धन्य धरती के देवता, वीतरागी-श्रमण जो जीव-जन्तु तो दूर, वह घास पर भी पैर नहीं रखते हैं। उनकी दया-करुणा महान् है, इसलिए वे धरती पर भगवान् हैं।

---

33. जडत्त-वक्कत्त-अण्णाणत्त-चागं च कुणेहि, पसुपक्खीणो वि सग-संताण-बंधु व्व पेम्मं देहि, ते जीवा वि पुढवी-अंक-संताणा; तम्हा तुज्झ एव अणुय-बंधु व्व संति। पसुपक्खीणो वि कट्ठं होदि, तेसिं पि रक्खणं कुणेहि॥

33. जड़ता-वक्रता-अज्ञानता का त्याग करो, पशु-पक्षियों को भी स्व-सन्तान स्व-बंधु जैसा प्रेम दो, वे भी पृथ्वी की गोद के लाल हैं, इसलिए आपके ही भाई-बंधु समान हैं। उन्हें भी कष्ट होता है, उनकी भी रक्षा करो।

---

34. णाणा वणप्फदीओ कट्ठदाणावेक्खाए तहा णाणा लहुकाय-जंतूणो पीडादाणावेक्खाए, एगविसालकायवंत-महिस-उट्ठादि-जीवं हिंसिय भुंजेज्जा दु तेण अवर-जीव-रक्खणं होहिदि; एरिसं चिंतणं वि मूढमुद्धधीपुरिसं ण कुव्वेज्जा। एरिसं चिंतणं पि पावं। विचित्ते करुणं कादूणं एगघादो वि हिंसा, एगस्स रक्खाए अणेग-घादो वि हिंसा। भाउ! पंचिंदिय-विसालकायजीवघादो दु पावं, तस्स हिंसा-भावो वि घोर-पावं॥

34. कोई अल्प-मुग्ध-धी पुरुष ऐसा भी विचार न करे कि अनेक वनस्पति पौधों को कष्ट देने की अपेक्षा एवं अनेक छोटे-छोटे जंतुओं को पीड़ा देने की अपेक्षा; एक विशालकाय भैंसा-ऊँट आदि जानवर को मारकर खायेंगे तो उससे अन्य अनेकों जीवों की रक्षा हो जाएगी। ऐसा विचार भी पाप ही है। अनेक पर करुणा करके एक का घात करना भी हिंसा है, एक की रक्षा के लिए अनेकों का घात करना भी हिंसा है। भैया! पंचेन्द्रिय विशालकाय जीव की हत्या करना तो दूर, अपितु उसकी हिंसा का भाव करना भी घोर-पाप है।

---

35. सगीय-कुतक्क-तक्खणिं विट्ठुंभिय जग-हिदयर-अहिंसाजणणी-अंके चिट्ठित्तु महुरफलरस-धण्ण-घिद-दुद्ध-पाणं च कुव्व, रत्तमंससेवणं च मा कुव्व॥

35. अपनी कुतर्क-छैनी को विराम देकर जगत्-हितकारी अहिंसा-जननी की गोद में बैठकर मधुर फल-रस, अनाज, घृत-दुग्ध का पान करो, रक्त-मांस का सेवन मत करो।

---

36. दुद्ध-उप्पादणं पि हिंसगं; एरिसं मुणंता संकं करेंति-दुद्धं पि दु देहदो णिगच्छेदि, तं पि पसु-अंगं। तं तु अहिंसा-धम्मं मुणंता सेवेंति, तम्हि किं हिंसा-मंसभक्खण-दोसो णत्थि? समाहाणं-अहो अच्छेरं! तुमं पुण्ण-तच्चणाण-सच्चत्थबोह-सुण्णो त्थि, रत्तमंसं तु सरीरम्हि, इदं सच्चं। तत्तो देहं णिम्मिदं। जह मलमुत्त-गंथी देहे भिण्णा, तहेव दुद्धगंथी वि भिण्णा। जह पसु-मणुस्सणी-देहम्हि उप्पण्णं मुत्तं, ण दु रत्तं णेव मंसं अत्थि। देहे सदि वि देहकेसा ण रत्तं, णेव मंसं तहा कफ-सिलेसमादी वि भिण्णाइं तच्चाइं होंति, एवंविह दुद्धं भिण्णं तच्चं। गोरससेवणं महापुरिसेहिं पि किदं, किण्णु रत्तमंस-सेवणं ण किदं॥

36. दुग्ध को भी हिंसक मानने वाले कुछ लोग शंका करते हैं कि—दुग्ध भी तो शरीर से निकलता है वह भी पशु का अंग है। उसे तो आप अहिंसा-धर्म मानने वाले सेवन करते हैं, उसमें क्या हिंसा का दोष अथवा मांस खाने का दोष नहीं लगेगा? इसके लिए यह समाधान है कि—अहो आश्चर्य! आप लोग पूर्ण-तत्त्वज्ञान सत्यार्थ-बोध से शून्य हो, रक्त-मांस शरीर में है, यह सत्य है। उसी से शरीर निर्मित है। जैसे मल-मूत्र की ग्रन्थि शरीर में भिन्न है, उसी प्रकार दुग्ध की ग्रन्थि भिन्न है। जैसे पशु अथवा मनुष्यनी के शरीर में उत्पन्न मूत्र, न खून है, न मांस है। शरीर के अन्दर होने पर भी शरीर के बाल न रक्त हैं, न मांस और कफ-श्लेष्मादि भी भिन्न तत्त्व हैं, इसी प्रकार से दुग्ध भिन्न तत्त्व है। गो-रस अर्थात् दुग्ध-घृत आदि का सेवन महा-पुरुषों ने भी किया है, परन्तु रक्त एवं मांस का सेवन नहीं किया।

---

37. धेणु-महिसदुद्धं जदि ण णिस्सारेज्जा, दु ते कट्ठं भजेंति, ते रोगी होहिंति तहा जदि तेसिं वच्छो पुण्ण-दुद्धं पिबेहिदि दु सो वि रोगी होहिदि, तम्हा विवेगदो सगबुद्धि-पओगं कुणेहि। दुद्ध-दही-तक्क-घिदाइं च सत्थाणुसारेण मज्जादिदाइं, तेसिं सेवणं करिज्जंति, ते णो रत्तमंसं च। जह दुद्धं णो णिक्कासणे धेणु-महिसादिं कट्ठं होदि, तहेव रत्तमंसं च णो णिक्कासणे काचिदवि पसुजीवा कट्ठं ण होदि, अविदु तेसिं देहादो रत्तमंस- णिक्कासणे तेसिं पाणा हि विणिस्सरंति, रत्त-णिक्कासणे वि देहं होदि खीणं, एरिसं दुद्ध-णिक्कासणे णवि होदि॥

37. गाय-भैंस का दुग्ध नहीं निकाला जाएगा, तो वे कष्ट को प्राप्त होते हैं, वे अस्वस्थ हो जाएँगे और यदि उनका बछड़ा पूरा दूध पी लेगा तो वह भी बीमार हो जाएगा, इसलिए विवेकपूर्वक स्व-बुद्धि का प्रयोग करो। दुग्ध, दही, मट्ठा, घृत, शास्त्रानुसार मर्यादित हैं, उनका सेवन कर सकते हैं, वे रक्त-मांस नहीं हैं। जैसे दुग्ध नहीं निकालने पर गाय-भैंसादि को कष्ट होता है वैसे ही रक्त-मांस नहीं निकालने पर किसी भी जानवरों को कष्ट नहीं होता, अपितु उनके शरीर से रक्त-मांस के निकालने पर उनके प्राण ही जाते हैं, रक्त निकालने पर भी शरीर क्षीण होता है, ऐसा दुग्ध निकालने पर नहीं होता है।

---

38. दुद्धं रत्तमंसं च णत्थि, दुद्धं तु दुद्धमेव अत्थि, विवेगादो जाणेहि। दुद्धं गेज्झणीयं, रत्तमंसादिदव्वं काएचिदवि अवत्थाए गेज्झणीयं णत्थि। रोग-उवट्ठिदे सदि णिरामिस-वणप्फदि-धादु-रसायणमय-ओसहाणं हि सेवणीयं। पाणप्पियदाए सह अहिंसा-धम्मप्पियदा वि होदव्वा। सग-सुह-लद्धीए अवरं कट्ठदाणं, इदं ण दु धम्मिगत्तं णेव णेदिगत्तं च। सगपाण-रागे परपाण-घादं मा कुणेहि, ण कारेहि तहा णेव अणुमोदेहि॥

38. विवेकपूर्वक समझो, दुग्ध रक्त-मांस नहीं है, दुग्ध तो दुग्ध ही है। दुग्ध ग्रहण करने योग्य है, परन्तु रक्त, मांसादि किसी भी अवस्था में ग्रहण करने योग्य नहीं है। रोग होने पर निरामिष-वनस्पति, धातु-रसायनमय औषधियों का ही सेवन करना चाहिए। प्राण-प्रियता के साथ अहिंसा धर्म-प्रिय भी होना चाहिए। अपने सुख के पीछे दूसरे को

कष्ट देना यह न तो धार्मिकता ही है और न ही नैतिकता। स्व-प्राणों के राग में पर के प्राणों का घात मत करो, न कराओ और न ही अनुमोदना करो।

---

39. धेणु-महिसादि-वच्छाणं पुक्खलदुद्धं अवस्सं पिबेज्जा; अस्स विसेस-झादव्वं। जावं सो तण-पसुआहार-धण्णकणा ण भुंजेदि तावं तं दुद्धं पिबेज्जा, तेण सह दुव्ववहारं ण कादव्वं। मादू वच्छस्स अत्थि, पढमो अहिगारो वच्छस्सेव, पच्छा सामिस्स। पागिदिग-पकिरियाए हि दुद्धं णिज्जावेज्जा। करुणा-पुव्वगं दुद्धं णिज्जावेज्जा। एवं दुद्ध-सेवणं उवादेयं, किण्णु मंससेवणं सव्वहा हेयमेव॥

39. इतना विशेष ध्यातव्य विषय है कि गाय-भैंसादि के बछड़ों को पर्याप्त दुग्ध अवश्य पिलाया जाए। जब तक वह घास-चारा-दाना नहीं खाता तब-तब उसको दुग्ध पिलाया जावे, उसके साथ दुर्व्यवहार न किया जावे। माँ बछड़े की है, प्रथम अधिकार बछड़े का ही है, तदोपरान्त मालिक का। प्राकृतिक प्रक्रिया से ही दुग्ध निकाला जाय। करुणा पूर्वक दुग्ध निकालें। इस प्रकार दुग्ध सेवन उपादेय ही है, पर मांस सर्वथा हेय ही है।

मज्ज-विसणं

(मद्य-व्यसन)

40. मज्ज-मदिरा-वारुणी-सुरा-महु-आसव-दारू य एयत्थवायगा। दुज्जण-सज्जणाणं अहिणाणं पढमं भोयण-पाणेहिं होदि। महापुरिसा सदा हु सगीय-मण-भोयणं च पवित्तं करेंति। जस्स मणभोयणं च पवित्तं णत्थि तस्स जीवणं कदावि पवित्तं ण होदि, पुणो सो जीवणे महाणत्तं कहं लहेहिदि? उत्तम-महप्प-परमप्पपदं तु तस्स बहुदुल्लहं, सो सेट्ठ-माणवत्त-जुत्तो माणवो हि णत्थि। सेट्ठ-णरस्स सेट्ठत्तं मण-भोयण-सुद्धीए हि आलंबिदं॥

40. मद्य, मदिरा, शराब, दारू ये सब एकार्थवाचक हैं। दुर्जन हो या सज्जन दोनों की ही पहचान सर्वप्रथम खान-पान से ही होती है। महान्-पुरुष सदैव अपने मन एवं भोजन को पवित्र रखते हैं। जिसका मन एवं भोजन पवित्र नहीं है उसका जीवन कभी भी पवित्र नहीं हो सकता, फिर वह जीवन में महानता को कैसे प्राप्त कर पाएगा? महान्, महात्मा, परमात्मा होना तो उसके लिए बहुत दुर्लभ है, वह श्रेष्ठ मानवता युक्त मानव ही नहीं। श्रेष्ठ-नर की श्रेष्ठता, मन शुद्धि एवं भोजन-शुद्धि पर ही आलम्बित है।

---

41. जीवणे अवरेण पहाविदस्स पुव्विं तस्स मण-भोयण-भासणसुद्धि-णाणं कादव्वं। सामण्णजीवो होदु वा विसेसो णेदा-अहिणेदा-पंडिद-उवासग-साहु-सण्णासी-सोदा-वत्ता-कवि-कलायारा य होदु, तस्स मुह-उदर-मण-सुद्धीओ होदु तदेव तं गेण्हेहि, अण्णहा सगत्तो पुहं कुज्जा। कुलसुद्धी भोयण-पाण-सुद्धीए आलंबिदा॥

41. जीवन में किसी से प्रभावित होने के पूर्व उसके मन, भोजन एवं भाषण-शुद्धि का ज्ञान कर लेना। वह चाहे सामान्य व्यक्ति हो या विशेष नेता-अभिनेता, पंडित-पुजारी, साधु-सन्यासी, श्रोता-वक्ता, कवि-कलाकार हो, उसकी मुख-शुद्धि, उदर-शुद्धि, मनःशुद्धि हो तो ही उसे स्वीकारना, अन्यथा स्व से अन्तर डालकर चलना। कुल-शुद्धि जो है वह भोजन एवं पेय-शुद्धि पर ही निर्भर है।

---

42. जेसिं खज्ज-सज्ज-लेय-पेय-भोज्जपदत्थाइं विगिदाइं, तेसिं कुलं पि विगिदं जाणेहि तहा विगिदाणं संगदीए विगिदी हि आगमेहिदि। जह कोरोणा-रोगीणं सहवास-फासेण कुलक्खयो होदि, तहेव असुद्धभोयण-णीर-उवभोगिस्स सहवासेण धम्मधण-णीदिणाय-सच्चत्त-कुलजादिपवित्तत्तं च खएदि। साहुजणा तं कदावि ण पमाणेंति। देस-रट्ठ-धम्मरक्खणं सुद्धाहार-सुद्धविहार-सुद्धवियार-सुद्धायारेहिं चेव संभवं, अण्णो कोवि भिण्णो उवायो णत्थि॥

42. जिनके खाद्य-स्वाद्य, लेय-पेय विकृत हो चुके उनका कुल भी विकृत समझो और विकृतों की संगति से विकृति ही आएगी। जैसे कोरोना रोगियों के सहवास-स्पर्श से कुल क्षय हो जाता है वैसे ही अशुद्ध-भोजन-पानी सेवन करने वाले के सहवास से धर्म-धन, नीति-न्याय, सत्यता, कुल-जाति की पवित्रता ये सब क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। साधुजन उन्हें किसी भी अवस्था में स्वीकार नहीं कर पाते। देश-राष्ट्र धर्म की रक्षा शुद्धाहार, शुद्ध-विहार, शुद्ध-विचार एवं शुद्ध-आचार से ही सम्भव है, अन्य कोई भिन्न उपाय नहीं है।

---

43. वीसे बहु-अंसम्हि सगविसय-कसाय-विसण-भोगवादी-सक्किदीए पयारो देवधम्म-णामे विउलरूवेण जादो, जीवेहिं सगविगारा धम्म-सक्करापागे लिप्पिय परिवेसेदि, जहा मंसाहार-पुट्ठीए पसुबलि-पयारो। देव-तप्पणत्थं पसुबलीए सग्ग-मोक्खलाहो होहिदि, एवं असब्भ-असच्च-आगमविरुद्ध-भासणेण सगपरस्स संसार- वड्ढग-दुहवड्ढगजीवा लोए विउला॥

43. विश्व में बहुत-अंश में स्व-विषय-कषाय-व्यसन, भोगवादी-संस्कृति का प्रचार देव एवं धर्म के नाम पर बहुत हुआ है, लोगों ने स्व-विकारों को धर्म की चासनी में लपेटकर परोसा है, जैसे मांसाहार की पुष्टि के लिए पशुबलि का प्रचार। देवों को तर्पण करने के लिये पशुबलि से स्वर्ग-मोक्ष मिलेगा, इस प्रकार असभ्य, असत्य, आगम-विरुद्ध भाषण कर स्व-पर का संसार-वर्धन, दुःख बढ़ाने वाले लोग लोक में बहुत हैं।

---

44. अच्छेरं! सगं पडिबुद्ध-मुणमाणा जीवा अंधवीसासस्स असीम-गत्ते पडिवडंते तहा तं धम्मं मुणिय उम्मत्ता होंति। मज्जमिव दूसिद-दुग्गंधिद-वत्थूए अमिदभोजी देवा णंदिज्जंति। जेसिं पण्णं अविवेग-सिगाली भुंजीअ, एरिसा तच्चणाणसुण्ण-जीवा मज्जाचमणेण आदसुद्धिं मण्णंते, मज्जकुंडे ण्हादूणं पावक्खयं मण्णंते। धम्मट्ठाणेसुं पसादरूवे मज्ज-विदरणं करंते, घोर-अच्छेरं! एरिसाणं धम्मंधाणं अण्णाणदाए। कुओ-कुओ जीवा धम्म-देव-णामे सम्मद्दं संगहित्ता सयमेव मुहादो विचित्त-विचित्त-झुणिं उच्चारंतं अंगोवंगाइं चालित्तु मूढा भमे पडिवडिदूणं मज्जं पिबंति। ते मुहेण

भासंते-देवं मज्जं समप्पेहि तहा सयमेव पिबंति। इदं सामूहिग-मज्ज-विसणं पाव-कारणं एव। पाणं तहा फासणं पि पावं हिंसा। कोवि कोवि देवट्ठाणे मज्जपाणं किच्चा आकंदेदि अहिगज्जेदि रे भाउ! वरदाणं इच्छेहि। एरिसं अण्णाणत्तं जीवम्हि संपडि-काले वि अत्थि। णाणवंत-जीवा वि जदा अंधवीसासं पडि गच्छेहिंति दु अवर-जीवाणं किं होहिदि?

44. आश्चर्य होता है कि स्वयं को प्रतिबुद्ध समझने वाले लोग अन्ध-विश्वास के असीम गर्त में पड़ जाते हैं और उसे धर्म मानकर उन्मत्त हो रहे हैं। मदिरा जैसी सड़ी, बदबूदार वस्तु से अमृत-भोजी देवों को खुश करना चाहते हैं। जिनकी प्रज्ञा को अविवेक की स्यारिनी खा गई; ऐसे तत्त्वज्ञान-शून्य लोग शराब के अचमन से आत्म-शुद्धि मानते हैं, मद्य के कुण्ड में स्नान कर पाप-क्षय मानते हैं। धर्म-स्थानों पर प्रसाद के रूप में शराब वितरण कर रहे हैं, घोर आश्चर्य ऐसे धर्मान्धों की अज्ञानता पर। कहीं-कहीं लोग धर्म और देवता के नाम पर भीड़ संग्रह कर स्वयं ही मुख से विचित्र-विचित्र ध्वनि निकालते हुए अंग-उपांगों को हिलाहिलाकर अज्ञ-प्राणियों को भ्रम में डालकर मद्यपान करते हैं। मुख से कहते हैं कि—देवता को मदिरा अर्पण करो और स्वयं पी लेते हैं। यह सामूहिक शराब-व्यसन पाप का ही कारण है। पीना तो दूर, छूना भी पाप है, हिंसा है। कोई-कोई देव-स्थान पर मदिरा पान कर चीखता-चिल्लाता है कि—रे भाई! वरदान माँगो। ऐसी अज्ञानता लोगों के मध्य सम्प्रति-काल में भी है। पढ़े-लिखे लोग भी जब अन्धविश्वास की ओर जाएँगे तो अन्य जीवों का क्या होगा?

---

45. अहो मित्त! बुज्झेहि, सच्चत्थ-बोहं लहेहि। देवाणं अमिदपाणादो उत्तम-सुंदरं अण्णं किं होदि, किं तं अमिदं मुंचित्तु देवा मज्जं पिबेहिंति? इमादो देवाणं विसाल-मूढत्तं किं होहिदि? एगहुत्तं मज्जुप्पत्तीए चिंतेहि, फलपुप्फ-खज्जदव्वाणि कुत्थिदूणं गलिदूणं च मज्जुप्पादणं होदि, जम्हि कोडि-कोडि-जीवाणं हिंसा होदि। दक्ख-महुआ-गुड-जवा-इक्खु-खज्जूरादि-पदत्थेहिं मज्जुप्पादणं कीरदे। अहिंसाधम्म-पालगाणं सव्वविह-मदिरासेवणं णवि कुज्जा। उच्च-कुलुप्पण्ण-चिण्हं सुद्ध-दुद्धपाणं ण दु मज्ज-पाणं। कुलीण-पुरिसाणं सुद्ध-सिदोद-सीदपेय-सच्छ अम्मफलरस-पाणं च कुज्जा। जेण धण-धण्ण-जस-हाणी होदि, एरिसं मज्जादिं मुंचेज्जा। मज्ज-सरिसाइं अण्णाइं जाइं पि मोदग-पेयाइं, तेसिं जावज्जीवं चत्तेज्जा, जेण मुह-कुल-सुद्धि-रक्खणं होज्जा। मज्जपायी मदे सव्वं विसरेदि तहा पुणो सो कदा मादुं अंगणा भासेदि, दु कदा अंगणं मादू भासेदि; एवं सो पवित्त-संबंधाणं कलंकेदि॥

45. अहो मित्र! समझो, सत्यार्थ-बोध को प्राप्त करो। देवों को अमृत-पान से श्रेष्ठ सुन्दर भला अन्य क्या हो सकता है, क्या उस अमृत को छोड़कर देव शराब पियेंगे? इससे बड़ी देवों की मूढ़ता क्या होगी? एक बार मदिरा की उत्पत्ति पर तो विचार कर लो, फल-फूल, खाद्य-द्रव्यों को सड़ा-गलाकर मदिरा का उत्पादन होता है, जिसमें कोटि-कोटि जीवों की हिंसा होती है। अंगूर, महुआ, गुड़, जवा, गन्ना, खजूरादि पदार्थों से शराब का उत्पादन किया जाता है। अहिंसा-धर्म के पालकों को किसी भी प्रकार की मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए। उच्च कुलोत्पन्नों की पहचान मदिरा पीना नहीं, अपितु शुद्ध-दुग्ध पान करना है। कुलीन-पुरुषों को शुद्ध शरबत, ठंडाई, स्वच्छ आम्र-फलों के रसों का पान करना चाहिए। जिससे धन-धान्य, यश की हानि होती है ऐसी मदिरादि को छोड़ देना चाहिए। शराब जैसे अन्य जो भी नसीले पेय हैं उन सब का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग

कर देना चाहिए, जिससे मुख-शुद्धि, कुल-शुद्धि सुरक्षित रह सके। शराबी नशे में सब-कुछ भूल जाता है और फिर वह कभी माँ को पत्नी कहता है, तो कभी पत्नी को माँ कहता है, इस प्रकार वह पवित्र-संबंधों में कलंक लगाता रहता है।

---

46. मज्जपायिस्स विउल-दुद्दसा होदि, सो मदे णालीए पदिदेदि, मग्गे हि पवडेदि, तस्स मुहं साणा लिज्जंति तहा मुत्तं पि कुणंति। मज्जपायी-गेहे कदावि संती ण होदि, मज्जपायी सगीय-मादु-अंगणाए आभरण-मंगलसुत्तं चावि विक्किणेदि। धणवदी वि विसणेण रंको होदि। मज्जपायिम्हि पुत्त-अंगणा-मादु-पिदूणो वि वीसासं ण कुणंति। एग-मज्जपायिणा सयल-परिवारो अवसीदेदि दुही होदि य। संबंधिजणा वि मज्जपायी-गेहे आवागमणं ण अहिरुच्चंति॥

46. शराबी की बहुत दुर्दशा होती है, वह नशे में नाली में गिर पड़ता है, मार्ग पर ही पड़ा रहता है, उसके मुख को श्वान चाटते हैं तथा लघु-शंका भी कर देते हैं। शराबी के घर में कभी शान्ति नहीं होती है, मदिरा पान करने वाला अपनी माँ एवं पत्नी के आभूषण-मंगलसूत्र भी बेच देता है। धनपति भी व्यसन के कारण खाकपति हो जाता है। शराबी पर पुत्र-पत्नी, माता-पिता भी विश्वास नहीं करते हैं। एक शराबी के कारण पूरा-परिवार परेशान रहता है, दुःखी रहता है। संबंधी-जन भी शराबी के घर जाना पसंद नहीं करते हैं।

---

47. उच्चकुलीण-जीवा मदिरा-पाणं मदिरा-पत्त-फासणं चावि पावं मण्णंते। तुमं जीवणे सुहसंतिं इच्छंति जदि उहयलोगस्स सुहभावणा दु मज्जपाण-चागं मज्जपायी-संसग्गचागं च कुणेहि। तेसिं पत्ताणं णीरं चावि ण पिबेहि। इदिहासो सक्खी, मज्ज-मदेण दारावदि-णगरं णस्सीअ, रायकुमार-सहिद-सयलणगरवासिणो वि अणले जलिय मिच्चुं पसज्जीअ। हे मित्त! ण दु पत्तस्स मज्जं पिबेहि, णेव मोहस्स मज्जं पिबेहि॥

47. उच्च-कुलीन लोग शराब पीना तो दूर है, मदिरा के प्याले को स्पर्श करना भी पाप मानते हैं। आप जीवन में सुख-शान्ति चाहते हैं, उभय-लोक के सुख की भावना है तो शराब पीना ही नहीं शराब पीने वालों के साथ रहने का भी त्याग करो। उनके पात्रों का पानी भी नहीं पीना। इतिहास साक्षी है, शराब के नशे के कारण द्वारका नगर भस्म हो गया, राजकुमारों सहित सम्पूर्ण नगरवासी अग्नि में जलकर मृत्यु को प्राप्त हुए। हे मित्र! न बोतल की मदिरा पियो, न मोह की मदिरा पियो।

---

48. मेत्तं परमणायगसहावी-चेयण्णणाणघण-णियप्पपहुस्स सरणं भजेहि, तमेव लोए सव्वसेट्ठं सुंदरं च। णो अण्णं णेव अण्णहा। जावदिया जीवा अज्जपज्जंतं सिद्धा जादा, भविस्से होस्संति, वट्टमाणे विदेहखेत्तादो सिद्धा होंति, ते सव्वे णियणायग-सहावी-भगवदप्पस्स आलंबणेणेव होसी होंति वा। मादगदव्वाणि भावेसु मोहकसाय-मज्जं चत्तिय हि होसी। जदि तुमं सिद्धि-आकंखा दु उहयमदचागं कुणेहि॥

48. एकमात्र परम-ज्ञायक स्वभावी चैतन्य ज्ञान-घन निजात्म-प्रभु की शरण लो; वही लोक में सर्वश्रेष्ठ एवं सुन्दर है। अन्य नहीं, अन्यथा नहीं। जितने जीव आज तक सिद्ध हुए हैं, भविष्य काल में होंगे, वर्तमान में विदेहक्षेत्र से सिद्ध हो रहे हैं वे सब निज-ज्ञायक स्वभावी भगवान्-आत्मा के आलम्बन से ही हुए, हो रहे हैं। नशीले द्रव्यों की, परिणामों में मोह तथा कषाय-भावों की मदिरा का त्याग करके ही हुए हैं। यदि आपको भी सिद्धि चाहिए तो उभय-मद का त्याग करो।

वेस्सा-विसणं
(वेश्या-व्यसन)

49. जस्स सीलो पुण्णभंगो त्थि, जा णाणा-पुरिसा वासणापुत्तीए पदी कीरदि, जा धणत्थं सगीयदेहं समप्पेदि, जस्स एवमेव वावारो, एरिसा णगर-णार-वित्तइत्थी वेस्सा। अणेगेहिं दूसिद-इत्थि-संगं सज्जणासिविणे वि ण करंति। ते सगदेसे परदेसे वा सगीयविवाहिद- इत्थिं मुंचिदूणं संसारस्स अवर-इत्थीणं पुण्णरूवेण चएदूणं सदारसंतोसवदं पालित्ता सगीयसीलधम्मं रक्खेंति। ता इहपरलोयस्स दुक्खादो सदा होदि भयं॥

49. जिसका शील पूर्ण भंग है, अनेक पुरुषों को जो वासना पूर्ति हेतु पति बना चुकी है, धन के लिए जो अपने तन को सौंप चुकी है, जिसका यही व्यापार है, ऐसी नगर-नार, बाजारू नारी वेश्या कहलाती है। अनेकों से दूषित नारी का संग सज्जन-पुरुष स्वप्न में भी नहीं करते हैं। चाहे स्वदेश में हों, चाहे परदेश में, परन्तु अपनी विवाहित नारी को छोड़कर संसार की अन्य स्त्रियों का पूर्ण त्याग कर स्वदार-संतोष व्रत का पालन कर, अपने शील धर्म की रक्षा करते हैं। उन्हें इहलोक एवं परलोक के दुःखों से भय सदा रहता है।

---

50. वेस्सावित्तीए इह लोए अववादो तहा परलोए दुग्गदी होदि। वेस्सा-सेविस्स सग-अंगणा कदावि ण परितोसेदि, तस्स जीवणे दुक्ख-घडीओ हीयंति। वेस्सासेविं सग-संताण-समक्खे सिरं णामित्ता जीविज्जदे। तं सेट्ठजण-मज्झे कदावि सम्माणं ण भजेदि। जदा जदा सो पडिसामेदि, तदा तदा सो हीणभावणाए पीडिदो होदि॥

50. वेश्यावृत्ति से इस लोक में अपवाद तथा परलोक में दुर्गति होती है। वेश्या-सेवी की स्व-पत्नी कभी भी प्रसन्न नहीं रहती, उसके जीवन में दुःख की घड़ियाँ घटती रहती हैं। वेश्यासेवी को स्व-संतान के सामने सिर नीचा करके जीना पड़ता है। उसे श्रेष्ठ जनों के मध्य कभी भी सम्मान प्राप्त नहीं होता है। जब-जब वह शान्त बैठता है तब-तब वह अपने को हीन-भावना से पीड़ित पाता है।

---

51. मित्ताइं! वेस्साओ तणादो विउल-सुंदरी दीसंतु, किण्णु तेसिं मणो कदावि सुंदरो ण होदि। तेसिं पीदी पुरिसे णत्थि, अविदु पुरिस-धणे होदि। जावं पेम्मिगं समया धणं अत्थि तावं हि वेस्सा-पेम्मं अत्थि। धणहीणं वेस्सा तहेव मुंचेदि जहा इक्खुरसं णिगच्छावेदूणं आवणिगो मुंचेदि। वेस्सा

कम्हिचिदवि जीवम्हि णिच्चपीदी ण होदि, एगपुरिसस्स पच्छा सा झत्ति हु अवरपुरिसं कामेदि। वेस्साए पेम्मं ण होदि, सा मेत्तं वावारं करेदि। वेस्सा-सेवणेण अवदंसजणग-वाहि-सरिसा असज्झरोगा होंति, पुणो सो जीवो किलेसित्ता मरेदि॥

51. मित्रो! वेश्याएँ तन से कितनी भी सुन्दर दिखें, परन्तु उनका मन कभी सुन्दर नहीं होता। उनकी प्रीति पुरुष पर नहीं, अपितु पुरुष के धन पर होती है। जब तक प्रेमी के पास धन है तभी तक वेश्या का प्रेम है। धनहीन को वेश्या ऐसे छोड़ देती है जैसे गन्ने को रस निकालकर दुकानदार फेंक देता है। वेश्या की किसी भी व्यक्ति पर स्थाई प्रीति नहीं होती है, एक पुरुष के बाद वह शीघ्र ही दूसरे पुरुष को चाहती है। वेश्या का प्रेम नहीं होता, वह मात्र व्यापार करती है। वेश्या-सेवन से एड्स जैसे असाध्य रोग हो जाते हैं, फिर वह व्यक्ति घुट-घुट कर मरता है।

---

52. अहो अच्छेरं! अस्स वयणस्स णाणुवरंतं पि गिद्धदाजुदो विडो साणमिव पउत्तेदि। जह कंडुजुद-साणो कुक्करिं पिट्ठदो जिब्भं णेदूणं हिंडेदि तह कामीपुरिसो वेस्साणं भुंजिद-उच्छिट्ठ-तणत्थं हिंडेदि। वेस्सासेवी सगवंस-रिवू अत्थि, सो विहा एव सग-वीरियव्वयं करेदि। सोच्चिय जीवो जदि सदारसंतोसवदपालणं करेदि, सो सयं होदि सत्थो णिरोगी य तहा उत्तम-संताणं जम्मेदि जेण होदि सणादण-जिणधम्मपरंपरा-विगासो त्ति॥

52. अहो आश्चर्य! इतना सब कुछ जानने के उपरान्त भी गृद्धता-युक्त विट-पुरुष श्वानवत प्रवृत्ति करता है। जैसे खुजेला-श्वान कुत्तिया के पीछे जिह्वा निकाले घूमता रहता है वैसे ही कामी वेश्याओं के भोगे झूठे-तन के लिए घूमता रहता है। वेश्यासेवी स्ववंश का शत्रु होता है; जो व्यर्थ में ही अपने वीर्य का व्यय करता है वही व्यक्ति यदि स्वदार-संतोष व्रत का पालन करता, वह स्वयं स्वस्थ रहता और श्रेष्ठ स्वस्थ-संतान को जन्म देता जिससे सनातन धर्म की परम्परा का विकास होता।

---

53. धण्णा धण्णा धण्णा ते णरा सावया गिहत्था य, जे सगीय-विवाहिदा-णारिं हि मेत्तं सगीय-अंगणा मण्णंते तहा तम्हि संजमेण सह तुट्ठंति, जगदीए अवसेस-णारीसुं जणणी-भगणी-सरिसं दिट्ठिं धरंति। तावं खु णाणी-कवि-णायाइरिय-वागमी-साहिच्चा इरिय-धम्माइरिया य सुंदरा होंति, जावं ते पावायार-कामादो अपीडिदा। सव्वधम्मेसुं सीलधम्मो पहाणधम्मो, तमेव आयरेहि। महादुक्ख-णिहाणं वेस्सासेवणं तज्जेहि। असुह-कज्जवंतो सगगेहे वि ण लहेदि पुज्जत्तं, पुणो सो कहं होदि जगपुज्जो? सव्वगंथसारभूद-सच्चत्थबोह-समीचीणधम्मपालणादो हि आदकल्लाणं होहिदि, अवर-पावायार-पवंचणा-ईसाभाव-कामुगदाहिं आदहिदं असंभवं। सयल-उत्तम-चिंतणाइं आदाणुसासग-भविय-पुरिस-चित्ते हि आगमेंति जायंति। सग-भवियत्त-णिण्णयं पि तुमं सयमेव कुणेहि। जह भावदसा होहिदि तहेव भावीपज्जायो होदिदि, पुणो तं कोवि वीस-सत्ती ण रुंधेदि, तुज्झ सयल-विवत्था तुज्झ भावेसुं आलंबिदा॥

53. धन्य-धन्य-धन्य वे नर, श्रावक, गृहस्थ जो अपनी विवाहिता नारी को ही मात्र अपनी पत्नी मानते हैं तथा उसमें संयम के साथ संतुष्ट रहते हैं, अवशेष जगति की अन्य नारियों पर जननी, भग्नीवत दृष्टि रखते हैं। विद्वान्, कवि, न्यायाचार्य, वाग्मी, साहित्याचार्य, धर्माचार्य तभी तक सुन्दर लगते हैं, जब तक वे पापाचार काम से पीड़ित नहीं हुए। सर्व-धर्मों में शील-धर्म प्रधान-धर्म है, उसी का पालन करो। महादुःखों की खान वेश्या-सेवन का त्याग करो। अशुभ-कर्मी स्वयं के घर में भी पूज्यता नहीं पाता, फिर वह जगत्-पूज्य कैसे हो सकता है? सर्व-ग्रंथों का सार 'सत्यार्थ-बोध' समीचीन धर्म का पालन करने से ही आत्म-कल्याण होगा, अन्य किसी भी पापाचार, छल-कपट, ईर्ष्या-भाव, कामुकता से आत्म-हित सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण श्रेष्ठ-विचार आत्मानुशासक भव्यवर पुरुष के अन्दर ही आते हैं। स्व-भव्यता का निर्णय भी आप स्वयं कर लें। जैसी भावदशा होगी वैसी ही भविष्य की पर्याय होगी, फिर उसे कोई भी विश्व की शक्ति रोक नहीं सकती, आपकी सम्पूर्ण-व्यवस्था आपके भावों पर ही निर्भर है।

---

54. वेस्साए आसत्तस्स चारुदत्तस्स कहा पसिद्धा। सेट्ठिस्स सयलसंपत्तीओ वेस्सा-गेहम्हि पहुप्पीअ। जदा वेस्सा-मादू पस्सीअ-अस्स गेहे किंचिवि दव्वं णत्थि, दु सा सगपुत्तिं जाणावेदि; इमं मुंचेहि किण्णु वेस्सा वि चारुदत्तं पडि आसत्ता होसी; तम्हा सा ण मुंचीअ। चारुदत्तो सगीय-मादुपिदु-गेहे ण गमीअ। सो वेस्सा-गेहे हि वसीअ। एगदा चारुदत्तो मादगपदत्थसेवणं किच्चा परिस्समीअ, तदा वेस्सामादु-वसंतसेणा तं गोणीए णिब्भरेदूणं सउचालयम्हि पक्खिवीअ। पादो सुअरो गोणीए मुहं णेदि दु सो गोणीए वसंतो भासेदि-अरी वसंतसेणा! किमु जग्गावेमि, ममं सयामु। अहो! कोडिकोडि-सुवण्णमुद्दासामी अज्जवेस्सा-विसणेण सउचलाए परिभट्ठेदि॥

54. वेश्या में आसक्त चारुदत्त की कथा प्रसिद्ध है। सेठ की सम्पूर्ण सम्पत्ति वेश्या के घर पहुँच गई। जब वेश्या की माँ ने देखा कि इसके घर कुछ नहीं बचा, तो अपनी पुत्री को समझाया कि इसे छोड़ दे, पर वेश्या भी चारुदत्त के प्रति आसक्त हो चुकी थी, इसलिए वह छोड़ने को तैयार नहीं थी। चारुदत्त ने अपने माता-पिता के घर जाना ही छोड़ दिया था, वह वेश्या के ही घर में वास करने लगा था। चारुदत्त मादक पदार्थ का सेवन कर विश्राम कर रहा था, तब वसन्तसेना वेश्या की माँ ने उसे बोरे में भरकर शौचालय में पटकवा दिया। प्रातः सुअर ने बोरे में मुख मारा तो चारुदत्त बोरे में पड़ा-पड़ा ही कहता है कि अरी वसन्तसेना क्यों जगा रही हो, मुझे सोने दो। अहो! कोटि-कोटि स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी आज वेश्या-व्यसन के कारण शौचालय में पड़ा है।

आहेड-विसणं

(शिकार-व्यसन)

55. अहिरुईए णिरीह-णिरवराह-मूग-जीवाणं हिंसणं आहेड-विसणं। अवर-पाणहरणं किच्चा किं वीरत्तं? जदा रुण्ण-पीडिदाणं पाण-रक्खणं करेहिसि तदा वीरियवंत-बलवंतो लाविस्ससि। मूग-

पसुपक्खीणं घादगो कायरो पुरिसो होदि। पसु-णारी-णिब्बलाणं वहगो कायरो हि होदि। आहेडगो कूरो होदि, जो मुहे तिणजुद-हिरणं पि मारेदि। वीर-पुरिसस्स हिदयो दयाधम्म-अद्दो, सो दु पयत्तेण मूगजीव-रक्खणं करेदि। आहेडगो कदावि सुहसंति-जीवणं ण जीवेहिदि, सो अवरं पीडित्ता सगं कहं सुही होदि? णिरवराह-जीव-घादं मा कुण, ते वि जीवणं इच्छंति, तुज्झ सरिसं। जीवहिंसा-अवेक्खाए रक्खणे सग-सत्तिव्वयं कुण, काएचिद मादूए संताणा मा हिंस। कम्मं तुवं पि ण मुंचेहिदि। तुमं सबलो, तम्हा अज्ज बलहीणेसु पहारेसि, कदा तुमं पि बलहीणो होहिसि तदा तुज्झम्हि पहारो होहिदि। मित्त! कम्मफलं भुंजेदुं उवट्ठिदो हवेहि। अज्ज तुमं अवर-रत्त-पवाहणे हरिसेसि, किण्णु तं दिणं पि अवस्सं आगमेहिदि जदा सिंह-अजगर-जीवाणं तुमं गासो होहिसि, रायदंडं लहेहिसि। तदा उब्बंध-पासे तुवं सगीय-पाव-मिदिं होहिसि-वयं केत्तियाणं जीवाणं हिंसीअ, पत्तेग-अंगं छिण्णं भिण्णं करीअ। तदा तुवं होहिदि पाणहरण-पीडाबोहो। बंभदत्त-चक्की आहेड-विसणेण णरय-गदिं भजीअ॥

55. शौक के पीछे निरीह, निरपराध मूक-प्राणियों को मार देना शिकार है। दूसरे के प्राण-हरण कर क्या वीरता दिखाना? वीर्यवान, बलवान तब कहलाओगे जब रुग्ण-पीड़ित प्राणियों की प्राण रक्षा करोगे। मूक पशु-पक्षियों की हत्या करने वाला कायर पुरुष होता है। पशु, नारी, निर्बलों का वध करने वाला कायर ही होता है। शिकारी क्रूर होता है, जो मुख में तृण दबाए हिरण को भी मार देता है, वीर पुरुष जिसका हृदय दया-धर्म से आर्द्र है वह तो प्रयत्न-पूर्वक मूक-प्राणियों की रक्षा करता है। शिकारी कभी भी सुख-शान्ति का जीवन नहीं जी पाएगा, वह पर को पीड़ा देकर स्वयं कैसे सुखी हो सकता है? निरपराध जीवों का घात मत करो, वे जीव भी जीना चाहते हैं, जैसे आप जीना चाहते हो। जीवों को मारने की अपेक्षा रक्षा करने में अपनी शक्ति का व्यय करो, किसी माँ के लालों को मत मारो। कर्म तुम्हें भी नहीं छोड़ेगा। आप सबल हो, इसलिए आज बलहीनों पर प्रहार कर रहे हो, कभी आप भी बलहीन होंगे तब आप पर होंगे प्रहार। मित्र! कर्म-फल भोगने के लिए तैयार रहना। आज तुम पर के रक्त बहाने में हर्ष मना रहे हो, पर वह दिन भी कभी आएगा जब सिंह-अजगर जैसे जीवों के तुम ग्रास बनोगे, राज-दण्ड को प्राप्त करोगे, तब फाँसी के फंदे पर तुम्हें अपने पापों की याद आएगी कि हमने कितने प्राणियों का गला घोंटा, कितनों के अंग-अंग छिन्न-भिन्न किए। तब तुम्हें प्राण-हरण की पीड़ा का बोध होगा। ब्रह्मदत्त चक्री शिकार व्यसन के कारण नरक गति को प्राप्त हुआ।

---

56. जदि तुमं अवराण परियंदेहिसि, तेसिं हिंसेहिसि दु णूणं तुवं तेसिं कडुफलं भुंजेहिसि। तुवं जीवण-अहियारो, अवरा जीवण-दाणं पि कत्तव्वं णेयं। अवरस्स पाणहरणं किच्चा सगीय-दुग्गदि-आमंतणं मा कुण मूग-जीव-पाणहरणं किच्चा सगस्स णरयदारं मा उग्घाडेहि। जदा कोवि पसुं मारेदि दु तस्स संताणो मादु-मिदीए पीडित्ता मरेदि, तदा तं आहेडं उहयहिंसाए पावं होदि। आहेडो कूर-किच्चं, जं दुग्गदिकारणं॥

56. यदि तुम दूसरों को फँसाओगे, उनके प्राण-हरण करोगे तो निश्चित ही तुम्हें उनका कटु-फल भोगना पड़ेगा। आपको जीने का अधिकार है; तो दूसरों को जीने देना कर्तव्य भी समझना चाहिए। दूसरे के प्राण-हरण करके अपनी दुर्गति का आमन्त्रण मत करो। मूक-प्राणियों का हरण कर अपने लिए नरक का द्वार मत खोलो।

जब कोई किसी जानवर को मारता है तो उसकी संतान माँ की याद में तड़प-तड़पकर मर जाती है, तब उस शिकारी को उभय-हिंसा का पाप लगता है। शिकार एक क्रूर-कृत्य है, जो दुर्गति का कारण है।

चोरिय-विसणं
(चोरी-व्यसन)

57. किंपि णिहिदं पदिदं सुविम्हिदं वत्थुं तस्स सहमदिं विणा गहणं चोरियं। वत्थुणो सामी-आणं विणा कोवि परवत्थु-पओगं करेदि, दु तं चोरियं। जदा तुमं सामी णत्थि दु कहं पओत्ता?

57. किसी भी रखी हुई, पड़ी हुई, गिरी हुई वस्तु को उसकी स्वीकृति के बिना ग्रहण करना चोरी है। वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना, कोई भी पर की वस्तु का प्रयोग करता है, तो वह चोरी है। जब आप स्वामी नहीं हो, तो प्रयोक्ता कैसे?

---

58. किंचिद जीवा कस्सचिद पदिदवत्थुं मुस्संति तहा तस्स अवरत्थं दाणं करेंति, दु किं एरिसं किच्चं उचिदं? णत्थि। जम्हि वत्थुम्हि तुज्झ अहिगारो णत्थि, तस्स कहं दाणं? परवत्थुदाणं ण होदि, मेत्तं सगवत्थुदाणं दाणसण्णं भजेदि, तं पि सगपर-कल्लाणत्थं। अहिगार-रहिदवत्थुदाणं दाणं णत्थि, तं तु अवराहो एव। परदव्व-पओगं केणचिद-णिमित्तेण कुणेहि, तं चोरियं॥

58. कुछ लोग किसी की पड़ी हुई वस्तु को उठा लेते हैं और उसका दूसरे को दान कर देते हैं, तो क्या ऐसा करना उचित है? नहीं, जिस वस्तु पर आपका अधिकार नहीं है, उसका दान कैसा? पर-वस्तु का दान नहीं होता है, एकमात्र स्व-वस्तु को देना ही दान संज्ञा को प्राप्त होता है, वह भी स्व-पर कल्याण के लिए। अधिकार रहित वस्तु का देना, दान नहीं है, वह तो अपराध ही है। पर-द्रव्य का प्रयोग किसी भी निमित्त से करो; वह चोरी है।

---

59. अवराणं मंदिर-तित्थ-मुत्ति-पडिबिंबेसुं च सगीय-सामित्त-ठावणा चोरियं। परलिहिद-गंथेसुं सगीय-पसत्थिं लिहेदूणं लिहावेदूणं वा सग-सामित्त-कहणं साहिच्च-चोरियं। कस्सचिद पुरादण-धम्मट्ठाणेसुं अहिगार-करणं, इदं पुरातच्चस्स चोरियं, सक्किदि-चोरियं च॥

59. दूसरे के मंदिरों, तीर्थों, मूर्तियों पर अपना स्वामित्व स्थापित करना चोरी ही है। पर के लिखित ग्रंथों पर अपनी प्रशस्ति लिखकर अथवा लिखवाकर स्व-स्वामित्व बताना साहित्य की चोरी है किसी के प्राचीन धर्म स्थलों पर अधिकार कर लेना यह पुरातत्व की चोरी है, संस्कृति की चोरी है।

---

60. धम्मप्प-मुद्दा-वेसं किच्चा जीवमाणा कोडि-कोडि-माणवा, किण्णु अत्थेय-अचोरिय-

वदेण सह जीवमाणा सज्जणा बहुथोवा। किंचण एरिसा वि जीवा संति, जे जाणंति-तेसिं पुव्वजेहिं चोरियं किदं, ताणि धण-धरणी-तित्थक्खेत्त-मंदिराइं अज्ज ता समय, पुणो वि पओगेंति, तत्थ पूजग-पंडिद-सामी होदूणं चिट्ठंति, एदे सव्वे चोरिय-सामग्गिं पओगकारगा तक्करा संति॥

60. धर्मात्मा की मुद्रा और भेष बनाकर जीने वाले कोटि-कोटि मनुष्य हैं, पर अस्तेय-अचौर्य-व्रत के साथ जीने वाले सज्जन बहुत ही कम हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं, जिन्हें मालूम है कि हमारे पूर्वजों ने चोरी की थी, वह धन-धरती, तीर्थ-क्षेत्र, मंदिर आज हमारे पास हैं, फिर भी उपयोग कर रहे हैं, वहाँ के पुजारी, पंडित, स्वामी बनकर बैठे हैं, यह सब चोरी की सामग्री प्रयोग करने वाले तस्कर हैं।

---

61. सासणे बलप्पओगादो तुमं अहिगारं कुणेसि, भोगं कुणेसि, अवराणं सक्किदीए सगीय-सामित्तं दावेसि, किण्णु सग-हिदयादो संमिल्लेहि, किं तुज्झ हिदयो सच्चासणे विरायमाणो त्थि? परवत्थुं णवि मुंचेसि दु ता एव सच्चं गेण्हेहि। सच्चवादी दु करुणासीलो अहिंसगो सियवादी अणेयंतवादी य होदि। जदि एगहुत्तं पि जीवणे सच्चत्थबोहो जायदे दु एगदिणं सच्चजीवणचरिया वाणीसच्चत्थं च होहिदि, इदं परमं सच्चं। सदद्दि-गदे सदि वि अण्णवत्थुं तु अण्णं हि होहिदि, तं णवि हवेदि णियवत्थुं॥

61. शासन पर जोर देकर आप अधिकार जमा सकते हो, भोग कर सकते हो, दूसरों की संस्कृति पर अपना स्वामित्व दिखा सकते हो, परन्तु स्वयं के हृदय से मिलो, क्या आपका हृदय सत्य के आसन पर विराजमान है? पर-वस्तु छोड़ नहीं पा रहे तो कम-से-कम सत्य को स्वीकार ही कर लो। सत्यवादी तो करुणाशील, अहिंसक, स्याद्वादी, अनेकान्तवादी होता है। यदि एक बार भी जीवन में 'सत्यार्थ-बोध' हो जाए तो कभी न कभी सत्य जीवनचर्या व वाणी-सत्यार्थ होगी, यह परम सत्य है। सदियाँ बीत जाने पर भी पर-वस्तु तो पर ही रहेगी, वह निज-वस्तु नहीं हो सकती है।

---

62. पत्तेग-जीवं सगीय-संपत्ती पाणप्पिया होदि, जीवो धणज्जणत्थं सत्त-समुद्दा वि णित्थरेदि, अहोरत्तं अत्थपुरिसत्थे जुंजेदि, तदा कुत्थचिद पुण्णजोगेण लाहंतरायकम्म-खवोवसमेण जीवं अत्थलाहो होदि। धणबले माणवो सग-सत्तिं दीसेदि। जो जीवो अवरस्स धणं हरेदि, सो तस्स पाणहरणं करेदि। आगमे उवयारेण धणं एगारस-पाणं॥

62. प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संपत्ति प्राणों से भी प्रिय होती है, व्यक्ति धन-अर्जन करने के लिए सात-समुद्रों को भी पार कर जाता है, दिन-रात अर्थ-पुरुषार्थ में लगाता है, तब कहीं पुण्य-योग, लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से व्यक्ति को अर्थ-लाभ होता है। धन-बल पर मानव अपनी शक्ति दिखाता है। जो व्यक्ति दूसरे के धन का हरण करता है, मानो वह उसके प्राणों का ही हरण करता है। आगम में उपचार से धन को ग्यारहवाँ प्राण कहा है।

---

63. अहिंसाधम्म-रक्खाए अचोरियवद-पालणत्थं कस्सचिदवि जीवस्स धण-धण्ण-णारी-भूमि-तित्थ-गंथ-पडिमा-मंदिरेसुं च अणहिकिदाहिगारं मा कुणेहि, सगीय-सच्च-सज्जणत्त-परिचयं देहि, एवमेव भारदीय-सक्किदीए भूदत्थ-अहिणाणं। पावकारगं पावी-वेसे हि पावं कादव्वं, धम्मप्पवेसे पावादो सव्व-साहूसुं संका होदि। दुरायारवंतेण धम्मावववादो ण होदि, अविदु जे धम्मप्पा वेसधारी, तेहिं धम्ममग्गस्स अववादो होदि। धम्मप्प-वेसे पावादो अवर-सयल-धम्मप्पा पडि अट्ठा-विणासणं च होदि॥

63. अहिंसा धर्म की रक्षा के लिए अचौर्यव्रत के पालन के लिए किसी भी व्यक्ति के धन-धान्य, नारी, भूमि-तीर्थ, ग्रंथ, प्रतिमा-मंदिरों पर अनधिकृत अधिकार मत करो, अपनी सत्य-सज्जनता का परिचय दो, यही भारतीय-संस्कृति की भूतार्थ पहचान है पाप करने वाले को पापी के भेष में ही पाप करना चाहिए, धर्मात्मा के भेष में पाप करने से सर्व-साधुओं पर शंका होती है। दुराचारी के द्वारा धर्म की बदनामी नहीं होती, अपितु जो धर्मात्मा भेषधारी हैं उनके द्वारा धर्म-मार्ग बदनाम होता है। धर्मात्मा के भेष में पाप करने से अन्य सभी सच्चे धर्मात्माओं के प्रति भी आस्था समाप्त हो जाती है।

---

64. जदि धम्ममग्गो तुवं दुग्गम्मो पडिभासेसि, संजमपालणे सगं असमत्थो अणुहवेसि, कामणा-वासणासुं तुज्झ णियंतणं णत्थि, दु धम्मावववादं मा कुणेहि, अविदु सगगुरु-समाजेण य पत्थवेहि-मए उत्तममग्गे गमणं दुग्गम्मं, असमत्थो हं, धम्मप्प-वेसे मायाजीवणं णवि इच्छामि। मे सिढिलायार-अणायारेहिं अवर-धम्मप्पा पडि जीवाणं अट्ठा णस्सेहिदि, लोगाववादो वड्ढेहिदि, तम्हा सिरिसंघ-णायग-समाज-समक्खे गिहत्थ-धम्मं गेज्झामि हं। इमेण मेत्तं सग-समत्थहीणदा-परिचओ जायदे, किण्णु लोए मंगलुत्तम-सरणभूद-धम्मस्स उवहासो दु ण होहिदि॥

64. यदि धर्म-मार्ग आपको कठिन लगता है, संयम के पालन में अपने आपको असमर्थ महसूस करते हैं, कामनाओं-वासनाओं पर आपका नियंत्रण नहीं है, तो धर्म की बदनामी मत करो, अपितु स्वगुरु व समाज से प्रार्थना कर लो कि मेरे द्वारा श्रेष्ठ-मार्ग पर चलना कठिन हो रहा है, मैं असमर्थ हूँ, मैं धर्मात्मा के भेष में मायाचारी का जीवन नहीं जीना चाहता हूँ। मेरे शिथिलाचार, अनाचार के कारण अन्य धर्मात्माओं के प्रति लोगों की आस्था समाप्त होगी, लोकापवाद बढ़ेगा, इसलिए श्री संघ-नायक एवं समाज के समक्ष मैं गृहस्थ-धर्म को स्वीकार करना चाहता हूँ। इससे मात्र स्व-सामर्थ्यहीनता का ही परिचय होगा, परन्तु लोक में मंगलोत्तम शरणभूत धर्म का उपहास तो नहीं होगा।

---

65. इमीए विहीए जदि कोवि साहगो गिहत्थ-धम्मं पि गेण्हेदि, दु सच्चधम्मं पडि अणट्ठा णवि जादिस्सदि तहा अवर-धम्मप्पा पडि असड्ढाणं पि ण होहिदि तहा पवंचणा वि ण लाविस्सदि। जगपुज्ज-जगहिदयर-मोक्खमग्गो मोक्खमग्गीहिं अखंडो अविरलो गदिमाणो त्ति॥

65. इस विधि से किसी साधक ने गृहस्थ-धर्म स्वीकार कर भी लिया, तो भी सत्य-धर्म के प्रति अनास्था उत्पन्न नहीं होगी और अन्य धर्मात्माओं के प्रति अश्रद्धान भी नहीं होगा और छल-कपट भी नहीं कहलाएगा। जगत्-पूज्य, जगत्-हितकारी मोक्षमार्ग मोक्षमार्गियों के द्वारा अखण्ड चलता रहेगा।

---

66. ते जीवा लोए महाणिंदणिज्जा जे कामणावासणाओ संजमिदं विणा साहुवेसं गहित्ता असुह-कम्मे रत्ता; किण्णु दप्पेणं वेसं ण मुंचंते तहा असुहकम्मं पि ण मुंचंते एवं लोग-पदिट्ठं च इच्छंते। एरिसाणं दुरायारी-पावीणं सव्वहा माण-पदिट्ठा-आदपदिट्ठा य णस्सेदि। एरिसा बगवित्ति-वंता पुढवीए भारभूदा॥

66. वे लोग लोक में महा-निन्दनीय हैं जो कामनाओं, वासनाओं को संयमित किए बिना साधु-भेष को धारण कर अशुभ-कर्म में संलग्न हैं, पर अहं के कारण भेष नहीं छोड़ते, अशुभ-कर्म भी नहीं छोड़ते और लोक प्रतिष्ठा चाहते हैं। ऐसे दुराचारी, पापियों की कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं बचती है और न ही आत्मप्रतिष्ठा ही बचती है। ऐसे बकवृत्ति वाले जीव पृथ्वी पर भारभूत हैं।

---

67. एसो हि पुढवीए भारभूदो एगो तवस्सी सग-सिस्सेहि सह दिवसे पंचग्गितवस्स अहिणीसी तह रयणीए सिस्ससमूहेण सह णयरे बहुमुल्लदव्वाणि मूसेदूणं, आसमम्हि अंधकूवे णिक्खेवीअ। एरिसं करंतं बहुदिणं जादं, णगरवासिणो चोरिय-पसंगादो दुही होदूणं राय-सहाए पहुप्पेज्जा। रायणा पत्थवीअ-'सामी तुममेव मज्झाण रक्खगो देवो। हे देव! णयरे णिरंतरं चोरियाइं हविज्जंते, किण्णु तक्खर-परिणाणं ण होदि। मज्झाणं धण-संपत्ति-हरणं हवीअ, संपत्ति-अभावे गिहत्थी कहं गदिमाणा? राया तुमं हि उवायं भासेहि।' रायणा सयल-पयं धीरित्ता विसज्जिदं तहा पुरक्खगं णिमंतिय आएसेदि-सत्तदिवसेसुं तक्खर-चोरियदव्व-परिणाणं कुज्जा रायण्णं लहित्ता पुररक्खगेण तक्खर-गवेसणं आरंभिदं। एवं तक्खरो दु तवस्सी होदूणं पुज्जत्तं भजीअ।

एगदा पुर-रक्खग-दारे एगो भिक्खू आगमीअ, सो भिक्खीअ दु पुररक्खगेण उत्तं-'सयं चिंतिदो हं, तुवं कत्तो भिक्खं देमि।' तदा भिक्खुणो उत्तं 'किं चिंताकारणं अत्थि?' तेण उत्तं-'अरे भाउ! णयरे बहु-दिवसादो चोरियाइं हविज्जंति, किण्णु तक्खर-परिणाणं णवि हवेदि।' भिक्खुणो उत्तं-'तुज्झ णयरासमे जो तवस्सी अत्थि, सो हि तक्खरो।' तेण उत्तं-'इदं मा बोल्लेहि।' भिक्खुणो भासिदं-'मे वीसासं कुण, सोच्चिय तक्खरो।' तेण उत्तं-'इमस्स किं पमाणिगत्तं?' तदा भिक्खुणो भासिदं-'तं पायो तुवं हं भासिस्सेमि'। जेण पुर-रक्खगाणं संति-भावो जादो।

संझायाले भिक्खू अंधपुरिस-वेसे आसमे गच्छेदि तहा कहेदि-'मए किंचिदवि ण पस्सदे, रत्ति-विस्साम-हेदू आसमे णिवसणं इच्छामि, तुमं ममं आसमे ठाणं देहि, भिक्खुम्हि दयं कुणेहि।' साहुवेसधारी-तवस्सिणा तं ठाणं दच्छिदं। अद्धरत्तीए तवस्सि-समूहेण वेसं परियट्टिदूणं णयरे चोरियकम्मत्थं गच्छिदं। भिक्खू सव्वं पस्सीअ, तेहिं सव्वेहिं तक्खरी-धणं अंधकूवे खिविदं तहा

पायोकाले तवस्साए संलग्गीअ। भिक्खू पायो जग्गेदि तहा सद्देदि-अदु गच्छामि हं। सो दंड आसएण पुर-रक्खग-गेहे गच्छेदि तहा तत्थ तक्खराणं रहस्सुग्घाडणं च करेदि। भिक्खू उचिद-पुरक्कारं पसज्जीअ।

पुररक्खगेण आरक्खगेहिं सह आसमं वावीअ तहा अंधकूवादो सयल-विउल-संपत्तीओ णिज्जेदूणं तवस्सी-संपत्तीओ य रायसहाए-पउंजीअ। राओ वि अच्छेरं कुव्वीअ। सो भासेदि-'ओहो! मायावी-पावीजणा किलं च मेत्तं कुणंति। तुवं साहुवेसं धारिदूणं एरिसं कुकम्मं अकरणिज्जं। तुज्झ एरिसीए पउत्तीए पजाए साहुणो पडि वीसासं णस्सेस्सदि।' रायणा तक्खराणं कढोर-दंडेण दंडिदं। पच्छा तवस्सी तेसिं समुदाया च असुह-परिणामेहिं मरित्ता दुग्गदिं पसज्जीअ। सच्चमेव अत्थि, असुहकम्मफलं असुहमेव अत्थि। बीयाणुसारेण रुक्खो होदि तहा तदणुरूवेण हि फल-लद्धी होदि। किलं च वेसं होदु, जहा कम्मं करिस्ससि तहेव फलं भुंजिस्ससि। चोरिय-फलं तवस्सीणं भुंजीअ, तम्हा एरिसं मा चिंतेहि धम्म-वेसे किंचिवि कुव्विज्जंति। कम्मसिद्धंतो दुद्धस्स दुद्धं णीरस्स णीरं करेदि। वट्टमाणे वि जेहिं धम्मप्प-वेसे कुस्सिद-कज्जं किदं, तेसिं बंधण-लाहो जादो। जदि तुवं अवजस-कट्ठ-दुग्गदीदो रक्खणं इच्छेसि दु असुहकम्मं मा कुणेहि॥

67. ऐसा ही पृथ्वी पर भार-भूत एक तपस्वी अपने शिष्यों के साथ दिन में पंचाग्नि तप का ढोंग रचता था और रात्रि में शिष्य-मण्डली के साथ नगर में बहुमूल्य द्रव्यों की चोरी कर, आश्रम के अन्दर अंधकूप में रखता था। ऐसा करते-करते बहुत दिन व्यतीत हो गए, नगरवासी चोरी की घटनाओं से दुःखी होकर राज-दरबार में पहुँचे। सम्राट् से प्रार्थना की 'स्वामी आप ही हमारे रक्षक-देव हैं। हे देव! नगर में निरन्तर-निरन्तर चोरियाँ हो रही हैं, पर चोर का पता नहीं चल रहा है। हमारी धन-सम्पत्ति हरण हो गयी, सम्पत्ति के अभाव में गृहस्थी कैसे चलेगी? महाराज आप ही उपाय बताएँ।' राजा ने सम्पूर्ण-प्रजा को सान्त्वना देकर विदा किया और कोतवाल को बुलाकर आदेश दिया कि सात दिनों के अन्दर-अन्दर चोर एवं चोरी के द्रव्य का पता करें। राजाज्ञा प्राप्त कर कोतवाल ने चोर की खोज प्रारम्भ की। चोर तो तपस्वी बनकर पूज्यता को प्राप्त हो रहा था।

एक दिन कोतवाल के द्वार पर एक भिखारी आया, उसने भीख माँगी तो कोतवाल ने कहा कि—'मैं स्वयं ही परेशान हूँ, तुम्हें कहाँ भीख दूँ।' तब भिखारी ने पूछा—'चिन्ता का कारण क्या है?' कोतवाल बोला—'अरे भाई! नगर में कई दिनों से चोरी हो रही है, पर चोर का पता ही नहीं चल रहा है।' भिखारी कहता है—'आपके नगर के आश्रम में जो तपस्वी है वही चोर है।' कोतवाल कहता है कि—'ऐसा मत कहो।' भिखारी बोला—'मेरा विश्वास करो, वही चोर है।' कोतवाल बोला—'इसकी प्रमाणिकता क्या है?' तब भिखारी ने कहा कि—'वह कल प्रातः आपको बतलाएँगे' जिससे कोतवाल को शान्ति मिली।

भिखारी शाम को अंधे का भेष बनाकर आश्रम पहुँचा। बोला—'मुझे कुछ दिखता नहीं, रात्रि विश्राम हेतु आश्रम में ठहरना चाहता हूँ, आप मुझे आश्रम में स्थान दो, भिखारी पर दया करो।' साधु वेषधारी तपस्वियों ने उसको स्थान दे दिया। अर्द्धरात्रि को तपस्वियों के समूह ने भेष बदला और नगर में चोरी करने के लिए चल पड़े। भिखारी सब देखता रहा, उन तपस्वियों ने चोरी का धन लाकर अंधकूप में डाल दिया और प्रातः तपस्या

में लग गए। भिखारी प्रातः उठा और आवाज लगाता है कि अब मैं जाता हूँ। वह लाठी टेकते-टेकते कोतवाल के यहाँ पहुँचा और वहाँ चोरों का रहस्योद्घाटन किया। भिखारी को उचित पुरस्कार दिया गया।

कोतवाल ने सिपाहियों के साथ आश्रम घेर लिया और अंधकूप से सम्पूर्ण सम्पत्ति निकालकर उन तपस्वियों सहित राज-दरबार में प्रस्तुत किया। राजा देखकर आश्चर्य में पड़ गया। राजा कहता है कि—'ओहो! मायावी, पापीजन कुछ भी कर सकते हैं। तुम्हें साधु-भेष धारण कर ऐसा कुकर्म नहीं करना था। आपकी ऐसी प्रवृत्ति से प्रजा का साधुओं के प्रति विश्वास समाप्त हो जाएगा।' राजा ने चोरों को कठोर दण्ड से दण्डित किया। पश्चात् तपस्वी एवं उनके चेले अशुभ-परिणामों के कारण मरण कर दुर्गति को प्राप्त हुए। सत्य है, अशुभ-कर्मों का फल अशुभ ही होता है। बीज के अनुसार वृक्ष होता है और तद्रूप ही फल की प्राप्ति होती है। भेष कुछ भी हो, पर कर्म जैसे करोगे फल तो वैसा भोगना ही पड़ेगा। चोरी का फल तपस्वियों को भोगना ही पड़ा, इसलिए ऐसा कोई न सोच ले कि धर्म के भेष में कुछ भी कर सकते हैं। कर्म-सिद्धान्त दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है। वर्तमान में भी जिन्होंने धर्मात्मा के भेष में खोटे कार्य किए उन्हें जेल जाना पड़ा। यदि आपको अपयश, कष्ट, दुर्गति से बचना है तो अशुभ-कर्म मत करो।

पर-रमणी-रमणविसणं

(पररमणी-रमण-व्यसन)

68. पंच-अणुव्वदेसुं बंभचेराणुव्वदं पि एगं उत्तमं वदं, इदमेव सदारसंतोसवदं। सग-विवाहिद-इत्थिमेत्तं अंगणारूवे दंसणं अवसेस-इत्थीओ मादु-भगिणी-दिट्ठीए दंसणं चउत्थं अणुव्वदं। मणुस्सणी-इत्थिं देवी-तिरियंचणी-अचेयण-इत्थिरूव-पुत्तलिगाओ य चित्तइत्थिं च पस्सिदूणं पि सगीय-परिणामा णो असुह-करणं तहा सग-अंगणाए सह वि संजमिदरूवेण असंजम-सेवणं च। सेट्ठजणा मेत्तं सणादणधम्म-वंसपरंपरा-हेदू हि संताण-उद्देस्सेण कामं सेवंति॥

68. पाँच अणुव्रतों में ब्रह्मचर्याणुव्रत भी एक महान् व्रत है; इसे ही स्वदार-संतोष व्रत कहते हैं। स्व से विवाहित स्त्री मात्र को पत्नी के रूप में देखना, अवशेष नारियों को बहिन-माँ की दृष्टि से देखना। मनुष्यनी स्त्री ही नहीं, देवी, तिर्यञ्चनी तथा अचेतन-स्त्री रूप पुत्तलिका चित्र-स्त्री को देखकर भी अपने परिणामों को अशुभ नहीं करना तथा स्व-पत्नी के साथ भी संयमित रूप से असंयम का सेवन करना। श्रेष्ठ-जन मात्र सनातन-धर्म एवं वंश परम्परा हेतु ही संतान के उद्देश्य से काम-सेवन करते हैं।

---

69. जस्स इत्थिभोग-सुहं विसणरूवं णत्थि, जो पुरिसो कामसुहं णियंतेदि सो सिंह व्व सत्ति-संपण्णो होदि, जो गयरायं पि पराइदि। कामी जीवा अणियमिद-कामसेवणं किच्चा सत्तिहीण-साण-सुअर-अज-पउत्तिमंता होंति॥

69. जिसके लिए स्त्री-भोग (सुख) व्यसन रूप नहीं है, जो पुरुष काम-सुख पर नियंत्रण रखता है वह सिंह

जैसा शक्ति-सम्पन्न होता है, जो गजराज को भी परास्त कर लेता है। जो कामी लोग होते हैं, वे अनियमित काम सेवन करके, शक्तिहीन, कमजोर श्वान, सुअर-बकरे की प्रवृत्ति वाले होते हैं।

---

70. वीरिय-सोम्मधादुक्खयादो सत्त-धादुक्खयो होदि, जेण देहं दुब्बलं बलहीणं च होदि। तस्स सुमरणसत्ति-धारणासत्ति-वागसत्ति-तेजओज-णयणज्जोदीओ खीणेदि। रोग-णिरोह-सत्ति-सामत्थं पि खीणेदि, सो होदि खयरोग-पीडिदो, उवदंसजणग-वाहि-सरिसा रोगा हवंते। जीवा तस्स सामिप्पं ण रुच्चंति। अदिमेहुण-सेवणादो महाकट्ठ-पदायगरोगा होंति, एरिसेण दुरायारी-संसग्गेण देह-धम्म-कित्ति-विणासो होदि। तं वुड्ढ-बालगा सव्वे उवहासदिट्ठीए पस्संति॥

70. वीर्य (शुक्र) सौम्य-धातु के क्षय से सातों ही धातुओं का क्षय होता है, जिससे शरीर दुर्बल, बलहीन हो जाता है। उसकी स्मरण-शक्ति, धारणा-शक्ति, वाक्-शक्ति, तेज-ओज, नेत्रों की ज्योति क्षीण हो जाती है। रोग-निरोध शक्ति-सामर्थ्य भी क्षीण हो जाती है, वह क्षय-रोग से पीड़ित हो जाता है, एड्स जैसे रोग हो जाते हैं। लोग उसके पास आना भी पसंद नहीं करते हैं। अति-मैथुन सेवन से महाकष्ट-प्रदायक रोग हो जाते हैं, ऐसे दुराचारी के संसर्ग से शरीर, धर्म, कीर्ति सभी नाश को प्राप्त हो जाते हैं। उसे बाल-वृद्ध सभी उपहास की आँख से देखते हैं।

---

71. सगइत्थीए सह अदिकामसेवणादो वि उत्तसयलरोगा जायंते, तदा पुण जो परइत्थिसेवणं करिस्सदि तस्स किं दुद्दसा होस्सदि? परइत्थि-लंपडो आसाढ-मासस्स कामुग-विसहो एव अत्थि वा आसोय-मासस्स साणो जो लोय-लज्जासुण्ण-पसु व्व किरियं करेदि। परइत्थि-सेविणो पुच्छ सिंगरहिद-विसहा एव संति, भावीकालस्स णारगा कुल-जादि-वंस-धम्मस्स पवित्तदा-णासगा होंति। परइत्थिसेविणो जीविदे सदि वि मिदगसरिसा हिंडंति॥

71. स्व-स्त्री के साथ अति-काम सेवन से भी उक्त सभी रोग हो सकते हैं, तब फिर जो पर-स्त्री सेवन करेगा उसकी क्या दुर्दशा होगी? पर-स्त्री लम्पट पुरुष आषाढ़-मास का कामुक बैल ही है अथवा आसोज महीने का श्वान जो लोक-लाज शून्य पशुवत क्रिया करता है। पर-स्त्री सेवी बिना पूँछ एवं सींग के बैल ही हैं, भावीकाल के नारकी, कुल-जाति-वंश-धर्म की पवित्रता का नाश करने वाले होते हैं। पर-स्त्री सेवी जीवित होने पर भी मृतक मुर्दे-तुल्य घूमते हैं।

---

72. विवाहिदाइत्थि-अविवाहिदा-इत्थि-दासी-महीसी-सगजणणी-सगभगिणी-पिदुव्वापुत्ति-मादुभगिणीपुत्ति-मादुलीपुत्ति-सगपुत्तीओ वा सव्वाओ परइत्थीओ एव होंति। विवाहिदा परगहीदा होदु तहा कण्णा अपरिगहिदा होदु, तुज्झ दोण्णि हि अण्णा। पावीणं ण दु कण्णाधम्मो दिस्सदि, णेव भगिणी-मादु-धम्मो। अहो अहो! तिव्वघोर-पावी-कामुगं किंचिवि ण दीसेदि। पररमणीए रमणभावा हि भावविसुद्धि-णासं करेंति, परइत्थिगामी कदावि णिब्भय-जीवणं ण जीवेदि, सो

पडिक्खणं होदि भयभीदो। सगकिद-कुकम्मरहस्सं लोए ण पयडेज्जा, तम्हा चिंताए भयभीदो होदि, एसो माणवो सगपर-घादगो होदि। परइत्थि-लंपड-रावणस्स किं दसा हवीअ, सव्ववीस-पसिद्धा। वंसपरंपरा-संपत्ति-रज्जवेहव-जसकित्तीओ वि खणमेत्ते विलीयीअ। जेण चक्करयणेण सत्तूसुं जिणीअ, जेण णिओगेण अद्धचक्कीपदं भजीअ, इंदसरिस-राओ वि जस्स रज्जे सेवाए आसी, सो हि रावणो परइत्थिरागवसादो तेण चक्करयणेण सगसिरछेदणं करीअ। कुलंकरो होदूणं जीवेहि, कुलंगारो मा हुव,परइत्थि-विसणादो अवसप्पेहि॥

72. पर-स्त्री अर्थात् चाहे विवाहिता हो या अविवाहिता, दासी हो या महारानी, स्व-जननी हो या बहिन, चाची की बेटी हो या मौसी-मामी की या स्व-पुत्री—ये सभी पर-स्त्रियाँ ही हैं। विवाहित पर-ग्रहीता हो और कन्या अपरिग्रहीता हो, आपके लिए तो दोनों ही पर हैं। पापियों को न कन्या-धर्म दिखता है, न बहिन, न माता। अहो! अहो! तीव्र घोर-पापी, कामुक को कुछ भी दिखाई नहीं देता है। पर-रमणी में रमण के भाव ही भाव-विशुद्धि का नाश कर देते हैं, परस्त्री-गामी कभी भी निर्भय जीवन नहीं जीता, वह प्रतिक्षण भयभीत रहता है। स्वकृत-कुकर्म का रहस्य लोक में प्रकट न हो जाय, इसलिए चिन्ता में भयभीत होता रहता है, ऐसा मानव स्व एवं पर का घातक होता है। पर-स्त्री लम्पट रावण की क्या दशा हुई सर्व-विश्व प्रसिद्ध है। वंश, सम्पत्ति, राज्य-वैभव, यश-कीर्ति क्षण मात्र में विलीन हो गई। जिस चक्र-रत्न से शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता था, जिसके नियोग से अर्द्धचक्री पद प्राप्त हुआ, इन्द्र जैसा राजा जिसके यहाँ सेवा में थे, वही रावण एक पर-स्त्री के राग वश हो उसी चक्र-रत्न से स्व-सिर का छेद करा बैठा। कुलंकर बनकर जिओ, कुलांगार मत बनो, पर-स्त्री व्यसन से दूर रहो।

(अट्ठारहविह-विसणेसुं चदुविसणाइं तु सत्तविसण-अंतोगदाइं हि संति, सेसाण सरूवं भासंते॥)

(अठारह प्रकार के व्यसनों में चार व्यसन तो सात-व्यसनों के अन्तर्गत ही हैं, शेष के स्वरूप को कहते हैं।)

पिसुण-विसणं

(पिशुन-व्यसन)

73. पिट्ठमंसभोजी णिदंगो य पिसुणविसणी। विसाल-राय-गेहा पिसुणीजीवा णस्सीअ, सामण्णजणस्स किं कहणं? पिसुण-विसणेण पिसुणी सगं तु दूसेदि, अविदु सो अवराणं पेसुण्णेण अवर-भावाणं पि घादेदि॥

73. 'पिट्ठ-मांसभोजी' तात्पर्य पीठ पीछे चुगली करना, बुराई-निन्दा करना। बड़े-बड़े राज-घराने

चुगलखोरों ने नष्ट करा दिए, सामान्य-जन की क्या बात? चुगली एक ऐसा व्यसन है जिससे चुगलखोर स्वयं तो दूषित होता ही है, अपितु वह दूसरों की चुगली कर दूसरों के भावों का भी घात करता है।

---

74. पिसुणचित्ते एगसमयपमाणकालं पि कस्सचिदवि गुत्तवयणं गुत्तं ण होदि, सो गुत्तवयणं पि रिवु-मित्त-सामण्णजणेसुं पि वित्थारेदि तहा परोपरे कलहहेदूणं हरिसेदि। सो विसरेदि-तस्स पिसुणकिरियादो असंती वित्थारेहिदि। सो ण दु सयमेव संतीए जीवदि णेव अवरं जीवावेहिदि। जह सज्जणा भुजंग-सिंहं च दट्ठूणं संभलंति तहेव पिसुण-णामेण हि संभलंति। पण्ण-पुरिसा पिसुणागमे सदि णूणं संभलेदव्वा। णारदस्स पिसुणकिरिया किं जगप्पसिद्धा णत्थि? मंथरा किं ण करीअ, रामसरिस-महापुरिसं वणवासो कारीअ, अयं लोगप्पसिद्धो॥

74. चुगलखोर के अन्दर एक समय प्रमाण काल भी किसी की गुप्तबात गुप्त नहीं रहती, वह गुप्तबात को भी शत्रु हो या मित्र, सामान्यजनों में भी फैला देता है और परस्पर में कलह कराकर खुशी मानता है। वह भूल जाता है कि मेरी चुगल-खोरी से अशान्ति फैल जाएगी। न वह स्वयं ही शान्ति से जीता है, न ही दूसरे को शान्ति से जीने देता है। जैसे सज्जन लोग साँप, सिंह को देखकर सावधान हो जाते हैं, वैसे ही चुगलखोर के नाम से ही सावधान हो जाते हैं। प्रज्ञ-पुरुषों को चुगलखोर के आने पर सावधान हो ही जाना चाहिए। नारदजी की चुगली क्या जगत् प्रसिद्ध नहीं है? मन्थरा ने क्या नहीं करा दिया, राम जैसे महापुरुष को वनवास करा दिया, यह लोक-प्रसिद्ध है।

---

75. पण्णजणा सगीयगुत्त-गूढवयणं पिसुणसहावी-पुरिसस्स पुरदो कदावि ण कुज्जा। समय-अवसर-जीवा दट्ठूणं हि सगीय-वयणं भासेज्जा। गुरु-पिदु-णायग-अहिगारी-राया-पहुदीणं पियहवणत्थं जीवो पिसुणं करेदि। पिसुणपुरिसं आगमे असच्चवादी सण्णा अत्थि। जो वदी होदूणं तहा पिसुण-किरियं करेदि सो सगं सच्चवदी ण मण्णे। तं समया अहिंसावदं पि णत्थि, णवरि सो सगपर-भावहिंसा रत्तो। पिसुणकिरिया कदा कदा दव्वहिंसा-कारणं पि होदि। पिसुणेणं जुद्धं पि होदि, तम्हा सज्जणा पिसुण-विसणादो सगप्परक्खणं कुज्जा॥

75. प्रज्ञजनों को अपनी गुप्त, गूढ़-बात पिशून स्वभावी पुरुष के सामने कभी नहीं करना चाहिए। समय, अवसर, व्यक्ति देखकर ही अपनी बात को कहना चाहिए। गुरु, पिता, नेता, अधिकारी, सम्राट् आदि का प्रिय बनने के लिए व्यक्ति चुगली करता है। चुगलखोर को आगम में असत्यवादी कहा है। जो व्रती हो और चुगलखोरी करता हो तो वह स्वयं को सत्यव्रती न माने। उसके पास अहिंसा-व्रत भी नहीं है, क्योंकि वह स्व-पर की भाव-हिंसा में लीन है। चुगली कभी-कभी द्रव्यहिंसा का भी कारण बन जाती है। चुगली के कारण युद्ध भी हो जाते हैं, इसलिए सज्जनों को चुगली-व्यसन से अपनी आत्मरक्षा करना चाहिए।

---

76. पिसुणो सगीय-पउत्तीहिं सयलजीवाणं वीसासं समत्तेदि तहा पुणो सो सगं पडि अवीसासं जादावेदि। सो सगीय-माया-सहावेण कस्सचिदवि वीसासपत्तं ण सिज्झेदि। लोए सो पिसुणी-णामेण होदि पसिद्धो। सो केत्तियो हि उत्तमो चारित्तवंतो धणवंतो णाणी य होदु पुणरवि जीवा भासेंति-सट्ठु, किण्णु अवरणिंदं करेदि, पिसुणकिरियं करेदि, कदा किं भासेदु, तम्हा इमत्तो चेएज्जा॥

76. चुगलखोर अपनी आदतों के कारण सभी लोगों का विश्वास समाप्त कर लेता है और फिर वह अपने प्रति अविश्वास उत्पन्न करा लेता है। वह अपने माया-स्वभाव के कारण किसी का भी विश्वासपात्र बनकर नहीं रह पाता है। लोक में वह चुगलखोर के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। वह कितना भी श्रेष्ठ, चारित्रवान, धनवान ज्ञानवान हो फिर भी लोग यही कहते हैं कि—सब ठीक है, परन्तु दूसरे की निन्दा करता है, चुगली करता है, कब क्या बोल दे, इसलिए इससे सावधान रहो।

---

77. पिसुणो विग्घसंतोसी होदि, तस्स कलहप्पियत्तं परमसही। ते जीवा पुण्णप्पा जे पिसुणी-संसग्गं ण भजेज्जा। पिसुणो ण सयमेव संतीय वसेदि णेव अवरा वासेदि। सो पिसुणो जधत्थे ईसालू होदि॥

77. चुगली करने वाला विघ्न-संतोषी होता है, कलह-प्रियता उसकी परम सखी है। वे लोग पुण्यात्मा हैं जिनको कोई चुगली करने वाला नहीं मिला। चुगली करने वाला न स्वयं ही शान्ति से रहता है और न ही दूसरों को रहने देता है। वह चुगली करने वाला यथार्थ में ईर्ष्यालु होता है।

दिवासयण-विसणं

(दिवाशयन-व्यसन)

78. समस्स किलंतिं णियत्तेदुं विस्साम-णिद्दागहणं आवस्सगं। सयल-ओसहीणं सगीयं एगट्ठाणं, किण्णु णिद्दाए सगीय-महत्तं॥

78. श्रम की थकान दूर करने के लिए विश्राम करना, निद्रा लेना आवश्यक है। संपूर्ण औषधियों का अपना एक स्थान है, परन्तु नींद का अपना ही महत्त्व है।

---

79. किलेसगसिद-चिंताजुद-कामवासणा-पीडिदं जीवं हु सयणं उचिदं। इट्ठविओगादो दुहिदो अट्टज्झाणत्थ-जीवो पसज्जेदु पुण्ण-णिद्दं तु तस्स विओगजण्णदुक्खं हीयदि। जदि णिद्दा ण आगमेदि पुणो वि णयणाइं मुद्दिय संतीए परमप्प-सुमरणं तच्च-चिंतणं च कादव्वं जेण सम-किलेसो चिंताजाला णियमेण हि उवसमेहिदि। णिद्दाए देहिग-माणसिग-समा अवगच्छेंति, णवीण-फुट्टि-संचारो होदि, चित्तं फुरेदि तहा चिंता-विम्हरणं होदि। णिद्दा पागिदिगा होदव्वा। णिद्दा-लाहत्थं ओसहादिं ण गेण्हेज्जा तहा णेव अवराणं अणजाणेहि, णवरि उण्ह-ओसही जीवे सणइ-सणइ उम्मत्तं उप्पादेदि। एरिसो

उम्मादी कइहा अप्पघाद-उज्जोगं पि कुणेदि, तस्स मुहस्स आहा वि खीणेदि, सहावो होदि कोहसीलो वा। सो सामण्णजीवणादो पुहं होदूणं विसेसजीवणं जीवेदि॥

79. तनाव ग्रसित, चिन्ता युक्त, काम-वासनाओं से पीड़ित व्यक्ति को शीघ्र ही सोना उचित है। इष्ट-वियोग से दुखित आर्तध्यान में बैठे व्यक्ति को पूर्ण-निद्रा मिल जाए तो उसका वियोग-जन्य दुःख हल्का हो जाता है। निद्रा न भी आए फिर भी आँखें बन्द कर शान्ति से परमात्मा का स्मरण व तत्त्व-चिन्तन करते रहना चाहिए जिससे श्रम की थकान एवं चिन्ता की ज्वाला अवश्य ही शान्त होगी। नींद से शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही थकानें दूर हो जाती हैं, नवीन स्फूर्ति का संचार होता है, चित्त प्रसन्न होता है और चिन्ता का विस्मरण हो जाता है। नींद प्राकृतिक ही लेना चाहिए। निद्रा लेने के लिए गोली आदि न खावें और न ही अन्य किसी को सलाह दें, क्योंकि उष्ण-औषधि व्यक्ति के अन्दर धीरे-धीरे उन्मत्तता को जन्म देती है। ऐसा उन्मादी कई बार आत्महत्या का भी प्रयास करता है, उसके मुख की आभा भी फीकी पड़ जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा सा हो जाता है। वह सामान्य जीवन से हटकर विशेष जीवन जीने लगता है।

---

80. एरिसं समं कुणेहि, जेण समए साहाविग-णिद्दा आगमेदि। केइ जीवा झत्ति सयंति, दु कदाइ विलंबणेण; एरिसाणं जीवाणं कावि समय-सारिणी हि णत्थि, ते सदा देहिग-माणसिग-दुह-पीडिदा होंति। णियदकाले सएज्जा जग्गेज्जा, णवरि असमयम्हि जागरणं सयणं च सत्थदिट्ठीए हाणिकारगं॥

80. ऐसा श्रम करो जिससे समय पर स्वाभाविक नींद लो। कुछ लोग शीघ्र सो जाते हैं, तो कभी देर से; ऐसे लोगों की कोई समय-सारिणी ही नहीं होती है, वे हमेशा मानसिक एवं शारीरिक दुःखों से पीड़ित रहते हैं। नियतकाल में नींद लेना चाहिए और नियतकाल में ही उठ जाना चाहिए, क्योंकि असमय का जागना तथा सोना दोनों ही स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हैं।

---

81. जे सज्झकाले सदि सयंते तहा पायो आदिच्चोदयस्स पच्छा जग्गंते, ते विसिट्ठ-विद्यासिद्धिं णवि लहेंति। बंभमुहुत्ते आदिच्चोदयस्स पुव्विं जग्गेज्जा। बंभमुहुत्तं झाणज्झयणस्स कालो ण दु सयणस्स। विज्जत्थीणं साहुमहप्पाणं सज्जणाणं च आदिच्चोदयस्स पुव्विं हि बंभमुहुत्ते सज्जासणं मुंचेज्जा तहा पहुभत्ति-आदज्झाण-विज्जज्झयणे रमेज्जा। सत्थ-पुरिसस्स पण्णरस-घडिगापज्जंतं णिद्दा अलं अत्थि। सिसु-बालगं अहिगसयणं कादव्वं, किण्णु जुवगं पण्णरस-घटिगाए णिद्दा अलं। वुड्ढावत्थाए णिद्दा सदो हि हीयदे। जोगीजणा तवसाहणाए णिद्दं जयंति, पुणो वि ता देह-समाणुसारेण थोवणिद्दं गेण्हेज्जा॥

81. जो शाम होते ही सो जाते हैं और प्रातः सूर्योदय के बाद जागते हैं, वे विशिष्ट-विद्या की सिद्धि नहीं कर पाते हैं। ब्रह्म-मुहूर्त में सूर्योदय के पूर्व जाग जाना चाहिए। ब्रह्म-मुहूर्त सोने का नहीं, ध्यान-अध्ययन का है। विद्यार्थी-जनों, साधु-महात्माओं, सज्जनों को सूर्योदय के पूर्व ब्रह्म-मुहूर्त में शय्यासन छोड़ देना चाहिए और प्रभु-

भजन, आत्मध्यान, विद्याध्ययन में लग जाना चाहिए। एक स्वस्थ पुरुष के लिए छह घण्टे की नींद पर्याप्त है। शिशु-बालक को अधिक सोना चाहिए, पर युवा को छह घण्टे पर्याप्त हैं। वृद्धावस्था में नींद स्वतः ही कम होने लगती है। योगी जन तप-साधना से निद्रा-विजय करते हैं, फिर भी उन्हें शरीर श्रमानुसार अल्प निद्रा लेना चाहिए।

---

82. मिद भासण-मिदभोयण-मिदणिद्दा जोगीजण-अहिणाणं अत्थि। अदिणिद्दा-अणिद्दा य रोगा, दोसुं सदि जीवो असत्थो होदि, उम्मत्तो होदि वा॥

82. मित-भाषण, मित-भोजन, मित-निद्रा योगी-जनों की पहचान है। अतिनिद्रा और अनिद्रा दोनों ही रोग हैं, दोनों के होने पर व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है, पागलपन छा जाता है।

---

83. जदि णिद्दा ण आगच्छेदि दु संतीय सुसाहिच्चं अज्झेदव्वं, सणइ-सणइ-सणइ णिद्दा आगमेहिदि। अणिद्दावत्थाए रोगिं पंचपरमेट्ठिझाणं कादव्वं। दिवसे भोयणे आमलगं भुंजेज्जा तहा सिरम्हि बंभी-जडामासीवादामफलतेल्ल-पओगं कादव्वं, सरिसवतेल्लं पादतलेसु संलग्गेज्जा, किण्णु णिद्दाए ओसहं ण भुंजेज्जा॥

83. यदि नींद न आवे तो शान्ति से सद्-साहित्य का स्वाध्याय करना चाहिए, धीरे-धीरे नींद आ जाएगी। नींद न आने पर रोगी को पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए। दिन में भोजन में आँवला लेना चाहिए तथा सिर में ब्राह्मी, जटामासी व बादाम का तेल लगाना चाहिए, सरसों का तेल पैर के तलवों में लगाएँ, परन्तु नींद की गोली न खाएँ।

---

84. रत्तीए उचिद-विस्सामं कुणेहि, दिवसे उज्जमेहि। दिवस-सयणस्स पुण्ण-णिसेहो जाणेज्जा। आगमदिट्ठीए दिवस-सयणादो दंसणावरणीय-णाणावरणीयकम्मस्स विसिट्ठरूवेण आसवबंधो य होदि; दिवासयण-पउत्ती ण होदव्वा। दिवासयण-पउत्ती एगं विसणं, जं देहिग-माणसिग-अत्थिग-खदि-कारणं। णाणक्खेत्तं पि दिवासयणादो पहाविदं होदि। गिम्हकालं मुंचिय सेसकाले दिवासयणस्स णिसेहं आउव्वेद-गंथो वि करेदि। गिम्ह-रिदुं मुंचिय अवर-रिदूसुं दिवाए सयमाणस्स रोगवड्ढी मिच्चुणिरूवणं च धण्णंतरिणा उत्तं॥

84. रात्रि में उचित विश्राम करें, दिन में उद्यम करें। दिन में सोने का पूर्ण निषेध समझना चाहिए। आगम दृष्टि से दिन में सोने से दर्शनावरणीय तथा ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट आस्रव-बंध होता है, इसलिए दिन में सोने की आदत नहीं बनाना। दिन में सोने की आदत एक व्यसन है जो शारीरिक, मानसिक, आर्थिक क्षति का कारण है। ज्ञान-क्षेत्र भी दिन के सोने से प्रभावित होता है। ग्रीष्म-काल को छोड़कर शेष काल में दिन में सोने के लिए आयुर्वेद-शास्त्र भी निषेध करता है। ग्रीष्म-ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में सोने वाले के रोगवृद्धि तथा मृत्यु होने का निरूपण धन्वन्तरि ने किया है।

---

85. आइरियपवर-सोमदेव-सूरिणा णीदि-वक्कामिद-गंथे उत्तं दिवासयणं देह-पिहिद-णाणारोगरूवा भुजंगा जग्गदि-करणस्स कारणं सयलकज्जसिद्धीए बाहगं च। णिरोगत्त-कज्जसिद्धि-इच्छुगस्स गिम्हकालं मुंचित्ता अवर-रिदूसुं दिवासयणं णवि कुज्जा। दिवासयणादो पमाद-आलस्स-कफवड्ढि-थूलत्त-बुद्धिमूढत्त-विम्हरणसत्तिवड्ढणादि-दोसा जायंते। णाणवंताणं पयत्तेण दिवासयणं णवि कुज्जा॥

85. आचार्य प्रवर श्री सोमदेव सूरि ने 'नीति वाक्यामृतम्' ग्रंथ में लिखा है कि—'दिन में शयन शरीर में छिपे हुए अनेक रोग रूपी सर्पों को जगाने का कारण और समस्त कार्य-सिद्धि में बाधक है।' सार यह है कि स्वास्थ्य व कार्यसिद्धि चाहने वाले व्यक्ति को ग्रीष्मकाल को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में सोना नहीं चाहिए। दिन में सोने से प्रमाद, आलस्य, कफ-वृद्धि, मोटापन, बुद्धि की ठसता, विस्मरणशक्ति की वृद्धि आदि होती है। समझदारों को प्रयत्नपूर्वक दिन में नहीं सोना चाहिए।

णिंदा-विसणं

(निन्दा-व्यसन)

86. परणिंदा कुस्सिद-विसणं, णीचगोत्तकारणं च। णिंदारसालूदो रक्खणं पउर-कढिण-कज्जं, कदा कस्स लोगाववादं कारेदि; णिंदगस्स कोवि वीसासो णत्थि॥

86. पर-निन्दा करना बहुत खोटा व्यसन है, जो नीच गोत्र का कारण है। निन्दा-रसालु से बचना बहुत ही कठिन कार्य है, कब किसका लोकापवाद करा दे; निन्दक का कोई विश्वास नहीं।

---

87. पिसुणत्ते णिंदाए य बहु-अंतरं। कस्सचिद गुत्तवयण-उग्घाडणं अवर-भासणं च पिसुणत्तं, णिंदाए जीवो दोसाणुवट्ठिदे सदि वि तम्हि आरोविय अवरा भासेदि। असमीचीणत्तं णिंदा, णिंदा-पिसुणत्ताइं अवीसास-कज्जाइं॥

87. पिशुनता एवं निन्दा में बहुत अन्तर है। पिशुनता अर्थात् किसी की गुप्त बात को उद्घाटित करना, दूसरों को बताना, निन्दा में व्यक्ति किसी दोष के न होने पर भी उस पर आरोपण कर दूसरों को बताता है। बुराई करना निन्दा है, पिशुनता एवं निन्दा ये दोनों ही अविश्वास के कार्य हैं।

---

88. परणिंदगो सगजीवण-उत्थाणं ण करेदि, णवरि तं परदोसदंसणादो समयो णत्थि। सो णियप्पदंसणं आदविगासचिंतणं कदा करिस्सदि? सग-आदोण्णदीए चिंतेदुं पि समयो होदव्वो। वियारणं विणा कस्सचिद वि कज्जस्स पुण्णत्तं णत्थि॥

88. पर-निन्दक अपने जीवन का उत्थान नहीं कर पाता है, क्योंकि उसे पर दोष-दर्शन से समय ही नहीं

मिलता। वह स्वात्म-दर्शन, आत्म-विकास का चिंतन कब करे? स्व-आत्मोन्नति पर विचार करने के लिए भी समय चाहिए। बिना विचार के किसी भी कार्य की पूर्णता नहीं होती है।

---

89. परणिंदा णीचकम्मं। सेट्ठजणा परणिंदाए दोसादो सदा सगप्परक्खणं कुणंति। परणिंदाए विउल-पुरिसा वि झत्ति हु लहू होंति। परणिंदाए पुज्जेसुं पुज्जं पि झत्ति अपुज्जत्तं भजेदि, सम्माणणीयो वि असम्माणं भजेदि। लोए कोवि केत्तियो पि पदिदो होदु पुणरवि सज्जणो सम्म-कल्लाणप्पद-पसत्थ-पुण्णवड्ढणीय-पावक्खयकारी-कहणं हि इच्छेदि। कदावि भव्व-पुरिसाणं चित्तं असुह-भासा-भासणं च सवणस्स ण होदि। भवियधम्मप्प-जीवो साहु-महप्पाणं णाणीणं सामिप्पं पत्ते सदि वि चादगपक्खी इव अविरलो णाणीजणाणं मुहमंडलं पडि पस्सेदि।।

89. पर-निन्दा नीचकर्म है। श्रेष्ठ जन परनिन्दा के दोष से हमेशा स्वयं की आत्मरक्षा करते हैं। दूसरों की निन्दा करते ही बड़े से बड़े पुरुष भी शीघ्र ही लघु हो जाते हैं। पर-निन्दा से पूज्य से पूज्य भी तुरन्त अपूज्यता को प्राप्त हो जाता है, सम्माननीय भी असम्मान को प्राप्त होता है। लोक में कोई कितना भी गिरा क्यों न हो, फिर भी सज्जन पुरुष अच्छी, कल्याणप्रद, प्रशस्त, पुण्य-वर्धनीय, पाप-क्षयकारी बात ही सुनना चाहता है। अशुभ-भाषा, अशुभ-भाषण सुनने का मन भव्य-पुरुषों का कभी नहीं होता है। भव्य-धर्मात्मा जीव साधु-महात्माओं के, विद्वानों के सानिध्य को प्राप्त होते ही चातक-पक्षी की भाँति एक-टक हो ज्ञानीजनों के मुख-मण्डल की ओर दृष्टि लगाता है।

---

90. जह चादगो सादि-णक्खत्त-णीरबिंदुं पस्सेदि, तहेव धम्मप्पा तच्चण्हु-पुरिसाणं सिरिमुहं पस्सेदि। कदा सादिबिंदुमिव इमेसिं सिरिमुहकमलादो सच्चत्थबोह-पुण्ण-भूदत्थदेसणा पयडेज्जा तहा अहं सग-कण्णपडलरूवी-अंजुलिं किच्चा पिबेमि। समयप्पमाणकालो वि विलंबो अंगीयारो णत्थि। आउकम्मस्स पत्तेगक्खणं णस्सेदि, इमस्स रक्खणं कुणेहि। संपडिकालो जावदु-सेट्ठकज्जेसुं गमेहिदि सो हि मज्झाण भविस्सस्स अच्चंत-सुहमंगल-पसत्थ-खेम-कुसलत्त-कारणं।।

90. जैसे चातक स्वाति-नक्षत्र की पानी की बूँद को देखता है; उसी प्रकार धर्मात्मा तत्त्वज्ञ-पुरुषों के श्रीमुख को देखता है। कब स्वाति की बूँदवत इनके श्रीमुखकमल से 'सत्यार्थ-बोध' पूर्ण भूतार्थ-देशना प्रकट हो और मैं अपने कर्ण-पटलों की अंजुली लगाकर पी लूँ। समय प्रमाण-काल भी विलम्ब स्वीकार नहीं है। आयु कर्म का एक-एक पल व्यतीत हो रहा है, इसे व्यर्थ मत जाने दो। सम्प्रति-काल जितना श्रेष्ठ-कार्यों में जाएगा वही हमारे भविष्य के लिए अत्यन्त शुभ-मंगल-प्रशस्त क्षेम-कुशलता का कारण है।

---

91. णिरत्थ-वयण-कज्जाइं मज्झाण आदुण्णदि-कारणाइं ण संति, ण आसी, णेव होस्संति, इदं आदत्थीजणा सुजाणंति। ते जगदीए लोगिग-कज्ज-कारणादो सगं विगंति तहा सदा सुसुदस्स सवण-मणण-चिंतण-संभासणेसुं सगीय-आउकम्म-णिसेगा उवजुंजंति।।

91. व्यर्थ की बातें, व्यर्थ के कार्य हमारी आत्मोन्नति के कारण न हैं, न थे, न ही भावी काल में होंगे, इस बात को आत्मार्थी-जन भली-भाँति जानते हैं। वे जगति पर लौकिक कार्य एवं लौकिक कारणों से अपने आपको दूर रखते हैं तथा सदा सुश्रुत के श्रवण, मनन, चिंतन, संभाषण में अपने आयुकर्म के निषेकों को लगाते हैं।

---

92. सगप्पसंसगो परणिंदगो णीचगोत्तासवं करेदि। सगगुण-उब्भावगो परावगुण-उग्घाडगो वि णीचगोत्तासवं करेदि, सो तिरियादि-असुहगदिं लहेदि। जदि माणवो होदि दु लोग-णिंदिदकुले जम्मेदि, जस्स जीवा फासणं चावि ण रुच्चंति। परदोस-उग्घाडगस्स एरिसा विडंबणा होदि॥

92. स्व-प्रशंसक, पर-निन्दक नीचगोत्र का आस्रव करता है। अपने गुणों का उद्भावक, पर के अवगुणों का उद्घाटक भी नीच गोत्र का आस्रव करता है, वह तिर्यञ्चादि अशुभगति को प्राप्त करता है। मनुष्य बने तो लोक निंदित कुल में जन्म लेता है, जिसे लोग स्पर्श करना भी पसन्द नहीं करते। ऐसी विडम्बना होती है, पर दोष उद्घाटक की।

---

93. परणिंदा-विसणं मदं विणा मदो होदि। णिंदारसिगो दिवसे रयणीए भवणे पासादे मसाणे मंदिरे वा कुओ वि अवसरे सदि अवर-णिंदं आरंभेदि। जदि वयं णिंदगस्स णिंदं सुणेमो दु तेण तस्स सत्ती वड्ढेदि। णिंदगो जस्स णिंदं कुणदु, तस्सेव वयं पसंसं करेमो दु सो णिंदं मुंचेहिदि। णिंदगो परणिंदं तस्सेव सम्मुहे करेदि जो सुणेदि। जो सज्जणो परणिंदं ण करेदि णेव सुणेदि तस्स सम्मुहे कोवि कस्सचिद अण्णस्स णिंदाकरणसत्तिं ण संचएज्जा। कोवि इदं ण चिंतेज्जा-णिंदगं होहिदि णीचगोत्तासवबंधो णेव ममं। अरे भाउ। सवणेण बंधो णत्थि इमं भमं णिज्जावेहि। सवणेण वि जीवं एरिसं रसं जायदे जह धुम्मपाणगस्स धुम्मं जिंघमाणमिव। किं तुमं ण जाणेसि-धुम्मपाइणा सह उववेसण-मेत्तेण वि कक्करोगो होदि। जह कोरोणा सरिस-महामारी रोगी-सामिप्पादो गमण-मेत्तेण होदि, तहेव णिंदासवणमेत्तेण वि णीचगोत्तासवो होदि। जदि णीचगोत्तादो रक्खाभावा दु पुण्णप्प-पुण्णक्खीणस्स य णिंदं ण करेहि। तुए किद-णिंदा णेव कस्सचिद पुण्णोदयं हरसेहिदि वड्ढावेहिदि, विहा सग-वयण-बलस्स दुरुवओगस्स किं लाहो? किंपि पुण्णलाहो णत्थि, अविदु विहा पुण्णदव्वक्खयो त्थि॥

93. पर-निन्दा ऐसा व्यसन है जो बिना नशे का नशा होता है। निन्दा-रसिक न दिन देखता है, न रात्रि देखता है, न भवन-महल-मशान या मन्दिर कहीं भी, उसे तो अवसर मिलना चाहिए, वह दूसरे की बुराई करना प्रारंभ कर देता है। यदि हम निन्दक की बुराई सुनते हैं, तो उससे उसकी शक्ति बढ़ती है। निन्दक जिसकी निन्दा करे, उसी की अपन प्रशंसा कर दो तो वह निन्दा करना छोड़ देगा। निन्दक पर की निन्दा उसी के सामने करता है जो सुनता है। जो सज्जन पर की निन्दा न करता हो और न सुनता ही हो उसके सामने कोई भी किसी अन्य की निन्दा करने की शक्ति नहीं जुटा पाएगा। कोई यह भी न सोचे कि—निन्दा करने वाले को नीच-गोत्र का आस्रव-बंध होगा मुझे नहीं। अरे भाई! भ्रम निकाल दो यह कि सुनने से बंध नहीं होता। सुनने से भी व्यक्ति

को ऐसा रस आता है जैसे धूम्रपान करने वाले के धुँए को सूँघने वाले को। क्या आप यह नहीं जानते कि धूम्रपायी के साथ बैठने मात्र से भी कैंसर जैसी बीमारी हो जाती है। जैसे कोरोना जैसी महामारी रोगी के समीप से निकलने मात्र से हो रही है, उसी प्रकार से निन्दा सुनने मात्र से भी नीच गोत्र का आस्रव होता है। नीच-गोत्र से बचने के भाव हैं तो न पुण्यात्मा की, न पुण्यक्षीण की निन्दा करो, आपके द्वारा की गई निन्दा न किसी के पुण्योदय को घटाएगी न बढ़ाएगी, व्यर्थ अपने वचन-बल का दुरुपयोग करने का क्या लाभ? कोई पुण्य लाभ नहीं है, अपितु पुण्यद्रव्य का व्यर्थ में ही क्षय है।

---

94. ते लोए करुणा-पत्ता जे णिंदा विसण-पीडिदा। जह महापाविं सगीय-तण-धणगेहस्स दयणिज्जावत्था-णाणं ण होदि, धणं गणएदि, पुणरवि मज्जपाणं करेदि, एरिसो णिंदारसालु-णिंदाविसणिं च होदि बोहो–ममं परणिंदादो किंचिवि लाहो ण होहिदि, मे पुण्णमेव खएहिदि, अवीसास-अवजसो हि भजेहिदि, णाणी-जणमज्झे किंपि सम्माणं ण वड्ढेहिदि, पुणो वि णिंदं विणा वरागा-मणो ण मण्णेदि॥

94. वे लोग लोक में करुणा के पात्र हैं जो निन्दा-व्यसन से पीड़ित हैं। जैसे महापापी को अपने तन-धन-घर की दयनीय स्थिति का भान नहीं रहता, पैसे-पैसे को तरसता है, फिर भी मदिरा पान करता है, ऐसे ही निन्दा रसालु, निन्दा-व्यसनी को बोध होता है कि मुझे पर की निन्दा करने से कुछ नहीं मिलेगा, मेरा पुण्य ही क्षय होगा, अविश्वास, अपकीर्ति ही मिलेगी, ज्ञानी-जनों के मध्य कोई सम्मान नहीं बढ़ेगा, फिर भी निन्दा किए बिना बेचारों का मन नहीं मानता है।

---

95. किंचण मुहेण अलिहिद-तक्कालपज्जंत-णिंदं करेंति, किण्णु किंचण तिव्वकसायीजीवा अवरणिंदं लेहित्ता दिग्घकालिगं करेंति। ते भासंते-सच्चपयासं करेमि, किण्णु ता णिंदगा सच्चत्थ-बोहो णत्थि; णिंदाकम्मं हि असच्चं। वत्थुमीमंसा पण्णा-कोसलो, किण्णु मीमंसा सम्म-विसयम्हि समीचीणा होदि, सा वि विसयस्स विसद-पगडत्थं। एवं जा णिंदा सा अण्णाण-ईसावसादो होदि॥

95. कुछ अलिखित निन्दा करते हैं मुख से वह तत्काल की है, पर कुछ तीव्र-कषायी जीव होते हैं, वे दूसरे की निन्दा लिखकर दीर्घ-कालिक करते हैं। वे जगत् के लोगों को कहते हैं कि—मैं सत्य का प्रकाश कर रहा हूँ, पर उन निन्दक को सत्यार्थ का बोध ही नहीं, निन्दा कर्म ही असत्य है। वस्तु की मीमांसा करना प्रज्ञा-कौशल है, पर मीमांसा सम्यक्-विषय पर समीचीन होती है, वह भी विषय के विशद स्पष्टार्थ हेतु। वहीं जो निन्दा है; वह अज्ञान, ईर्ष्यावश होती है।

---

96. जदि धम्म-दंसण-चरिया-णाण-साहिच्च-आगमपुराण-णिंदं किद-कारिदबुद्धी जायदे दु पढमं तेसिं सम्मविहीए गुणग्गाहीदिट्ठीए दिग्घकालजावं अज्झेज्जा। पदत्थबोहगागमो अगाहो, सत्थं विराडसागरो, तम्हि को ण बूडिज्जेदि? तत्तो णिस्सरेदुं उत्तम-णाविगासयं गेण्हेज्जा। जदि गूढगंथ-

रहस्सं ण जाणेज्जा दु णाणी आइरिय-उवज्झाय-समण-तव्विसयग-पंडिदत्तो जाणेज्जा। णाणं विणा अवगमणं विणा कस्सचिदवि दंसणस्स सिद्धंत-किरियापक्खेसुं आराहणा-साहणासुं भत्तिपूयाअच्चणासुं मंतउवासणा-विहीए य णिंदप्पग-आलेहणं वत्तत्त-भासणं च सग-अण्णाणत्तं दिग्घकालजावं ठावणा अत्थि। जदि तुवं भासणलेहण-भावणा दु तं रुंभिय पढमं णादा हुव। पढमं हुव णादा पुणो पवत्ता हुव। पसिद्ध-पुरिसा णाणीजणमज्झे सगीय-अण्णाणदा-पुण्ण-कहणं लिहेदूणं णवि गच्छेज्जा। पसिद्धजीवणं कज्जयारी णत्थि, मरणस्स पच्छा वि तुज्झ साहिच्चं तुज्झ अंतरिग-सच्चत्तं पयडेदि, तम्हा सव्व-लेहग-कवी इमम्हि चिंतेज्जा॥

96. यदि किसी धर्म, दर्शन, चर्चा, ज्ञान, साहित्य, आगम-पुराणों की निन्दा करने-कराने की बुद्धि उत्पन्न हो तो सर्वप्रथम उनका सम्यक्-विधि से, गुणग्राही दृष्टि से दीर्घकाल तक अध्ययन करना चाहिए। पदार्थ-बोधक आगम अगाध है, शास्त्र एक विराट्-सागर है, उसमें कौन नहीं डूब सकता है? उसमें पार पाने के लिए श्रेष्ठ नाविक का आश्रय ले लेना चाहिए। यदि गूढ़-ग्रंथों का रहस्य समझ नहीं आए तो ज्ञानी आचार्य, उपाध्याय, साधु या तद्विषयक विद्वान से समझना चाहिए। बिना जाने, बिना समझे किसी भी दर्शन के सिद्धांतों-क्रिया-पक्षों, आराधना-साधना, भक्ति-पूजा-अर्चना, मंत्र-उपासना, विधि पर निन्दात्मक-आलेखन या वक्तृत्व-भाषण स्व-अज्ञानता को दीर्घ-काल तक स्थापित करना है। यदि आपको बोलने-लिखने की भावना है, तो उसे रोककर सर्वप्रथम ज्ञाता बनो। पहले ज्ञाता बनो, फिर प्रवक्ता बनो। प्रसिद्ध-पुरुषों को ज्ञानियों के मध्य अपनी अज्ञानता-पूर्ण बात को लिखकर नहीं जाना चाहिए। प्रसिद्ध जीवित कार्यकारी नहीं मृत्यु के बाद भी आपका साहित्य आपकी आन्तरिक-सत्यता को उद्घाटित करता है, इसलिए सभी लेखक कवि इस बात पर ध्यान दें।

---

97. सगीय-मज्झे कहणं-वाह वाह! तुज्झ कित्तित्थंभो णत्थि। तुज्झ देहविओगे सदि तुज्झ तुए लिहिदं साहिच्च-सम्म-समिक्खाओ वसुंधराए णाणीहिं हुज्जा, सो हि तुज्झ थाइ-कित्तित्थंभो होहिदि। सहस्सवरिसा गदे सदि पुणो वि संपडि भारहेण सह सयलवीसो वसुंधराए दियंबरजेणाइरिय-कुंदकुंददेवो व्व साहिच्चकाराणं सुजसो वड्ढमाणो होदि, तस्स पहाण-सत्थं समयपाहुडं वीसविक्खादं॥

97. अपनों के मध्य वाह-वाह! आपका कीर्ति-स्तंभ नहीं, आपका देह-वियोग होने के बाद आपकी एवं आपके द्वारा लिखित साहित्य की सम्यक्-समीक्षाएँ वसुन्धरा पर मनीषियों विद्वानों द्वारा होती रहे, वहीं होगा तुम्हारा स्थाई कीर्ति-स्तंभ। सहस्त्रों वर्ष व्यतीत हो गए फिर भी सम्प्रति भारत ही नहीं सर्व-विश्व वसुन्धरा पर दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जैसे साहित्यकारों का सुयश वर्धमान हो रहा है, उनका महान्-ग्रंथ 'समयसार' विश्वविख्यात है।

---

98. गंथ-सज्झायो णाणतच्चस्स गंभीरचिंतणं जं परणिंदारहिदं च भावविसुद्धिपबलकारणं। णाणीजीवो परणिंदा-विसणादो अच्चंतपुहं होदि॥

98. शास्त्रों का स्वाध्याय, ज्ञान-तत्त्व का गंभीर-चिंतन भाव-विशुद्धि का प्रबल कारण है, जो पर-निन्दा से रहित होता है। ज्ञानी जीव की प्रथम पहचान होती है कि वह पर-निन्दा व्यसन से अत्यंत दूर ही रहता है।

---

99. सुतक्केहिं तच्चसमिक्खं कीरदे, किण्णु तक्कसुण्णकुतक्केहिं णाणित्त-अहिणाणं ण होदि। सच्चत्थबोहो सियवाय-अणेयंतादो हि संभवो, सियवाय-अणेयंत-दिट्ठि-आलंबणं विणा वत्थुतच्चस्स सम्म-परूवणं असंभवं। पत्तेग-वत्ता-लेहगं च सियवायसासणस्स गंभीरज्झयणं णिण्णाद-पंडिदादो कादव्वं॥

99. सुतर्कों के माध्यम से तत्त्व की समीक्षा की जा सकती है, परन्तु तर्क-शून्य कुतर्कों से ज्ञानीपने की पहचान नहीं होती है। सत्यार्थ-बोध स्याद्वाद-अनेकान्त से ही सम्भव है, स्याद्वाद-अनेकान्त दृष्टि के आलम्बन लिए बिना वस्तु-तत्त्व का सम्यक्-प्ररूपण असम्भव है। प्रत्येक वक्ता व लेखक को स्याद्वाद-शासन का गम्भीर अध्ययन निष्णात-विद्वान् से करना चाहिए।

---

100. जं तुज्झ सगज्झयण-चिंतण-मणणं च तं तु तुवं समया अत्थि, तं कत्थ वि ण गमेदि, इमेण सह सियवाय-दंसण-चदु-अणुजोग-णाणं पि कुज्जा। णूणं जीवचिंतणे विसालत्तं आगमेदि। सो सगवयणं भासणस्स पुव्विं णयदिट्ठीए णूणं हि चिंतेज्जा। कत्थ मे वयण-लेहणेणं सच्चतच्चघादो दु ण होदि, एरिसं चिंतणं अहिंसाधम्मविभूसिदो सियवादी णूणं करिस्सदि॥

100. जो आपका स्वयं का अध्ययन-चिंतन-मनन है वह तो आपके पास है ही; वह कहीं जाने वाला नहीं, इसके साथ स्याद्वाद-दर्शन (जैन-दर्शन), चारों-अनुयोगों का ज्ञान भी कर लेना चाहिए। व्यक्ति की सोच में विशालता आए बिना रह नहीं सकती है। वह अपनी बात को कहने के पूर्व नय-दृष्टि पर अवश्य ही विचार करेगा। कहीं मेरे वचनों या लेखन के द्वारा किसी सत्य तत्त्व का घात तो नहीं हो रहा, ऐसा विचार, अहिंसा-धर्म से विभूषित, स्याद्वादी अवश्य ही करेगा।

---

101. अणेयंतदिट्ठि-चिंतगो सज्जण-पुरिसो परणिंदादो अच्चंत-पुहं होदि। जो परणिंदं करेदि, तेण सव्वे दोसं करेंति अहवा जो परणिंदं करेदि, ताए णिंदा-णिउत्तीए णिंदग-पुरिसस्स पसंसं मुंचित्ता अवरं किंपि अमोह-ओसहं णत्थि। कुण परणिंदा-विसणादो आदरक्खणं, पस्स सगगुणा, सगावगुण-उण्णयणं कुण; एवमेव माणवधम्मो॥

101. अनेकान्त-दृष्टि से विचार करने वाला सज्जन-पुरुष पर-निन्दा से अत्यन्त दूर हो जाता है। जो पर-निन्दा करता है; उससे सभी द्वेष करने लगते हैं अथवा जो मनुष्य पर-निन्दा करता है उस निन्दा निवृत्ति के लिए, निन्दा किए जाने वाले पुरुष की प्रशंसा को छोड़कर अन्य कोई अमोघ-औषधि नहीं है। पर-निन्दा व्यसन से आत्म-रक्षा करो, स्व-अवगुणों को देखो, स्व-अवगुणों की सुधार करो, यही मानव-धर्म है।

गीदसवण-विसणं
(गीत-श्रवण-व्यसन)

102. साहग-सावगाणं समयो हि अग्घवंतो, जीवणं सच्छ-सेट्ठ-करणत्थं समयरक्खणं सिक्खेहि। जो समयरक्खणं जाणेदि तस्सेव सव्वत्थ रक्खा होदि। जो समयमुल्लं ण जाणेदि, तस्स जीवणस्स वि कोवि विसेसमुल्लं ण होदि। जीवणे पडिक्खणं समयरक्खाभावो आगमेज्जा। जो समओ गदो, किं सो पुणो भजेहिदि? पडिपलं णवीण-णवीण-उच्चत्त-णिम्माणं कुण॥

102. साधक-श्रावक दोनों का ही समय अर्घवान है, जीवन स्वच्छ-श्रेष्ठ बनाना है तो समय की रक्षा करना सीखो। जो समय की रक्षा करना जानता है उसी की सर्वत्र रक्षा होती है। जो समय के मूल्य को नहीं समझता है उसके जीवन का भी कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता है। जीवन में प्रतिक्षण समय-रक्षा के भाव आना चाहिए। जो समय निकल गया; क्या वह पुनः प्राप्त होगा? पल-पल नवीन-नवीन आयाम तैयार करना।

---

103. मित्ताइं! एगं सासं गेण्हेसि किं पुणो सास-गहणत्थं तुमं जीवेहिसि? तुवं विसासो त्थि? तम्हा विवेगसीला तमेव कज्जं कुज्जा जेण समयस्स दुरुवओगो ण होदु। साहगस्स उद्देस्सो आदहिदस्स हि होदव्वो, णेव अण्णो। णिरत्थगकज्जेसुं समय-विणासं मा कुण। पडिसासं बहुमुल्लं। आउ-परिपुण्णे सदि णिमेसमेत्तं पि अदिरित्तसमयो ण भजेहिदि॥

103. मित्रो! एक श्वास ली, क्या पुनः श्वास लेने तुम जीवित ही रहोगे? आपको भरोसा है? इसलिए विवेकशीलों को वही कार्य करना चाहिए जिससे समय का दुरुपयोग न हो। साधक का आत्महित के अलावा अन्य कोई उद्देश्य नहीं होना चाहिए, व्यर्थ के कार्यों में समय व्यतीत मत करो। श्वास-श्वास की कीमत है। आयु पूर्ण होने पर फिर एक मिनट भी अतिरिक्त प्राप्त नहीं हो सकेगा।

---

104. लोए मणोरंजणविसया विचित्ता। जस्स मणोरंजणं पडि तिव्व-अहिरुई, सो सगीय-सव्वदव्वं अप्पणेदि, तं उत्तमाणुत्तमस्स किंचण वि विवेगो णत्थि। एवं सो विसरेदि सो कम्हि पदम्हि आसीणो तहा सगत्तो चएदि॥

104. लोक में मनोरंजन के विषय अनेक हैं। जिसकी मनोरंजन के प्रति तीव्र लालसा है वह अपना सब कुछ न्यौछावर कर देता है, उस लंपटी को अच्छे-बुरे का कुछ भी विवेक नहीं रहता है। यहाँ तक कि वह किस पद पर आसीन है, यह भी भूल जाता है और अपने से च्युत हो जाता है।

---

105. जावदिया अहिगा तुमं सामण्ण-जण-मज्झे चिट्ठेहिसि, तुमं तावदियो सामण्णो होहिसि। गीदसवण-विसणी अहोरत्ती तम्हि होदि आसत्तो। गेहकज्ज-रज्जकज्ज-आदसाहणाभावणाओ य वि

णस्संति। साहु-रायं च सदा सगकज्जं पडि जग्गेज्जा। गीतगाण-उम्मत्तो ण साहणं करिस्सदि णेव रज्जं संभलेहिदि। गीदगाणेसुं गंभीरत्तणासो होदि, पुणो तस्स सज्जण-महाजणसाहुविंदेसुं ठाणं ण होदि॥

105. जितना अधिक आप सामान्य-जनों के मध्य बैठोगे आप उतने ही सामान्य होते जाओगे। गीत-श्रवण-व्यसन जिसको लग गया वह दिन-रात उसी में आसक्त रहता है। गृह-कार्य, राज्य-कार्य, आत्म-साधना की भावना सब चौपट हो जाते हैं। साधु व सम्राट् को हमेशा स्व-कार्य के प्रति जाग्रत रहना चाहिए। गीत-गानों में उन्मत्त न साधना कर पाएगा और न ही राज्य सँभाल पाएगा। गीत-गानों में गंभीरता का नाश हो जाता है, फिर उसका सज्जनों-महाजनों, साधु-वृन्दों में स्थान नहीं होता है।

---

106. गायगस्स सगीय-ठाणं होदि, णवरि गीदं पि एगा कला विज्जा; किण्णु तस्स ठाणं पुज्जं णत्थि संगीदयारस्स एव होदि। लोए वि दिस्समाणं साहु-रायस्स आसणं संगीदयारदो उच्चं हि होदि। रायं पयाए अणुसासण-विज्जाए णिच्चं अब्भासेज्जा, साहुं अप्पाणुसासणस्स अब्भासं कुज्जा, पुण णूणं हि तस्स विगासो संभवो त्थि। संगीदयारं णिच्चं सत्तसुरब्भासं कुज्जा, तदेव सो सगीय-इट्ठविज्जाए पवीणो होदिदि॥

106. गाने वाले का अपना एक स्थान रहता है, क्योंकि गान भी एक कला है, विद्या है; परन्तु उसका स्थान पूज्य नहीं संगीतकार का ही होता है। लोक में भी देखा जाता है कि साधु, सम्राट् का आसन संगीतकार से उच्च ही होता है। राजा प्रजा पर अनुशासन की विद्या का सतत अभ्यास करे, साधु आत्मानुशासन का अभ्यास करे, तो निश्चित्त ही उसका विकास संभव है। संगीतकार सतत सप्त-सुरों का अभ्यास करे, तभी वह अपनी विद्या में निष्णात होगा।

---

107. आदकल्लाणत्थं साहणं संगीद-रज्जं च चत्तेदूणं, जोग-उवओगं च सुरक्खणब्भासं कुज्जा, तं पि बहिरब्भंतर-वियप्प-विमुत्तो होदूणं॥

107. आत्म-कल्याणार्थ साधक को राज्य व संगीत दोनों का ही त्याग कर; योग-उपयोग को सँभालने का अभ्यास करना चाहिए, वह भी अन्तरंग-बहिरंग विकल्पों से विमुक्त होकर।

णच्चदंसण-विसणं

(नृत्य-दर्शन-व्यसन)

108. लोयो णाणाजीव-परिपुण्णा, जावदिया संसारीजीवा ते सव्वे सग-खवोवसमजुत्ता। अवरे अवर-खवोवसमो ण पवेसेदि, एसो पडिभादि—अमुगस्स संगदीए अमुगो एसो होदि, किण्णु इदं कहणं लोयववहारे णिमित्त-पहाणं। तं पि गेण्हेहि, किण्णु अंतरंगस्स मूलविसयं विम्हरणं विणा। जस्स जीवस्स जहा सग-खवोवसमो त्ति, तहा तहा जीवा पडि तस्स संपक्को होदि तहा सो तहेव तहेव

जीवा रुच्चेदि। सामण्ण-भासाए जहा जस्स मदी होदि तस्स गदी वि तहेव कज्जम्हि होदि। उवयारेण अवरे उत्तमाणुत्तम-सक्कारारोवणस्स आरोवो आगमेदि। तं कोवि ण समत्तेदि, एवं णेव कुज्जा, अविदु णिमित्त-उवादाणं जाणित्ता तडत्थो मज्झत्थो होज्जा॥

108. लोक नाना लोगों से पूर्ण है; जितने संसारी-जीव हैं वे सब स्व-क्षयोपशम से युक्त हैं। अन्य में अन्य के क्षयोपशम प्रवेश नहीं करते; ऐसा लगता अवश्य है कि—अमुक व्यक्ति की संगति से अमुक व्यक्ति ऐसा हो गया, परन्तु यह कथन लोक-व्यवहार में निमित्त प्रधान है। उसे भी स्वीकार करो, परन्तु अंतरंग के मूल-विषय को पूर्ण भूलकर नहीं। जिस जीव का जैसा स्वयं का क्षयोपशम रहता है, वैसे-वैसे लोगों के प्रति उसका संपर्क होता है और वह वैसे-वैसे ही लोगों को पसन्द करता है। सामान्य भाषा में जिसकी जैसी मति होती है उसकी गति भी वैसे ही कार्य में होती है। उपचार से दूसरे पर अच्छे-बुरे संस्कार डालने का आरोप आता है। उसे कोई समाप्त भी नहीं कर सकता, करना भी नहीं चाहिए, अपितु निमित्त-उपादान को समझकर तटस्थ, मध्यस्थ हो जाना चाहिए।

---

109. जीवस्स जोग्गत्तं सग-उज्जमेण हि सिज्झेदि। जहेव उज्जम-गदी होदि तहेव तहेव तस्स वित्ती णिम्मेदि, एवमेव पुण्ण-भूदत्थं सच्चं चेव। एरिसं दंसणं कुणेहि जेण आददंसणं परमप्पदंसणं होदु, उहयलोए सुहजसलद्धी वा होदु। लोगुत्तरायारे रमित्ता, पेयं पडि ण गच्छित्ता, सेयं पडि हि गच्छेदु॥

109. जीव की योग्यता स्व-पुरुषार्थ से ही बनती है। जैसी पुरुषार्थ की गति होती है उसकी वृत्ति वैसी-वैसी बनती चली जाती है, यही पूर्ण-भूतार्थ है, सत्य है। दर्शन ऐसा करो जिससे आत्म-दर्शन हो, परमात्म-दर्शन हो, उभय-लोक में सुख एवं यश की प्राप्ति होती हो। प्रेय की ओर गमन न कर; श्रेय की ओर गमन हो, लोकोत्तराचार में लीन होकर।

---

110. जेण दंसणेण परलोएण सह वट्टमाणे हि साहुत्तस्स अप्पाणुसासणत्तस्स अभावस्स दंसणं होज्जा, एरिसस्स दंसणस्स सव्वत्थ सव्वहा चागो होदव्वो॥

110. जिस दर्शन से पर-लोक तो दूर वर्तमान में ही आपकी साधुता-आत्मानुशासनता के अभाव का दिग्दर्शन होने लगे, ऐसे दर्शन का सर्वत्र सर्वथा त्याग होना चाहिए।

---

111. बालचेट्ठासु वुद्ध-णाणीजणा णवि रमेज्जा। जेट्ठजणाणं समयप्पमाणं समयो वि खुद्दकज्जेसुं ण देज्जा। जत्थ सयल-साहुत्तं णस्सेदु, तत्थ दंसणस्स साहुजणाणं पवेसो णिसेहो होदि। परदंसणे सज्जणाणं सगीय-सज्जणदा-बलिं णवि देज्जा। धम्मप्पजणा पहुदंसणे गुरुदंसणे तित्थदंसणे सुसत्थ-आगमदंसणे वा सग-णयणाणं समुज्जमेंति॥

111. बालचेष्टा में वृद्ध ज्ञानी-जनों को नहीं जाना चाहिए। ज्येष्ठ-जनों को समय-प्रमाण-समय भी क्षुद्र कार्यों में नहीं देना चाहिए। सम्पूर्ण-साधुता जहाँ स्वाहा हो; वहाँ दर्शन क्या? साधुजनों का प्रवेश ही निषेध है। पर-दर्शन में सज्जनों को अपनी सज्जनता की बलि नहीं दे देना चाहिए। धर्मात्माजन प्रभु-दर्शन, गुरु-दर्शन, तीर्थ-दर्शन, सद्-शास्त्रों, आगमों के दर्शन में अपने नयनों का सम्यक्-प्रयोग करते हैं।

---

112. मूढा विवेगबुद्धीए दरिद्दीजणा सगीय-अमुल्ल-दुल्लह-समयं भंड-णच्च-गीदेसुं विणस्सेंति, ता सुरदुल्लह-णरदेहस्स मुल्लबोहो णत्थि। माणवपज्जायो आदकल्लाणत्थं भजेदि; ण दु णच्चदंसणत्थं? पुव्वपुव्व-पज्जाएसुं एदं एदं हि करीअ पस्सीअ। अज्ज किं अहिणवकज्जं?

112. अज्ञ, विवेक-बुद्धि के दरिद्रीजन अपना अमूल्य, दुर्लभ-समय भांड, नृत्य-गानों में विलीन करते हैं, उन्हें सुर-दुर्लभ नर-देह की कीमत का बोध नहीं है। मानव-पर्याय आत्म-कल्याण के लिए प्राप्त हई है; नृत्य-दर्शन के लिए नहीं, पूर्व-पूर्व पर्यायों में यही-यही करते, देखते आए हैं। आज क्या नया है?

---

113. धण्णो धण्णो धण्णो तित्थेसो महाराओ आदिणाह-सामी, जो सग्ग-अच्छरा-णीलंजणाए णच्चकलाए मरणबोहं किच्चा णवीण-णच्चंगणाए णच्चं पिहिदकरणस्स आएसं करीअ तहा रज्जं चत्तिय वेरग्गपहं गेण्हित्ता अक्खयवंत-सण्णं लब्भीअ॥

113. धन्य-धन्य-धन्य तीर्थेश महाराजा आदिनाथ स्वामी; जिन्होंने स्वर्ग की अप्सरा नीलांजना की नृत्य-कला में मृत्यु का बोध कर नवीन नृत्यांगना के नृत्य को बन्द करने का आदेश कर दिया और राज्य त्याग वैराग्य-पथ को स्वीकार कर अक्षयवन्त संज्ञा को प्राप्त किया।

---

114. पयागराय-गंगातडे विराड-वडविच्छतले दियंबर-जेणिस्सरीदिक्खं धरित्ता पच्छा हिमगिरि-हिमालय-कइलास-पव्वदे घोरघोर-तवसाहणं किच्चा णिव्वाणं भजीअ। णाहिणंदणस्स आददंसणेण भगवत्ता-उवलद्धी जादा, णेव णच्चदंसणेण॥

114. प्रयागराज गंगा तट विराट् वट-वृक्ष के तले दिगम्बर जैनेश्वरी जिन-दीक्षा धारण कर पश्चात् हिमगिरि-हिमालय कैलाश पर्वत पर घोर-घोर तप साधना कर निर्वाण को प्राप्त किया। नाभिनन्दन को नृत्य दर्शन से नहीं, अपितु आत्म-दर्शन से भगवत्ता की उपलब्धि हुई।

---

115. अहो अच्छेरं! आददंसणस्स मग्गगमणपाहेयलद्धा णरदेहत्थ-णाणीजणा साहुविंद-तच्चणिण्णय-आददंसणणियप्पचरिया-मणीसीणं च गोट्ठिं मुंचिय णारीणच्चे चिट्ठेंतु तेसिं पस्सेंतु, इदं सज्जणाणं सुपच्चं णत्थि, मेत्तं दुज्जणा हि पगावेंति॥

115. अहो आश्चर्य! आत्म-दर्शन के मार्ग पर चलने के पाथेय को प्राप्त नर-देह में राजते ज्ञानी-जन, साधु-

वृन्द तत्त्व-निर्णय, आत्म-दर्शन, स्वात्म-चर्या, मनीषियों की गोष्ठी छोड़ नारी-नृत्य में बैठें, उनका अवलोकन करें, यह बात सज्जनों को सुपाच्य नहीं है, एकमात्र दुर्जन ही पचा सकते हैं।

---

116. णारीणच्च-णारीसम्मेलणेसुं सगीय-अमुल्ल-समयं ण णस्सिदूणं, आददंसण-जदिसम्मेलणस्स दंसणं हि चागीणं सोहंते। धम्मणायगा-साहुमहप्पा य काएचिदवि परंपराए संबंधिदा होंतु एवं रायणायगं-समायणायगं परिवारपहाणं विवेगसीलं च णच्चदंसण-विसणं णवि कादव्वं। पदिट्ठिद-धम्मजणाणं मग्गपह-वीहीसुं च किण्णर-वेस्सादीए णच्चे वा अण्ण-सामण्ण-णड-णडणीणं णच्चे णाडगे णाडिगादीसुं च सगीयमुल्लवंत-समयं ण जुंजेज्जा। धम्मलोयविरुद्ध-कज्जेसुं सज्जणा किंचिवि रुई णवि दंसावेज्जा।।

116. नारी-नृत्य, नारी-सम्मेलनों में अपना अमूल्य-समय नष्ट न कर, आत्म-दर्शन, यतियों के सम्मेलन के दर्शन ही त्यागियों को शोभा देते हैं। धर्मनेता, साधु-महात्मा किसी भी परम्परा से सम्बंध रखते हों उन्हें एवं राजनेता, समाज नेता, परिवार के मुखिया अथवा किसी भी विवेकी को नृत्य-दर्शन की आदत नहीं डालनी चाहिए। प्रतिष्ठित धर्मजनों को मार्ग-पथों, गली-गलियारों में किन्नर, वेश्यादि के नृत्य अथवा अन्य सामान्य नट-नटनियों के नृत्य-नौटंकी, नाटक, नृत्य-नाटिकादि में अपना मूल्यवान समय नहीं लगाना चाहिए। जो कार्य धर्म एवं लोक-विरुद्ध हो उस कार्य में सज्जन जनों को किञ्चित् भी रुचि नहीं दिखाना चाहिए।

---

117. जावं णच्चादि-वित्तीसुं सामूहिगरूवेण ण चिट्ठेज्जा, तावं हि पिदुपुत्त-गुरुसिस्स-रायापया-मज्जादा अत्थि। पदस्सग-दस्सगा विलोहेदुं देहंगस्स णच्चादीसुं पदस्सणकाले सव्वे जणा समगं चिट्ठेहिंति दु परोप्परकुदिट्ठि-बोहो होहिदि तहा पुणो लोगववहार-मज्जादाओ वि समत्तेहिंति।।

117. पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा की मर्यादा तभी तक है, जब-तक नृत्यादि वृत्तियों में सामूहिक नहीं बैठेंगे। प्रदर्शक दर्शकों को लुभाने हेतु शरीर के अंग का नृत्यादि में प्रदर्शन करते समय सभी जन एक साथ बैठेंगे तो एक-दूसरे की कुदृष्टि का बोध हो जाएगा और फिर लोक-व्यवहार की मर्यादाएँ भी समाप्त हो जाएँगी।

---

118. चेदण-णच्चंगणा-दंसणस्स दु पुण्ण-णिसेहो अत्थि, सेट्ठजणा दूरदंसणादि-चलचित्तजंतेसुं पि मज्जादं विणा संताणादीहिं सह असुहचलचित्तं ण पस्सेज्जा। वुड्ढ-जणाणं जुवावंसक्कमस्स अट्ठाए झाणं अवस्समेव धरेज्जा।।

118. चेतन-नृत्यांगनाओं को देखने का तो पूर्णनिषेध है ही, अपितु श्रेष्ठ-जनों को दूरदर्शनों चैनलों में भी बिना मर्यादा के सन्तानादि के साथ अशुभ-सिनेमादि नहीं देखना चाहिए। वृद्ध-जनों को युवा-पीढ़ी की आस्था का ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए।

---

119. णिरत्थग-कज्जाणं समयं णवि दिज्जा, एवमेव सेट्ठं। गुणीजणा पसत्थ-धम्मिगचित्त-दंसणं कुज्जा तहा तस्सेव पयार-पसारं कुज्जा। तुज्झ अणुसासिद-जीवणं हि लोगपसिद्धिं आदसिद्धिं पदायगं अत्थि, अण्णो कोवि उवाओ णत्थि। णियप्प-तच्चदंसणं णियप्पभावणाए आलंबिदं, अण्णो कोवि उवाओ णत्थि॥

119. श्रेष्ठ तो यही है कि व्यर्थ के कार्यों को समय ही नहीं देना चाहिए। गुणीजनों को प्रशस्त धार्मिक चित्रों का दर्शन करना चाहिए तथा उसी का प्रचार-प्रसार करना चाहिए। आपका अनुशासित जीवन ही लोक-प्रसिद्धि, आत्मसिद्धि प्रदायक है, अन्य कोई उपाय भी नहीं है। स्वात्म-तत्त्व का दर्शन स्वात्म-भावना पर आलम्बित है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

वादित्तसवण-विसणं

(वादित्र-श्रवण-व्यसन)

120. घण-सुसिर-ताल-मिदंग-धत्ता-झालर-साणिगा-तूरिय-वरह-पडहादि-णाणाविह-पुरादण-वादित्ताइं एवं वट्टमाणस्स कण्णप्पिय-वादित्ताइं, एदाणि सव्वाणि कण्णिंदिय-विसया संति तहा एदाणि सव्वाणि आद-घादगाइं च। कण्णिंदिय-विसयलित्ता मिगसप्पादि जीवा रज्जेंति तहा परबंधणेण सगीय-सुतंतदा-णासं करेंति तहा कइआ कइआ दु आउपुण्णं करेंति। संगीतवज्जजंतेसुं णिमण्णजीवो सग-कत्तव्वाइं विसरिय अहोणिसं जावं अण्णकज्जे दिट्ठिं णवि णेदि, फलसरूवेण सयल-विवत्थाओ विहडेंति, तम्हा सगजीवणं विवत्थिदं कादव्वं। वादित्तेसुं मा रज्जेहि, वादित्तज्झुणि-अवेक्खाए सव्वण्हुदेवस्स दिव्वज्झुणिं तच्चोवएसं च सुणेहि॥

120. घन, सुषिर, ताल, मृदंग, धत्ता, झालर, शहनाई, तुरई, वरह, ढोलक आदि नाना प्रकार के प्राचीन वादित्र एवं वर्तमान के कर्णप्रिय वादित्र, ये सब कर्ण-इन्द्रिय के विषय हैं और ये सभी आत्म-घातक हैं। कर्णेन्द्रिय-विषय में लिप्त मृग-सर्प आदि प्राणी इतने तल्लीन हो जाते हैं कि पर के बंधन में पड़कर अपनी स्वतंत्रता का नाश कर लेते हैं और कभी कभी तो प्राणों से ही हाथ धो लेते हैं। संगीत-बाजों में निमग्न व्यक्ति अपने कर्तव्यों को भूलकर सुबह से शाम तक अन्य कार्य पर दृष्टि ही नहीं ले जाता, परिणाम यह होता है कि सारी व्यवस्थाएँ बिगड़ने लगती हैं, इसलिए अपने जीवन को व्यवस्थित बनाकर चलना चाहिए। वादित्रों में मत जाओ, बाजों की ध्वनियों की अपेक्षा भगवान् की दिव्य-ध्वनि और तत्त्वोपदेश सुनो।

---

121. जदि वादित्तेसुं हि समयं पुण्णीअ, दु धम्मत्थकाम-मोक्ख-पुरिसत्थं च कदा करिस्ससि? सामण्णेण गिहत्थो कदाचि वादित्तसवणं करेदु, किण्णु वादित्तसवण-विसणं ण होदव्वं। पण्ण-पुरिसा सगजीवणे तेसुं कज्जेसुं हि उज्जमेंति, जत्तो दुहसंसारत्तो मुत्ती होदु तहा परमप्प-सुहलाहो होदु। गीदसवण-णच्चदंसण-वादित्तसवणासत्तो को पुरिसो सग-पाणधणमाण-मज्जादं ण णस्सेदि? सव्वे णस्संति। विवेगिं उत्तगीद-सवणादीसुं आसत्तं ण होदव्वं॥

121. यदि वादित्रों में ही समय पूर्ण कर दिया, तो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थ कब करेगा? सामान्य से ग्रहस्थ कदाचित् वादित्र श्रवण कर ले, परन्तु वादित्र सुनने की आदत या व्यसन नहीं होना चाहिए। प्रज्ञ-पुरुष अपने जीवन में उन्हीं कार्यों में पुरुषार्थ करते हैं जिनसे दुःख और संसार से मुक्ति हो और परमात्म-सुख प्राप्त हो। गान-श्रवण, नृत्य-दर्शन एवं वादित्र-श्रवण में आसक्त हुआ कौन पुरुष अपने प्राण, धन और मान-मर्यादा को नष्ट नहीं करता? अर्थात् सभी नष्ट करते हैं। विवेकी को उक्त गान-श्रवणादि में आसक्त नहीं होना चाहिए।

---

122. जम्हि देस-रट्ठ-समाय-धम्महिदेण सह सगहिदो णिहिदो, पण्णपुरिसा पडिक्खणं तम्हि कहणम्हि विचिंतेंति। पण्णजणा तमेव सुणंति पस्सेंति तम्हि हि चिंतंति, जं आदकल्लाणे सहायगं होदु॥

122. प्रज्ञ-पुरुष प्रतिक्षण उस बात पर ध्यान रखते हैं जिसमें देश-राष्ट्र-समाज-धर्म हित के साथ स्वहित निहित हो। प्रज्ञ-जन वही सुनते हैं, वही देखते हैं, उसी पर चिंतन करते हैं; जो आत्म-कल्याण में सहायक हो।

विहागमण-विसणं

(वृथा-गमन-व्यसन)

123. सदयहिदयीजणा पओयणवसादो हि गमणागमणं करेंति, विहा ण सयं हिंडंति, णेव अण्णं हि हिंडावंति, एवंविहा णिप्पओयण-हिंडमाणाणं णवि अणुमोयंति। विसिट्ठ-महापुरिसा उच्चजादि-देवा इव जीवणं जीवंति। जह उच्चदेवा गदि-सरीर-परिग्गह-अहिमाणेसुं हीणा होंति, एवं हि सेट्ठीजणा सहजजीवणं जीवंति॥

123. सदय-हृदयीजन प्रयोजन के वश ही गमन-आगमन करते हैं, व्यर्थ में न स्वयं घूमते हैं न अन्य को ही घुमाते हैं, साथ ही व्यर्थ में निष्प्रयोजन घूमने वालों की अनुमोदना भी नहीं करते। विशिष्ट महापुरुष उच्च जाति के देवों तुल्य जीवन जीते हैं। गति, शरीर, परिग्रह एवं अभिमान में जैसे उच्च देव हीन-हीन होते हैं, ऐसे ही श्रेष्ठी-जन सहज जीवन जीते हैं।

---

124. जेसिं किंपि मुल्लं णत्थि, एरिसा दुट्ठ-मुत्त-साणा अत्थ-तत्थ सव्वत्थ अहोणिसं वियरंति, वीहीसुं बुक्कंति, तेसिं इदं हि कज्जं तहा ते किं कुणिज्जंति? तेसिं पज्जायस्स पच्चासत्ती हि एरिसा अत्थि। अवर-दारे अडणं तहा अवर-रोडिगा-विभागा दंसणं, तम्हि हि जीवणं। सगस्स ण दु भग्गं ण पुरिसत्थो, अहो! किं जीवणं?

124. जिनकी कोई कीमत नहीं है ऐसे आवारा खुले श्वान यहाँ-वहाँ सर्वत्र दिन-रात विचरण करते हैं, गली-गली में भोंकते रहते हैं, उनका काम ही यह है और वे कर भी क्या सकते हैं? उनकी पर्याय की प्रत्यासत्ति ही ऐसी है। दूसरे के द्वारे पर घूमना और पर की रोटी के टुकड़ों को देखना, उसी में जीना। स्वयं का न भाग्य न पुरुषार्थ, अहो! क्या जीवन?

---

125. देस-रट्ठ-धम्म-समाय-सगप्पहिदण्णेसीजणा पडिपलं सगीयचिंतण-जीवणं च उक्करिसपुण्णं पस्संति। तेसिं पत्तेगकज्जं सुवियार-सुचिंतण-सुकज्जत्थं चेव होदि। तेसिं कोवि पयासो पुढवीए असम्म-वियार-चिंतण-कज्जत्थं ण होदि। णिरत्थग-वियार-आयार-भमणं च तेसिं हिदयकोसे ण होदि। ते जीवा विरला जे आदुक्करिसेण सह वीसुक्करिसदिट्ठिं दच्छेंति॥

125. देश, राष्ट्र, धर्म, समाज एवं स्वात्महितान्वेषी-जन, प्रतिपल अपना विचार एवं जीवन को उत्कर्षपूर्ण देखना चाहते हैं। हर कर्म उनका सद्-विचार, सद्सोच, सद्कार्य के लिए ही होता है। असद्-विचार,असद्-सोच, असद्-कार्य के लिए उनका कोई प्रयास पृथ्वी पर नहीं होता है। व्यर्थ का विचार, व्यर्थ का आचार, व्यर्थ का भ्रमण उनके हृदय-कोष में होता ही नहीं। वे जीव विरले ही होते हैं, जो कि आत्मोत्कर्ष के साथ विश्वोत्कर्ष की दृष्टि प्रदान कर सकें।

---

126. तित्थयरा भयवंता सगपरहिदत्थं सयलदेसेसुं परियट्टीअ, किण्णु विहा-भमणं ण करीअ। ते वीसस्स सच्चत्थबोहं दिंतीअ संजमिद–सुद्ध-सागाहार-भोयणं च कुण तं पि तामसिगत्त-रहिदं। सुद्धवियारा होंतु किण्णु ईसा-रहिदा। जीवहिंसा-रहिद-सगपरकल्लाणत्थं कुण विहारं, असम्मकज्जत्थं विहा गमणं मा कुण। पडिपग-गमणस्स अत्थं णिहिदं होदव्वं॥

127. तीर्थंकर भगवन्तों ने स्व-पर हितार्थ सम्पूर्ण देशों में पर्यटन किया, पर व्यर्थ भ्रमण नहीं किया। उन्होंने विश्व के लिए 'सत्यार्थ-बोध' दिया। संयमित भोजन, शुद्ध-शाकाहार वह भी तामसिकता रहित करें। शुद्ध विचार हों, पर ईर्ष्या रहित। प्राणी हिंसा रहित स्व-पर कल्याणार्थ विहार करें, असम्यक्-कार्य हेतु व्यर्थ गमन न करें। पग-पग चलने का अर्थ निहित होना चाहिए।

---

127. पण्णपुरिसा सास-समय-पदण्णासाणं रक्खेंति। ण सासं विहा गहंति, ण समयं विहा णिज्जावंति तहा ण सग-पदण्णासा पुढवीए विहा ठवंति। देहिगसुद्धीए, भोयणत्थं, सिरिजिणदेवदंसणत्थं तित्थगुरुवंदणाए आगमबोहत्थं हि गमंति, विहाए संसारवड्ढणस्स किंपि कज्जं ण करेंति। पुराण-पुरिसाणं जीवणं सगीय-अंतोकरणे पुण्णट्ठाणं देंति। पत्तेग-पदण्णासं विवेगणाणेण सह ठवंति, एरिसं पदण्णासं कदावि ण ठवंति, जस्स उवरंतं पच्छातावं होज्जा। पदण्णासस्स पुव्विं चिंतंति एवं बुद्धिहीणो कज्जुवरंतं पच्छातावं करेदि, एवमेव दोसु अंतरं॥

127. प्रज्ञ पुरुष श्वास, समय और कदम तीनों की रक्षा करते हैं। न श्वास व्यर्थ लेते हैं, न समय को व्यर्थ निकालते हैं और न अपने कदमों को पृथ्वी पर व्यर्थ रखते हैं। शारीरिक शुद्धि के लिए, भोजन के लिए, श्री जिनदेव दर्शन, तीर्थ-वन्दना के लिए, गुरु वन्दना के लिए, आगमबोध हेतु ही गमन करते हैं, व्यर्थ में संसार-वृद्धि हेतु कोई कार्य नहीं करते। पुराण-पुरुषों के जीवन को अपने अन्तःकरण में पूर्ण स्थान देते हैं। प्रत्येक कदम विवेक-ज्ञान के साथ रखते हैं, ऐसा कदम कभी नहीं रखते जिसके उपरान्त पश्चात्ताप करना पड़े। कदम रखने के पूर्व सोचते हैं, वहीं बुद्धिहीन कार्य करने के उपरान्त पश्चात्ताप करता है, यही दोनों में अन्तर है।

---

128. विहाए सयं सरणं अवरं सारणं पमादचरिया अणत्थ-दंडं च। णिप्पओयण-किदं कज्जं अणत्थदंडं। जत्थ-तत्थ णिरत्थगभममाणो अणत्थपुण्ण-पावं णियमेण करेदि, तम्हा अत्थ-लाहादि-पओयण-सुण्ण-सरणं चत्तेदव्वं॥

128. व्यर्थ में स्वयं घूमना, दूसरे को घुमाना, ये प्रमादचर्या है, अनर्थदण्ड है। निष्प्रयोजन किया गया कार्य 'अनर्थदण्ड' कहलाता है। निरर्थक यहाँ-वहाँ घूमने-फिरने वाला व्यक्ति अनर्थपूर्ण पाप किए बिना विश्राम नहीं लेता अर्थात् निष्प्रयोजन घूमने वाला व्यक्ति सभी पापों में फँस जाता है, इसलिए अर्थ-लाभादि प्रयोजन-शून्य घूमने का त्याग करना चाहिए।

---

129. जत्थ धम्मजसो होदि वड्ढमाणो, तत्थेव सज्जणाणं गमेज्जा। जम्हि खेत्ते धम्मजसधण-णासो होदि तत्थ विहा ण गमेज्जा। कत्तव्वणिट्ठ-विवेगजुत्त-सप्पुरिसा आमंतण-पयोयणं विणा एगागी कस्सचिद ठाणे ण गमेंति। परगेहे आमंतणं विणा गमणादो सम्माणं तु ण भजेदि, अविदु अवमाणं हि भजेदि, जं हिदए सल्लं उप्पादेदि तहा सल्लमयं जीवणं दुक्खमयं हि होदि॥

---

129. जहाँ धर्म-यश वर्धमान होता हो वहीं सज्जनों को गमन करना चाहिए। जिस क्षेत्र में धर्म-यश-धन का नाश हो रहा हो वहाँ पर व्यर्थ में नहीं जाना चाहिए। कर्तव्यनिष्ठ, विवेकयुक्त सद्-पुरुष बिना प्रयोजन व आमंत्रण के अलावा किसी के यहाँ पर नहीं जाते हैं। पर घर में बिना बुलाए जाने से सम्मान तो मिलता ही नहीं, अपितु अपमान ही मिलता है, जो हृदय में शल्य खड़ी कर देता है और शल्य का जीवन दुःखमय ही होता है।

ईसा-विसणं

(ईर्ष्या-व्यसन)

130. संसारे पदणस्स अणेगकारणेसुं ईसा पहाण-गुरु-कारणं। परविभूदि-लच्छी-उत्थाणं च ण सहित्ता तेण दोसबुद्धि-धारणं, अंतसे जलणं पजलणं च ईसा। हिदयेण कस्सचिदवि कम्हिचिद वि खेत्ते उप्पण्ण-उण्णदिं असहिण्णुत्त-असमत्थदा य ईसा। ईसालुं दिणे य रत्तीए वि संतिलाहो ण होदि। चंद-चंदगा चंदण-सीगराइं सीदल-सुवासिद-णीरं चावि तं संतिकारणं ण होदि॥

130. संसार में पतन के अनेक कारणों में ईर्ष्या बहुत बड़ा कारण है। पर की विभूति, लक्ष्मी, उत्थान सहन न कर उससे द्वेष-बुद्धि रखना, अन्दर-ही-अन्दर जलना, झुलसना ईर्ष्या है। हृदय से किसी की भी, किसी भी क्षेत्र में होती हुई उन्नति को सहन न करने की असमर्थता ईर्ष्या है। ईर्ष्यालु को न दिन में शान्ति मिलती, न रात्रि में। चन्द्रमा की चाँदनी, चन्दन के छींटे, शीतल-सुवासित जल भी उसे शान्ति नहीं दे पाता है।

---

131. कदाचि गंगाजलादि-दव्वाइं देहं सीदलं करेंति, किण्णु अब्भंतरदाहजाला णीरादि-दव्वेहिं ण समेदि। वीसे जावदिया वि देस-रट्ठ-गेहजुद्धा जादा, तेसुं पहाण-पढम-भूमिगा ईसाए एव होदि। सीद-मूग-जल-मल्ल-दिट्ठि-जुद्धा परोप्परे ईसाए हि जादा।।

131. कदाचित् गंगा जलादि शरीर को ठंडा कर सकते हैं, पर अन्तरंग की दाह-ज्वाला पानी आदि द्रव्यों से शान्त नहीं हो सकती है। विश्व में जितने भी देशयुद्ध, राष्ट्रयुद्ध, गृहयुद्ध हुए हैं उनमें सर्वप्रथम, प्रधान, मुख्यभूमिका किसी की रही है, उसका नाम ईर्ष्या है। चाहे शीतयुद्ध हो, चाहे मूकयुद्ध हो, चाहे जलयुद्ध हो, चाहे मल्लयुद्ध हो, चाहे दृष्टियुद्ध, ये सभी एकमात्र परस्पर ईर्ष्या के कारण ही हुए हैं।

---

132. जस्स चित्ते ईसा-पदण्णासा दिढा सो कदावि कस्सचिद गुणं ण पेच्छदे, गुण-गाहगत्तस्स अलोगिग-आणंदो तं कदावि जायदे। संबंधीसुं पि जदि विसेसगुणा पयडेंति पयडीअ वा दु ता वि ईसालू सुदिट्ठीए दंसणस्स साहसं ण करेदि। पिदु-पुत्तमज्झे गुरुसीसमज्झे जदा ईसाजाला जायदे दु अणेगाणं अट्ठारूव-पुप्फमालाओ परिमायंति।।

132. जिसके अन्दर ईर्ष्या के कदम दृढ़ हो चुके हैं वह कभी किसी की अच्छाई नहीं देख पाता; गुण-ग्राहकता का अलौकिक आनन्द उसे कभी नहीं आता है। अपनों के अन्दर ही विशेष-गुण प्रकट हो रहे हों अथवा हो गए हों तो उन्हें भी ईर्ष्यालु सुदृष्टि से देखने का साहस नहीं कर पाता है। पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य के मध्य जब ईर्ष्या की ज्वाला जलती है तो अनेकों की आस्थाओं की पुष्प-मालाएँ मुरझा जाती हैं।

---

133. पिदुं पुत्तस्स, पुत्तं पिदुस्स, गुरुं सीसस्स, सीसं गुरुणो, अंगणं पदिस्स, पदिं अंगणाए, मित्तं मित्तस्स, जादिभाउं जादि-भाउणो, देसं देसवासिणो, रट्ठं रट्ठवादिणो, सगभासा-भासिं सगभासा भासिणो, सहधम्मिं सहधम्मिणो, उण्णदीए हस्सिदभाव-खमदा दु होदव्वा।।

133. कम-से-कम पिता को पुत्र की, पुत्र को पिता की, गुरु को शिष्य की,शिष्य को गुरु की, पति को पत्नी की, पत्नी को अपने पति की, मित्र को मित्र की, जाति-भाई को जाति-भाई की, देश को देशवासी की, राष्ट्र को राष्ट्रवादी की, स्वभाषा-भाषी को स्वभाषा-भाषी की, सहधर्मी को सहधर्मी की उन्नति पर हर्षित होने की क्षमता तो आना ही चाहिए।

---

134. जह एगा सम्म-मादू सगीय-पुत्त-उण्णदीए पमुदिदा होदि, तहेव पत्तेगजीवस्स बहिरब्भंतर-विगासे गुणग्गाही-पुरिसो सवच्छल्लभावेण पसण्णो होदि। ते हि इह भूलोए सेट्ठा जे पर-विगासे सगविगासं पस्सेंति। सेट्ठजेट्ठ-जणो रायधम्मणायगो देसविगासे सगविगासं पस्सेदि, धम्मविगासे सगधम्म-विगासं च पस्सेदि। एरिसो रायणायगो हि रज्जाहिगारी होदि।।

134. जैसे एक सच्ची माँ अपने बेटे की उन्नति पर प्रमुदित होती है, ऐसे ही प्रत्येक जीव के अंतरंग-बहिरंग विकास पर गुणग्राही पुरुष स-वात्सल्य भाव से प्रसन्न होता है। वे ही इस भू-लोक में श्रेष्ठजन हैं जो

पर के विकास में स्व-विकास देखते हैं। श्रेष्ठ-ज्येष्ठ जन, राजनेता, धर्मनेता देश के विकास में स्व का विकास देखता है, धर्म के विकास में स्वधर्म का विकास देखता है। ऐसा राजनेता ही राज्य चलाने का अधिकारी है।

---

135. जो मेत्तं सगोदरं सगपेडिगं पस्सेदि, परवड्ढीए णेत्तं दीणहीण-अक्कोसपुण्णं करेदि, सो रायणायगो राओ य संठाए मुक्खपद-संरक्खणत्थं अजोग्गो। समुत्थाणत्थं अजोग्ग-पुरिसं सगीय-अहिगारी-सड्ढेयं च णवि चिणेदव्वं। अजोग्गस्स ण हुव सामी णेव सेवगो य, णवरि अजोग्ग-सहवासो जीवणे कट्ठस्स अदिरित्तं किंचिवि ण देहिदि। गुण-ग्गाही-गुणवंत-गुणसंपण्ण-दायारेण सह णिवसेहिसि दु जीवणं पि होहिसि सुवासिदं। पडिपलं सेट्ठजण-सामिप्पं, गुरुजणासीसो, पंडिदविज्जाबोहो ईसारहिदं जीवं हि पसज्जेदि। एवं ईसालुस्स अंगणा वि मुंचित्ता गच्छदे, पुणो अण्णस्स किं वयणं ति? वीसासेण सह णिवसणं सिक्खेहि, एवमेव आदुण्णदि-मग्गो सेट्ठो य॥

135. जो व्यक्ति मात्र स्वपेट, स्व-पेटी देखता है, पर की वृद्धि पर नेत्रहीन-दीन व आक्रोश-पूर्ण करता है, ऐसा व्यक्ति, राजनेता एवं राजा किसी भी संस्था के मुख्य पद को सँभालने के लिए अयोग्य है। सम्यक्-उत्थान के लिए अयोग्य पुरुष को अपना अधिकारी व श्रद्धेय नहीं चुनना चाहिए। अयोग्य के न स्वामी बनो और न ही सेवक, क्योंकि अयोग्य का सहवास जीवन में कष्ट देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे पाएगा। गुण-ग्राही, गुणवान, गुण-सम्पन्न दाता के साथ निवास करोगे तो जीवन सुवासित हो जाएगा। पल-पल में श्रेष्ठजनों का सानिध्य, गुरुजनों का आशीष, विद्वानों की विद्या का बोध ईर्ष्या-रहित व्यक्ति को ही प्राप्त होता है। वहीं ईर्ष्यालु की तो पत्नी भी छोड़कर चली जाती है, फिर अन्य की क्या बात करें। श्रेष्ठ यही है कि विश्वास के साथ रहना सीखो, यही आत्मोन्नति का मार्ग है।

---

136. ईसाजालाए आहूद-जीवाणं इदिहासो संलिहिदो। सद्धम्म-ईसालूहिं चागीसाहु-महप्पासुं घोरघोर-उवसग्गं किदं, मंदिर-मुत्ति-विणास-परियट्टणं च किदं, सुसत्थाणं दाहिदं, बहु-कण्णाणं सीलविणासं पि किदं। कउरव-पंडवजुद्धे कस्स भूमिगा अत्थि? ईसाभावस्स। णारायण-पडिणारायण-जुद्धो वि ईसाए हि आरंभेदि॥

136. ईर्ष्या की ज्वाला में आहूत हुए लोगों का इतिहास लिखा रखा है। सद्-धर्म के ईर्ष्यालुओं ने त्यागी-साधु-महात्माओं पर घोर-घोर उपसर्ग किए, मंदिर-मूर्तिओं को नष्ट किया तथा परिवर्तन भी किया, सद्-शास्त्रों की होली भी जलाई, बहू-बेटियों के शील नष्ट किए। कौरव-पाण्डव युद्ध में किसकी भूमिका है? ईर्ष्या-भाव की। नारायण-प्रतिनारायण का युद्ध भी ईर्ष्या से ही प्रारम्भ होता है।

---

137. णाणीणं मरणस्स पुव्विं ईसं मुंचेज्जा, जदि मरणस्स पुव्विं ईसं मुंचेंति दु भवो भवो घोरदुक्खजुदो होज्जा। अवजस-अकित्ति-लोगाविणय-दुग्गदिदुक्खाइं च ईसा-फलाइं जाणेहि। साहुरायं च कदावि सगचित्तं ईसा-अग्गीए ण दहेदव्वं, णवरि अयं सव्वहा घादगो एव॥

137. ज्ञानी जनों को चाहिए कि जलने के पहले जलना छोड़ें; यदि जलने के पूर्व जलना नहीं छोड़ पाए तो भव-भव घोर दुःख में जायेंगे। अपयश, अकीर्ति, लोक-अविनय, दुर्गतियों के दुःख, ये सब ईर्ष्या का ही फल समझो। साधु एवं सम्राट् को कभी भी अपना चित्त ईर्ष्या की आग में नहीं जलाना चाहिए, क्योंकि यह सर्वथा घातक ही है।

साहस-विसणं

(साहस-व्यसन)

138. परइत्थिसेवणं कण्णादूसणं च साहसविसणं, किण्णु अयं जधत्थपुण्ण-सेट्ठ-साहसो णत्थि, अयं तु कूरत्त-कुसीलत्त-जुदो दुस्साहसो त्थि॥

138. पर-स्त्री सेवन एवं कन्या-दूषण, इसे नीतिकारों ने साहस-व्यसन नाम दिया है, परन्तु यह यथार्थपूर्ण श्रेष्ठ का साहस नहीं समझना, यह तो क्रूरता-कुशीलता से युक्त दुःसाहस है।

---

139. ओहो! दुज्जणो कामंधो विसयासत्तो य पावत्तो पउर-णिडर-णिब्भीगो होदि जं सगीय-दुग्गदि-भयं पि णत्थि, तं लोग-अवजस-भयं समत्तं तहा रावणो व्व णरय-गमणस्स सज्जदा अत्थि। ओहो! कियत्तो विसालो दुस्साहसो? जादि-कुलवंश-धम्म-णयर-संपदायस्स अवकित्तीए वि जं कोवि वियप्पो णत्थि, तं मेत्तं सगीयवासणा-भोगवित्तीए हि पओयणं अत्थि। एरिसो णराधमो पुढवीए मेत्तं भारभूदो त्थि। साहसविसणं पुण्ण-हेयं अत्थि॥

139. ओहो! दुर्जन, कामांध विषयासक्त पापों से कितना निडर-निर्भीक होता है जिसे अपनी दुर्गति का भी भय नहीं है, उसे लोक-अपयश का भी डर समाप्त है और रावण जैसे नरक जाने की तैयारी है। ओहो! कितना बड़ा दुःसाहस? जाति, कुल, वंश, धर्म, नगर, सम्प्रदाय की अपकीर्ति का भी जिसे कोई विकल्प नहीं है, उसे मात्र अपनी वासना, भोगवृत्ति से ही प्रयोजन है। ऐसा नराधम पृथ्वी पर मात्र भार ही है। साहस-व्यसन पूर्ण हेय ही है।

अत्थदूसण-विसणं

(अर्थ-दूषण-व्यसन)

140. गिहत्थो पाण-चिंतं पि मुंचित्ता अत्थसंगहं करेदि। इदं पि सच्चं धणाभावे सगजीविगा-अतिहिसक्कारं कहं करिस्सदि? ववहारधम्मत्थं सावगं समया उचिद-संपत्ति-सब्भावो आवस्सगो। धणहीणो गिहत्थो पसु-सरिसाइं अवमाण-दरिद्ददा-दुहाइं भुंजेदि। धणहीण-गिहत्थस्स आददुक्खं सो हि जाणेदि॥

140. गृहस्थ प्राणों की भी चिंता छोड़कर अर्थ-संग्रह करता है। यह भी सत्य है कि धन के अभाव में स्वजीविका एवं अतिथि-सत्कार कैसे कर पाएगा? व्यवहार-धर्म के लिये श्रावक के पास उचित सम्पत्ति का होना अनिवार्य है। धनहीन-गृहस्थ पशुओं जैसे अपमान एवं दरिद्रता के दुःखों को भोगता है। धनहीन-गृहस्थ की आत्म-पीड़ा को वही जानता है।

---

141. पण्णजणाणं आयव्वएसुं विवेगदो वियारं चिंतणं च कुज्जा। आयव्वएसुं वियारकुसल-गिहत्थस्स जीवणं दुहमयं हि विलिज्जेदि, तम्हा आयं पस्सिय हि वयं कुज्जा। अत्थसत्थ-बोहत्थं दिगंबरजेणमुणिस्स कमंडलुं पस्स। कमंडलुस्स जलगहण-मुहं भीमं होदि तहा जल-णिक्कासण-ट्ठाणं अभीमं होदि। एवमेव अत्थसंगहो अहिगो होदु तहा वयं तत्तो णूणं होदु। अत्थसंगहो आवस्सगो त्थि॥

141. प्रज्ञ-जनों को आय-व्यय पर विवेकपूर्वक विचार करना चाहिए। जो गृहस्थ आय-व्यय में विचार कुशल नहीं है उसका जीवन दुःख के साथ ही निकलता है, इसलिए आय को देखकर ही व्यय करना चाहिए। अर्थशास्त्र के बोध के लिए, दिगम्बर जैन मुनि के कमण्डलु को देखो। कमण्डलु के जल-ग्रहण का मुख बड़ा होता है और जल को निकालने की टोंटी छोटी होती है। इसी प्रकार से अर्थ-संग्रह अधिक हो और व्यय उससे कम हो। अर्थ का संग्रह करना आवश्यक है।

---

142. परिग्गह-परिमाणव्वदेण सह असीम-अत्थं पि अणत्थकारं होदि। अत्थवंतेण सह दयावंतो दाणवंतो वि होदव्वो। पुण्णप्प-धणवंतेहिं हि तित्थट्ठाण-साहुमहप्पाणं धम्मसाहणा-रक्खणं होदि। पुण्ण-दव्वसंपण्णो अत्थवंतो जेसुं देस-समाय-रट्ठेसुं णिवसंते, तस्स देसस्स णिवासिणो सुहेण णिवसंते। जत्थ सिरिसुण्ण-पुण्णक्खीणजीवा वसंति, तत्थ कम्हि दारम्हि भिक्खुगं भिक्खलाहो होहिदि? कं णिद्धणं अत्थलाहो होहिदि? तम्हा जत्थ णरेस-सेट्ठि-वेज्ज-पंडिद-धम्मप्प-साहुपुरिसाणं विचरणं होदु तहा धणधण्णजलं च परिपुण्णं होदु, तत्थेव अज्जजणा णिवसेज्जा। उत्त-सामग्गीदो जदि किंपि दव्वं णूणं होदु दु ठाणचागं किच्चा अण्णत्थ वसेज्जा॥

142. परिग्रह-परिमाण व्रत के साथ असीम-अर्थ भी अनर्थकारी हो जाता है। अर्थवान के साथ दयावान तथा दानवान भी होना चाहिए। पुण्यात्मा, धनवानों के द्वारा ही तो तीर्थस्थान एवं साधु-महात्माओं की धर्म-साधना की रक्षा होती है। पुण्यद्रव्य-सम्पन्न अर्थवान जिस देश, समाज, राष्ट्र में निवास करते हैं वहाँ के निवासी सुख से निवास करते हैं। जहाँ श्रीशून्य, पुण्य-क्षीण लोग निवास करते हैं वहाँ किस द्वार पर भिखारी को भीख मिलेगी? किस निर्धन को अर्थ मिलेगा? इसलिए जहाँ पर राजा, सेठ, वैद्य, विद्वान्, धर्मात्मा, साधु-पुरुषों का विचरण हो तथा धन-धान्य, जल पूर्ण हो वहीं आर्यजनों को निवास करना चाहिए। उक्त सामग्रियों में से कोई यदि कम हो तो स्थान का त्याग कर अन्यत्र वास करना चाहिए।

---

143. धण-धम्मप्प-भक्खभोजी-जीवेहिं रट्ठं सोहायमाणं होदि, किण्णु इमत्तो भिण्ण-जणेहिं रट्ठं भारभूदं होदि। किंचण जीवा रट्ठ-सेवं करंति, किंचण जीवाणं रट्ठं सेवं करेदि। एरिसं जीवणं णिम्मेहि जेण रट्ठस्स मज्झाण-जीवणं भारभूदं ण होदु, अविदु रट्ठस्स उवहार-सरूवं होदु। तुज्झ णामे पडिपलं रट्ठ-धम्मो य गदगदो होदु। जेसिं णामेण रट्ठं गउरवण्णिदं होदु, एरिसा णरा सामण्णा ण होंति, ते जीवा विसिट्ठ-णरोत्तम-सण्णं भजेंति॥

143. धन, धर्मात्मा, भक्ष्य-भोजी जीवों से राष्ट्र शोभायमान होता है, पर इससे भिन्न जनों से राष्ट्र भारभूत होता है। कुछ लोग राष्ट्र को चलाते हैं, कुछ लोगों को राष्ट्र ही चलाता है। ऐसा जीवन बनाओ कि राष्ट्र के लिए भारभूत न हो हमारा जीवन, अपितु राष्ट्र के लिए उपहार स्वरूप हो। पल-पल राष्ट्र एवं धर्म गद्‌गद् रहे आपके नाम पर। जिनके नाम से राष्ट्र गौरवान्वित हो ऐसे नर सामान्य नहीं होते, अपितु वे लोग विशिष्ट नरोत्तम संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

---

144. पुव्वकिददाणं धम्मधम्मप्पा पडि य मायारहिद-वच्छल्ल-भावणाए जं पुण्णासवबंधं च करीअ, तेण पुव्वकिद-पुण्णोदएण वट्टमाणे अत्थोवलद्धी जादा, तस्स समुवभोगदो वयं होज्जा। असमीचीण-वित्तीए जं धणव्वयं करेदि, सो कुबेरसरिसो वि होदु तं अप्पकाले हि धणहीणत्त-दरिद्दत्त-दंसणं करिज्जदि, अदो अत्थेण सह अण्णायो ण होज्जा॥

144. पूर्वकृत दान, धर्म-धर्मात्माओं के प्रति मायाचारी रहित वात्सल्य-भावना से जो पुण्य का आस्रव-बंध किया था, उस पूर्वकृत पुण्योदय से वर्तमान में अर्थोपलब्धि हुई है, उसका सम्यक्-उपभोग पूर्वक व्यय होना चाहिए। असमीचीन-वृत्ति से जो धन का व्यय करता है वह कुबेर जैसा भी क्यों न हो तब भी उसे अल्पकाल में ही धन-हीनता, दरिद्रता का दर्शन करना पड़ता है, अतः अर्थ के साथ अन्याय नहीं होना चाहिए।

---

145. णो लोही विवेगी हविज्जदि। विवेगदो वित्तव्वयं कुणेहि, भविस्से चित्तं खिण्णं ण होदु। धम्मेण सह धणोवओगकरणं सिक्खेहि। अत्थ-दूसणविसणादो आदरक्खणं सिक्खेहि। जे विउल-अज्जणे वि धणहीणा, एरिसादो पुण्णहीण-विवेगहीणादो अवसप्पिय जीवेहि, किण्णु ता पेक्खिय सिक्खणं अवस्सं गेण्हेहि। जो धणिगो होदूणं पि कस्सचिद मंगलं ण कुणेज्जा, सो दु णूणं धणहीणो॥

145. लोभी नहीं विवेकी तो होना ही पड़ेगा। विवेकपूर्वक वित्त का व्यय करो भविष्य में चित्त खिन्न न हो। धर्म के साथ धन का उपयोग करना सीखो। अर्थ-दूषण व्यसन से आत्मरक्षा करना सीखो। जो बहुत कमाने पर भी धनहीन हैं, ऐसे पुण्यहीन और विवेकहीनों से दूरी बनाकर जीना, पर उन्हें देखकर शिक्षा अवश्य लेना। जो धनिक होकर भी किसी का भला न कर सके, वही तो यथार्थ में धनहीन है।

---

146. अत्थदूसण-विसणी-जीवा लोए जीवण-हीणत्तेण सह णिद्धणत्त-जीवणं जीवंति। जा धणसंगहस्स सच्चत्थबोहो णत्थि, ते आयं णूणं करेंति तहा तं पि अभक्खभोयणे अपेयपेये

असेव्वसेवणे सुरासुंदरी-भोगे विहा हि णस्संते। जे कुखेत्त-कुतित्थ-कुपत्तेसुं धणव्वयं कुणंति, ते अत्थदूसण-विसणी संति॥

146. अर्थ-दूषण व्यसनी जीव लोक में जीवन-हीनता के साथ कंगाली का जीवन जीते हैं। जिन्हें धन-संग्रह करने का 'सत्यार्थ-बोध' नहीं है वे आय कम करते हैं और उसे भी अभक्ष्य-भोजन, अपेय-पेय, असेव्य-सेवन, सुरा-सुन्दरी के भोग में व्यर्थ ही गवाँ देते हैं। जो कुक्षेत्रों, कुतीर्थों, कुपात्रों में धन व्यय करते हैं, वे अर्थ-दूषण व्यसनी हैं।

---

147. जे दुक्कम्मी-मज्झे सगीय-दव्वोवओगं कुणंति, जा भोग-भोयणे चेव लीणा; ते धणवंता वि थोवदिणेसुं णिद्धणा होंति। अहो पण्णप्पा! अपत्त-कुपत्तेसुं, दुव्विसणेसुं, पंचिंदियाणं अमज्जादिद-सुह-भोगेसुं जीवण-धण-अवव्वयं मा कुण। जीवणे धम्मजसेण सह जीविदत्थं संजमिद-जीवणं जीवेहि। ते हि अत्थवंता धणवंत-णाणवंत-जसवंताणं मज्झे जसवंता होदूणं वसंति, जे सदा चरियवंता होंति॥

147. जो दुष्कर्मियों के मध्य अपने द्रव्य को लगा रहे हैं, भोग और भोजन से भिन्न जिन्हें अन्य कुछ नहीं दिखता वे धनपति भी कुछ ही दिनों में कंगाल हो जाते हैं। अहो प्रज्ञात्मन्! अपात्र-कुपात्रों में, दुर्व्यसनों में, पंचेन्द्रियों के अमर्यादित सुख-भोगों में जीवन एवं धन दोनों का अपव्यय मत करो। जीवन में धर्म एवं यश के साथ जीवित रहना है, तो संयमित जीवन जिओ। धनवानों, विद्वानों, यशवानों के मध्य यशवान बनकर वे ही अर्थवान रह पाते हैं, जो सदा चारित्रवान रहते हैं।

---

148. मित्त! जीवणे पउर-विवत्ति-आगमो य होज्जा, किण्णु कदा सग-णिम्मलजसचारित्तं च विवत्तीए णवि खिवेहि। अत्थदूसणविसण-मुत्तं जीवणं जीवेहि, पसण्णचित्तेण सदा सुपत्त-दाणं कुणेहि, दाणं पि सगसत्तीए कुणेहि जेण सगजीवणं परिवार-जीवणं च आणंद-पुण्णं होज्जा॥

148. मित्र! जीवन में कितनी भी विपत्ति आ जावे, परन्तु अपने निर्मल यश एवं चारित्र को कभी भी विपत्ति में नहीं डालना। अर्थ-दूषण व्यसन मुक्त जीवन जीना, प्रसन्न-चित्त से सदा सद्पात्रों को दान करते रहना, दान भी स्व-शक्ति से ही करना, जिससे स्वयं एवं परिवार का जीवन आनंदपूर्ण बना रहे।

अकारण-वह-विसणं

(अकारण-वध-व्यसन)

149. जस्स सग-जीवणं अप्पाणुसासिदं, सो हि करेदि सासणं। जो सयं अप्पाणु- सासिदं णत्थि तस्स सग-गेहे हि अणुसासणं ण होदि, पुणो देस-रज्जे किं अणुसासणं होहिदि? जहा तुमं सगत्थं इच्छेसि तहा अवरत्थं पि सिक्खेहि, सत्तुं पडि सदयभावं धरेहि। समयो परियट्टणभूदो त्ति, तिणमवि

समए उवओगी होदि। गेहत्थं मलिणवत्थं पि गेह-पोंछणकज्जे उवओगी होदि। अवयर-समूहो वि खेत्ते उव्वरगकज्जे उवओगी, तम्हा कंचिदवि दव्वं सव्वहा हेयं मा मुण्ण॥

149. शासन वही कर सकता है; जिसका स्वयं का जीवन आत्मानुशासित हो। जो स्वयं ही आत्मानुशासित नहीं है उसका स्वयं के गृह में ही अनुशासन नहीं चलता, फिर देश व राज्य में क्या चलेगा? जैसा तुम स्वयं के लिए चाहते हो वैसा दूसरों के लिए भी करना सीखो, शत्रु के प्रति भी सदय-भाव रखो। समय परिवर्तनभूत होता है, तृण भी समय पर काम आता है घर में पड़ा मलिन वस्त्र भी घर में पोंछा के काम में आता है। घूरे का ढेर भी खेत में खाद के काम में आता है, इसलिए किसी को सर्वथा हेय-दृष्टि से मत देखो।

---

150. जं वत्थुं जहा अत्थि तं तहेव अवस्सं पस्सेहि। कंटगो वि समए उवओगी अत्थि; जदा पादे कंटगो पवेसेदि तदा रुक्खकंटगो हि तं कंटगं णिज्जावेदि। तम्हा कंटगं पेडिगा-सगवत्थेसुं ण वहेहि, किण्णु तस्स वि सगीय-महत्तं अत्थि, इदं जाणेहि। जो जहा अत्थि, तं तहा ठाणं देहि। कस्सचिद अवमाणं णत्थि, किण्णु सम्माणस्स अदिरेगो वि णत्थि॥

150. जो वस्तु जैसी है उसे वैसी अवश्य देखो। काँटा भी समय पड़ने पर काम में आता है; जब पैर में काँटा चुभ जाता है तब वृक्ष का काँटा ही उस काँटे को निकालता है इसका तात्पर्य काँटे को पेटी या स्ववस्त्रों में नहीं रखना, पर उसका भी अपना महत्त्व है इतना समझना। जो जैसा उसे वैसा स्थान देना। किसी का अपमान नहीं, पर सम्मान का अतिरेक भी नहीं।

---

151. कस्सचिद वहं मा कुण। णिप्पओयण-णिक्कारणं ण कस्सचिद वहं मा कुण, णेव कुक्खादं कुण। अहिंसा-परमबंभस्स आलंबणं गेण्हेहि। करुणासील-गेहे विभूदी सयमेव आगच्छेदि, हिंसग-कूर-हंता-गेहस्स विभूदि-सुह-संति-आणंदो य पस्संतो हि खणमेत्ते विलीयदि। दुरायारवंता पडि वि तुमं अप्पसत्थं मा चिंतेहि, ता दु तेसिं पावफलं सयमेव भजेहिंति। अदिक्कूर-सासगाणं पि अंतो होसी, पुणो वयं किमु कस्सचिद असुहं चिंतिय सग-पुण्णं खीणेज्जा?

151. किसी का वध मत करो। निष्प्रयोजन, निष्कारण न किसी का वध करो; न बदनाम। अहिंसा परमब्रह्म का आलम्बन लो। करुणाशील के घर विभूति स्वयं चलकर आती है, हिंसक-क्रूर हत्यारे के घर की विभूति, सुख, शान्ति और आनन्द देखते-देखते ही क्षण मात्र में विलीन हो जाता है। दुराचारियों के प्रति भी आप अप्रशस्त मत सोचो, उन्हें तो उनके पापों का फल स्वयं ही मिलेगा। क्रूर-से-क्रूर शासकों का भी अंत हुआ है, फिर हम क्यों किसी का बुरा सोचकर अपना पुण्य क्षीण करें?

---

152. अदिकज्जस्स इदि णियदा, अस्स णिययदं थगणे कस्सचिद गदी णत्थि। वेहव-अहिगारं लहित्ता मा कुण अहंकारं। णिरवराहजीवा मा पीडेहि। वणप्फदि-अंकुरा णासगा णस्संते, पुणो माणवेसुं अच्चायार-कारगा कहं रक्खणं?

152. अति की इति नियत है, इसकी नियतता को टालने में किसी की गति नहीं है। वैभव एवं अधिकार पाकर अहंकार में मत आओ। निरपराध जीवों को मत सताओ। वनस्पति, अंकुरों को नष्ट करने वाले नष्ट हो जाते हैं, फिर मानवों पर अत्याचार करने वाले कैसे बच सकते हैं?

---

153. सासगं णिद्दोसजीवे कूरत्त-ववहारं णवि कादव्वं। सामण्ण-पयाजणा वि परोप्परे करुणाभाव-ववहारं कादव्वं। एग-उज्जाणे णाणा-रुक्खफल-समुदायो जुगवं होदि, तेण दु तं उज्जाणं। पत्तेग-रुक्खस्स उज्जाणे सगीय-मुल्लं, एवं पत्तेग-णागरिगस्स देसे मुल्लं। पत्तेगजीवेणं देसस्स संखा-परिमाण-पमाणबोहो होदि। माणवे माणवं पस्स तहा पाणीमेत्ते भगवदप्पं पस्स। कंचिद मा पीडेहि, सव्वेसिं जीवणाहिगारो त्थि। जीवाणं जीवणं देहि, इदमवि सव्वस्स कत्तव्वं। सव्वेसिं अहिगारेण सह कत्तव्वाणं पि सुपालणं कुज्जा॥

153. शासक को निर्दोष व्यक्ति पर क्रूरता का व्यवहार नहीं करना चाहिए। सामान्य प्रजाजनों को भी परस्पर में करुणा-भाव का व्यवहार रखना चाहिए। एक बगीचे में नाना वृक्षों-फलों का समुदाय एक साथ होता है, तभी तो वह बगीचा कहलाता है। एक-एक वृक्ष की उद्यान में अपनी एक कीमत है, इसी प्रकार एक-एक नागरिक की देश में कीमत है। प्रत्येक व्यक्ति से देश की संख्या का परिमाण-प्रमाण का बोध होता है। मानव को मानव देखो, इतना ही नहीं, प्राणी-मात्र में भगवान्-आत्मा को देखो। किसी को कष्ट मत दो, सभी जीवों को जीने का अधिकार है। जीवों को जीने दो यह भी सबका कर्तव्य है। सभी को अधिकार के साथ कर्तव्यों का भी समीचीन पालन करना चाहिए।

---

154. जे धणत्थं अवरेहिं दुव्ववहारा कुणंते, ता अहिकिद-अहिगारिणो धिगत्थु धिगत्थु धिगत्थु। पर-पीडणं पि भावहिंसा। जीवं सगीयपदाणुऊलेण सगपदाणुसारेण य सगीयाहिगार-उवओगो विवेग-दया-माणवत्तेण सह कुज्जा। अणुसासण-पालणं दयद्दभावादो कारिज्जदे। अवरस्स ठिदि-संणाणं पि होदव्वं। पया-जणदं च थिरदाए वि समयं दिज्जा। जदि पया हि णस्सेहिदि वा णियप्पघादं करिस्सदि पुणो किं रायस्स रज्जसोहा हि? जदि पयाचिंतणं ण करीअ दु पया संगढिदा होदूणं राय-विणास-णिण्णयं गेण्हेहिदि। पयातंते पया सगीयसासग-णिद्धारणं कुणदि; इदं विसेसत्तं॥

154. धिक्-धिक्-धिक् वे अधिकृत अधिकारी जो धन के पीछे दूसरों से दुर्व्यवहार करते हैं। पर को पीड़ित करना भी भाव-हिंसा है। अपने पद के अनुकूल व्यक्ति को स्व-पद के अनुसार अपने अधिकारों का उपयोग विवेक, दया, मानवता के साथ करना चाहिए। अनुशासन का पालन दयार्द्र-भाव से कराया जाता है। सामने वाले की स्थिति का भी संज्ञान होना चाहिए। प्रज्ञा-जनता को सँभलने के लिए भी समय देना चाहिए। यदि प्रजा ही नष्ट हो जायेगी या स्वात्म-हत्या करेगी फिर राजा के राज्य की शोभा ही क्या? यदि प्रजा का ध्यान नहीं रखा गया तो प्रजा संगठित होकर राजा के विनाश का ही निर्णय कर लेगी। प्रजातंत्र की यह विशेषता है कि इसमें प्रजा अपने शासक का निर्धारण करती है।

---

155. सासगं पयापालणं जणणी इव कादव्वं। मादु-तज्जणे वि पीदि-अणुहवो होदि। कस्सचिद वहकरणं समस्साए समाहाणं णत्थि। सासणेण मिच्चुदंडं पि विसेस- कारणबोहं कारित्ता दिंतदे। रायधम्मो त्थि, सो जेणाइरियो व्व पढमं अवराह-बोहं कारिज्जा। जदि अवराह-बोहे सदि अवराही पुणो तमेव अवराहं ण करेदि, दु एवमेव तस्स पायच्छित्तं। पायच्छित्त-उद्देस्सो सीस-पीडणं णत्थि, अविदु दोसादो फेडित्ता आगमविहीए तवस्सं कारिदं अत्थि। अवराह-बोहं कारिदे वि जदि सो पुणो पुणो अवराहं करेदि दु तं अवराहिं कढोर-पायच्छित्तं दिज्जा। पुणरवि संसोहणं णत्थि, दु मूलदिक्खं हि विंधिज्जा, सिस्सस्स सिस्सत्त-चागं हि कारेज्जा। जदि एरिसं कज्जं ण कुणिहिदि दु सिरिसंघस्सेव णासो होहिदि, सयल-सिस्सगणा दोसा करिस्संति तहा अणुसासण-बद्धत्तं णस्सेहिदि॥

155. शासक को प्रजा का पालन जननी जैसा करना चाहिए। माँ की डाँट में भी दुलार महसूस होता है। किसी का वध करना समस्या का समाधान नहीं है। शासन द्वारा मृत्यु-दण्ड भी किसी विशेष कारण का बोध कराकर दिया जाता है। सम्राट् का धर्म है वह जैनाचार्यों की भाँति सर्वप्रथम अपराध का बोध करा दे। यदि अपराध बोध होने पर अपराधी पुनः वही अपराध नहीं करता है, तो यही उसका प्रायश्चित्त हो गया। प्रायश्चित्त का उद्देश्य शिष्य को पीड़ित करना नहीं है, अपितु दोषों से दूर करके आगमविधि से तपस्या कराना है। अपराध बोध कराने पर भी यदि वह पुनः-पुनः अपराध करता है तो उस अपराधी को कठोर प्रायश्चित्त देते हैं। फिर भी न सुधरे तो मूल दीक्षा ही छेद कर देते हैं, शिष्य की शिष्यता का ही त्याग करा देते हैं। यदि ऐसा नहीं किया तो श्रीसंघ का ही नाश हो जाएगा; सम्पूर्ण शिष्यगण दोष करने लगेंगे और अनुशासन-बद्धता नष्ट हो जाएगी।

---

156. एवं सासग-उद्देस्सो कंचिदं णागरिगं मारणं णत्थि होदव्वं। पढमं अवराहिं उण्णयणस्स उद्देस्सं होदव्वं॥

156. इसी प्रकार शासक का उद्देश्य किसी नागरिक को मारना नहीं होना चाहिए। सर्व-प्रथम अपराधी को सुधार का उद्देश्य होना चाहिए।

---

157. अवराही सयमेव बोहे सदि अवराहचागं करेदि, दु पुणो अण्णदंडस्स आवस्सगत्तं णत्थि। अप्पावराहे मिच्चुदंडं वा णिरवराहिं मिच्चुदंडं तु पुण्णं अणुचिदमेव। णायग-रायस्स य णामस्स अग्गदो पया-पालगविसेसणं होदि तम्हा सासगं पया-पालगं होदव्वं ण दु पयाणासगं। अणुसासण-रक्खणत्थं अप्पोचिद-दंडं देदूणं पयं अवराहमुत्तं कुज्जा तहा सिग्घं अकारणवह-विसण-पउत्तिं तज्जेज्जा॥

157. अपराधी स्वयं ही बोध होने पर अपराध का त्याग कर देता है, तो फिर अन्य-दण्ड की आवश्यकता नहीं है। अल्प-अपराध पर मृत्युदण्ड अथवा निरपराधी को मृत्युदण्ड देना तो पूर्ण अनुचित ही है। नेता, राजा के नाम के आगे प्रजा-पालक जुड़ा रहता है, इसलिए शासक को प्रजा पालक होना चाहिए, प्रजा-नाशक नहीं। अनुशासन बना रहे, इसलिए अल्पोचित दण्ड देकर प्रजा को अपराध मुक्त करें तथा शीघ्र अकारण वध-व्यसन की आदत का त्याग करें।

---

158. हिंसा कदावि पुण्णकारणं णत्थि, हिंसा पावं हि अत्थि आसी होहिदि य। जो हिंसं करेदि करीअ करिस्सदि य सो वि पावी हि अत्थि आसी होहिदि य। जो सव्वविह-अवराह-हिंसाकम्मचागं किच्चा उत्तमं कज्जं करेदि, पावकम्मचागं किच्चा पायच्छित्तं करेदि, तदा तस्स जीवस्स कल्लाणं पि होदि। असुहं मुंचित्तु सुहे संलग्गेहि तदा सुद्धं लहित्तु तुममवि पहू हविज्जेसि। णेदिग-पुरिसा अहंकारवसादो कोहवसादो णिप्पओयणं तिणंकुरं पि ण णस्सेज्जा, पुणो मुणस्स-विसए किं कहणं?

158. हिंसा कभी भी पुण्य का कारण नहीं होती है; हिंसा पाप ही है, पाप ही थी, पाप ही रहेगी। जो हिंसा करता है, करता था, करेगा, वह भी पापी है, पापी था, पापी ही रहेगा। जो सभी प्रकार के अपराध और हिंसा कर्म का त्याग कर श्रेष्ठ कार्य करता है, पाप कर्मों का त्याग कर प्रायश्चित्त को कर लेता है, तब उस जीव का कल्याण भी हो जाता है। अशुभ छोड़कर शुभ में लगो तथा शुद्ध को प्राप्त कर तुम भी भगवान् बन सकते हो। नैतिक-पुरुष अहंकार वश, क्रोध वश, निष्प्रयोजन घास का अंकुर भी नष्ट न करें, फिर मनुष्य के विषय में तो कहना ही क्या?

दव्वहरण-विसणं

(द्रव्य-हरण-व्यसन)

159. विसणमुत्त-राओ हि पयं सुहं देदि। जो सयं विसणे मिज्जेदि सो किं पयं सुही करेहिदि? रज्जविवत्था मज्जादाए सह होदव्वा, मज्जादं विणा रज्जं ण होदि गदिमाणं, रज्जं णीदीए हि संचरदे। अणीदिपुव्वगं जे रज्जं करिज्जंते, ते झत्ति हु परिब्भट्ठिहिंति। अहिगारं लहित्ता जो कत्तव्व-परिणाणं ण करेदि तस्स विणासो णियदो, तस्स पदणादो रक्खणं परमप्पा वि ण करिज्जंति पुणो किं अण्णस्स कहणं? भीमा भीमा सग-सुहत्थी-कूर-राया जादा, तेसिं अंतो जसस्स अंतेण जादा। साहु-सहावी-राया धम्मजसेहिं सह सदयभावेण वसेंति, ते जम्म-जम्म-पज्जंतं जीवेंति। पबल-पुण्णप्प-जीवस्स मरणं कोवि इच्छेदि पुणो वि ण मारिज्जदि॥

---

159. व्यसन-मुक्त राजा ही प्रजा को सुख दे सकता है। जो व्यसन में डूबा है वह प्रजा को क्या सुखी कर पाएगा? राज्य-व्यवस्था मर्यादा के साथ होनी चाहिए, बिना मर्यादा के राज्य नहीं चल सकता, राज्य को नीति के साथ ही चलाया जाता है। अनीतिपूर्वक जो राज्य करना चाहते हैं, वे शीघ्र ही पतन को प्राप्त होंगे। अधिकार पाकर जो कर्तव्य का ध्यान नहीं रख पाता उसका विनाश नियत है, उसका पतन परमात्मा भी नहीं बचा पाएँगे फिर अन्य की क्या बात है? बड़े-बड़े स्व-सुखार्थी क्रूर राजे-महाराजे भी हुए, उनका अन्त यश के अन्त के साथ हुआ। साधु-स्वभावी सम्राट् धर्म-यश के साथ सदय-भाव से रहते हैं, वे जन्म-जन्म तक जीवित रहते हैं। प्रबल-पुण्यात्मा जीव को कोई मारना भी चाहे तो नहीं मार सकता है।

---

160. परधण-हरणं पाणहरण-सरिसं। दव्वज्जण-दिट्ठीए जीवा अणेग-मायाभावा करेंति, किण्णु पुण्णक्खीणत्ते मायाभावो अकज्जकारा, फलदो सो णूणं उग्घाडेदि। अणलं रूईए किं कोवि सुरक्खिदं करिज्जदे? किं अग्गी रूईए गुत्ता वसेदि? तहेव मायाबुद्धीए संगहीदधणमवि सगगेहे ण ठादि, तम्हा सुवित्तीए संपत्ति-अज्जणं कादव्वं, ण दु परपीडं देदूणं। ते उहयलोए पदिदा, जे सगीय-जीवणत्थं परजीवणं दुखमयं करेंति। साहुपुरिसा सगस्स सुहदुहमिव परस्स सुहदुहमवि पस्संते। ते जीवा णिगिट्ठा, जे सामण्ण-जणादो राजगीय-वत्थूणं पि हरेंति। सासगीय-सेवा-रत्तो पुरिसो मेत्तं मासिग-वेदणाहिगारी, ण दु सासगीय-संपदा-अहिगारी।।

161. पर-धन हरण प्राण-हरण तुल्य है। द्रव्य कमाने की दृष्टि से लोग नाना माया-भाव बनाते हैं, परन्तु पुण्य-क्षीणता में मायाचार चल नहीं पाता, फलतः वह कहीं न कहीं तो खुल ही जाता है। अग्नि को रूई में क्या कोई सुरक्षित रख सका? अग्नि रूई में गुप्त रह सकती है क्या? उसी प्रकार से छल-बुद्धि से संगृहीत धन भी स्व-ग्रह में नहीं ठहर सकता, इसलिए सद्वृत्ति से सम्पत्ति का अर्जन करना चाहिए, पर को पीड़ा देकर नहीं। वे लोग उभय लोक में पतित हैं जो अपने जीवन के लिए पर का जीवन दुःखी कर रहे हैं। साधु-पुरुष स्व के सुख एवं दुःख जैसा पर का सुख-दुःख भी देखते हैं। वे लोग निकृष्ट हैं; जो सामान्य जनों से लेकर राजकीय वस्तुओं का भी हरण कर लेते हैं। शासकीय सेवा में लगा पुरुष मात्र मासिक-वेतन का अधिकारी है, न कि शासकीय सम्पदा का अधिकारी है।

---

161. जे पदिट्ठिद-पदेसुं आसीणा पदिट्ठि-अहिगारी, कम्मयारी, णायग-गणा, पहाण-मंती, रट्ठवदी, मंती, संसदा, विहायगा, सिक्खगादि-रट्ठसेवा-तप्परा, ते सव्वे रट्ठ-उण्णदीए अंगा। ते तेसिं जोग्ग-वेदणस्स उवओगं कुणंतु, तं पि दाणधम्मं करंतं। सव्वस्स सेट्ठ-कज्जेहिं हि एग-सेट्ठ-रज्जस्स उदयो होदि। सयल-णागरिग-उद्देस्सं मेत्तं रट्ठ-विगासो एव होदव्वं। रट्ठ-विगासज्झुणीए सह रट्ठ-विगास-कज्जं पि हुज्जा। देस-संपत्ति-उवओगो देसहिदम्हि होदव्वो। रट्ठस्स अणहिकिद-तिणभोगो वि णेव होज्जा। जो जीवो रट्ठीयसंपदा-उवभोगो मेत्तं सगहिदे करेदि, सो रट्ठदोही-तक्खरो।।

161. जो प्रतिष्ठित-पदों पर आसीन प्रतिष्ठित-अधिकारी, कर्मचारी, नेतागण, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, मंत्री, सांसद, विधायक, शिक्षकादि राष्ट्र-सेवा में तत्पर हैं; वे सभी राष्ट्र-उन्नति के अंग हैं। वे उनका जो उचित वेतन है उसी का उपयोग करें, वह भी दान-धर्म करते हुए। सभी के श्रेष्ठ-कार्यों से ही एक श्रेष्ठ-राष्ट्र का उदय होता है। सभी नागरिकों का उद्देश्य एकमात्र राष्ट्र-विकास ही होना चाहिए। राष्ट्र-विकास के नारे के साथ-साथ राष्ट्र-विकास के कार्य भी होना चाहिए। देश की सम्पत्ति का उपयोग देश-हित में होना चाहिए। राष्ट्र का अनधिकृत तृण भोग भी नहीं होना चाहिए। जो व्यक्ति राष्ट्रीय-सम्पदा का उपभोग मात्र स्वहित में लगाता है वह राष्ट्र-द्रोही, तस्कर है।

---

162. राजगीय-दव्व-भुंजमाणम्हि सुवण्ण-मुद्दाणं दंडं उवादेयं। सकारण-दव्व-गहणं जदि कोडि-कोडि-दव्वाइं पि कुज्जा, तदावि जीवो सहेदि, किण्णु सासगं अकारण-कर-दव्वहरणं च णेव कादव्वं। रायं पयादो तावदियं हि करं गेण्हेज्जा, जेण सो सयमवि जीवेज्जा तहा पुणो करं देयजोग्गं

होदु तहा मायं विणा करं पयच्छेदि। अहिग-कर-गहणादो पया सासगादो होदि उदासो। पया-उदासीणत्तं रज्जक्खय-कारणं। जत्थ सदेस-सासगस्स अणुराई-पया वसेदि, तत्थ सदा सुह-संती य वसेदि। राया-पयाए एगत्तं रज्जुण्णदीए पबलकारणं। जस्स पया रायं बहुमाण-सम्माणेण सह आदर-सक्कारं कुणदु, सो रायो घण्णवाद-पत्तो॥

162. राजकीय द्रव्य-सेवी पर स्वर्ण मुद्राओं का दण्ड उपादेय है। सकारण द्रव्य-ग्रहण यदि कोटि-कोटि भी करे, तब भी व्यक्ति सहन कर लेता है, किन्तु शासक को अकारण कर या द्रव्य-हरण नहीं करना चाहिए। सम्राट् को प्रजा से उतना ही कर (टैक्स) लेना चाहिए जिससे वह स्वयं भी जी सके और पुनः कर देने योग्य बचे और बिना छल के कर प्रदान करता रहे। अधिक कर लगाने से प्रजा शासक से उदास हो जाती है। प्रजा की उदासता राज्य-क्षय का कारण है। स्वदेश शासक की अनुरागी प्रजा जहाँ रहती है वहाँ सदा सुख एवं शान्ति रहती है। राजा तथा प्रजा की एकता राज्योन्नति का प्रबल हेतु है। वह राजा धन्यवाद का पात्र है जिसकी प्रजा राजा को बहुमान-सम्मान के साथ आदर-सत्कार करे।

---

163. जहा रुक्खस्स मूलुच्छेदादो तेण फललद्धी केवलं तस्समए अंतिमवारं हि होदि, तहा जं रज्जं अण्णाएण पयाए सव्वस्स-अवहरणं करेदि तं तस्समए मेत्तं एगहुत्तं हि धणलाहो होदि णेव भविस्से। पया-संपत्ती णूणं रायस्स विउल-णिही अत्थि, तम्हा तं णायादो उवउंजेज्जा। अणुऊल-उवाएण ण दु अवराह-पडिऊल-अत्थिगदंडादीहिं। जहा सग-णिहि-रक्खं करेदि तहेव पयाधण-रक्खणं रायकत्तव्वं, णवरि आवस्सगत्ते सदि रज्जे सत्तुकिद-पागिदरोग-महामारी-पहुदि-विवत्ति-आगमे सदि रज्जसेट्ठी-अवरधणिगेहिं पदत्तदाणादो हि रज्जरक्खणं होदि। जहा सेट्ठी-भामासाहेण विवत्तिकाले सगीयदव्व-समप्पणं किच्चा रट्ठरक्खणं किदं, तम्हा पया-दव्वस्स वि संरक्खणं होदव्वं॥

163. जिस प्रकार वृक्ष का मूलोच्छेद करने से उससे फल प्राप्ति केवल उसी समय अंतिम एक बार ही होती है, उसी प्रकार जो राज्य अन्याय के द्वारा प्रजा का सर्वस्व-अपहरण करता है उसे उसी समय केवल एक बार ही धन मिलता है, भविष्य में नहीं। प्रजा की सम्पत्ति निश्चय से राजा का विशाल खजाना है, इसलिए उसे न्यायपूर्वक उपयोग करना चाहिए। अनुकूल उपाय से; अपराध प्रतिकूल आर्थिक-दण्डादि द्वारा नहीं। जैसे स्वयं के खजाने की रक्षा करते हैं वैसे ही प्रजा के धन की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है, क्योंकि आश्यकता पड़ने पर राज्य में शत्रुकृत प्राकृत-रोग या महामारी आदि विपत्ति के आने पर राज्य सेठों व अन्य धनिकों द्वारा दान देकर ही राज्य-रक्षा होती है। जैन सेठ भामाशाह ने विपत्ति-काल में अपना द्रव्य न्यौछावर कर राष्ट्र-रक्षा की, इसलिए प्रजा के द्रव्य का भी संरक्षण होना चाहिए।

कक्कसवयण-विसणं

(कर्कश-वचन-व्यसन)

164. संसारे सव्वादो अहिगमहुरं मिस्सी-अमिदं च णत्थि। लोए सव्वलोयाणंद-पदायगं वत्थुं

पियहिदयर-महुरवयणं। अवरं तुमं बहु-मिट्ठुण्णं भोगेसि, किण्णु तुमं जदि कडुग-भासं भासेसि दु तस्स मिट्ठुण्णस्स किंपि मुल्लं णत्थि। पाणीमेत्तं पडि महुर-मिदु-गंभीर-आदहिदु-मोक्खमग्गं पडि गममाण-वक्कप्पओगं कादव्वं। कडुग-कक्कस-कढोरवयणप्पओगं णवि कादव्वं, णवरि महुर-वाणीए किण्ह-भुजंगो वि वसे होदि किण्णु कक्कस-कढोर-सावज्ज-मम्मभेदी-सद्देहिं तु सगीय-संबंधीजणा वि रिवू होंति। कडुभासी-पिदुस्स पुत्तं पि पिदुं मुंचेदूणं गच्छेंति। जदि जगदीए सव्वस्स पेम्म-पत्त-हवणस्स इच्छा दु सच्च-सरल-पंजल-महुरभासणप्पओगं सिक्खेहि, तं पि मायाभाव-रहिदं। णेव सगत्थ-सिद्धीए खादीए च, अविदु साहाविग-पागिद-रूवेण भासाए माहुरिय-रसं पूरेज्जा॥

164. संसार में सबसे अधिक मधुर (मीठा) न मिश्री है, न अमृत। लोक में सर्व-लोकानन्द प्रदान करने वाली कोई वस्तु है तो वह है—प्रिय हितकारी मधुर वचन। किसी को आप कितना ही मीठा खिलाओ, परन्तु भाषा-कटुक बोलते हैं, तो उस मिठाई की कोई कीमत नहीं हैं। प्राणिमात्र के प्रति मधुर-मृदु-गंभीर, आत्महितकारी मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाले वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए। कटुक, कर्कश-कठोर-वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि मधुर-वाणी से काला-नाग भी अपने वश में हो जाता है, पर कर्कश-कठोर-सावद्य, मर्म भेदी शब्दों से तो अपने सगे-सम्बन्धी लोग भी शत्रु हो जाते हैं। कटु-भाषी पिता के पुत्र भी पिता को छोड़कर चले जाते हैं। जगति पर सबका प्रेम-पात्र बनना है तो सत्य, सरल, प्रांजल, मधुर-भाषण बोलना सीखो वह भी मायाचारी रहित। स्वार्थ-सिद्धि हेतु नहीं, न ख्याति हेतु, अपितु स्वाभाविक प्राकृत-रूप से भाषा में माधुर्य का रस भर दो।

---

165. सेट्ठसाहग-चागी-णाणी-धणवदि-रज्जाहिगारी-सासगाणं च भासा पुण्णरूवेण विवत्थिदा होदव्वा। जीवस्स भावाहिवत्ती तस्स भासाए एव होदि। णाणीअण्णाणी-विवेगीअविवेगी-मूढपंडिद-रायप्पया-साहुअसाहु-कम्मचारीअहिगारी-सहरवासीगामीण-सिक्खिदासिक्खिद-कुलीणाकुलीणाणं च अहिणाणं देहवण्णादो णत्थि, अविदु तेसिं सिरिमुहादो विणग्गिद-वाणीए होदि। विणयसीलस्स भासाए विणयस्सोदो णिज्झंतो दिस्सेदि। एवं अविणयदोसादो दूसिदचित्ताणं भासाए अविणय-विसं तिप्पेदि॥

165. श्रेष्ठ-साधक, त्यागी, विद्वान्, धनपति, राज्याधिकारी तथा शासक की भाषा पूर्ण सधी हुई होनी चाहिए। व्यक्ति के भावों की अभिव्यक्ति भाषा से ही तो होती है। ज्ञानी-अज्ञानी, विवेकी-अविवेकी, शठ (मूर्ख) विद्वान्, राजा-प्रजा, साधु-असाधु, कर्मचारी-अधिकारी, शहरी-ग्रामीण, शिक्षित-अनपढ़, कुलीन-अकुलीन की पहचान शरीर-वर्ण से नहीं, अपितु श्रीमुख से विनर्गित वाणी से होती है। विनयशील की भाषा से विनय का स्रोत टपकते दृष्टिगोचर होता है। वहीं अविनय दोष से जिनका चित्त दूषित है उनकी भाषा से अविनय का विष रिसता है।

166. जीवस्स कक्कसभासण-विसणादो जीवा तत्तो सणइ-सणइ पुहं हविज्जंते। पडिबुद्धा जहा कूरपाणीदो सगीयपाणरक्खं करंते तहेव कक्कसभासीदो आदरक्खणं करंते। भासाए कढोरत्तं मेत्तं कण्ण-पडल-घादं हि ण करेदि, अविदु अंतोकरणं पि जज्जरेदि। इदं आदविसुद्धीए दु

कालकूडविसं अत्थि। कक्कस-वयणेहिं कम्हिचिदवि अहिगारं करिज्जिस्संति, इदं सव्वं विवरीद-चिंतणं। पडिबुद्ध-विवेगीजणा अण्णाणी-उद्दंडेहिं विहावत्तं किच्चा सगीय-समयं ण णस्संति। ते मउण-णिवसणं हि उचिदं मण्णंते, ण दु कक्कस-भासगादो बीहंते। सज्जणाणं सगीय-धम्मजसकालभावो य पियो होदि। पण्ण- जणा णिरत्थग-सद्दावलीए रंभित्ता सगीय-अमुल्ल-जीवणक्खणाइं ण णस्संते॥

166. व्यक्ति का जब कर्कश-भाषण व्यसन बन जाता है तब लोग उससे धीरे-धीरे दूर होने लगते हैं। समझदार लोग जैसे क्रूर-प्राणियों से अपनी प्राण रक्षा करते हैं, ठीक वैसे ही कर्कश भाषी से आत्मरक्षा करते हैं। भाषा की कठोरता मात्र कर्ण-पटल का ही घात नहीं करती, अपितु अंतःकरण को भी विदीर्ण कर देती है। यह आत्म-विशुद्धि के लिए तो काल-कूट जहर है। जो ये सोचते हैं कि—कर्कश-वचनों से किसी पर अधिकार जमा लेंगे, यह सब विपरीत सोच हैं। समझदार विवेकी-जन नासमझ उद्दण्डों से व्यर्थ-वार्ता कर अपना समय नष्ट नहीं करते हैं। वे मौन रहना ही उचित समझते हैं, न कि कर्कश-भाषी से डरते हैं। सज्जनों को अपना धर्म-यश, काल और भाव प्रिय होता है। प्रज्ञ-जन व्यर्थ की शब्दावली में उलझकर अपने अमूल्य-जीवन के क्षणों को नष्ट नहीं करते हैं।

---

167. तमेव भासेहि जं वच्छल्ल-पेम्मभावं वड्ढेज्जा। विगिण्ण-समाय-भंगहिदयाइं च परोप्परे समणुगमेज्जा, अत्तागम-तवोभिदेसुं अट्ठा होज्जा, देसे देसे रट्ठे रट्ठे सब्भावस्स भावो जग्गेज्जा, जुद्धट्ठाणे सहजोग-भावणा णिम्मेज्जा, माणवे माणवत्त-संचारो होदु, पसुवित्ति-अभावो होदु, पिदु-पुत्तादि-पारिवारिगसंबंधेसुं महुरत्त-पवाहो होदु तहा परोप्परे कडुत्तविसं ण मिस्सेदु। पत्तेग-माणवे पाणिमेत्तं पडि करुणा-सोदं पवहेदु, दीणदुही-असहायजणा पसंता हि सहजोग-सरिदा पवहेदु। एरिसं भासं भासेहि जेण रिवुवग्गो वि मेत्ती-भावणाजुत्तो होदु, संपदायस्स संपदायं पडि सब्भावं णिम्मेदु, कोवि कम्हिचिदवि कुदिट्ठिपादं ण कुणदु, तुज्झ सुभासा सदद्दी-इदिहासो होदु वा॥

167. बोलो वही जो वात्सल्य, प्रेम-भाव को वर्धमान करे। बिखरी समाज, टूटे-हृदय परस्पर जुड़ जाएँ, आप्त-आगम-तपोभृतों पर आस्था बने, देश-देश, राष्ट्र-राष्ट्र में सद्भाव के भाव जगें, युद्ध की जगह सहयोग की भावना बने, मानव में मानवता का संचार हो, पशुवृत्ति का अभाव हो, पिता-पुत्रादि पारिवारिक संबन्धों में मधुरता का प्रवाह हो और परस्पर में कटुता का जहर न घुले। प्रत्येक मानव के अंदर प्राणिमात्र के प्रति करुणा स्रोत बहे, दीन-दुखी, असहाय-जनों को देखते ही सहायता की गंगा बहे। भाषा ऐसी बोलो जिससे शत्रु वर्ग भी मैत्री की भावना से भर जावे, सम्प्रदाय का सम्प्रदाय के प्रति सद्भाव बने, कोई किसी पर कुदृष्टिपात न करे, आपकी सम्यक्-भाषा सदी का इतिहास बने।

---

168. वाणीए पुप्फाइं विसट्टंतु, जणमाणसा भवियभमरा होदूणं तुज्झ वाणी-रसपाणं कुणंतु। वयण-महुरत्तस्स समक्खे अवरं किंपि महुर-रसं ण होदि। महुरवयणं परं पि सगीयकरणस्स मंतं तहा कक्कस-वयणं सगीया वि परकरणस्स तंतं। एदाणि दोण्णि माणवं समया। जहा मावणो इच्छेदि तहा

सो करेदि, अवरस्स कोवि आवस्सगत्तं णत्थि। जीवणसारो जीवस्स वाणी-भावेसुं आहारिदो। जस्स भाव-भासाए णियंतणं सो साहु पुरिसो तहा जस्स भावभासाए किंपि णियंतणं णत्थि, सो माणवायारे तिरियो त्थि। महाणत्तं साहुत्तं च आवणेसुं ण भजेदि तं तु सगेणेव सग-सहावे पयडेदि॥

168. वाणी में पुष्प खिलें, जन-मानस भव्य-भ्रमर बन तुम्हारी वाणी का रसपान करें। नहीं होता अन्य कोई मधुर-रस; वचनों की मधुरता के आगे। पर को भी अपना बनाने का मंत्र है—मधुर-वचन और अपनों को भी पर-बनाने का तन्त्र है—कर्कश वचन, ये दोनों ही मानव के पास हैं। जैसा मानव चाहे वैसा कर सकता है, अन्य की कोई आवश्यकता नहीं है। जीवन का सार व्यक्ति की वाणी, भाव पर टिका है। जिसका भाव व भाषा पर नियंत्रण है वह साधु-पुरुष है और जिसका भाव व भाषा पर कोई नियंत्रण नहीं, वह मानव के आकार में तिर्यञ्च है। महानता-साधुता बाजारों में नहीं मिलती, वह तो स्वयं से ही अपने ही स्वभाव में प्रकट होती है।

---

169. थोवणाणी-महुरभासी-मंतीणं सम्म-परामरिसं अप्पण्हु-सासगो वि जदि गेण्हेदि दु सो वि रज्जसंचालणे उत्तिण्णत्तं पसज्जेदि, किण्णु अपुण्ण-णाणी-हढधम्मी-कक्कसभासी सगरज्जपदणं करेदि। रज्जस्स रायो एरिसो ण होज्जा। जत्थ कक्कसभासी-हढधम्मी-सामी होदु तस्स ठाणस्स सज्जणाणं चत्तेज्जा, णवरि सो कक्कसी कदावि हढत्तेण पयाणासं करिज्जेदि। मित्त-पुत्त-पिदु-सामी य जदि हढधम्मी होदु दु तस्स सहवास-मेत्तं हीणभावणा-पराधीणत्त-वेदणं करिस्सदि; इमेण आदणिब्भरत्त-आदसुतंतदा-हासो होहिदि, णियप्प-विसुद्धि-घादो होहिदि तम्हा कक्कसभासी-हढधम्मीदो झत्ति हु भिण्णत्तं लब्भेहि॥

169. अल्पज्ञानी मधुर-भाषी मंत्रियों की सम्यक्-सलाह को अल्पज्ञ शासक भी यदि स्वीकार लेता है, तो वह भी राज्य-संचालन में उत्तीर्णता को प्राप्त कर सकता है, परन्तु अधूरा-ज्ञानी हठधर्मी कर्कश-भाषी स्व-राज्य का ही पतन कर लेता है। राज्य का राजा ऐसा नहीं होना चाहिए। जहाँ कर्कश भाषी हठधर्मी स्वामी हो उस स्थान का सज्जनों को त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह कर्कशी कभी भी हठता में आकर प्रजा का नाश कर सकता है। मित्र हो या पुत्र, पिता हो या स्वामी हठधर्मी का सहवास मात्र हीन-भावना पराधीनता का ही वेदन कराएगी इससे आत्मनिर्भरता, आत्म-स्वतंत्रता का ह्रास होगा, स्वात्म-विशुद्धि का घात होगा, इसलिए कर्कश-भाषी एवं हठधर्मी दोनों से ही शीघ्रातिशीघ्र भिन्नत्व को प्राप्त करो।

---

170. मम्मभेदी-हिदयविदारग-कक्कसवयणाइं सत्थघावादो वि अहिगकट्ठदायगाइं होंति। सत्थघावं समए णिब्भरेदि किण्णु सत्थादो अहिग-घादगं कढोर-कक्कस-दुव्वयणं होदि, जस्स घावो भव-भव-पज्जंतं ण भरेदि। काएचिदवि ठिदीए कडु-कक्कसवयणं ण भासेज्जा। जे ण दु कम्हिचिदवि सत्थघावं करेंति णेव कक्कस-वयणप्पहारं करेंति ते हु उत्तमा पुरिसा॥

170. मर्म-भेदी, हृदय-विदारक, कर्कश वचन शस्त्र के घाव से ही अधिक कष्टदायक होते हैं। शस्त्र का घाव तो समय पाकर भर जाता है, परन्तु शस्त्र से अधिक घातक कठोर-कर्कश-दुर्वचन होता है, जिसका घाव

भवों-भवों तक नहीं भरता है। किसी भी स्थिति में कटु-कर्कश वचन नहीं बोलना चाहिए। श्रेष्ठ-महान् वे पुरुष हैं जो न तो किसी पर शस्त्र की चोट मारते हैं और न ही कर्कश-वचनों का प्रहार करते हैं।

---

171. कक्कस-वयण-बाणा महाभयंकरा होंति, णवरि ते अवराणं मम्मत्थलेसुं पवेसिय पीडेंति; जत्तो पीडिद-पुरिसो अहोणिसं सोगाउलो होदि। अहोणिसं आदपीडादो पीडिदो हीणभावणाए जीवेदि तहा सगं ण रक्खेज्जा दु आदविघादं पि कुव्वेदि॥

171. कर्कश वचन रूपी बाण महा-भयंकर होते हैं, क्योंकि वे दूसरों के मर्म-स्थलों में प्रविष्ट होकर पीड़ा पहुँचाते हैं, जिनसे पीड़ित पुरुष दिन-रात शोकाकुल रहता है। दिन-रात आत्म-पीड़ा से पीड़ित हीन-भावना में जीता है और नहीं सँभाल पाया स्वयं को तो आत्महत्या भी कर लेता है।

---

172. अहो अहिंसगा! तुज्झ कक्कस-भासा कस्सचिद मिच्चुकारणं सिज्झिज्जेदि, तस्स सयल-पावं तुवं भजेसि; इमम्हि चिंतेहि॥

172. अहो अहिंसको! इस बात पर ध्यान दो, आपकी कर्कश-भाषा किसी की हत्या का कारण बन सकती है, उसका पूरा पाप तुम्हें मिलेगा।

---

173. कुलीणं णीचो कुल-कलंकि त्ति भासणं इच्चादि-भासा मम्मभेदी कक्कसा अत्थि। वयोवुद्धं पस्सिदूणं अक्कोसित्तु कहणं तुज्झ केसा सेदा जादा, इदं पि मम्मभेदी-कक्कसवयणं। सदायारिं दुराचारी, णाणिं मूढो, णिद्दोसं सदोसी कहणं वागपारुस्सं। मुणस्सस्स जादि-आउस्स-सदायारविज्जा-णिद्दोसत्तस्स अजोग्ग-विरुद्धवयणं वागपारुस्सं। णेदिग-माणवं सगीय-इत्थि-पुत्त-मादुपिदु-भिच्चाणि कक्कस-वयणाणं चागादो हिदमिदप्पियवयणं भासंतं विणयवंतं होदव्वं॥

173. कुलीन को नीच कहना, कुल-कलंकी कहना, इत्यादि भाषा मर्म-भेदी है, कर्कश है। वयोवृद्ध को देखकर आक्रोशित होकर बोलना, तेरे बाल श्वेत हो गए हैं, यह भी मर्म-भेदी कर्कश वचन है। सदाचारी को दुराचारी, विद्वान् को मूर्ख, निर्दोष को सदोषी कहना वाक्-पारुष्य है। मनुष्य की जाति, आयुष्य, सदाचार, विद्या व निर्दोषता के अयोग्य, विरुद्ध वचन वाक्-पारुष्य है। नैतिक-मनुष्य को अपनी स्त्री-पुत्र, माता-पिता, भृत्यों को कर्कश वचनों का त्यागपूर्वक हित-मित-प्रिय वचन बोलते हुए विनयशील बनना चाहिए।

दंडपारुस्स-विसणं

(दण्ड-पारुष्य-व्यसन)

174. पयाए अण्णाय-अणीदि-संचारो ण होदु तम्हा रायदंडं दच्छदे, दंडे वि हिदं णिहिदं। एगस्स अवराहेण इरिदित्ता अणेगेसुं अवराही-पउत्ती जादेदि। दंडं किंपि अण्णायो णत्थि। जदि कोवि

अवराहं करीअ दु उचिद-णाएण सह तं दंडं देज्जा, जेण भविस्से सो अवराहीवित्तिं ण कुणदु; अदो अवराही-उण्णयणत्थं दंड-विवत्ता अत्थि॥

174. प्रजा में अन्याय-अनीति का संचार न हो, इसलिए राज-दण्ड दिया जाता है, दण्ड में भी हित निहित रहता है। एक के अपराध से प्रेरित होकर अनेकों में अपराधी प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगती है। दण्ड कोई अन्याय नहीं है। यदि किसी ने अपराध किया है तो उचित न्याय के साथ उसे दण्ड दिया जाए, जिससे भविष्य में वह अपराधी वृत्ति न करे, अतः अपराधी के सुधार हेतु दण्ड-व्यवस्था है।

---

175. जदि सासगो दंडं ण देहिदि दु लोए अणत्थो होहिदि, कोवि कत्तोचिदवि णो होदि भयभीदो तहा सगेच्छायार-वित्ती आरंभेहिदि। सबलो णिब्बलं ण जीवावेहिदि। पुढवी माणवीयदा-सुण्णा होहिदि, धणिगा हि मेत्तं सुहभोगी होहिंति, सेसा जीवा तेसिं सेवगा होदूणं हि वसेहिंति। पुढवी-पदिं विणा पुढवीए सामण्ण-जीवाणं जीवणं दुग्गमं होहिदि, तम्हा रायगीयदंडं अणिवरियं॥

175. यदि शासक दण्ड नहीं देगा तो लोक में अनर्थ हो जाएगा, कोई किसी से भयभीत नहीं होगा और स्वेच्छाचार वृत्ति प्रारम्भ हो जायेगी। सबल निर्बल को जीने नहीं देगा। पृथ्वी मानवीयता से शून्य हो जाएगी, धनिक ही मात्र सुख-भोगी होंगे, शेष लोग उनके सेवक बनकर ही रहेंगे। पृथ्वी-पति के बिना पृथ्वी पर सामान्य जीवों का जीना कठिन हो जाएगा, इसलिए राजकीय-दण्ड अनिवार्य है।

---

176. ओहो! जदा सासगो वि अण्णाय-पुव्वगं दंडणीदिप्पओगं कुणदु दु सो सासगो वि दंडपत्तो त्थि। रायं सगीयदंडणीदिं धम्म-णायणीदि-आसयादो पउंजेज्जा॥

176. ओहो! जब राजा/शासक ही अन्याय-पूर्वक दण्ड-नीति का प्रयोग करे, तो वह शासक भी दण्ड का पात्र है। राजा को अपनी दण्ड-नीति धर्म-नीति व न्याय-नीति के आश्रयपूर्वक लगानी चाहिए।

---

177. सेट्ठ-रट्ठस्स राएण परिट्ठिदि-अणुसारेण हि दंडणीदिप्पओगं कादव्वं। कओ णिरवराहिं दंडं ण होज्जा तहा अवराही दंडादो ण मुंचेज्जा। दंडं ण दिंतीअ दु रज्जं णस्सेहिदि तहा अण्णायपुव्वगं दंडं दिज्जा दु तदावि रज्जं णस्सेहिदि। पढमं अवराही-कहणं पि सुणेज्जा, सहसा दंड-घोसणं ण कादव्वं॥

177. श्रेष्ठ राष्ट्र के राजा के द्वारा परिस्थिति देखकर ही दण्ड-नीति का प्रयोग करना चाहिए। कहीं निरपराधी को दण्ड न हो जाए और अपराधी दण्ड से छूट न जाए। दण्ड नहीं दिया तो राज्य नष्ट हो जाएगा और अन्याय पूर्वक दण्ड दिया तो तब भी राज्य नष्ट हो जाएगा। सर्वप्रथम अपराधी की बात भी सुनना चाहिए, एकाएक दण्ड की घोषणा न की जाए।

---

178. कूर-अण्णायपुव्वग-दंडदायग-सासगस्स णासो सुणिच्छिदो। अण्णायदो कस्सचिद वह-करणं, कारागारस्स बंधणं, सयल-धणावहरणं जीविगा-विणासणं च दंड-पारुस्सं॥

178. क्रूर एवं अन्यायपूर्वक दण्ड देने वाले शासक का नाश सुनिश्चित है। अन्याय से किसी का वध करना, जेल में बंद करना, सम्पूर्ण-धन अपहरण करना, जीविका नष्ट करना 'दण्ड-पारुष्य' है।

---

179. पुव्वुत्त-अट्ठारह-विसणेसुं जदि कोवि एग-विसणे वि अणुरत्तो दु सो सासगो खत्तिय-बंभण-वेस्स-सुद्दो य कस्सचिदवि जादिवण्णस्स होदु तस्स विणासो णिच्छिदो त्थि। पुणो जो सयल-अट्ठारहविसणासत्तो तस्स रज्ज-रायणीदि-जसो य झत्ति हु समत्तेहिदि तम्हा अहिकिदजणा सगीय-णिण्णयं विवेगदो गेण्हेज्जा। पेक्खं विणा जे णिण्णयं गेण्हेंति, ते जीवण-पज्जंतं पच्छादावजालाए पजलेंति॥

179. उक्त अठारह व्यसनों में से यदि कोई एक भी व्यसन में अनुरक्त है तो वह शासक, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र किसी भी जाति-वर्ण का हो उसका नाश निश्चित है। फिर जो सम्पूर्ण अठारह ही व्यसन करता हो उसका राज्य, राजनीति का यश शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा, इसलिए अधिकृत जनों को अपने निर्णय विवेक पूर्वक लेना चाहिए। प्रेक्षा के बिना ही जो निर्णय लेते हैं, वे जीवन भर पश्चात्ताप की ज्वाला में जलते रहते हैं।

31

सच्चत्थ-बोहो

(सत्यार्थ-बोध)

सदायारो

(सदाचार)

1. उच्चवियारायारा जीवं उत्तमं सेट्ठं महाणं च करेंति। उच्चायार-सदायार-सदायरणं च जीवस्स कुलीणत्त-परिचओ। सदायारवंता सगीय-परिचयं मुह-सद्देहिं सह सम्मायरणेण हि देंति। ते सच्चभासणेण सह सच्चजीवणं पि जीवंते। सदायारो जीवस्स वत्तित्तसारो। सदायारी सव्वत्थ वीसासं पसज्जेदि सदायारो लोए सव्वत्थ सम्माणं पत्तो, अहिल-वीसो सदायारी-जीवस्स चरण-बलिहारी। सयलवीसस्स संपदालाहो होदु पुणो वि सगीय-सदायार-विक्कयं णेव कादव्वं। लोहकसायो सदायारस्स रिवू। सदायारा सम्मवियारा तावं हि सुरक्खिदा, जावं जीवो लोहकसायादो अप्पहाविदो। लोहादो पहाविदे सदि सव्वगुणा विप्पणस्संति। अब्भंतर-मुच्छा सदायारं मुच्छिदं करेदि॥

1. उच्च विचार व आचार व्यक्ति को महान् बनाते हैं। उच्च-आचार, सदाचार, सद्-आचरण व्यक्ति की कुलीनता का परिचय है। सदाचारी लोग अपना परिचय मुख के शब्दों से ही नहीं, अपितु समीचीन-आचरण से ही दे देते हैं। वे सत्य बोलने के साथ-साथ सत्य जीवन भी जीते हैं। सदाचार व्यक्ति के व्यक्तित्व का सार है। सदाचारी व्यक्ति सर्वत्र विश्वास को प्राप्त होता है। सदाचार लोक में सर्वत्र सम्मान को प्राप्त है, अखिल-विश्व सदाचारी की चरण बलिहारी है। सम्पूर्ण विश्व की सम्पदा का लाभ हो, फिर भी अपने सदाचार का विक्रय नहीं करना चाहिए। लोभ-कषाय सदाचार की शत्रु है। सद्-आचार, सद्-विचार तभी तक सुरक्षित हैं, जब-तक व्यक्ति लोभ कषाय से अप्रभावित है। लोभ से प्रभावित होते ही सर्वगुण समाप्त होने लगते हैं। अंतरंग-मूर्च्छा सदाचार को मूर्च्छित कर देती है।

---

2. दिढत्तं सगकज्ज-सिद्धीए मूलमंतं, तम्हा सग-सेट्ठकज्जे दिढत्तं धारेदव्वं। सुहकज्ज-संपादणे कट्ठागमे सदि विचलिदत्त-सब्भावो त्ति दिढ-धम्मिकज्जं णत्थि। सगीय-उत्तमकज्जादो ते हि विमुहा होंति, जा सगकज्जे सगे य वीसासो णत्थि। अवरे अवीसासो सगकज्ज-घादगो दु अत्थि, किण्णु सग-

अवीसासो अहिग-घादगो त्थि। जं सगीय-बलवीरिय-विण्णदाए सग-वीसासो णत्थि सो जीवणे किंपि पुरिसत्थसिद्धकज्जं ण सिद्धेहिदि। वीसासो हि करणीयो तमेव कुणेहि, आदवीसासो जीवं आदणिब्भरो करेदि॥

2. दृढ़ता स्वकार्य सिद्धि का मूल-मंत्र है, इसलिए स्व श्रेष्ठ-कार्य पर दृढ़ता रखना चाहिए। अच्छे कार्य पर कठिनाईयों के आने पर विचलित होना दृढ़-धर्मियों का कार्य नहीं। अपने श्रेष्ठ कार्य से वे ही विमुख होते हैं, जिन्हें स्वकार्य तथा स्वयं पर विश्वास नहीं है। अन्य पर अविश्वास स्वकार्य घातक तो है, परन्तु इतना नहीं जितना स्व का अविश्वास। जिसे अपने बल-वीर्य-विज्ञता का स्व-विश्वास नहीं वह जीवन में कोई पुरुषार्थ-सिद्ध कार्य को सिद्ध नहीं कर पाएगा। कुछ करना है तो विश्वास करो, आत्मविश्वास व्यक्ति को आत्म-निर्भर बनाता है।

---

3. जेसिं चित्ते आदवीसासस्स णूणत्तं, ते परावलंबी-जीवणं जीवंते। ते सदा परमुहं पडि हि पस्संति, णवरि ता णो होदि सग-खमदा-णाणं तहा णेव होदि सगप्पवीसासो। जे परगीय-किदकज्जाणं सदेव सगकिदकज्जमिव पसंसं करेंति, सो तेसिं मूढत्त-परिचायगो। जेसिं कज्जस्स खमदा णत्थि, ते अकुसला, ते परपसंसाए हि तुट्ठंति॥

3. जिसके अन्दर आत्म-विश्वास की कमी है, वे परावलम्बी जीवन जीते हैं। वे हर समय पर के मुख की ओर ही देखते हैं, क्योंकि उन्हें स्वयं की क्षमता का ज्ञान ही नहीं होता है और न ही स्वात्म-विश्वास। जो व्यक्ति परकीय-कृत कार्यों की सदा ही स्वयंकृत कार्य जैसी प्रशंसा करते रहते हैं, वह उनकी मूर्खता की परिचायक है। जिनकी कार्य करने की क्षमता नहीं है, वे अकुशल हैं, वे पर-प्रशंसा से ही संतुष्ट होते हैं।

---

4. जदा कढिणकज्जे सगपण्णा-गमणं णत्थि तदा परगीय-पण्णाए पसंसगो हविज्जदे, इमा लोग-रीदी। दुज्जणाणं परपसंसा दुल्लहा, परणिंदाए हि ते णंदेंति॥

4. जब कठिन-कार्य में स्वयं की प्रज्ञा नहीं चलती तब परकीय-प्रज्ञा का प्रशंसक बनना पड़ता है, यह लोक-रीति है। दुर्जनों को पर की प्रशंसा तो दुर्लभ है, पर की निन्दा में ही जीव आनन्द मानता है।

---

5. पसंसणीय-कज्जस्स पसंसणं उत्तमं तु, किंतु तं कज्जं तुज्झ णत्थि णवरि तस्स कज्जस्स कत्ता कोवि भिण्णो पुरिसो त्थि। तस्स पसंसाए पसंसणीयो सोच्चिय होहिदि जेण कज्जं किदं। पसंसणीय-हवणत्थं तुवं सयमेव पसंसणीयकज्जं कुज्जा। कुण पर-पसंसं, किण्णु सग-पुरिसत्थं

मुंचेदूण णत्थि। मे कज्जसिद्धी दु सगकज्जं पडि किद-पुरिसत्थेणमेव होहिदि, णेव पर-पसंसामेत्तेण। भत्ति-सद्धा-अट्ठा भिण्ण-विसयो त्थि; कज्जसिद्धी दु सगकत्ता-भावेण होहिदि ण दु परपसंसाए; अदो भत्ति-भासाए सह सगपुरिसत्थस्स पबलत्तं पि होदव्वं। पुरिसत्थं विणा वत्थूवलद्धी खीणपुण्णप्पं असंभवा।।

5. प्रशंसनीय कार्य की प्रशंसा करना अच्छी बात तो है, परन्तु वह कार्य आपका नहीं है, क्योंकि उस कार्य का कर्ता कोई भिन्न पुरुष है। उसकी प्रशंसा से प्रशंसनीय तो वही होगा जिसने कार्य किया है, प्रशंसनीय बनने के लिए आपको स्वयं ही प्रशंसनीय कार्य करना चाहिए। पर-प्रशंसा करो, परन्तु स्व-पुरुषार्थ छोड़कर नहीं। मेरे कार्य की सिद्धि तो स्वकार्य के प्रति किए पुरुषार्थ से ही होगी, पर-प्रशंसा मात्र से नहीं होगी। भक्ति-श्रद्धा-आस्था भिन्न विषय है; कार्यसिद्धि तो स्वकर्ता-भाव से होगी पर-प्रशंसा से नहीं, अतः भक्ति की भाषा के साथ स्व-पुरुषार्थ की प्रबलता भी चाहिए। बिना पुरुषार्थ के कोई भी वस्तु की उपलब्धि क्षीण-पुण्यात्मा जीव को असंभव है।

---

6. सदायार-सिद्धीए सुसाहिच्चस्स अज्झयणं, वत्थुत्त-वियारं, वत्थुत्त-सुतंतदाए दिट्ठिं, सदायारवंताणं संगदिं, हेयोवादेयस्स गहणचिंतणं तहा अत्थितच्चेण सह णत्थितच्चे वि वियारं कादव्वं। उहयतच्च-वियारणं विणा सदायारो णस्सेहिदि। चरियाए वियाराणं गहण-पहावो होदि; जह चिंतणं होदि तहेव आयरणं पि होदि। सदायारत्थं वियार-णिरोगत्तं आवस्सगं। देहं कियत्तं हि खीणेज्जा, किण्णु पवित्त-वियारेसुं खीणत्तं ण आगमेज्जा। जदि पत्तं विसालं तु णीरं अहो पडित्ता पंकं ण जादिस्सदि तहा जदि पत्तं लहुं तु णीरं अहो पडिहिदि तहा पंकं पि जादिस्सदि। जस्स वियारधारा विराडा सो कुडुंब-परिवार-रज्ज-रट्ठेसुं च विद्देस-पंकं ण खिवेहिदि। जदा जदा गेह-गेहस्स णगर-णगरस्स रट्ठ-रट्ठस्स जुद्धो जादो, तदा तदा तत्थ कोवि लहुवियारवंतो अवस्सो होहिदि।।

6. सदाचार की सिद्धि हेतु सद्-साहित्य का अध्ययन, वस्तुत्व का विचार, वस्तुत्व स्वतंत्रता पर दृष्टि, सदाचारी पुरुषों की संगति, हेय-उपादेय का गहन चिंतन तथा अस्ति के साथ नास्ति पर भी विचार करना चाहिए। उभय तत्त्व के विचार बिना सदाचार नष्ट हो जाएगा। चर्या पर विचारों का गहरा प्रभाव रहता है; जैसे विचार होते हैं वैसा आचरण होने लगता है। सदाचार के लिए विचारों का स्वस्थ रहना अनिवार्य है। शरीर कितना ही क्षीण हो जाए, परन्तु पवित्र विचारों में क्षीणता नहीं आना चाहिए। यदि बर्तन बड़ा है तो पानी नीचे गिरकर कीचड़ नहीं करेगा और यदि पात्र छोटा है तो पानी नीचे गिरेगा, गीला होगा कीचड़ भी होगी। जिसकी विचारधारा विराट् है, वह कुटुम्ब-परिवार, राज्य एवं राष्ट्र में विद्वेष की कीचड़ नहीं फेंकने देगा। जब-जब घर-घर का, नगर-नगर का, राष्ट्र-राष्ट्र का युद्ध हुआ है, तब-तब वहाँ कोई-न-कोई छोटे सोच वाला अवश्य होगा।

---

7. तुच्छबुद्धिवंता कुओ वि होंतु, ते सब्भावणा-सव्वियार-सदायारस्स घादं चेव करेंति तहा घादप्पेरणाए वि पमुहभूमिगं णिव्वहंते। ते एगंगी-बुद्धिं पउंजित्ता अखंडत्तं खंडं खंडं कारेंति। तेसिं मुहस्स सद्देसुं करुणा वसेदि, किण्णु हिदयो करुणा-सुण्णो होदि। एरिसा जीवा रट्ठ-मुक्खपदत्थं पुण्णाजोग्गा। जो जादिकुल-परंपरा-मदम्हि आकंठ-णिमज्जिदो सो अखंड-भारहस्स अखंड-वीसस्स खंडं खंडं कारेहिदि। जेण वयणेण अखंडत्तं सुरक्खिदं होदु, तम्हि वयणम्हि अहिगबलं दिंतेज्जा॥

7. तुच्छ-बुद्धि वाले कहीं भी हों वे सद्-भावना, सद्-विचार, सदाचार का घात करते ही हैं और कराने में भी अपनी अहं भूमिका निभाते हैं। वे एकांकी-बुद्धि का प्रयोग कर अखण्डता को खण्ड-खण्ड करा देते हैं। उनके मुख के शब्दों में करुणा रहती है, पर हृदय करुणा-शून्य ही रहता है। ऐसे व्यक्ति राष्ट्र के मुख्य-पद पर आसीन होने के पूर्ण अयोग्य हैं। जो जाति-कुल, परपम्पराओं के मद में आकण्ठ डूबा है, वह अखण्ड-भारत, अखण्ड-विश्व का खण्ड-खण्ड करा देगा। जिस बात से अखण्डता सुरक्षित रहे इस बात पर अधिक बल देना चाहिए।

---

8. एगंगी-चिंतणं सब्भावणा-रिवू। जो अणेयंत-दिट्ठीए बहुमुही-चिंतणधाराए चिंतेदि, तम्हि हि सब्भावणा-सुत्ताणं सुत्तपादो होदि, जेण सगपरहिद-मग्गो उग्घडेदि। दीण-दुही-जीवा पडि दया आगमेदि। विसेस-वियारणस्स जोग्गत्तं सदायारवंतम्हि सहजरूवेण उप्पज्जेदि॥

8. एकांकी चिंतन सद्भावना का शत्रु है। जो अनेकान्त-दृष्टि से, बहुमुखी विचार-धारा से चिंतन करता है उसी में सद्भावना के सूत्रों का सूत्रपात होता है, जिससे स्व-पर हित का मार्ग खुलता है। दीन-दुःखी जीवों के प्रति दया आती है। विशेष विचार करने की योग्यता सदाचारी के अन्दर सहज उत्पन्न होती है।

---

9. जत्थ अवरं जीवं पडि विवरीद-चिंतणाइं ण जादंति, णेदिगत्तं विज्जेदि, जत्थ रिवुणो वि कल्लाणकारी-चिंतणाइं गेण्हेंति, तत्थेव पेक्खाकारी-पण्णा होदि। दुट्ठाणं वियारधारा वेर-विरोह-दोसं उप्पादगा होदि तहा सज्जणाणं वियारधारापेम्म-वच्छल्लमेत्तीभावं वड्ढेदि॥

9. जहाँ किसी भी जीव के प्रति विपरीत विचार नहीं आते, नैतिकता विद्यमान रहती है, जहाँ शत्रु भी कल्याणकारी विचारों को स्वीकार कर लेते हैं, वहीं प्रेक्षाकारी प्रज्ञा होती है। दुष्टों की विचारधारा वैर-विरोध, द्वेष को उत्पन्न करने वाली तथा सज्जनों की विचारधारा प्रेम-वात्सल्य, मैत्री-भाव को वृद्धिंगत करती है।

---

10. सदायारी-णरोत्तम-चिंतणं विगाससीलं होदि तहा होदव्वं पि। सुसंपत्तिवंत-सदायारवंताणं

दाण-वियारा णूणं जायंति। दुहीणं कावि णियद-जादी णत्थि, दयालुं जादिं पस्सिदूणं उवयारभावा जायंति दु सो जादिवादी अत्थि ण दु करुणावादी। जादिं पस्सित्तु दाणभावा दु जादिप्पेम्मं अत्थि। पाणीमेत्तं पडि एगत्तभावेण उवयारभावो करुणाभावो त्ति। बुभुक्खिद-पिवासु-सत्तुकिदोवद्दवेहिं वाउलिद-जीवाणं अभयदाणं तेसिं रक्खणं सम्मवादीभावणाजुदं जीवणं च करुणादाणं॥

10. सदाचारी, नरोत्तम का विचार विकासशील होता है और होना भी चाहिए। सद्-सम्पत्तिवान सदाचारी के दान देने के विचार आते ही आते हैं। दुःखी प्राणियों की कोई नियत-जाति नहीं है, दयालु को जाति देखकर उपकार के भाव आते हैं तो वह जातिवादी है, करुणावादी नहीं। जाति देखकर दान देने के भाव हैं, तो जाति प्रेम है। प्राणी मात्र के प्रति एकत्व-भाव से उपकार-भाव है, करुणाभाव। भूख-प्यास, शत्रुकृत उपद्रवों से व्याकुल हुए प्राणियों को अभय-दान देना, उनकी रक्षा करना, साम्यवादी भावना से युक्त जीवन जीना करुणादान है।

---

11. करुणादाणे पत्तापत्तवियप्पो ण हवदे, मेत्तं दुही-जीवा पस्सित्तु तेसिं जहाजोग्ग-सहजोगं कीरदे; किण्णु पत्तदाणे अपत्त-कुपत्त-सुपत्त-परिणाणं आवस्सगं॥

11. करुणादान में पात्र-अपात्र का विकल्प नहीं रखा जाता, मात्र दुःखी जीवों को देखकर उनका यथायोग्य सहयोग किया जाता है, परन्तु पात्र-दान में अपात्र-कुपात्र-सुपात्र का ध्यान रखा जाता है।

---

12. जगदीए अणुवलद्ध-वत्थु-लद्धी उज्जमेण होहिदि णेव चिंताए। उज्जमसीलो उस्साहसत्तिजुदो पुरिसो हि विराड-संपदा-सामी होदि। जत्थ उस्साह-भावाभावो त्थि, तत्थ किंचिवि लाहो णत्थि। माणव-कत्तव्वं- सो पमादं मुंचिय अणुस्साहिदत्त-चागं किच्चा चिंतणं कुज्जा। कज्जस्स पुव्विं जो अणुस्साहिदो सो णउंसग-पुरिसो व्व। णारिं पस्संतो हि जस्स सत्ती खएदि, सो इह पुढवीए रिवु-अंगणाणं विहवा-करमाणं वीर-सुपुत्तं किं उप्पादेहिदि? उस्साहसत्ति-विहीणो जगदीए किंपि कज्जं पुण्णं ण करिस्सदि, तेहिमेव कज्ज-पुण्णत्तं संभवं, जा समया उस्साह-सत्ती॥

12. जगति पर अनुपलब्ध वस्तु की उपलब्धि चिंता से नहीं होगी, अपितु उद्यम से होगी। जिसके भीतर उत्साह-शक्ति है, उद्यमशीलता है वही पुरुष विराट्-सम्पदा का स्वामी बन पाता है। जहाँ उत्साह-भाव का अभाव है, वहाँ कुछ भी लाभ नहीं है। आदमी का कर्तव्य है कि वह प्रमाद छोड़कर अनुत्साहितता का त्याग कर विचार करे। कार्य करने के पूर्व जो अनुत्साहित हो चुका है, वह पुरुष नपुंसक पुरुषवत है। नारी को देखते ही जिसकी शक्ति क्षीण हो जाती है वह इस वसुन्धरा पर क्या शत्रुओं की पत्नियों की माँग मिटाने वाले वीर-सपूत को उत्पन्न कर पाएगा? उत्साह-शक्तिहीन जगति के किसी भी कार्य को पूर्ण नहीं कर पाएगा, कार्य की पूर्णता उन्हीं के द्वारा सम्भव है जिनके पास उत्साह-शक्ति है।

---

13. दीण-हीण-दरिद्दत्तेण सह जीवणं ते हि गमेंति जे सगीय-मूलधणव्वयं करेंति, किण्णु णवीण-धणज्जणं खु ण करेंति। तेसिं पत्तेग-सासो पीडाए सह गमेदि तम्हा पण्णावंताणं सगीय-मूलधणं वड्ढंतं आयाणुऊलव्वयं कुज्जा, जेण दरिद्ददा-कट्ठं भविस्से ण भुंजेज्जा॥

13. दीन-हीन दरिद्रता के साथ जीवन वे ही निकालते हैं जो अपने मूलधन का तो व्यय करते हैं, पर नवीन धन का अर्जन ही नहीं करते। उनकी श्वास-श्वास पीड़ा के साथ निकलती है, इसलिए बुद्धिमान मनुष्यों को अपना मूलधन बढ़ाते हुए आय-अनुकूल व्यय करना चाहिए, जिससे दरिद्रता का कष्ट भविष्य में भोगना न पड़े।

---

14. दुहकट्ठ-काले वि सुहमिव जो साहचरियं देदि सो हि सुमित्तं होदि, एरिसं मित्तं पत्तेग-जीवस्स होदव्वं; एवमेव समयावाहणं। सव्वस्स दिणाणि ण होंति सरिसाणि, सव्वाणि दिणाणि वि ण होंति सरिसाणि। कट्ठकाले वि जो कंटगो होदि सो सगीयो होदूणं पि अण्णो तहा जो कंटग-बिंधणे वि सुइगा होदूणं कंटगं णिस्सरावेदि, सो हि मित्तं। पण्णावंतं मूढ-दुट्ठ-चंडाल-पदिदजादि-धम्मच्चुद-माणवेहिं सह मित्तत्तं ण कादव्वं। जेसिं पेम्मं हरिद्दा-वण्णो व्व खणिगं होदि, तेहिं मित्तदाए वि किं लाहो?

14. दुःख व कष्ट के काल में भी सुख जैसा साथ जो देता है वही सच्चा-मित्र होता है, ऐसा मित्र प्रत्येक व्यक्ति का होना चाहिए, यही समय की पुकार है। सबके दिन एक से नहीं होते और सब दिन भी एक से नहीं होते। कष्टों के काल में भी जो काँटा बने वह सगा होने पर भी पर है और जो काँटों के चुभने पर सुई बनकर काँटा निकालता है वह मित्र है। बुद्धिमान-मनुष्य को मूर्ख, दुष्ट, चाण्डाल, पतित-जाति तथा धर्म-च्युत मनुष्यों के साथ मित्रता नहीं करना चाहिए। जिनका प्रेम हल्दी के रंग जैसा क्षणिक होता है, उनसे मित्रता करने से भी क्या लाभ?।

---

15. जसवंत-धम्मप्पस्स णिद्धणत्तं पि विसाल-सिरिमंतो व्व फलेदि, तम्हा मित्तत्तं जसवंत-धम्मप्प-जणेहिं कादव्वं। जो पदण-काले सहसा हु सगीय-विवेगपुण्ण-हत्थावलंबणं देदूणं कुमग्ग-गत्तादो रक्खेदु, परधण-इत्थि-कुधम्मकुविसणादो णियत्तेदु, एरिसं मित्तं सत्त-सायरा लंघित्तु वि भजेदु दु तं जदणपुव्वगं लहेज्जा॥

15. यशवान धर्मात्मा व्यक्ति की गरीबी भी विशाल अमीरी-सी फलित होती है, इसलिए मित्रता यशवान धर्मात्मा-जनों से करनी चाहिए। जो पतन के काल में शीघ्र ही अपना विवेकपूर्ण हस्तावलम्बन देकर कुमार्ग के गर्त से रक्षा कर ले, पर-स्त्री, पर-धन, कुधर्म और कुव्यसनों से दूर रखे ऐसा मित्र सात-समुद्रों को पार करके भी मिले तो उसे प्रयत्न-पूर्वक प्राप्त कर लेना चाहिए।

---

16. दुट्ठ-दुरायारी-कामी-दुव्विसणी-मित्तस्स मित्तत्त-भंजणे जदि कोडि-कोडि-सुवण्णमुद्दा-अलाहो वि होदु पुणो वि तं मुंचेज्जा। धणस्स महिमा णत्थि, धणं तु मिलेच्छा समया वि होदि। कुधम्मी-अणज्जा वि लच्छीवंता होंति, इदं तु कुपत्तदाणे वि भजेदि। सुसंगदि-सुपत्तलद्धि-सद्धम्मो य पुव्वकिद-सुकिच्चफलं अत्थि। सुधम्म-लद्धी वि सद्धम्म-धारणादो एव भजेदि। एरिसं संगदिं कुणेहि, एरिसे ठाणे चिट्ठेहि जत्थ उववेसणे रज्जसहाए सह साहु-सहाए वि सम्माणं होदु तहा परभवे परमप्प-पद-लद्धी होदु॥

16. दुष्ट, दुराचारी, कामी, दुर्व्यसनी मित्र की मित्रता तोड़ने पर यदि करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं का घाटा लग रहा हो तो भी उसे छोड़ देना चाहिए। धन की महिमा नहीं है, धन तो म्लेच्छों के पास भी होता है। कुधर्मी, अनार्य भी लक्ष्मीवान हैं, यह तो कुपात्र दान से भी मिल सकता है।। सद्-संगति, सुपात्रों की प्राप्ति, सद्धर्म पूर्व में किए सुकृत का सुफल है सुधर्म की प्राप्ति भी सद्धर्म-धारण से ही मिलती है। ऐसी संगति करो, ऐसे स्थान पर बैठो जहाँ पर बैठने पर राज्य-सभा में क्या, साधुओं की सभा में भी सम्मान हो और पर-भव में परमात्म-पद की प्राप्ति हो।

---

17. एरिसा मेत्ती गोट्ठी य कस्स कज्जस्स जस्स फलं पसु-णारगा होदूणं भुंजेज्जा, तम्हा विवेगीणं दुट्ठ-गोट्ठी-मेत्ती-चागं कुज्जा। लोहधादु-संगदीए लोए देवत्तसण्णा-संपण्णा अग्गी वि लोहयारस्स घणेण पिट्टदे, एवंविह कुच्छिद-आयार-वियारवंताणं संजोगेण सुसीलजणा वि अवजस-माणसिग-देहिग-पीडं पसज्जेंति। संगदिं मेत्तिं च परिक्खेदूणं हि गेण्हेज्जा। पुण्णहीण-कुलहीणेहिं घणिट्ठ-मेत्तिं ठाविदादो अकित्तिरूव-कट्ठं सहिज्जेदि। कुलवंत-सीलवंत-कित्तिमंताणं सहवासे सदि विवत्तीओ वि अदिक्कमंति, तम्हा विवेगी-सदायारी-कुलवंतेहिं सह खलु सगीय-संपक्कं संवट्टेज्जा। समाणगुणवंतेहिं अहिगगुणवंतेहिं सह एव संवसेज्जा। जदि जससुहलद्धि-भावणा दु हीणायरणवंत-हीणगुणवंतेहिं सह णवि संवसेज्जा॥

17. ऐसी मैत्री और गोष्ठी किस काम की जिसका फल पशु बनकर, नारकी बनकर भोगना पड़े, इसलिए विवेकियों को दुष्टों की गोष्ठी तथा दुष्टों की मैत्री का पूर्ण त्याग करना चाहिए। कुछ धातु (लोहा) की संगति से लोक में देवता संज्ञा को प्राप्त अग्नि भी लोहार के घन से पीटी जाती है, इसी प्रकार खोटे-आचार, खोटे-विचारवानों के संयोग से सुशील जन भी अपयश, मानसिक व शारीरिक-पीड़ा को प्राप्त होते हैं। संगति और मैत्री परीक्षा करके ही स्वीकार करना चाहिए। पुण्यहीन, कुलहीन से घनिष्ट मैत्री स्थापित करने से अकीर्ति का कष्ट सहन करना पड़ता है। कुलवान, सुशील, कीर्तिवान के सम्पर्क में आने पर विपत्तियाँ भी टल जाती हैं, इसलिए विवेकी, सदाचारी तथा कुलवन्तों के साथ ही अपना सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। समान-गुण तथा अधिक गुणवानों के साथ ही रहना चाहिए। यश और सुख प्राप्ति की भावना है, तो हीन-आचरण, हीन-गुणी के साथ नहीं रहना चाहिए।

---

18. इट्ठवत्थु-जीवविओगे जं दुक्खं जायदे, सो सोगो। सोगादो असादावेदणीय-कम्मासवो होदि, जेण जीवं सयं दुही होदि। एरिसाइं णिमित्ताइं जीवणे पज्जुवट्ठंते। इट्ठविओगे रोदणादो कोवि लाहो णत्थि, इट्ठविओगे रोदणादो मिदबंधू णवि आगमेदि। जदि रोदणादो मिद-संबंधिस्स पुणरागमणं होदु दु रोदणं वरं। विहा रोदित्ता सयं दुहियो वा जीविद-बंधूणो मिदस्स सुमरावित्ता विओगजण्णवेदणं वड्ढणं अत्थि। मिदग-मरणे अहिग-अस्सुपादं ण किच्चा, समए अंतिम-सक्कारं कुज्जा, अहिग-समयं ण गमेज्जा। मिदग-सक्कारो अंतोमुहुत्त-अब्भंतरे होज्जा। दिग्घसमय-णिग्गमणे मिदग-देहे जदि सो सयमेव विंतरो जादो दु तस्सरीरे पवेसित्ता, णयरग्गामे उवसग्ग-संभावणा होदि। एवं अंतोमुहुत्त-उवरंतं मिद-देहे तज्जादि-पंचिंदिय-सम्मुच्छणजीवा जायंते, जे पउर-मत्ताए होंति तहा जे णयणेहिं ण दिस्समाणा, तेसिं पि हिंसा होहिदि॥

18. इष्ट-वस्तु व व्यक्ति के वियोग में जो दुःख होता है; उसे शोक कहते हैं। शोक करने से असाता-वेदनीय कर्म का आस्रव होता है, जिससे व्यक्ति को स्वयं दुःखी होना पड़ता है। ऐसे निमित्त जीवन में उपस्थित हो जाते हैं। इष्ट के वियोग में रुदन करने से कोई लाभ नहीं, इष्ट-वियोग में रोने से मृत बंधु तो आता नहीं। यदि रोने से मृत-सम्बन्धी वापिस आ जाए तो रोना ठीक है। व्यर्थ में रो-रोकर स्वयं दुःखी होना व जीवित-बंधुओं को मृतक की याद दिलाकर वियोग-जन्य वेदना को बढ़ाना है। ज्ञानीजनों का कर्तव्य है कि मृतक के मरण पर अधिक अश्रुपात न करके, समय पर अंतिम-संस्कार करना चाहिए, अधिक देर नहीं लगाना चाहिए। मृतक का 48 मिनट अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के अन्दर ही अन्दर संस्कार हो जाना चाहिए। दीर्घ-समय लगाने पर मृतक के शरीर में ही वही स्वयं यदि व्यन्तर हो गया तो तद्-शरीर में प्रवेश कर, नगर-गाँव में उपसर्ग की सम्भावना हो सकती है। साथ ही, अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त मृत शरीर में पंचेन्द्रिय तद्जाति सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं, जो कि प्रचुर मात्रा में होते हैं और जो नेत्रों से दिखाई नहीं देते हैं, उनकी भी हिंसा होगी।

---

19. सदायारी-जणा मिदसोगं मुंचेदूणं पढमं सत्थविहिद-लोगमज्जादाए सक्कार-विहिं कादव्वा। तदुवरंतं धम्मज्झाणेण पादगं पुण्णरूवेण पालेज्जा। अणिच्चादि-भावणाणं चिंतणं किच्चा समयं समप्पेज्जा, सूदगदिणाइं पुण्णे सदि संतिकम्मं संतिविहाणेण कुज्जा॥

19. सदाचारी-जनों को मृत-शोक छोड़कर सर्वप्रथम संस्कार-विधि शास्त्र-विहित लोक-मर्यादा से करना चाहिए। तदोपरान्त धर्म-ध्यान के साथ पातक को पूर्ण रूप से पालना चाहिए। अनित्यादि भावनाओं का चिंतन करके समय पूर्ण करें, सूतक के दिन पूर्ण होने पर शान्तिकर्म शान्ति-विधान से करें।

---

20. मिच्चुभोयणं एगा विगिद-रूढी, इमत्तो रक्खेज्जा। दाण-पुण्णस्स भावा दु समय-णिग्गमणे समत्थाणुसारेण अणुट्ठाणं कुणेहि, किण्णु णिरत्थग-धणव्वयं ण कुणेहि। सग-सत्तीए जो

दाणादिकज्जं करेदि, तं भविस्से संकिलेसत्त-दरिद्दत्त-सरिस-आवत्तीओ ण आगमेदि। जे सगीय-आयस्स परिणाणं विणा वयं करंति, ते झत्ति हु सगदेस-परदेसे धणाभावेण रिणादिणा माणसिग-पीडाए पीडंति; अंतदो आदघाद-सरिस-पावादो परिब्भट्ठंते।

20. मृत्यु-भोज एक विकृत रूढ़ी है, इससे बचना चाहिए। दान-पुण्य के भाव हैं, तो समय निकल जाने पर कोई सामर्थ्य-अनुसार अनुष्ठान कर लो, पर व्यर्थ में धन व्यय न करें। स्व-शक्ति को देखकर जो दानादि कर्म करता है, उसे भविष्य में संक्लेशता, दरिद्रता जैसी आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता है। जो लोग अपनी आय का ध्यान दिए बिना व्यय करते हैं, वे शीघ्र ही स्वदेश अथवा परदेश में धन अभाव के कारण ऋण आदि के कारण मानसिक पीड़ा से पीड़ित होते हैं, अन्ततः आत्महत्या जैसे पाप से पतित हो जाते हैं।

---

21. सदायारी-जणेहिं किदं परोवयारो तेसिं महाकल्लाण-कारणं होदि, किण्णु जे सत्थबुद्धीए कस्सचिद परोवयारं कुणंति, ते उत्तमं फलं ण भजेंति, सो परोवयारो कल्लाण-कारणं णत्थि। कल्लाणप्पद-कज्जेसुं सगीय-संसारिग-कामणाचागं करिज्जदि। जे सुकज्जं करंतं पि पडियारे अण्ण-कामणं ण करेंति, ते जीवा भव्वोत्तमा। संसारे एरिसं किंपि वत्थुं णत्थि जं जीवस्स तिण्हा-जालं समेदि। मेत्तं संतोस-सलिलेण तिण्हाजाला पसमेदि, अण्णो कोवि उवाओ णत्थि।

21. सदाचारी जनों के द्वारा किया गया पर-उपकार उनके महा-कल्याण का कारण है, पर जो पुरुष स्वार्थबुद्धि से किसी की भलाई करते हैं वे श्रेष्ठ-फल को प्राप्त नहीं होते हैं, वह कल्याण का कारण नहीं है। कल्याणप्रद-कार्यों में अपनी सांसारिक-कामनाओं का त्याग करना पड़ता है। भव्योत्तम वे जीव हैं, जो सद्कार्य करते हुए भी बदले में कोई अन्य कामना नहीं करते। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो व्यक्ति की तृष्णा-ज्वाला को शान्त कर सके। एकमात्र संतोष-सलिल ही ऐसा है, जिससे तृष्णा-ज्वाला शान्त हो सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

---

22. जे समदारूव-संतोसजलेण सगीय-तिण्हाजालं सहसा हु उवसमेंति, ते भव्वोत्तमा धण्णा धण्णा धण्णा। जीवण-उत्थाणमग्गो सदायारो एव। सज्जण-सदायारीजणा जीवणस्स सयल-दिवसाइं सक्खीभावेण लोयंति तहा मज्झत्थधम्मे पवेसंति। किंचण देवजोगे सदि वि वत्थुविवत्था-चिंतणं किच्चा विम्हरेंति।।

22. धन्य-धन्य-धन्य वे भव्योत्तम जिन्होंने समता रूपी सन्तोष-जल से अपनी तृष्णा-ज्वाला को शीघ्र ही उपशान्त कर लिया है। जीवन उत्थान का मार्ग सदाचार ही है। सज्जन-सदाचारी जन जीवन के सम्पूर्ण-दिवसों को साक्षी-भाव से अवलोकन करते हैं और मध्यस्थ-धर्म में प्रवेश कर जाते हैं। कुछ अनहोनी होने पर भी वस्तु-व्यवस्था का चिंतन कर विस्मरण कर देते हैं।

---

23. विम्हरणं अप्पत्थत्तस्स सुंदरो उवायो त्थि। जं पि सुहासुहं संघडेदि, तं जीवं हरिसविसादत्थं होदि; किण्णु ते हु मेत्तं हरिसविसादं भजेंति जा सच्चत्थबोहो णत्थि। जे सच्चत्थ-णादारा भूदत्थबोहजुत्ता, ते हि सहसा विम्हरणं जाणेंति। जे असुह-मिदीओ सहसा विसरंति, ते सदा पसीदंते।।

23. भूल जाना; आत्मस्थ होने का एक सुन्दर उपाय है। जो भी शुभाशुभ घटित होता है, वह जीव को हर्ष एवं विषाद के लिए होता है, पर हर्ष-विषाद को मात्र वे ही प्राप्त होते हैं जिन्हें 'सत्यार्थ-बोध' नहीं है। शीघ्र भूलना वही जानते हैं, जो सत्यार्थ ज्ञाता हैं, भूतार्थ-बोध युक्त हैं। जो बुरी स्मृतियों को शीघ्र भूल जाते हैं, वे हमेशा प्रसन्न रहते हैं।

---

24. सदायरणं जीवस्स जीवणं उच्चत्तं दच्छेदि, सज्जादित्तं सुकुलत्तं च वड्ढेदि। जो सदायाररूव-वत्थालंकिदो णत्थि, सो सुंदरवत्थेहिं वेट्ठिदे सदि वि णग्गो एव। सदायार-विभूसिदो सिट्ठपुरिसो णग्गे सदि वि णग्गो ण गणेदि, अदो लोगप्पियत्तस्स वि आयरणं विसुज्झेज्जा।।

24. सदाचरण व्यक्ति के जीवन को ऊँचाईयाँ प्रदान करता है, सज्जातित्व एवं सुकुलता को वर्धमान करता है। जो व्यक्ति सदाचार रूप वस्त्र से अलंकृत नहीं है, वह सुन्दर-वस्त्रों से वेष्ठित होने पर भी नग्न ही है। सदाचार से विभूषित शिष्ट पुरुष नग्न होने पर भी नग्न नहीं गिने जाते, अतैव लोकप्रिय होने के लिए भी आचरण विशुद्ध रखना चाहिए।

---

25. एरिसा भूधरा भूदले विउला संति हवीअ होहिंति य; जे लोयप्पियत्तं इच्छेंति, किण्णु ता विसुद्धायरणं पियं णत्थि।।

25. ऐसे भूतल पर भूधर बहुत हैं, हुए हैं और भविष्य में होंगे, जो लोकप्रिय होना चाहते हैं, पर उनको विशुद्ध-आचरण प्रिय नहीं है।

---

26. ता बोहेदव्वा लोयप्पियत्तं इच्छा-बहिरंगपदरिसणमेत्तेण ण पसज्जेदि। जदि साहु-असाहु-राया-रंकं चावि लोयप्पित्त-वंछा, दु तं णूणं जाणेज्जा मेत्तं चित्तेहिं णो हविज्जदि लोयप्पियत्तं, तस्स तस्संबंधी-पुण्णं पि होदव्वं। जसकित्ति-सुभग-आदेयणामकम्म-सादावेदणीयादि-पसत्थकम्मोदयो तहा पच्चक्खे सदायरणं सुववहारो वि होज्जा।।

26. उन्हें बोध होना चाहिए कि लोकप्रियता चाहने तथा बहिरंग-प्रदर्शन मात्र से प्राप्त नहीं होती है। साधु हो या असाधु, राजा हो या रंक उसे लोकप्रियता की चाह है, तो उसे यह यथार्थ समझना चाहिए कि मात्र फोटो

और चित्रों से लोकप्रियता नहीं हो सकती है, उसके लिए तद्-संबंधी पुण्य होना चाहिए। यशःकीर्ति नामकर्म, सुभग नामकर्म, आदेय नामकर्म, साता वेदनीय आदि प्रशस्त कर्मों का उदय तथा प्रत्यक्ष में सदाचरण एवं सद्-व्यवहार भी चाहिए।

---

27. सदायरणं सुववहारं विणा तुज्झ लोयप्पियत्त-भावणा बंझासुदेण सह कीडाभावणा अत्थि। सोहग्गवदी-पुत्तुप्पत्ति-जोग्गदाजुदा णारी एव सगीय-गेहंगणे सुदं भोगेदि, तहेव सेट्ठु-विसुद्धणिम्मलायरण-णाणदंसणसंपण्णो सुववहारीजीवो हि जसवंतो जसगाणजुदो लोयप्पियो होदि, तम्हा समायणेदारं धम्म-णेदारं रायणेदारं च सगायरणं पवित्तं कादव्वं॥

27. बिना सदाचरण एवं सद्-व्यवहार के आपकी लोकप्रियता की भावना बन्ध्या सुत खिलाने की है अर्थात् न बन्ध्या के पुत्र होगा न वह खिला पाएगी। सौभाग्यवती, पुत्रोत्पत्ति की योग्यता वाली नारी ही अपने गृह-आँगन में सुत को खिला पाती है, इसी प्रकार श्रेष्ठ-विशुद्ध-निर्मल आचरण, ज्ञान-दर्शन सम्पन्न सद्-व्यवहारी जीव ही यशवंत यशगानयुक्त लोकप्रिय बन पाता है, इसलिए समाज नेता हो या धर्मनेता, राजनेता सभी को अपना आचरण पवित्र रखना चाहिए।

---

28. सदायारी पत्तेगकज्जं समए करेदि णवरि समए किदं कज्जं सेट्ठुं फलवंतं च होदि। असमए किदं कज्जं अवजसकारणं होदि। जो विवेग-विहीणो कामी कामवासणा-वसादो दिवामेहुणं करेदि तहा रयस्सला-इत्थि-सेवणं करेदि, सो चंडालादो वि णीचो होदि॥

28. सदाचारी प्रत्येक कार्य समय पर करता है, क्योंकि समय पर किया गया कार्य श्रेष्ठ फलवान होता है। असमय में किया गया कार्य अपयश का ही कारण बनता है। जो विवेक-विहीन कामी काम-वासना के वश होकर दिवा-मैथुन करता है तथा रजस्वला स्त्री का सेवन करता है वह चाण्डाल से भी नीच होता है।

---

29. दिणं वावारत्थं, बंभमुहुत्तं धम्मज्झाण-विज्जज्झयणत्थं संझा संझावंदणाए अत्थि। पढमं पायो जागरणे सदि परमप्पसुमिरणं करंतं काउस्सग्ग-पुव्वगं णवहुत्तं णमोयारमहामंतजावं कुज्जा। पहूदो थुव्वेदि-अहो परमेस्सर! सयलदिणं सुकिच्चे पुण्णं होदु, किंपि अणत्थयारी-कज्जं मए ण होदु, उत्तमोत्तम-कज्जे मज्झाणं दिणं पुण्णं होदु, हत्थेहिं भगवद-जिणिंदच्चणा सुपत्तसुदाणं च होदु। हे पहु! सदा भक्ख-भोयणं करेमु हं, अभक्ख-पदत्थत्तो ऊसरेमु हं। सुणीदीहिं धम्म-परिवार-समाय-रट्ठाणं च रक्खणत्थं संपत्ति-अज्जणत्थं सुववहार-पुव्वगं सुवावारं अहिंसग-रूवेण करेमु हं॥

29. दिन व्यापार के लिए, ब्रह्ममुहूर्त धर्मध्यान एवं विद्याध्ययन के लिए, सन्ध्या सन्ध्या-वन्दना के लिए है। सर्वप्रथम प्रातः जागते ही परमात्मा का स्मरण करते हुए कायोत्सर्ग-पूर्वक नौ बार णमोकार महामंत्र का जाप करें प्रभु से प्रार्थना करें, अहो परमेश्वर! सम्पूर्ण दिन सुकृत्य में पूर्ण हो, किसी प्रकार का अनर्थकारी कार्य मेरे द्वारा न हो, उत्तम से उत्तम कार्य करने में हमारा दिन पूर्ण हो, हाथों से भगवत जिनेन्द्र की अर्चना तथा सुपात्रों को सुदान हो। हे प्रभु! मैं हमेशा भक्ष्य-भोजन करूँ, अभक्ष्य पदार्थों से दूर रहूँ। सुनीति से धर्म, परिवार, समाज, राष्ट्र की रक्षा के लिए सम्पत्ति अर्जन हेतु सद्-व्यवहार पूर्वक सद्-व्यापार अहिंसक रूप से करूँ।

---

30. जम्हि वावारे अत्थलाहो अहिगो होदु, किण्णु जीव-विणासो होदु; एरिसा अणायार-कारण-भूदा मच्छपालण-कुक्कुडीपालण-अजपालण-मज्जावण-इट्ठिगा-आवागादि-बहुहिंसगा धम्म-लोय-कुलजादि-विरुद्धा कावि वावारा मए ण होंतु, तेसुं सिविणे वि चित्तं ण गच्छेदु। सेट्ठ-महाजणस्स सुवण्ण-रजदादि-वज्ज-माणिक्क-वत्थादि-वावारो करेमु हं। बुभुक्खिदो सयेमु, भिक्खं याचेदूणं जीवणं जीवेमु, परमप्प-सुमिरण-पुव्वगं पाणचागं किच्चा समाहिं गेण्हेमु हं, किण्णु अभक्ख-भोयणं ण करेमु, अणीदिधणेण जीवणं ण जीवेमु हं॥

30. जिस व्यापार में अर्थ-लाभ अधिक हो, परन्तु जीवों का नाश हो ऐसे अनाचार के कारणभूत मछली-पालन, मुर्गीपालन, बकरी-पालन, शराब के ठेके, ईंट के भट्टे आदि बहुहिंसक धर्म-विरुद्ध, लोक-विरुद्ध, कुल-विरुद्ध, जाति-विरुद्ध कोई भी व्यापार मेरे से न हों, उसमें स्वप्न में भी चित्त न जाए। श्रेष्ठ महाजनी का स्वर्ण-रजतादि, हीरा, माणिक्य, वस्त्रादि का व्यापार करूँ। भूखा सो जाऊँ, भीख माँगकर जीवन जी लूँ, परमात्मा का स्मरण-पूर्वक प्राण त्याग कर समाधि ले लूँ, किन्तु अभक्ष्य-भोजन, अनीति के धन से जीवन न जियूँ।।30।।

---

31. जदि सज्जणा सुहीजीवणं इच्छेंति दु संदेह-सीलदाए वि विजयपत्तिं कादव्वा। पगे-पगे खणे खणे जो संदेहं करेदि तस्स किंपि कज्जं पुण्णं ण होदि। सगणिण्णए हि जं संदेहो होदु, सो अवरस्स सेट्ठ-णिण्णएसुं किं वीसासं करेहिदि? वीसासं विणा कंचिदवि कज्जं पुरदो गदी ण दज्झदे। संकालू संदेहजुदो अवीसासे हि समयं णस्सेदि॥

31. सज्जनों को सुखी-जीवन जीना है, तो सन्देह-शीलता पर भी विजय प्राप्त करना चाहिए। पग-पग पर, क्षण-क्षण में जो सन्देह करता हो उसका कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हो सकता है। स्व-निर्णय पर ही जिसे सन्देह हो, वह पर के श्रेष्ठ निर्णय पर क्या विश्वास कर पाएगा? विश्वास किए बिना किसी भी कार्य को आगे गति नहीं दी जा सकती। शंकालु सन्देही व्यक्ति अविश्वास में ही समय नष्ट करता है।

---

32. जाए दिढत्त-णिच्छयप्पग-दिट्ठीए कज्जारंभं कीरंते, अंतपज्जंतं तमेव वीसास-दिढत्तं च दिढं होदव्वं, तदेव लोगिग-पारमत्थिग-कज्जं पुण्णं होंति। संदेहे तुमं ण दु कम्हिचिद वीसासं करिस्ससि णेव अण्णो कोवि तुमम्हि वीसासं संवट्टेहिदि। वीसासदो सव्वकज्ज-सिद्धी होदि॥

32. जिस दृढ़ता, निश्चयात्मक दृष्टि से कार्य प्रारंभ किए जाते हैं, अन्त तक वही विश्वास-दृढ़ता दृढ़ रहना चाहिए, तभी लौकिक एवं पारमार्थिक कार्य पूर्ण हो सकते हैं। सन्देह में न आप किसी पर विश्वास बना पाएँगे और न ही अन्य कोई आपके ऊपर विश्वास स्थापित कर पायेंगे। विश्वास से ही सर्व-कार्यों की सिद्धि होती है।

---

33. अवेक्खं विणा हि पाणीमेत्तं पडि सहजपीदी जस्स चित्ते होदि, सो जगदीए सव्वविसिट्ठ-विभूदीसुं उक्किट्ठ-विभूदि-संपण्णो पुरिसो त्थि। पेम्मसुण्ण-जीवणं सेट्ठजीवणं णत्थि, तमेव जीवणं उत्तमं जम्हि परोप्परे धम्म-धम्मप्पा पडि पेम्म-वच्छल्ल-णेहा विज्जमाणा अत्थि। पेम्मवच्छल्ल-विहूण-देहवंता मेत्तं अट्ठि-समूहा संति। पेम्मलदाए सद्धा-पुप्फाइं विसट्टंते तहा तम्हि हि णिस्सेयस-अब्भुदय-सुहफलाइं च हवंति॥

33. अपेक्षा के बिना ही प्राणिमात्र के प्रति सहज-प्रीति जिसके भीतर होती है, वह जगति की सर्व-विशिष्ट विभूतियों में उत्कृष्ट विभूति सम्पन्न पुरुष है। प्रेम-शून्य जीना श्रेष्ठ जीवन नहीं, जीवन श्रेष्ठ तो वही है जिसमें परस्पर धर्म-धर्मात्माओं के प्रति प्रेम-वात्सल्य स्नेह विद्यमान है। प्रेम-वात्सल्य रहित देह-धारी मात्र हड्डियों का ढेर हैं। प्रेम लता में श्रद्धा के पुष्प खिलते हैं और उसी में निःश्रेयस अभ्युदय सुख के फल लगते हैं।

---

34. तुवं समया संचिट्ठेदुं भवणं णत्थि, भोगेदुं भोयणं णत्थि, पज्जेदुं पेयं णत्थि, परिहेदुं वत्थं णत्थि, तिलगत्थं चंदणं णत्थि, पुणो वि किंपि णत्थि। उवरिउत्त-वत्थूइं तुवं समया णत्थि, इमाइं तुमं ण पयच्छंति। पुणो वि वच्छल्ल-पेम्म-णेहादो अतिहिं पस्सेहि तुमं एयत्तं तु कुणेसि। कंचिद मा अगेण्हेदि, अविदु हिदए संलग्गेहि। जं तुमं अगेण्हेसि सो वि कदाइ तुज्झ कज्जे आगमेज्जा। सव्वस्स दिणाणि सरिसाणि ण होंति, सव्वाणि दिणाणि वि सरिसाणि ण होंति॥

34. आपके पास ठहरने के लिए भवन नहीं, खिलाने के लिए भोजन नहीं, पिलाने के लिए पेय नहीं, पहनने के लिए वस्त्र नहीं, तिलक लगाने के लिए चन्दन नहीं फिर भी कोई बात नहीं। उपरोक्त वस्तुएँ आपके पास नहीं हैं, इन्हें आप प्रदान नहीं कर सकते। फिर भी इतना तो आप कर ही सकते हैं कि वात्सल्य-प्रेम-स्नेह से अतिथि को देख लें। किसी को मत ठुकराओ, अपितु हृदय से लगाओ। जिसे तुम ठुकरा रहे हो वह भी कभी आपके काम में आएगा। सबके दिन एक से नहीं होते, सब दिन भी एक से नहीं होते।

---

35. णाणीजणा किंचण वयणाइं समए मुंचंति, समयागमे समाहाणं होहिदि। साहु-महप्पा पस्सिदूणं मुहं मा वियारेहि। मा हिंस भुजंग-गोहा य, ते वि सत्तिरूवा भावी-भगवंता। मोक्खमग्गे सहायग-णियमाणं हि णिरूवेहि, मोक्खमग्गत्थाणं साहणाए सहायगो होहि। पसुपक्खि-भिच्चादीणं भोयणे वि अंतरायं देहिसि तदावि तुवं असुहकम्म-बंधो होहिसि, पुणो तुमं अण्णाणवसा दोसवसा संजदाहारे हि विग्घं देहिसि दु पुणो किं तस्स दुप्फलं होहिसि? बंधुणो! पयत्तादो अणत्थकज्जादो रक्खेहि। सयल-रट्ठं णेह-पेम्म-वच्छल्ल-सुत्ते बंझेहि। महामारी-सरिस-आवत्तीए भेद-भावणं आउट्टेदूणं, जणे जणे रट्ठ-भावणा-विगासं कुणेहि, परोप्परे संमिलेदूणं दुहीणं दुहं ऊसारेहि, मेत्तीभावणा-विगासं कुणेहि॥

35. ज्ञानीजन कुछ बातें समय पर छोड़ देते हैं, समय आएगा तब समाधान हो जाएगा। मत मुँह फुलाओ साधु-महात्माओं को देखकर। मत मारो साँप-गोहरे को, वे भी शक्ति-रूप भावी भगवान् हैं। मोक्षमार्ग में सहायक नियमों का ही निरूपण करो, मोक्षमार्गियों की साधना में सहायक बनो। पशु-पक्षियों, भृत्यादि के भोजन में भी अन्तराय करोगे, तब भी तुम्हें अशुभ-कर्म का बंध होगा फिर तुम अज्ञानतावश, द्वेषवश संयमी के आहार में ही विघ्न करोगे तो फिर उसका क्या दुष्फल होगा? बन्धुओ! प्रयत्नपूर्वक अनर्थ-कार्यों से बचो। सम्पूर्ण राष्ट्र को स्नेह-प्रेम-वात्सल्य के सूत्र में बाँधो। महामारी जैसी आपत्ति में भेद-भावना को भुलाकर, जन-जन में राष्ट्र-भावना का विकास करो, परस्पर मिलकर दुःखियों के दुःख दूर करो, मैत्री-भावना का विकास करो।

---

36. संकडकालो परोप्पर-उवयार-अवसरो त्थि, अवर-सहजोगं मा मुण दुब्भग्गं, इदं तु सोहग्गं गेण्हेहि। मज्झाणं तण-मण-धणाइं अवर-विवत्तिहरणे सहयारी होज्जा। दुह-संकड-विवत्ति-समए सग-सत्तीए दुहीणं दुहं पुहुत्त-पुरिसत्थ-करणं विउल-भीमाणुट्ठाणं। दयाधम्मं धम्मिगाणुट्ठाणादो णूणं ण जाणेज्जा। अहिंसा परम-धम्मो वीसस्स जेट्ठअम-धम्मो, अहिंसा-करुणा-दया-सुण्णं किंपि धम्माणुट्ठाणं जगदीए सेट्ठत्तं ण भजेदि। अहिंसा-धम्मो एगमेत्तं एरिसं अणुट्ठाणं जम्हि बाल-वुड्ढ-जुवग-इत्थि-पुरिस-णउंसगा सव्वे संलग्गेंति। वीसभूमिं पसण्णचित्त-दंसणस्स अणुट्ठाणस्स पवित्तं फलं पत्तेहि। सगेण कस्सचिद हिदं होदु दु तं अहंकारे ण पस्सेहि, तं अहोभग्गं मुणेहि॥

36. संकट के काल में परस्पर उपकार करने का अवसर है; दूसरे के सहयोग को दुर्भाग्य मत मानो, यह तो सौभाग्य स्वीकार करो। हमारा तन-मन-धन दूसरे की विपत्ति-हरण करने में सहकारी बन रहा है। दुःख-संकट-विपत्ति के समय अपनी स्वशक्ति से दुःखियों के दुःख दूर करने का पुरुषार्थ करना बहुत बड़ा अनुष्ठान है। दया-धर्म को किसी धार्मिक-अनुष्ठान से कम नहीं समझना। अहिंसा परम-धर्म विश्व का सबसे बड़ा धर्म है, अहिंसा-करुणा-दया से शून्य कोई धर्मानुष्ठान जगति पर श्रेष्ठता को प्राप्त नहीं होता। अहिंसा धर्म एकमात्र ऐसा अनुष्ठान है जिसमें बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक सभी संलग्न हो सकते हैं। विश्वभूमि को प्रसन्नचित्त देखने के अनुष्ठान का पवित्र फल प्राप्त करो। अपने द्वारा किसी का हित हो जाए तो उसे अहंकार में नहीं देखना, उसे अहो-भाग्य मानो।

---

37. सुहकज्जपसंसं असुह-पडिऊलकज्जे मज्झत्थ-भावं णाणीजणा हि करंति, ण दु मूढा; णवरि ता वियारा पवित्तकरण-पण्ण-लाहो ण होदि। जदा जीवो विसिट्ठ-पुण्णेण सह जीवेदि तदा हेय-उवादेय-णेय-धारा बुद्धीए आगमेदि। पुण्णोदयं विणा सच्चत्थबोहो ण होदि तहा सच्चत्थबोहं विणा जीवणं पसु व्व होदि। पुण्णप्पा णाणीजणा तं मुणिदूणं तदणुऊल-ववहारं करेंति।

37. अच्छे कार्य की प्रशंसा एवं अशुभ या प्रतिकूल कार्य में माध्यस्थ-भाव ज्ञानी-जन ही करते हैं, मूढ़-प्राणी नहीं कर पाते, क्योंकि उन्हें विचारों को पवित्र करने की प्रज्ञा ही प्राप्त नहीं हुई है। हेय-उपादेय-ज्ञेय की धारा बुद्धि में चलती है तब जब व्यक्ति विशिष्ट पुण्य के साथ जीवन जीता हो। बिना पुण्योदय के 'सत्यार्थ-बोध' नहीं होता और 'सत्यार्थ-बोध' के बिना जीवन पशुवत हो जाता है। पुण्यात्मा ज्ञानीजन उसे पहचान कर तदनुकूल व्यवहार करते हैं।

---

38. अहो पण्णप्पा! जाणेहि णियप्प-वेहवं, कुणेहि सगपरहिदत्थं आगम-वण्णिदतच्चस्स सम्मब्भासं; णवरि तच्चणाणं विणा वत्थुणो वत्थुत्त-बोहो ण होदि॥

38. अहो प्रज्ञात्मन् ! स्वात्मा के वैभव को समझो, स्व-पर हित हेतु आगम वर्णित तत्त्व का सम्यक्-अभ्यास करो, क्योंकि तत्त्व-ज्ञान के बिना वस्तु के वस्तुत्व का बोध नहीं हो सकता है।

---

39. वयण-कुसलत्तं सदायारिस्स विसिट्ठगुणो। जह महुर-अम्मफलं सव्वस्स चित्तं विलोहेदि; णर-तिरिय-सयलजीवा अम्म-भुंजण-वंछं करेंति, तहेव महुरभासीवयणाइं सवणस्स इच्छं सव्वे जीवा करेंति। पत्तेगक्खणं महुर-मिदभासी-वयणाइं मंतमिव गुंजंति॥

39. वचन-कुशलता सदाचारी का विशिष्ट-गुण है। जैसे मधुर-आम्रफल सबके चित्त को लुभा लेता है; नर-तिर्यञ्च सर्व-प्राणी आम खाने की इच्छा करते हैं, इसी प्रकार मधुर-भाषी के वचनों को श्रवण करने की सभी जीव इच्छा रखते हैं। प्रत्येक क्षण मधुर, मित-भाषी के वचन मंत्र सम गूंजते हैं।

---

40. णादारस्स णेयं सद्दो त्थि तहा अण्णाइं परणेयाइं जाणणे सहयारी-णिमित्ताइं। णादारस्स णाणगुणस्स जाणण-धम्मे सद्दा णिमित्ताइं होंति। णादा उच्चारण-अणुच्चारण-सद्देहिं अत्थ-बोहं करेदि, पत्तेगवक्कं मंतरूवं होदि, किण्णु पओत्ता-भावाणं णिम्मलत्तं होदव्वं। तुज्झ सद्द-भासा-वाणीओ हुव जगकल्लाणी॥

40. ज्ञाता का ज्ञेय शब्द है तथा अन्य पर-ज्ञेयों को जानने में सहकारी निमित्त हैं। ज्ञाता के ज्ञान-गुण के

जानन-धर्म में शब्द निमित्त बनते हैं। ज्ञाता उच्चारण-अनुच्चारण शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कर लेता है, एक-एक वाक्य मंत्र-रूप होता है, परन्तु प्रयोक्ता के भावों की निर्मलता चाहिए। तुम्हारे शब्द, भाषा, वाणी जगत्-कल्याणी बने।

---

41. लोयं सगाणुऊलकरणस्स बला चेट्ठा वि हिंसा। करुणा-दया-अणुकंपा-सिक्खणं पाणीमेत्तं देदव्वं। धम्मं-सिक्खणं तु देहि, किण्णु सग-सत्थपुत्तीए णत्थि। सगाणुऊलकरण-दिट्ठीए परस्स सुतंतदा-हरणं तहा पडिक्खणं लोह-मायाकसायस्स तिव्वत्तं जग्गेदि॥

41. जगत् को स्व-अनुकूल बनाने की बलात्-चेष्टा करना भी हिंसा है। करुणा, दया, अनुकंपा की शिक्षा प्राणी-मात्र को देना ही चाहिए। धर्म शिक्षा दो, परन्तु स्व-स्वार्थ पूर्ति हेतु नहीं। स्व-अनुकूल बनाने की दृष्टि में पर की स्वतंत्रता का हरण एवं प्रतिक्षण लोभ-माया कषाय की तीव्रता जाग्रत रहती है।

---

42. एगत्त-पाढं तु पढेज्जा, परंतु वीसस्स सयल-दव्वाइं एगरूवे दंसण-चेट्ठं ण कुज्जा। जदि वीसो एगो होसी दु जडचेयण्ण-भेदो समत्तेहिदि, अम्म-णिंबा य एगं सादं देहिंति। चिंतणेसुं सच्चत्थमग्गे एगत्त-चिंतणं होदव्वं, ण दु सयल-पुरिसाणं एगो सहावो। सयल-दव्वाणं सग-सहावस्स भिण्णत्त-अभिण्णत्तभूद-वत्थुसहावस्स विवेगो णाणीजण-कत्तव्वं॥

42. एकता का पाठ पढ़ना चाहिए, परन्तु विश्व के सम्पूर्ण-द्रव्यों को एकरूप में देखने की कोशिश नहीं करना चाहिए। यदि विश्व एक हो गया तो जड़-चैतन्य का भेद समाप्त हो जाएगा, आम-नींबू एक स्वाद देंगे। विचारों में सत्यार्थ-मार्ग पर एकता का विचार होना चाहिए, न कि सम्पूर्ण पुरुषों का एक स्वभाव। सम्पूर्ण-द्रव्यों का स्व-स्वभाव, भिन्नत्व-अभिन्नत्वभूत वस्तु-स्वभाव का विवेक ज्ञानी-जनों का कर्तव्य है।

---

43. सव्वेण सह वसित्ता सव्वत्तो भिण्ण-णिवसणं, किण्णु मित्तत्त-ववहारं अभिण्णधारणं पि एगा कला। इदं तदेव संभवं जदा सग-विसेसदाहिं सह अवर-विसेसदाओ वि महत्ते दिज्जा। जो पुरिसो भिण्ण-जणेसुं पि गुणं पस्सेदि, सो सव्वेण सह णिवसेदि, सगगुणा पस्संतो। आणंद-पसण्णदा य इमम्हि अत्थि॥

43. सबके साथ रहकर सबसे भिन्न रहना, परन्तु मित्रता के व्यवहार को अभिन्न रखना भी एक कला है। यह तभी सम्भव है जब स्व-विशेषताओं के साथ दूसरे की विशेषताओं को भी महत्त्व देना आना चाहिए। जो पुरुष भिन्न-जनों के अन्दर भी गुण देखना जानता है, वह सबके साथ वास कर सकता है, स्व-गुणों को देखते हुए आनन्द-प्रसन्नता इसी में है।

---

44. जे जीवा मेत्तं सगीय-विसेसत्तं हि पस्सेंति, अवर-विसेसगुणा तुच्छा मण्णंति, सगत्तो भिण्ण-पुरिसं महत्तं ण दिंतेंति, मेत्तं सगसग-उदर-पेडिगाए य जीवंति, ते जीवा पेम्म-आणंदेहिं अवरेण सह णवि णिवसेंति॥

44. जो लोग मात्र अपनी विशेषता को ही देखना जानते हैं, अन्य के विशेष-गुणों को तुच्छ समझते हैं, स्व से भिन्न पुरुष को महत्त्व देना नहीं जानते, मात्र स्व-स्व पेट एवं पेटी पर जीते हैं वे लोग किसी के साथ प्रेम व आनन्द के साथ निवास नहीं कर सकते।

---

45. पेम्मवच्छल्लरूव-ओसही जं समया, सो पसुमज्झे वि पुरिस-सरिस-पीदिं लहेहिदि, वणखंडे वि रज्जसुहं लहेहिदि॥

45. प्रेम-वात्सल्य औषध जिसके पास है, वह पुरुष पशुओं के मध्य भी पुरुषों जैसा दुलार पाएगा, वन-खण्ड में भी राज्य-सुख पाएगा।

---

46. सगाणुऊलत्तेण सह अवरस्स वि अणुऊलत्तं पस्सेहि, एसो जिणोवएसो। जीवेहि जीवावेहि य, जदि इमेण सुत्ताणुसारेण वीसजीवणं आरंभेदि, दु कदावि वीसजुद्धो ण होहिदि तहा णेव गेहजुद्धो होहिदि। इह सुत्ते हि वीसमेत्ती अवलंबिदा॥

46. स्व की अनुकूलता के साथ दूसरे की भी अनुकूलता देखो; यही जिनोपदेश है। 'जिओ और जीने दो' सूत्र के अनुसार यदि विश्व का जीवन प्रारंभ हो जाता है, तो कभी भी विश्व-युद्ध नहीं होगा और न ही गृह-युद्ध। विश्व-मैत्री इस सूत्र पर ही अवलम्बित है।

---

47. सव्वे जीवा दयादमचाग-समाहिणा सह आदणिब्भरा होंतु, भगवद-महावीरसामिस्स सव्वोदय-तित्थं वीसे जयदु, पत्तेग-जीवो वीसहिदे चिंतेज्जा, तदेव माणवजादि-अहिणाणं होहिदि। हिंसा-आयंक-परदव्वक्खेत्त-इत्थि-हरणादो माणवत्त-रक्खणं ण होहिदि। माणवत्तस्स विसुद्धभावत्तो रक्खणं हि सच्चत्थ-साहुत्तं, सो हि वीसहिदंकारी-पण्णवंत-पुरिसा॥

47. सभी जीव दया-दम-त्याग-समाधि के साथ आत्मनिर्भर बनें, भगवान् महावीर स्वामी का 'सर्वोदयी-तीर्थ' विश्व में जयवन्त रहे, हर व्यक्ति विश्व-हित पर विचार करे, तभी मानव जाति की पहचान होगी। हिंसा, आतंक, पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-स्त्री के हरण से मानवता की रक्षा नहीं होगी। मानवता की विशुद्ध-भावों से रक्षा करना ही सच्ची-साधुता है, वही विश्व-हितंकारी प्रज्ञावान पुरुष है।

---

48. अहो पण्णप्पा! आदसोहो हि सच्चत्थबोहो। आदसंतीए मूलमंतं धिज्जं। कालस्स-भावस्स अभावस्स उज्जमो पुरिसस्स विसिट्ठसाहणा। समीवे सदि वि किंचण जीवा कट्ठं देंति तहा दूरे सदि वि कट्ठं णस्संति, इदं सच्चं जाणेहि॥

48. अहो प्रज्ञात्मन्! आत्म-शोध ही 'सत्यार्थ-बोध' है। आत्म-शान्ति का मूल-मंत्र धैर्य है। कालुष्य भाव के अभाव का पुरुषार्थ पुरुष की विशिष्ट-साधना है। पास होने पर कुछ लोग कष्ट दे सकते हैं और दूर होने पर भी कष्ट मिटा सकते हैं, इस सत्य को समझो।

---

49. णम्मवित्ति-पियभासणाइं माणवत्त-सेट्ठ-आभरणाइं। सुदसंवेगभावो आदसंतीए परमोवायो त्थि तहा एवमेव मोक्ख-पासादस्स विराडद्दारं॥

49. नम्र वृत्ति, प्रिय-भाषण मानवता के ये दो हैं श्रेष्ठ आभूषण। श्रुतसंवेग-भाव आत्म-शान्ति का परम उपाय है तथा यही मोक्ष-प्रासाद का विराट्-द्वार है।

---

50. सुदी सुदभूदकण्ण-पियत्तेण सह अंतोकरणं पिया होदव्वा। धम्मणिरवेक्ख-जीवणं सुगंधसुण्ण-पुप्फमिव। पंचमयाले सुदाराहणा, सज्झायो य परमतवो झाणं च; तम्हा सदद-सज्झाए रमेहि॥

50. श्रुति श्रुतभूत कर्ण-प्रियता के साथ अंतःकरण को प्रिय होनी चाहिए। धर्म-निरपेक्ष जीवन सुगन्ध-शून्य पुष्पवत है। पंचमकाल में श्रुत-आराधना, स्वाध्याय परम-तप और ध्यान है, इसलिए सतत-स्वाध्याय में लीन रहो।

---

51. अहो णाणी! संसारस्स मादु-अंके गच्छेहिसि दु कुक्खादो होहिसि, किण्णु मादु-भारदी-जिणवाणी-अंके गच्छेहिदि दु जसवंतो होहिसि॥

51. अहो ज्ञानी! संसार की माताओं की गोद में जाओगे तो बदनाम हो जाओगे, पर माँ-भारती जिनवाणी की गोद में जाओगे तो यशवान हो जाओगे।

---

52. अहो मित्त! वीस-ललणाओ जदि कंठे संलग्गंति दु णिद्धणो होहिसि तहा वागीसरी-मादुजिणवाणी जदि कंठे णिवसेदि दु धण-धण्णवंतो होहिसि॥

52. अहो मित्र! जगत् की ललनाएँ गले पड़ गईं तो कंगाल हो जाओगे और वागीश्वरी माँ जिनवाणी गले में बस गई तो मालामाल हो जाओगे।

---

53. धिज्जं जीवस्स अब्भंतरसत्ति-परिचायगं तहा अधीरत्तं आदविगासस्स पचंड-गदिअवरोहगं च आददोसो, तम्हा अधीरत्तादो झत्ति हु आदरक्खणं कुणेहि॥

53. धैर्य व्यक्ति की अंतरंग शक्ति का परिचायक है और अधीरता आत्म-बुराई जो आत्म-विकास का प्रचण्ड गति-अवरोधक है, इसलिए अधीरता से शीघ्र ही आत्म-रक्षा करो।

---

54. अहो अप्पा! भवादीद-हवणत्थं परभावाणं रागभावणादो अदीदो होदव्वो। तुज्झ विसए को किं चिंतेदि, इमम्हि मा चिंतेहि। जीवाणं विसए तुमं किं विचिंतेसि, इमम्हि चिंतेहि, एवमेव सम्म-सदायारो॥

54. अहो आत्मन् ! भवातीत होना है तो पर-भावों के राग की भावना से अतीत हो जाना चाहिए। आपके बारे में कौन क्या सोच रहा है, इस पर विचार मत करो। मैं लोगों के बारे में क्या सोचता हूँ, इस पर विचार करो, यही सम्यक्-सदाचार है।

मंगल-भावणा

सयं जीवेहि तहा जगदीए अवर-सयलजीवा जीवावेहि। अहिंसा-दया-करुणा-मेत्ती-वच्छल्लपुण्ण-धम्मो जगदीए सया सया जयदु जयदु। जावं अवणि-अंबर-अंतो ण होदु, तावं सच्चत्थबोह-उवलद्धी वीसधराए जयदु॥

मंगल भावना

स्वयं जियो व अन्य जगति के सर्व-जीवों को जीने दो। अहिंसा, दया, करुणा, मैत्री वात्सल्यपूर्ण-धर्म जगति पर सदा-सदा जयवन्त हो। साथ ही **'सत्यार्थ-बोध'** की उपलब्धि विश्व-धरा पर तब-तक जयवंत रहे जब-तक अवनि-अम्बर का अन्त न हो।

॥ इदि अलं ॥

सच्चत्थ-बोह-पसत्थी

अणादिणिहण-कम्मसिद्धंतभासग-सणादण-दियंबरजेण-समणसक्किदीए पढमतित्थेसो आदिसंकरो पहु-उसहदेवो इह काले सव्वप्पढमो सच्चत्थ-मग्गदरिसग-अरिहंतो जादो। तित्थेसुं आदिच्चो व्व पयासमाणो जसस्सी चरमतित्थेसो अम्हेहिं सह वीसस्स कुलदेवदा, अहिंसा-सच्चत्थबोहस्स बोहगो देवादिदेवो महावीर-सामी जादो। वट्टमाण-सासणणायगस्स वड्ढमाणसामिस्स मोक्खगमणोवरंतं णाणा-केवली-सुदकेवली-अंगादिसुदण्हु-भयवंता वि जादा। एवं कालपहावादो णाण-बुद्धि-पण्णा-मेहा-हीणत्तं सामण-सावगेसुं संदीसीअ। पुणो पंचमयाले सगपर-विसुद्धि-रक्खगो पागिदसाहिच्च-पुरोहा, पागिदभासाए अज्जकई, मज्झाणं आरज्झो अज्झप्पिग-महासमणो दियंबराइरिय-कुंदकुंदसामी जादो।

एमेव सिरिजिण-णमोत्थुसासणस्स गउरवमयी-सुद-तवपरंपराए सुदावदाररूवे गूढसिद्धंत-णयणाय-वागरण-अज्झप्प-गणिदादि-विसयाणं लेहगा अणेगा समप्पिद-बहू परिस्समी-आइरियभयवंता जादा। जेसुं आइरिय-गुणधरसामी, आइरिय-उमासामी, आइरिय-समंतभद्दसामी, आइरिय-पुज्जपादसामी, आइरिय-भट्टाकलंकसामी, आइरिय-विज्जाणंदसामी, आइरिय-रविसेणसामी, आइरिय-जडासिंहणंदिसामी, आइरिय-वीरसेणसामी, आइरिय-जिणसेणसामी, आइरिय-अमियचंदसामी, आइरिय-भावसेणतिवेज्जसामी, आइरिय-माणिक्कणंदिसामी, आइरिय-जयसेणसामी, आइरिय-अमिदगदिसामी पहुदि-सहस्सा आइरिया पहाणा आसी।

एमेव जिणसासण-रक्खग-पहावग-संवड्ढग-समणपरंपराए घोरतवस्सी-समणेसुं पहाणो वीसप्पसिद्धो पढम-समणाइरियो पूदपरंपराए वणवासी, मुणिकुंजर-आदिसागर-अंकलीयरो जादो। तस्सेव पढमसिस्सो पट्टाइरियो जंत-मंत-तंत-गूढणाओ, णाणसिरोमणी, अट्ठारह-भाषा-विदू, सुद्धविसुद्ध-आयारगो, जिदउवसग्ग-परीसहो, सर्वजणहिदू, आइरिय-महावीरकित्ती जादो।

तस्स पढम-सिस्सो णिमित्तणाण-सिरोमणी, वच्छल्लदिवायरो, सव्वजणोद्धारगो, मंत्राणं गूढणादा-पओत्ता,वाणीसिद्धो, विमलमणो आइरिय-विमलसायरो समणराओ जादो। तस्स सिस्सो जिद-उवसग्गो, सिद्धंत-चक्कवट्टी, चारित्त-सिरोमणी, रयणत्तयवड्ढिणी-पहुदि-अणेग-सक्किद-टीगाकत्ता, विसालचदुव्विह-संघणायगो, अप्पाणुसासिदो, अणुसासणप्पियो, गुरुगणी-पद-पदाया, महम्हि सदा सगीय-वरदहत्थ-वहमाणो, विरागमणो गणाइरिय-विरागसायरो समणेसो जादो।

तस्स पियग्ग-पढमसिस्सो, चरिया-सिरोमणी, सदद्दी-देसणाइरियो, सक्किदि-सासणाइरियो, सज्झाय-संवड्ढगो, सुत्तत्थ-विसारदो, सिद्धंत-अज्झप्प-णयणायादि-विज्जापवीणो, समाहितंत-अणुसीलण-वत्थुत्तमहाकव्वादि दुसयाहिग-गंथकत्तारो, विसाल-णिग्गंथ-समणसंघणायगो, दुसयाहिग-पंचाकल्लाणग-पदिट्ठा-कारगो, विसुद्धमणो, मम दिक्खा-सिक्खागुरू समणाइरियो

सिरिविसुद्धसायरो हिंदी-भासाए अस्स सच्चत्थबोह-गंथस्स रयणं करीअ। गुरुदेवेण गंथारंभं दक्खिणभारह-जत्ताए तेलंगाणा-पदेसे सिरिदियंबरजेणतित्थक्खेत्त-कुलचारामस्स समीवत्थे हेदराबाद-णयरे किदं। मज्झयाले वत्थुत्थ-महाकव्व-लेहणवसादो अस्स गंथस्स लेहणं बाहीअ। पच्छादो गुरुणा पहु-महावीर-सामिस्स जम्म-णिव्वाणभूमि-समीवे चंडीगामे माहोगढ़-णयरे णालंदा-जणवदे, विहारपंते, महावीरसामिस्स जम्मोस्सवे महामारी-कोरोणा-काले वीरणिव्वाण- 2046 चेत्तसुक्क 13 पुव्वाफग्गुण-णक्खत्ते वड्ढिजोगे चंदवारे संपुण्णं किदं।

पागिद विज्जाविसणी-सुदसंवेगी-अप्पाहारी-बहुपरिस्समी-आदिविज्जाथुदि-आदकित्तण-णीदिरहस्सादि-दुसय-सक्किदपागिदअवब्भंसहिंदी गंथकित्ता-सिद्धहत्थ-वीसविक्खाद-सुदपुत्त-समणादिच्चसायरेण अस्स सच्चत्थबोह-महागंथस्स पागिदाणुवादं किदं। अयं गंथो अणुट्ठुव-सिलोग-अवेक्खाए (4000) चउसहस्स-सिलोग-परिमाणो त्थि एवं सुत्तावेक्खाए एहत्तरि-अहिग-सहस्स (1071)-सुत्त-परिमाणो णेयो।

मए अस्स गंथस्स मंगलारंभं वीरणिव्वाण-2547 कोरोणा-महामारीकाले छदरउर-मज्झप्पएसे पहु-णेमिणाह-चरणणिस्साए किदं। विहार-अवरगंथाणुवाद-लेहण-वसादो अस्स गंथस्स अणुवादं बाहीअ। पुणो गुरु-आणा-पेरणाए रायट्ठाण-पएसस्स वत्थणयरी-भीलवाडा-णयरे आदिणाह-पहुस्स चरणछायाए बारसम-चदुम्मास-मज्झे पव्वराय-पज्जूसणपव्वे अणंतचदुद्दसी-तिहीए वासुपुज्ज-पहुस्स मोक्खकल्लाणग-दिवसे उववासपुव्वगं वीरणिव्वाण 2549 भद्दपदसुक्कपक्खे चदुद्दसी-तिहीए गुरुवारे पुव्वाभद्दपद-णक्खत्ते विसुद्धमणेण गंथलेहणं पुणो पारंभिदं। वीरणिव्वाण-2550 देवाहिदेव-णेमिणाहसामिस्स पंचकल्लाणग-पदिट्ठा-महोस्सवे कत्तिगसुक्क-तेरसतिहीए अस्सिण-णक्खत्ते सगीय-बारसम-दिक्खादिवसे अस्स मंगलगंथस्स मध्यमंगलं किदं।

रायट्ठाणपएसस्स सुरम्म-दियंबर-जेण-अइसयक्खेत्ते अणिंदा-पासणाहे सिंघई-पवण-अपुव्व-भाविद-सरणमकोठारी-परिवारेण कारिदे आदिणाह-पहुस्स पंचकल्लाणग-पदिट्ठा-महोस्सवे गुरु-आसीसपसादादो सुदप्पियसमण-अपमिदसायरस्स सहजाणंदि-समण-सहजसागरस्स कुसलसंपादणेण वच्छल्लपुण्णसामिप्पेण पुण्णसहजोगेण य वीरणिव्वाण 2550 मग्गसीहे किण्हपक्खे तेरहतिहीए आदिच्चवारे सादिणक्खत्ते सव्वत्थसिद्धि-जोगे इमं गंथं मए थोव-खवोवसमी-दिढसम्मत्ती-समणेण पंचहत्तरि-दिवसेसुं संपुण्णं किदं। मए अहुणा चत्तालीस-सहस्स-सिलोग-परिमाण-लेहणं करिदं। अस्स गंथस्स पढमं पयासणं रमेसचंद-विकास-अरहम-सक्खम-सेठी-परिवारेण कीरीअ।

अयं सच्चत्थ-बोह-गंथो परिमाण-अवेक्खादो सीमिदो, णं पमेय-अवेक्खादो सीमादीदो त्थि। अवलोयणे सदि इमम्हि एक्कतीस-विसया, णं चिंतणे अणंत-विसया संति। अयं गंथो पयत्तेण रक्खणिज्जो, पढणिज्जो, पयारणिज्जो। इमं गंथं लेहगो अणुवादगो य परमपुज्जणिज्जो, परम-वंदणिज्जो, णं अस्स गंथस्स संवड्ढगा संरक्खगा परम-सम्माणिज्जा। जे इमं पढिहिंति, तेसिं जीवणं पढणिज्जं होहिदि एवं पुण्णदव्वेण णिब्भरेहिदि। जे अस्स पगासणं रक्खणं च कुणेहिंति, तेसिं जसपुण्ण-आउ-कुल-कुडुंब-परिवारवेहव-संति-वड्ढणं णिरंतरं होहिदि एवं अंते तेसिं सग्गे रिद्धिसंपण्ण-सुदपुण्ण-उत्तमदेवपज्जाओ वि दिग्घकालपज्जंतं भजेहिदि। कालंतरे सिद्धत्तलद्धी वि होहिदि। इदि अलं।

॥ णमो णमो सिद्ध-साहूणं ॥

सत्यार्थबोध-प्रशस्ति

अनादिनिधन कर्मसिद्धान्त को बतानेवाली सनातन दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति में प्रथमतीर्थेश आदिशंकर भगवान् वृषभदेव इस काल में सर्वप्रथम सत्यार्थ मार्गदर्शक अरिहंत हुये। तीर्थंकरों में आदित्यवत् प्रकाशमान यशस्वी अंतिम तीर्थेश हम सब के साथ विश्व के कुलदेवता, अहिंसा और सत्यार्थबोध का ज्ञान करानेवाले भगवान् महावीर स्वामी हुये। वर्तमान के शासननायक वर्धमानस्वामी के मोक्षगमन के उपरान्त अनेकों केवली, श्रुतकेवली, अंगादि-श्रुतज्ञ भगवन्त भी हुये और काल के प्रभाव से ज्ञान, बुद्धि प्रज्ञा, मेधा का ह्रास श्रमणों-श्रावकों में स्पष्ट दिखने लगा। फिर पंचमकाल में स्वपर-विशुद्धि के रक्षक, प्राकृतसाहित्य के पुरोधा, प्राकृतभाषा के आद्यकवि, हम सबके आराध्य आध्यात्मिक-महाश्रमण दिगंबर आचार्य कुंदकुंदस्वामी का उद्भव हुआ।

इस ही श्रीजिन-नमोस्तुशासन की गौरवशाली श्रुत और तप परंपरा में श्रुतावतार के रूप में गूढ़-सिद्धान्त, नय-न्याय, व्याकरण, अध्यात्म, गणितादि विषयों पर लेखन करनेवाले अनेकों समर्पित-बहुपरिश्रमी-आचार्य भगवन्त हुये। जिनमें आचार्य गुणधरस्वामी, आचार्य उमास्वामी, आचार्य समन्तभद्रस्वामी, आचार्य पूज्यपादस्वामी, आचार्य भट्टाकलंकस्वामी, आचार्य विद्यानंदस्वामी, आचार्य रविषेणस्वामी, आचार्य जटासिंहनंदि, आचार्य वीरसेनस्वामी, आचार्य जिनसेनस्वामी, आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी, आचार्य भावसेनत्रिवैद्यस्वामी, आचार्य माणिक्यनंदिस्वामी, आचार्य जयसेनस्वामी, आचार्य अमितगतिस्वामी आदि सहस्त्रों आचार्य प्रधान रहे।

इसी जिनशासन-रक्षक, प्रभावक, संवर्धक श्रमण परंपरा में घोरतपस्या करनेवाले श्रमणों में प्रधान, विश्व-प्रसिद्ध, प्रथम श्रमणाचार्य, पूतपरंपरा में वनवासी, मुनिकुंजर आदिसागर जी अंकलीकर हुये। उनके ही प्रथम शिष्य, पट्टाचार्य, यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र के गूढ़ ज्ञाता, ज्ञान-शिरोमणि, अट्ठारह-भाषा विद्, शुद्ध-विशुद्ध-आचारक, उपसर्ग-परीषह जेता, सर्वजनहितकारक आचार्य भगवन् महावीरकीर्ति जी हुये। जिनकी कीर्ति आज भी विश्व में सुवासित है।

उनके प्रथम शिष्य निमित्तज्ञान-शिरोमणि, वात्सल्यदिवाकर, सर्वजनोद्धारक, मन्त्रों के गूढज्ञाता एवं प्रयोक्ता, वाणी-सिद्ध, विमलमनः आचार्य श्री विमलसागर जी श्रमणराज हुये। उनके शिष्य उपसर्ग विजेता, सिद्धान्त-चक्रवर्ती, चारित्र शिरोमणि, रत्नत्रयवर्धिनी आदि अनेकों संस्कृत-टीकाकर्ता, विशालचतुर्विध संघनायक, आत्मानुशासित, अनुशासनप्रिय, गुरुगणीपदप्रदाता, मुझ पर सदा अपना वरदहस्त रखनेवाले विरागमनः गणाचार्य श्री विरागसागर जी श्रमणेश हुये।

उनके प्रियाग्र प्रथम शिष्य, चर्या-शिरोमणि, शताब्दी देशनाचार्य, संस्कृति-शासनाचार्य, स्वाध्याय-संवर्धक, सूत्रार्थ-विशारद, सिद्धान्त, अध्यात्म, नय-न्यायादि-विद्या-प्रवीण, समाधितंत्र अनुशीलन, वस्तुत्व महाकाव्यादि 200 से अधिक ग्रन्थों के सृजेता, विशाल निर्ग्रन्थ श्रमण संघनायक, 200 से अधिक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कर्ता, विशुद्धमनः मम दीक्षा-शिक्षा गुरु श्रमणाचार्य भगवन् श्री विशुद्धसागर जी ने हिन्दी भाषा में इस सत्यार्थ-बोध की संरचना की है। गुरुदेव ने ग्रंथारंभ दक्षिणभारत की यात्रा में तेलंगाना प्रदेश में श्री दिगंबर जैनतीर्थक्षेत्र कुलाचाराम के समीपस्थ हैदराबाद शहर में किया। मध्यकाल में **'वस्तुत्व-महाकाव्य'** के लेखन के कारण इस ग्रन्थ के लेखन को विश्राम दिया। पश्चात् गुरुदेव ने भगवान महावीरस्वामी की जन्म, निर्वाण भूमि के निकट चंडीग्राम, माधोगढ़

नगर, नालंदा जनपद, बिहार प्रान्त में, भगवान् महावीर स्वामी के जन्मोत्सव के दिन महामारी कोरोना के अंतर्गत वीरनिर्वाण संवत् 2546 चैत्रशुक्ल पूर्वाफाल्गुन नक्षत्र में वृद्धियोग में सोमवार को संपूर्ण किया।

प्राकृतविद्याव्यसनी, श्रुतसंवेगी, अल्पाहारी, बहुपरिश्रमी, आदिविद्यास्तुति-आत्मकीर्तन-नीतिरहस्यादि 200 संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी आदि ग्रन्थों के कर्ता, सिद्ध-हस्त, विश्वविख्यात, श्रुतपुत्र श्रमण आदित्यसागर जी ने इस सत्यार्थ-बोध नामक महान् ग्रन्थ का प्राकृतानुवाद किया। यह ग्रन्थ अनुष्टुप् श्लोकों की अपेक्षा से 4000 श्लोक प्रमाण है एवं सूत्रों की अपेक्षा 1071 सूत्र प्रमाण जानना चाहिये।

मैंने इस ग्रन्थ का मंगलारंभ वीरनिर्वाण संवत् 2547 कोरोना महामारी के काल में छतरपुर (मध्यप्रदेश) में भगवान नेमिनाथ की चरण निश्रा में किया था। विहार, अन्य ग्रन्थानुवाद और लेखन के कारणवश इस ग्रन्थ का अनुवाद रुक गया। पुनः गुरु-आज्ञा और गुरु-प्रेरणा से राजस्थान प्रान्त की वस्त्रनगरी भीलवाड़ा में आदिनाथ भगवान् की चरणछाया में 12वें चातुर्मास के मध्य में पर्वराज-पर्यूषणपर्व में अनन्तचतुर्दशी के दिन, वासुपूज्य प्रभु के मोक्षकल्याणक के दिन उपवासपूर्वक वीरनिर्वाण 2549 भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी के दिन गुरुवार पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र में विशुद्धमन से ग्रन्थ का लेखन पुनः प्रारंभ किया। वीरनिर्वाण संवत् 2550 में भगवान नेमिनाथस्वामी के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में कार्तिक शुक्ल 13 के दिन अश्विन नक्षत्र में अपने 12वें दीक्षा दिवस के दिन इस मंगलग्रन्थ का मध्यमंगल किया।

राजस्थान प्रदेश के सुरम्य दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र अणिंदा पार्श्वनाथ में सिंघई पवन, अपूर्व, भावित, शरणं कोठारी परिवार के द्वारा कराये जानेवाले आदिनाथ भगवान् के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महामहोत्सव में गुरु-आशीष और प्रसाद से श्रुतप्रिय श्रमण-अप्रमितसागर जी और सहजानंदी श्रमण सहजसागर जी के कुशल संपादन, वात्सल्यपूर्ण सामीप्य और पूर्ण सहयोग से वीर निर्वाण 2550, मार्गशीर्ष कृष्ण 13, आदित्यवार, स्वातिनक्षत्र, सर्वार्थसिद्धि योग में इस ग्रन्थ को मुझ अल्पक्षयोपशमी, दृढ़सम्यक्त्वी श्रवण ने 75 दिनों में संपूर्ण किया। इस ग्रन्थ के अनुवाद तक (अभी तक) मेरे द्वारा 40,000 श्लोक परिमाण लेखन हो चुका है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन श्रीमान रमेशचंद्र-विकास अर्हं-सक्षम सेठी परिवार ने कराया था।

यह सत्यार्थ-बोध ग्रन्थ परिमाण की अपेक्षा से सीमित है, किन्तु प्रमेय की अपेक्षा से सीमातीत है। दिखने में इसमें 31 विषय हैं, किन्तु चिंतन करने पर अनंत विषय हैं। यह ग्रन्थ प्रयत्नपूर्वक रक्षा करने योग्य है, पढ़ने योग्य है तथा प्रचार करने योग्य है। इस ग्रन्थ को लिखनेवाले, अनुवाद करने वाले परम पूज्यनीय हैं, परमवंदनीय हैं; मगर इस ग्रन्थ का संवर्धन संरक्षण करने वाले परम सम्मानीय हैं। जो जीव इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे उनका जीवन पठनीय हो जायेगा एवं पुण्यद्रव्य से भर जायेगा। जो इस ग्रन्थ का प्रकाशन एवं रक्षा करेंगे, उनका यश, पुण्य, आयु, कुल, कुटुंब, परिवार, वैभव, शान्ति निरंतर वृद्धि को प्राप्त होगी एवं अंत में उन्हें स्वर्ग में ऋद्धि तथा श्रुतपूर्ण दीर्घ काल तक उत्तमदेव पर्याय भी प्राप्त होगी। एवं कालांतर में सिद्धत्व की भी लब्धि होगी। इति अलं।।

॥ णमो णमो सिद्ध साहूणं ॥

श्रुतसंवेगी विशुद्धरत्न मुनि श्री आदित्यसागर जी द्वारा रचित
साहित्यश्रम

I मौलिक रचना साहित्य–

● **प्राकृत भाषा में–**

1. **णीदि रहस्सं** (नीति रहस्य)
2. **णीदि-पाहुडं** (नीति-प्राभृत)
3. **णीदि-सुत्तं** (नीति-सूत्र)
4. **णीदि-विज्जा** (नीति-विद्या)
5. **आदकित्तणं** (आत्मकीर्तन)
6. **धम्म-सदगं** (धर्म-शतक)
7. **सिक्खा-सुत्तं** (शिक्षा-सूत्र)
8. **जीवण-सुत्तं** (जीवन-सूत्र)
9. **संति-थुदी** (शान्ति-स्तुति)
10. **रिट्ठणेमि-थोत्तं** (अरिष्टनेमि-स्तोत्र)
11. **भारहेस-थुदी** (भरतेश-स्तुति)
12. **णवागढ-णंउदर-थुदी** (नवागढ़-नंदपुर-स्तुति)
13. **कम्मरोगहरं-थोत्तं** (कर्मरोगहर-स्तोत्र)
14. **मंगल-थोत्तं** (मंगल-स्तोत्र)
15. **सुद्धप्प-वंदणा** (शुद्धात्मवंदना)
16. **णमोत्थुसासण-थुदी** (नमोस्तुशासन-स्तुति)
17. **उसहदेव-थुदी** (वृषभदेव-स्तुति)
18. **अजियदेव-थुदी** (अजितदेव-स्तुति)
19. **संभवदेव-थुदी** (संभवदेव-स्तुति)
20. **अहिणंदणदेव-थुदी** (अभिनंदनदेव-स्तुति)
21. **सुमइदेव-थुदी** (सुमतिदेव-स्तुति)
22. **पउमदेव-थुदी** (पद्मदेव-स्तुति)
23. **सुपासदेव-थुदी** (सुपार्श्वदेव-स्तुति)
24. **चंददेव-थुदी** (चन्द्रदेव-स्तुति)
25. **पुप्फयंतदेव-थुदी** (पुष्पदंतदेव-स्तुति)
26. **सीयलणाह-थुदी** (शीतलनाथ-स्तुति)
27. **सेयदेव-थुदी** (श्रेयांसदेव-स्तुति)
28. **वासुपुज्जदेव-थुदी** (वासुपूज्य-स्तुति)
29. **विमलदेव-थुदी** (विमलदेव-स्तुति)
30. **अणंतदेव-थुदी** (अनंतदेव-स्तुति)
31. **धम्मदेव-थुदी** (धर्मदेव-स्तुति)
32. **संतिदेव-थुदी** (शान्तिदेव-स्तुति)
33. **कुंथुदेव-थुदी** (कुन्थुदेव-स्तुति)
34. **अरदेव-थुदी** (अरदेव-स्तुति)
35. **मल्लिदेव-थुदी** (मल्लिदेव-स्तुति)
36. **मुणिसुव्वय-थुदी** (मुनिसुव्रत-स्तुति)
37. **णमिदेव-थुदी** (नमिदेव स्तुति)
38. **णेमिदेव-थुदी** (नेमिदेव-स्तुति)
39. **पासदेव-थुदी** (पार्श्वदेव-स्तुति)
40. **वीरदेव-थुदी** (वीरदेव-स्तुति)
41. **विरागट्ठगं** (विरागाष्टक)
42. **विमस्स-वंदणा** (विमर्श-वंदना)

● **संस्कृत भाषा में–**

43. **आदिविद्या-स्तुतिः**
44. **सत्यार्थनीतिः**
45. **हितमणिमाला**
46. **सद्भावना-पंचविंशतिः**
47. **जिनशासन-सहस्त्रनाम**
48. **सरस्वती-बृहन्नाम-स्तोत्रम्**
49. **अरिष्टनेमिनाथ-स्तोत्रम्**
50. **शासनालंकार-स्तोत्रम्**

51. जिनबिम्ब-स्तोत्रम्
52. जिनदेवाष्टक-स्तोत्रम्
53. आदिवीर-शंकर-स्तोत्रम्
54. वर्धमान-कर्मशंकर-स्तोत्रम्
55. वृषभादि-मंगलाष्टकम्
56. समन्तभद्र-स्तोत्रम्
57. निजानन्द-स्तोत्रम्
58. स्तुत्यष्टकम्
59. नेमिनाथ-स्तोत्रम्
60. पार्श्वनाथ-स्तवनम्
61. शान्ति-स्तवनम्
62. अयिगिरि-सरस्वती-स्तुतिः
63. गोम्मटेश-स्तुतिः
64. विशुद्धगुरु-स्तोत्रम्
65. स्तोत्र-संग्रहः

● अपभ्रंश भाषा में–

66. वारसाणुवेक्खु (द्वादशानुप्रेक्षा)

● हिन्दी भाषा में–

67. भक्तामर-विधान
68. आध्यात्मिक प्रबंधन
69. गुरु-शिष्य (भाग-1)
70. गुरु-शिष्य (भाग-2)
71. गुरु-शिष्य (भाग-3)
72. गुरु-शिष्य (भाग-4)
73. अनुपमेय-माँ
74. मृत्यु
75. पथ
76. अपनी आवाज
77. अंतर्यात्रा
78. अंतर्जल्प
79. अंतर्ध्वनि
80. अंतर्मुखी
81. अंतर्मन की बातें
82. अपने लिये
83. जीवन-नीति
84. संदेश
85. ॐ इग्नोराय नमः
86. घोर इग्नोराय नमः
87. दृष्टान्त से स्वान्त
88. शान्तता ठेवा
89-137. सही-बातें (उड़ान, अनुभव आदि 50 भागों में)

II अनुवादित रचना साहित्य–

● प्राकृत भाषा में–

138. सोलहकारण भावणा-अणुसीलणं (सोलहकारण भावना अनुशीलन 12,000 श्लोक प्रमाण)
139. इट्ठोवएस-भासं (इष्टोपदेश भाष्य 3575 श्लोक प्रमाण)
140. सरूवसंबोहण-परिसीलणं (स्वरूप संबोधन-परिशीलन 3975 श्लोक प्रमाण)
141. समाहितंत-अणुसीलणं (समाधितंत्र-अनुशीलन 5511 श्लोक प्रमाण)
142. साणुहव-तरंगिणी (स्वानुभव-तरंगिणी 1011 श्लोक प्रमाण)
143. णियाणुहव-तरंगिणी (निजानुभव-तरंगिणी 2300 श्लोकप्रमाण)
144. अप्पबोहो (आत्मबोध 1635 श्लोक प्रमाण)
145. रयणत्तयवड्ढिणी टीगा (रत्नत्रयवर्धिनी टीका 8656 श्लोक प्रमाण)
146. सच्चत्थबोहो (सत्यार्थबोध-4000 श्लोक प्रमाण)
147. कम्मविवागो (कर्मविपाक/कार्याधीन)
148. णियमदेसणा (नियमदेशना/कार्याधीन)
149. अज्झप्प-णीदी (अध्यात्म-नीति 450-श्लोक प्रमाण)
150. बोधवाक्यामृत
151. सूक्तिसुधा
152. दिव्व-वयणं (दिव्यवचनं)
153. भव्व-वयणं (भव्यवचनं)
154. सुद्धोवआगो (शुद्धोपयोगः/कार्याधीन)

● संस्कृत भाषा में–

155. आत्मबोधः

साहित्यश्रम

- **अपभ्रंश भाषा में–**

156. **अप्पबोहु**
157. **बोध-वाक्यामृतं**
158. **सूक्ति-सुधा**

- **कन्नड़ भाषा में–**

159. **सरस्वती-स्तोत्रम्**
160. **उवसग्गहरं थोत्तं**
161. **गणधरवलय-स्तोत्रम्**
162. **श्री परमर्षि स्वस्ति-मंगल-स्तोत्रम्**
163. **सीयलेस-थोत्तं**
164. **निर्ग्रन्थ-गुरु-पूजा**

- **हिन्दी भाषा में–**

165. **झाणज्झयण-पाहुड** (श्रीमत्कुंदकुंदाचार्य कृत)
166. **सुभाषितार्णव** (अज्ञातकृत 1300 से अधिक श्लोक प्रमाण)
167. **गणधरवलय-स्तोत्र**

III संकलित साहित्य–

168. **देशना-बिंदु**
169. **देशना-संचय**
170. **तत्त्वबोध**
171. **तत्त्वतरंगिणी**
172. **वंदना-पथ**
173. **पुरानी बातें** (भाग-1)
174. **पुरानी बातें** (भाग-2)
175. **कर्मरहस्य** (भाग 1-2)
176. **तीर्थंकर विज्ञान**
177. **संकल्प**
178. **आदिच्च-किरिया-सायरो** (हिन्दी प्राकृत क्रियाकोश)
179. **आदिच्च-अव्यय-सायरो** (हिन्दी प्राकृत अव्ययकोश)
180. **व्यसन-रहस्य**
181. **पुरानी बातें (भाग-3)**

IV संपादित साहित्य में–

- **भावत्रयफलप्रदर्शी** (आचार्य कुंथुसागर जी कृत)
- **धर्मपरीक्षा** (आ. अमितगतिस्वामी कृत)
- **तच्चबोहो** (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा अनुवादित)
- **विसुद्धवयणामिदं** (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा अनुवादित)
- **सारसुत्तं** (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा अनुवादित)
- **बोहिसुत्तं** (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा अनुवादित)
- **मर्यादा** (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा रचित)
- **साधुवचनं** (हाईकू) (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा रचित)
- **विशुद्ध-निधि** (श्रमण आस्तिक्यसागर जी कृत)
- **सम्मग्ग-चिंतणं** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)
- **मनन** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)
- **परिवर्तन** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)
- **शब्द अपने** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)
- **मंथन** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)

पूज्यवर अभी तक लगभग 40,000 श्लोक प्रमाण प्राकृत/संस्कृत/श्लोक रचना/अनुवाद कर चुके हैं। प्रायः करके लिपिबद्ध साहित्य अभी अप्रकाशित है, लगभग 70 कृतियाँ ही प्रकाशित हैं। हम प्रयासरत हैं कि शीघ्रातिशीघ्र समग्र साहित्य प्रकाशित होकर पाठकों को प्राप्त हो।

—समर्पण समूह, भारत